ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला—हिन्दी-ग्रन्थाङ्क-१५

जैन-जागरणके अग्रदूत

बीसवीं शताब्दीके दिवंगत और वयोवृद्ध
प्रमुख दिगम्बर जैन कार्यकर्त्ताओंके
संस्मरण एवं परिचय

अयोध्याप्रसाद गोयलीय
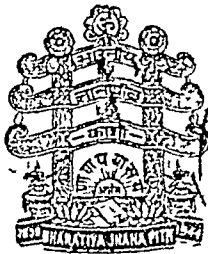
भारतीय ज्ञानपीठ काशी

ग्रन्थ-माला-सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन एम. ए., डालमियानगर

प्रकाशक,
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी,
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

प्रथम संस्करण ३०००
जनवरी १९५२
लागतमात्र मूल्य पांच रुपये

मुद्रक,
देवताप्रसाद गहमरी
संसार प्रेस,
काशीपुरा, बनारस

जैन-जागरणके अग्रदूत

"क़ौमें जाग उठती हैं अक्सर इन्हीं अफ़सानोंसे ।"

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

परिचय-तालिका

[त्याग और साधनके पावन-प्रदीप]

[तत्त्वज्ञानके आलोक-स्तम्भ]

[नवचेतनाके प्रकाशवाह]

संस्मरण	लेखक	पृष्ठ
२४. बाबू सूरजभान		
मालव-क्रान्तिके दूत	श्री कौशलप्रसाद जैन	४५२
वह देवता नहीं, मनुष्य था	श्री दौलतराम मित्र	४५६
२५. महात्मा भगवानदीन		
तप-त्यागकी मूर्ति	गोयलीय	४६०
महात्माजी	श्री जैनेन्द्रकुमार	४६१

[श्रद्धा और समृद्धिके ज्योति-रत्न]

——:o:——

प्रकाशकीय

१. इस प्रथम भागमें पहली पीढ़ीके उन दि० जैन कुलोत्पन्न २९ दिवंगत और ८ वर्त्तमान वयोवृद्ध महानुभावोंके संस्मरण एवं परिचय दिये गये है, जो बीसवीं शताब्दीके लगभग प्रारम्भसे लोकोपयोगी कार्य्यों अथवा जैनसमाजके जागरणमें किसी-न-किसी रूपमें सहयोग देते रहे है।

२. दूसरी पीढ़ीके उन प्रमुख व्यक्तियोंका परिचय जो १९२० के आस-पास कार्य्य-क्षेत्रमें आये, द्वितीय भागमे दिया जायगा। पहली पीढ़ीके साथ द्वितीय पीढ़ीको बिठाना उपयुक्त नही समझा गया।

३. यूँ तो न जाने कितने त्यागी, विद्वान्, सुधारक, लोकसेवक, साहित्यिक, दानवीर और मूक साधक जैनसमाजमें हुए और है; किन्तु उन सभीका परिचय पाना, लिखना, लिखाना किसी भी एक व्यक्ति द्वारा सम्भव नही। यह महान् कार्य्य तो समूचे समाजके सहयोगसे ही सम्भव हो सकता है। ज्ञानपीठ तो एक प्रथाका उद्‌घाटन कर रहा है। अब यह समाजके लेखकोंका कर्तव्य है कि वे जिनके बारेमें जानकारी रखते हैं, उनके सम्बन्धमें लिखें और इस प्रथाको अधिकाधिक विकसित करें। सुरुचिपूर्ण संस्मरणोंका 'ज्ञानोदय' सदैव स्वागत करेगा।

४. हम कब तक इतिहासके अभावका रोना रोते रहेगे? हमारे पूर्वजोंका इतिहास जैसा चाहिए वैसा उपलब्ध नही है, तो न सही। हमे नये इतिहासका निर्माण तो अविलम्ब प्रारम्भ कर ही देना चाहिए। जो हमारी समाजकी विभूतियाँ हमारे देखते-देखते ओझल हो गईं, या आज भी जिनका दम गनीमत है, उनका परिचय तो शीघ्र-से-शीघ्र लिख ही डालना होगा। अन्यथा जो उलाहना आज हम अपने पूर्ववर्त्ती

लेखकोंको देते रहे हैं, वही उलाहना आगेकी पीढ़ी हमें देनेको मजबूर होगी।

५. हमें खेद है कि इन महानुभावोके सम्बन्धमें अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी कुछ नही दिया जा सका—डिप्टी चम्पतराय, पं० चुन्नीलाल, प० वालमुकन्द, जैनी जीयालाल, जैनी ज्ञानचन्द, तीर्थभक्त ला० देवीसहाय, ला० शिब्बामल, ला० जगन्नाथ जौहरी, पं० मेवाराम रानीवाले, वा० ऋषभदास वकील, वा० प्यारेलाल वकील, पं० वृजवासी लाल, जिनवाणीभक्त ला० मुसद्दीलाल, रायवहादुर पारसदास।

६. पुस्तकमे कई महानुभावो का परिचय कतई अधूरा है। हम उनका विस्तारसे परिचय देना चाहते थे। लेकिन उनके कुटुम्बियो, समकालीन सहयोगियो-मित्रोको अनेक पत्र लिखने पर भी सफलता नही मिली। यहाँ तक कि कई व्यक्तियो की तो जन्म-मरण की तिथियाँ भी विदित न हो सकी; और जो मिली भी वे वेतरतीब। कही, जन्म-समय तिथि-संवत्का उल्लेख है तो मृत्यु-समय तारीख सन् का।

७. एक–दो को छोडकर प्राय सभी चित्र पुराने पत्र-पत्रिकाओसे लेकर नये सिरेसे उनका डिजाइन कराके ब्लाक बनवाये है। यदि चित्र सुन्दर मिलते तो ब्लाक भी उतने ही आकर्षक होते। कई चित्र तो मिल ही नही सके।

यह एक जलती मशाल है !

"जैन जागरणके अग्रदूत" नामकी एक पुस्तक ज्ञानपीठ प्रकाशित कर रहा है। उसमें आपके भी कुछ लेख ले रहा हूँ। जानता हूँ इसमें कोई ऐतराज़ तो आपको हो ही नही सकता, इसलिए यह सिर्फ़ इत्तला है।"

श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीयका बहुत दिन हुए यह पत्र मिला, तो सचमुच मैंने इसे एक मामूली इत्तला ही माना और यह इत्तला बस मेरे दिमागको ज़रा यों ही छूकर रह गई, पर ज्यो-ज्यो पुस्तकके छपे फ़र्मे मेरे पास आते गये, मैं रसमें डूबता गया—जैसे अनेक बार हरकी पैड़ियाँ उतरकर ब्रह्मकुण्डमें नहाया हूँ, और आज जब यह पुस्तक पूरी हो रही है, तो मुझे लगता है कि रोज़-रोज छपकर हमारे हाथो आनेवाली पुस्तकोंकी तरह यह कोई पुस्तक नही है, यह तो एक जलती मशाल है।

जलती मशाल : जो हमारे चारो ओर फैले और हमें पूरी तरह घेरकर खड़े हुए भूतोंकी भीड़-से अँधेरेको चीरकर हमें राह दिखाती है। राह; जिसपर हमारे पैर हमें हमारी मंजिलकी ओर लिये चलें और राह—जिसपर हमारे दिल-दिमाग़ दूर तक साफ-साफ़ देख सकें !

एक घना अँधेरा है, जो हमें चारो ओरसे घेरे खडा है। वह अँधेरा है–'आज' के मोहका। हम हर बातमे 'आज' को कलसे अधिक महत्त्व देते है। अधिक महत्त्व देना कोई बुरी बात नही, अनहोनी घटना भी नहीं; क्योंकि हमारी आँखे देखती ही है, हमारे सामनेकी चीज—न पीछे, न बहुत आगे, पर हम आजके इस मोहमें कलकी उपेक्षा करते है।

कल : जो कल बीत चुका और कल, जो कल आयेगा। एक कल, जिसने अपनेको मिटाकर, खपाकर हमारे आजकी नींव रक्खी और एक

कल, जो अपनेको छिपाये, गुमनाम रक्खे, हमारे जीवनमहलके गुम्वदोपर स्थापित करनेके लिए सोनेके कलश गढ़े जा रहा है !

नीव : जिसके विना अस्तित्व नही और कलश, जिसके विना व्यक्तित्व नही; तो 'कल' ही है, जो हमारी सम्पूर्णताकी रचनामे अपनी सम्पूर्णताका आत्मार्पण किये जा रहा है और उसके ही द्वारा रचित है वह सम्पूर्णता हमारी, जिसके गर्वमें, दर्पमें और भुलावेमें पड़े हम उसकी उपेक्षा करे !

कल : जो कल वीत चुका और कल, जो कल आयेगा !

× × ×

एक घना अँधेरा है, जो हमें चारो ओरसे घेर खडा है। यह अँधेरा है—आजकी उपेक्षाका। हम हर वातमें कलके गीत गाते है, कलके सपने देखते है। कल : जो वीत गया, और कल, जिसका अभी कोई अस्तित्व नही। कलके गीत और कलके सपने कोई बुरी वात नही, क्योकि स्मृतियोंका आधार है कल और कल्पनाओका आगार है कल, पर हम कल और कलके मोहमें आजकी उपेक्षा करते है।

× × ×

आजका मोह, कलकी उपेक्षा, एक अँधेरा !
कलका मोह, आजकी उपेक्षा, दूसरा अँधेरा !!
फिर स्वस्थता कहाँ है ? प्रकाश कहाँ है ?

स्वस्थता और प्रकाश जीवनके व्यापक तत्त्व है। स्वस्थता, तो फिर सम्पूर्ण स्वस्थता और प्रकाश तो वस प्रकाश ही प्रकाश। एकागिता अन्धकार है, समन्वय प्रकाश ! एकान्तवादी दृष्टिकोण है अन्धकार और अनेकान्तवादी दृष्टिकोण है प्रकाश !!

हम कल थे, हम आज है, हम कल होगे और यो हमारा अस्तित्व कलसे कलतक फैला है। एक कल हमारी वायी मुट्ठीमें, एक दायीमें और हमारे साँस आजकी हवामें। हम देखें पीछे, हम जियें आज, हम वढें आगे। पीछे देखनेका अर्थ है जीवनके अनुभव, आज जीनेका अर्थ है जीवनकी साधना, आगे वढनेका अर्थ है जीवनकी सिद्धिका विश्वास !

जीवनके अनुभव, जीवनकी साधना, जीवनकी सिद्धि, इनमें किसी एककी भी उपेक्षाका अर्थ है खण्डित जीवन और खण्डित जीवन निश्चय ही खण्डित देहसे बड़ी विडम्बना है।

यह पुस्तक हमें जीवनकी इस विडम्बनासे बचाती और जीवनकी स्वस्थ राह दिखाती है। हम उनका अभिनन्दन करे, जो कल आजका निर्माण कर गये; हम इस तरह जिये कि कलके निर्माता हो और यही मैं कहता हूँ—रोज-रोज छपकर हमारे हाथों आनेवाली पुस्तकोकी तरह यह कोई पुस्तक नही, यह तो एक जलती मशाल है !

× × ×

पुरानोंकी स्मृतिका अभिनन्दन, हमारे लिए कोई नई वात नही। हमारा ही राष्ट्र तो है, जिसने जीवितोके प्रति श्रद्धाके साथ मृतकोका श्राद्ध करनेकी महान् प्रथाका आविष्कार किया और हमी तो है, जिनके आँगनमें प्यारकी स्मृति ताजमहल बन, संसारका सातवाँ आश्चर्य हो गई !

पुरानोंकी स्मृतिका अभिनन्दन, हमारे लिए कोई नई वात नही, पर हमी तो हैं, जिनका इतिहास दूसरोंका अन्दाज वनकर जी रहा है और हमी तो है, जिनके पास, अपने शहीदोंकी एक सूची तक नही। पुरानी वात मैं नही कहता, यही १८५७ से १९४७ तकके स्वतन्त्रता-युद्धमें बलि हुए शहीदोकी सूची !

१८५७; जब घने अंधकारमें पड़े-सोते राष्ट्रके जीवनमें गैरतकी पहली पौ फटी और १९४७; जब कुलमुलाते, करवट बदलते राष्ट्रके जीवनमें स्वतन्त्रताका सूर्योदय हुआ। ४३ साल वे; और ४७ साल ये ! गैरतसे आजादी तकके नये जागरणके पथचिह्न; जो कुछ हमारे चलते पैरों रौदे गये और कुछ समयकी हवासे धुँधले पड़ चले।

हम लापरवाही और प्रमादका मद पिये पड़े रहे और अपनी घड़ीको भी उसकी खूराक न दे, गतिहीन रक्खें, पर समयकी गतिका रोकना तो हमारे वश नही ! और कौन-सा कायर है, जिसे समयकी गतिने धुंधला कर मिटा न दिया ? तो हम चाहे या न चाहें, समयकी हवा नये जागरण-

के इन असुरक्षित धुँधले पथचिह्नोंको धुन्दकी तरह उड़ानेमें चूकेगी नही। और ये पथचिह्न ही तो है, जो भविष्यमें हमारे नये जागरणके इतिहास-निर्माणका बल होगे।

'जैन-जागरणके अग्रदूत' अपनी दिशामें इन धुँधले और मिटे जा रहे पथचिह्नोको श्रद्धासे, श्रमसे, सतर्कतासे समेटकर सेफमें रख लेनेका ही एक मौलिक प्रयत्न है और यह प्रयत्न अपनी जगह इतना सफल रहा है कि 'आज' उसका मान करनेमें चूक भी जाये, तो 'कल' उसका सम्मान कर स्वयं अपनेको कृतार्थ मानेगा।

× × ×

इस प्रयत्नकी मौलिकतापर हम एक नजर डालते चलें। हम संक्रान्ति-कालसे गुज़र रहे है, जब बहुत कुछ पुराना टूट रहा है और नया बन रहा है। हर आदमी निर्माता नही होता और टूटफूटकी अव्यवस्थामें घबराया-सा रहता है। अव्यवस्थाकी इसी घबराहटमें आज हम जी रहे हैं और इस स्थितिमें नही है कि अपने जागरणका इतिहास लिखनेको पलौथी मार बैठें! उधर समयकी हवा पुराने पथचिह्नोंके खण्डहरोका मलबा साफ़ करनेमें तेजीसे लगी है, तो आज जो अनिवार्य है, वह यही कि हम अपने-अपने हिस्सेकी स्मृतियोंका चयन कर लें। इस चयनमें इतिहासका ठोस होगा, तो काव्यकी तरलता भी। यह ठोस भविष्यमें इतिहासका ईंट-चूना, तो यह तरलता उसे जोड़नेकी प्रेरणा और यो दोनो ही अत्यन्त उपयोगी।

यह पुस्तक, यह जलती मशाल, इस चयनका महत्त्व बताती, उसका तरीका सिखाती और नये जागरणके भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंके साधकोको हाँक लगाती है। मेरा विश्वास है कि यह हाँक कण्ठकी नही, हृदयकी है और कानो तक ही नही, दिलोकी गुफाओ तक गूंजेगी!

× × ×

यहाँ जो लेख है, वे जीते-जागते लेख है और 'वकालतन' नही, जनता की अदालतमें 'असालतन' आनेवालोमें है। वे न उनकी क़लमके आँसू

हैं, जो पैसे लेकर स्यापा करते हैं और न उनके ओठोकी मुस्कराहट, जो दिलके सोते-सोते भी ओठोसे हँसना जानते हैं। वे उनकी कलमके करिश्मे है, जो अपने ही दुखमें रोते और अपने ही सुखमें हँसते है। यही कारण है कि भीतरके पन्नोकी तसवीरोमें रंगोंकी चमक भले ही कही हल्की हो, भावनाओंकी दमक हर जगह झलकी हुई है। हाँ, उनसे कुछ कहनेकी अभिरुचि मुझमें नही, जो अध्ययनके लिए नही, गेटप देखकर अलमारीमें सजानेके लिए ही किताबें खरीदते हैं। जानता हूँ ज्ञानपीठका प्रकाशन-मानदण्ड उनकी प्यासके लिए भी पर्याप्त है, पर मैं अपनी सिफारिशका आधार उसे क्यों दूँ !

और अब इस चयनके माली श्री गोयलीयके लिए क्या कहूँ, जो सदा साधनोंकी उपेक्षा कर, साधनाके ही पीछे पागल रहा और जिसके निर्माण में स्वयं ब्रह्माने पक्षपात कर शायरका दिल, सिहका साहस और सपूतकी सेवावृत्तिको एक ही जगह केन्द्रित कर दिया।

हमारे ही बीच है, वे जो धर्मशाला बनाते है और हमारे ही बीच है, वे जो मन्दिरोंका निर्माण करते है, पर क्या इस पुस्तकका निर्माण धर्मशाला और मन्दिरके निर्माणसे कम पवित्र है ?

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

सहारनपुर,
१८ दिसम्बर १९५१

ये टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ

हमारे यहाँ तीर्थङ्करोका प्रामाणिक जीवन-चरित्र नही, आचार्योके कार्य-कलापकी तालिका नही, जैन-सघके लोकोपयोगी कार्योकी सूची नही; जैन-सम्राटो, सेनानायको, मन्त्रियोके वल-पराक्रम और शासन-प्रणालीका कोई लेखा नही, साहित्यिको एवं कवियोका कोई परिचय नही। और-तो-और, हमारी आँखोके सामने कल-परसों गुजरनेवाली विभूतियोका कही उल्लेख नही; और ये जो दो-चार वड़े-वूढे मौतकी चौखटपर खडे है; इनसे भी हमने इनके अनुभवोको नही सुना है, और शायद भविष्यमे दस-पाँच पीढ़ीमे जन्म लेकर मर जानेवालो तकके लिए परिचय लिखनेका उत्साह हमारे समाजको नही होगा।

प्राचीन इतिहास न सही, जो हमारी आँखोंके सामने निरन्तर गुज़र रहा है, उसे ही यदि हम बटोरकर रख सके, तो शायद इसी बटोरनमें कुछ जवाहरपारे भी आगेकी पीढ़ीके हाथ लग जाएँ। इसी दृष्टि से—

बीती ताहि विसार दे आगेकी सुध लेहि

नीतिके अनुसार संस्मरण लिखनेका डरते-डरते प्रयास किया। डरते-डरते इसलिए कि प्रथम तो मै संस्मरण लिखनेकी कलासे परिचित नही। दूसरे अत्यन्त सावधानी वरतते हुए भी यत्र-तत्र आत्म-विज्ञापनकी गन्ध-सी आने लगी। नौसिखुआ होनेके कारण इस गन्धको निकालनेमे समर्थ न हो सका। तीसरे मेरा परिचय क्षेत्र भी अत्यन्त संकुचित और सीमित था। फिर भी साहस करके दो-एक सस्मरण, पत्रोको भेज दिये। प्रकाशित होनेपर ये अनसँवरी टेढी-मेढी रेखाएँ भी अपनोको पसन्द आई, और उन्हीके आग्रहपर ये चन्द सस्मरण और लिखे जा सके।

इन संस्मरणोको ज्ञानपीठकी ओरसे पुस्तकाकार प्रकाशित करनेकी वात उठी तो मुझे स्वयं यह प्रयत्न अधूरा और छिछोरापन-सा मालूम देने लगा। "इन्ही महानुभावोके संस्मरण क्यो प्रकाशित किये जाये, अमुक-अमुक महानुभावोंके सस्मरण भी क्यो न प्रकाशित किये जाये ?" यह स्वाभाविक प्रश्न उठना लाजिमी था। लोकोदय-ग्रन्थमालाके विद्वान्

और यशस्वी सम्पादक भाई लक्ष्मीचन्द्रजीकी सम्मतिसे निश्चय हुआ कि ये संस्मरण निम्नलिखित चार भागोमे प्रकाशित किये जाये—

प्रथम भागमें—पहली पीढ़ीके उन दिवंगत और वर्त्तमान वयोवृद्ध दि० जैन कुलोत्पन्न विशिष्ट व्यक्तियोके सस्मरण एव परिचय दिये जाये जो वीसवी शताब्दीके पूर्व या प्रारम्भमे समाज-सेवाकी ओर अग्रसर हुए।

द्वितीय भागमें—दूसरी पीढ़ीके उन महानुभावोका उल्लेख रहे, जो १९२० के वाद कार्य-क्षेत्रमे आये।

तृतीय-चतुर्थ भागमें—श्वेताम्वर-स्थानकवासी जैन प्रमुखोके परिचय १९०१ से १९५२ तकके दिये जाये।

इस निर्णयके अनुसार प्रथम भागकी जो तालिका वनी, उन सवपर किसी एक व्यक्ति द्वारा लिखा जाना कतई असम्भव और उपहासास्पद प्रतीत हुआ। अतः निश्चय हुआ कि प्रत्येक व्यक्तिका संस्मरण एवं परिचय सम्बन्धित और अधिकारी महानुभावोसे लिखाये जायें और अधिक-से-अधिक जानकारी दी जाय, ताकि पुस्तक इतिहास और जीवनीका काम भी दे सके।

जितना मै लिख सकता था, मैने लिखा, अनुनय-विनय करके जितना लिखवा सकता था, लिखवाया। जीवन-चरित्रों, अभिनन्दन-ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओसे जो मिल सका, चयन किया। मेरे निवेदनको मान देकर—महात्मा भगवानदीनजी, भाई प्रभाकरजी, श्री खुशालचन्द्रजी गोरावाला, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य पं० नेमिचन्द्रजी, पं० नाथूराम जी प्रेमी, पं० रूपचन्द्रजी गार्गीय, श्री कौशलप्रसादजी, गुलावचन्द्रजी टोग्या, पं० हरनाथ द्विवेदी, श्री हुकमचन्द्रजी वुखारिया, श्रीमती कुन्था देवी जैनने संस्मरण एवं परिचय भेजनेकी कृपा की है। इन्हीके लेखों से पुस्तकमें निखार आया है, और इन्हीके सौजन्यसे पुस्तक अपने वास्तविक उद्देश्यकी पूर्ति कर सकी है।

अ० प्र० गोयलीय

डालमियानगर (बिहार)

५ जनवरी १९५२
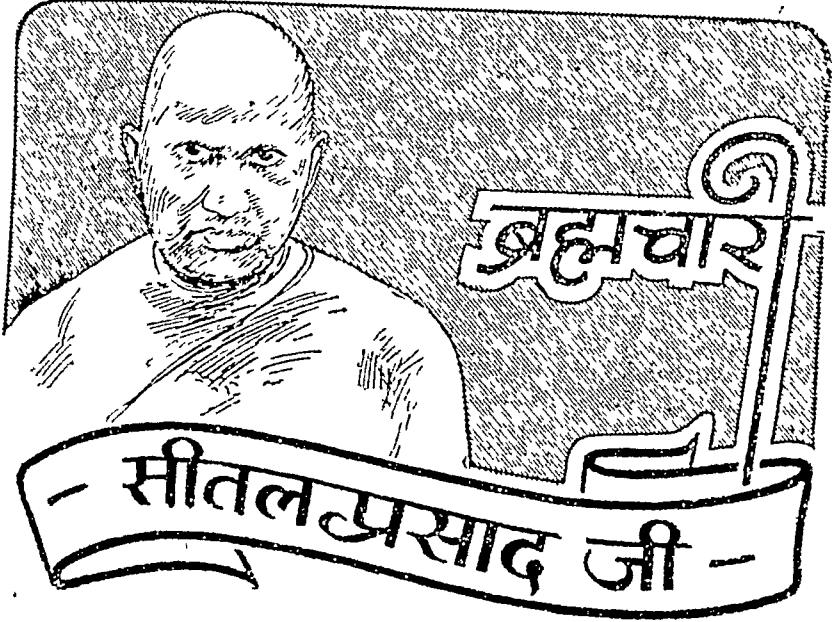
जन्म—	लखनऊ १८७९ ई०
दीक्षा—	सोलापुर १९११ ई०
स्वर्गवास—	लखनऊ १० फरवरी १९४२ ई०

जैनधर्म-प्रेमकी सजीव प्रतिमा

सर सेठ हुकमचन्द्र

पूज्य ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीको हम जैनधर्मके सच्चे महात्मा मानते हैं। धर्मकी वे एक सजीव मूर्ति थे। उनकी धार्मिक निष्ठा और लगनके कारण हमारी उनपर महान् श्रद्धा थी, और हम उनके प्रति बहुत पूज्य बुद्धि रखते थे। जब-जब वे इन्दौर पधारते हमें उनके दर्शन करके अत्यन्त ख़ुशी होती थी; और एक दिन तो अवश्य उनके साथ जीमते थे।

वे एक महापुरुष थे।

स्व० सेठ माणिकचन्द्रजीके साथ उनकी मेरी पहिली भेंट हुई थी। उनके अन्तिम दर्शन मुझे रोहतकमें हुए। रोहतकमें वे अस्वस्थ थे और विशेषकर उनके स्वास्थ्यको पूछनेके लिए और उनके दर्शन करनेके लिए हम रोहतक गये थे। चूंकि उस महान् आत्मामें हमारी अत्यन्त पूज्य बुद्धि थी।

जब-जब वे हमसे मिलते थे, तब-तब जैन विश्वविद्यालयकी स्थापनाके लिए अवश्य प्रेरणा करते थे। इस सम्बन्धमें उनकी बड़ी दृढ़ लगन और भावना थी। यह उनकी साधना अपूर्ण रह गई।

—वीर, ८ अप्रैल, १९४४

संस्मरण

—— गोयलीय ——

सन् १३ या १४ की वात है, मैं उन दिनों अपनी ननिहाल (कोसीकलाँ, मथुरा) की जैन पाठशालामे पढ़ा करता था। वालवोध तीसरा भाग घोटकर पी लिया गया था और महाजनी हिसाबमे कमाल हासिल करनेका असफल प्रयत्न जारी था। तभी एक रोज एक गेरुआ वस्त्रधारी—हाथमे कमण्डलु और बगलमे चटाई दबाये क़सवेके १०-५ प्रमुख सज्जनोके साथ पाठशालामे पधारे। चाँद घुटी हुई, चोटीके स्थानपर यूँही १०-५ रत्तीभर वाल, नाकपर चश्मा, सुडौल और गौरवर्ण शरीर, तेजसे दीप्त मुखाकृति देख हम सव सहम गये। यद्यपि हाथमे उनके प्रमाण-पत्र नही था, फिर भी न जाने कैसे हमने यह भाँप लिया कि ये कोरे वावाजी नही, वल्कि वावू वावाजी है। साधु तो रोजाना ही देखनेमे आते थे, वलिक आगे वैठने के लालचमे हम खुद कई वार रामलीलाओमें साधु वन चुके थे, परन्तु किताबी पाठके सिवा सचमुचके जीते जागते साधु भी जैनियोंमे होते हैं; इस विलुप्त पुरातत्त्वका साक्षात्कार अनायास उसी रोज हुआ। मैं आज यह स्मरण करके कल्पनातीत आनन्द अनुभव कर रहा हूँ कि वचपनमे मैंने जिस महात्माके प्रथमवार दर्शन किये, वे इस युगके समन्तभद्र ब्र० सीतलप्रसादजी थे।

विद्यार्थियोंकी परीक्षा ली। देव-दर्शन और रात्रि-भोजन त्यागका महत्त्व भी समझाया। दो-एक रोज रहे और चले गये, मगर अपनी एक अमिट छाप मार गये। जीवनमे अनेक त्यागी और साधु फिर देखनेको मिले, मगर वह वात देखनेमे न आई।

"तुलसी कारी कामरी, चढ़ौ न दूजौ रंग।"

सैकड़ों पढ़े हुए पाठ भूल गया। जीरेकी बजाय सौंप और धनियेके बजाय अजमायन लानेकी मैंने अक्सर भूल की। पर न जाने क्यों ब्र० सीतलप्रसादजीको जो पहलीबार देखा तो फिर न भूला।

उस बोरिया नशींका[1] दिलोमें मुरीद हूँ।
जिसके रियाज़ों ज़ुहदमें[2] बूएरिया[3] न हो॥

—अज्ञात

सन् १६१६ में रौलटऐक्ट विरोधी आन्दोलनके फलस्वरूप अध्ययन के बन्धनको तोड़कर सन् २० मे मै दिल्ली चला आया। उसी वर्ष ब्रह्मचारीजीने दिल्लीके धर्मपुरेमे चातुर्मास किया। भूआजीने रातको आदेश दिया कि प्रात.काल ५ बजे ब्रह्मचारीजीको आहारके लिए निमन्त्रण दे आना, निमन्त्रण विधि समझाकर यह भी चेतावनी दे दी कि "कही ऐसा न हो कि दूसरा व्यक्ति तुमसे पहले ही निमन्त्रण दे जाय और तुम मुँह ताकते ही रह जाओ।"

ब्रह्मचारीजीके चरणरज पड़नेसे घर कितना पवित्र होगा, आहार देनेसे कौन-सा पुण्य बन्ध होगा, उपदेश-श्रवणसे कितनी निर्जरा होगी और कितनी देर सवर रहेगा—यह लेखा तो भूआजीके पास रहा होगा, मगर अपनेको तो बचपनसे देखे हुए उन्ही ब्रह्मचारीजीके पुन· दर्शनकी लालसा और निमन्त्रण देनेमे पराजयकी आशंकाने उद्विग्न-सा कर दिया, बोला—

"यदि ऐसी बात है तो मैं वहाँ अभी जा बैठता हूँ, अन्दर किसीको घुसते देखूँगा तो उससे पहले मैं निमन्त्रण दे दूंगा।"

भूआजी मेरे मनोभावको न समझ कर स्नेहसे बोली—"नही, बन्ने! (दूल्हा) अभीसे जानेकी क्या जरूरत है! सवेरे-सवेरे उठकर चले जाना।"

---

१ बोरिया अथवा चटाई पर बैठा हुआ तपस्वी। २ व्रत और त्यागमें। ३ बनावटकी गन्ध।

मजबूरन रातको सोना पड़ा, मगर उत्साह और चिन्ताके कारण नींद नही आई, और ३-४ बजे ही पहाडी धीरजसे दो मील पैदल चलकर धर्मपुरे पहुँचा तो फाटक बन्द मिला। बड़ा क्रोध आया—"अभीतक मन्दिरके नौकर सोये ही हुए है। लोग निमन्त्रण देने चले आ रहे है, मगर इन्हे होश तक नही। ऐसे मूर्ख है कि एक रोज भी दर्वाजा बन्द करना नही भूलते, गावदी कहीके।"

अन्धेरेमे ही दरवाजा खुला तो मालूम हुआ कि ब्रह्मचारीजी मन्दिरकी छतपर है। जल्दी-जल्दी सीढियाँ चढकर मै चाहता था कि ब्रह्मचारीजीके पॉव छूकर निमन्त्रण दे दूँ, कि देखा ब्रह्मचारीजी अटल समाधिमे लीन है। सुहावनी ठण्डी-ठण्डी हवामे मीठी नीद छोड़कर विदेह बने बैठे है। भक्तिविभोर होकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उठकर सतर्कतासे इधर-उधर देखता रहा कि कोई अन्य निमन्त्रणदाता न आन कूदे; और इसी भयसे मन्दिरके आदमीसे तनिक ऊँची आवाजमे पूछ भी लिया कि ब्रह्मचारीजी कितनी देरमे सामायिकसे उठेगे, मै उन्हे निमन्त्रण देने आया हूँ। ताकि ब्रह्मचारीजी भी सुन ले और अब और किसीका निमन्त्रण स्वीकृत न कर ले। निश्चित समयपर सामायिकसे निवृत्त हुए, निमन्त्रण मजूर किया और सानन्द आहार और उपदेश हुआ।

तबसे यानी सन् '२० से ब्रह्मचारीजीके स्वर्गासीन होनेतक—रोहतक, पानीपत, सतना, खण्डवा, लाहौर, बड़ौत, दिल्ली आदिके उत्सवोपर पचासो बार साक्षात्कार हुआ, उत्तरोत्तर श्रद्धा बढती ही गई। जैनधर्मके प्रति इतनी गहरी श्रद्धा, उसके प्रसार और प्रभावनाके लिए इतना दृढप्रतिज्ञ, समाजकी स्थितिसे व्यथित होकर भारतके इस सिरेसे उस सिरे तक भूख और प्यासकी असह्य वेदना को वसमे किये रातदिन जिसने इतना भ्रमण किया हो, भारतमें क्या कोई दूसरा व्यक्ति मिलेगा? आज महात्मा गाधीके थर्डक्लासमे सफर करनेपर लोगोको आश्चर्य होता है। जबकि उनका थर्डक्लास भी फर्स्टसे अधिक उपयोगी बन जाता है और साथमें सेवा-शुश्रूषाके लिए एक खासा दल साथ रहता है। पर जैन

समाजके किसी धनिकने इस तपस्वीको इण्टरका भी टिकिट लेकर नहीं दिया। वही धकापेलवाला थर्डक्लास, उसीमें तीन-तीन वक्त सामायिक, प्रतिक्रमण। उसीमें जैनमित्रादिके लिए सम्पादकीय लेख, पत्रोत्तर, पठन-पाठन अविराम गतिसे चलता था। मार्गमें अष्टमी, चतुर्दशी आई तो भी उपवास, और पारणाके दिन निश्चित स्थानपर न पहुँच सके तो भी उपवास और २-३ रोजके उपवासी जब सन्ध्याको यथास्थान पहुँचे तो पूर्व सूचनाके अनुसार सभाका आयोजन, व्याख्यान, तत्त्वचर्चा!

न जाने ब्रह्मचारीजी किस धातुके बने हुए थे कि थकान और भूख-प्यासका आभास तक उनके चेहरेपर दिखाई न देता था।

ब्रह्मचारीजी जैसा कष्टसहिष्णु और इरादेका मजबूत लखनऊ-जैसे विलासी शहरमे जन्म ले सकता है, मुझे तो कभी भी विश्वास न होता, यदि ब्रह्मचारीजी इस सत्यको स्वय स्वीकृत न करते। भला जिस शहर-वालोंको बग़ैर छिला अंगूर खानेसे क़ब्ज हो जाय, ककड़ी देखनेसे जिन्हे छीक आने लगे, तलवार बन्दूकके नामसे जम्हाइयाँ आने लगें, उस शहरको ऐसा नरकेशरी उत्पन्न करनेका सौभाग्य प्राप्त हो सकता है? परन्तु धन्य है लखनऊ! मुझे तो लखनऊमें उत्पन्न होनेवाले बन्धुओ--लाला बरारतीलालजी, जिनेन्द्रचन्द्रजी आदिसे ईर्ष्या होती है कि वे उस लखनऊ मे उत्पन्न होनेका सौभाग्य रखते है, जिसे ब्रह्मचारीजीकी बालसुलभ अठखेलियाँ देखनी नसीब हुई और परिषद्के सभापति दानवीर सेठ शान्ति-प्रसादजीने जिसकी रजको मस्तकसे लगानेमें अपनेको गौरवशील समझा।

मुझे सन् २७-२८ के वे दुर्दिन भी याद है, जब चाणक्यको अँगूठा दिखानेवाले एक मायावी पडितजीके षड्यन्त्र स्वरूप उन्होने सनातन जैन समाजकी स्थापना कर दी थी। वे इसके परिणामसे परिचित थे। इसी-लिए उन्होने उक्त संस्थाकी स्थापनासे पूर्व उन सभी जैन-संस्थाओसे त्याग-पत्र दे दिया था, जिनसे उनका तनिक भी सम्बन्ध था। क्योकि वे स्वप्न में भी उन संस्थाओका अहित नही देख सकते थे; किंतु जो अवतरित ही ब्रह्मचारीजीको मिटानेके लिए हुए थे, उन्हें केवल इतनेसे सन्तोष न

हुआ। वे ब्रह्मचारीजीके व्यक्तित्वको ही नही, अस्तित्वको भी मिटानेके लिए दृढ़संकल्प थे। इस भीष्म पितामहपर धर्मकी आड़मे प्रहार किये गये।

आचार्य शान्तिसागरजीके सघको उत्तर भारतमें लाया गया। सम्मेद शिखरपर वृहद् महोत्सवका आयोजन किया गया और इस बहाने गाँव-गाँव और शहर-शहरमे यह संघ भ्रमण करता हुआ सम्मेदशिखर पहुँचा। ब्रह्मचारीजीके व्यक्तित्व और प्रभावके ईर्ष्यालु कुछ लोग इस सघमे घुस गये और ब्रह्मचारीजीके विरोधमे विष-वमन करने लगे। इन धर्मके ठेकेदारोने भोली-भाली धर्मभीरु जनताको धर्म डूबनेकी दुहाई देकर उत्तेजित कर दिया। ब्रह्मचारीजीका वहिष्कार कराया गया, और तारीफ़ यह कि यह बहिष्कार-लीला केवल एक ही जगह करके आत्मसुख नही मिला। गाँव-गाँवमे यह लीला दिखाई गई। मुनिसघ और अखिल भारतीय महासभाका प्रमाण-पत्र ही इसके लिए काफ़ी नही था, इसपर गाँव-गाँवकी जनताके हस्ताक्षर भी जरूरी थे। मानो वे ऐसे मुजरिम थे कि क़त्ल-नामेपर जजके हस्ताक्षरोके अलावा चपरासी, पटवारी और चौकीदारके दस्तख़त भी लाजिमी थे।

लाओ तो क़त्लनामा मेरा, मैं भी देख लूँ।
किस-किसकी मुहर है, सरे महज़र[1] लगी हुई॥

—अज्ञात

यह ऐसी आँधीका ववण्डर था कि इसमे अच्छे-से-अच्छे ब्रह्मचारी जीके भक्त उखड गये। जो उखड़े नही, वह झुककर रह गये। दो-चार खड़े भी रहे तो ठुण्ठकी तरह बेकार, कुछ सूझ ही न पडता था कि क्या किया जाय? उनके ही शहरोमे उनकी ही उपस्थितिमें यह सब कुछ हुआ, पर वे एक आह भी मुँहसे न निकाल सके। पुलिसकी वर्छियोका सामना करनेवाले जैन कांग्रेसी भी इन अहिसकोकी सभामें बोलनेका साहस

---

१ वह क़ाग़ज़ जिसपर न्यायाधीशोंने निर्णय लिखा हो।

न कर सके। वैरिस्टर चम्पतरायजी और साहित्यरत्न प० दरबारीलालजी (वर्तमान स्वामी सत्यभक्त) जैसे प्रखर और निर्भीक विद्वान् साहस बटोरकर गये भी, मगर व्यर्थ।

उन्हे भी तिरस्कृत किया गया, वेचारे मुँह लटकाये चले आये। "सीतलप्रसादको ब्रह्मचारी न कहा जाय, उसे आहार न दिया जाय, धर्म-स्थानोमें न घुसने दिया जॉय, उसे जैन संस्थाओसे निकाल दिया जाय, उसके व्याख्यान न होने दिये जायँ, उसके लिखने और वोलनेके सव साधन समाप्त कर दिये जॉय।" यही उस समयके जैन-धर्मोपयोगी नारे उस संघने तजवीज किये थे।

ब्रह्मचारीजीके भक्तोने उन्हें काफ़ी समझाया कि इस समय समाज काफ़ी क्षुब्ध कर दी गई है; सनातन समाजके प्रचारको छोड़ दीजिये, थोडे दिन भ्रमण वन्द रखिये। भ्रमणमे योग्य स्थान, आहार, व्याख्यान-आयोजनोकी तो असुविधा रहेगी ही, पानी छानकर पीनेवाले वहुतसे लोग आपका अनछना लहू पीना भी धर्म समझेगे!

भक्तोने काफी उतार-चढावकी वातें की; मगर वे टस-से-मस न हुए। वही धुन अविराम बनी रही। दिवाकर उसी गतिसे चलता रहा। आँधियाँ, मेह, तूफ़ान, भूकम्प, राहु, केतु सव मार्गमे आये, मगर वह वढता ही गया, उसकी गतिमे कोई वाधा न डाल सका।

अहले हिम्मत मंज़िले मक़सूद तक आ ही गये।
बन्दये तक़दीर क़िस्मतका गिला करते रहे॥

—चकवस्त

उन्होंने सव संस्थाओसे सम्वन्ध विच्छेद कर लिया था, परन्तु स्याद्वाद विद्यालयके भूलसे सदस्य बने रह गये। उन्हें यह ध्यान ही न आया कि उनका सदस्य रहना भी विद्यालयके लिए घातक समझा जायगा। अतः उनको सदस्यतासे पृथक् करनेके लिए भी एक सर्कूलर जारी किया गया। स्व० रायवहादुर साहू जुगमन्दरदासजीके पास भी यह प्रस्ताव सम्मत्यर्थ आया। मैं उनके पास उस समय मौजूद था।

वे पत्र पढकर विह्वल-से हो गये, मैंने घबराकर सबब पूछा तो चुपचाप पत्र सामने रख दिया। मैं पत्र पढ ही रहा था कि बोले—"गोयलीय ! उस विद्यालयके उत्सवोपर जैनेतर विद्वान् तो सभापति हो सकते हैं, जो न जाने कैसे-कैसे अपने विचार रखते हैं और वे ब्र० सीतलप्रसादजी सदस्य भी नही रह सकते, जिन्होने उसके निर्माणमें जीवन समर्पित कर दिया है।" कहते, कहते जी भर-सा आया, मेरे मुँहसे वे साख्ता निकल पडा—

तेरी गलीमें मैं न चलूँ, और सबा चले।
जो ख़ुदा ही यह चाहे तो, फिर बन्दे की क्या चले॥

—अज्ञात

सुना तो उठकर चले गये, फिर उस रोज मुलाकात न हो सकी। दूसरे रोज जो उन्होने पत्र स्याद्वाद विद्यालयके अधिकारी वर्गको लिखा, काश वह पुरानी फाइलोमें मिल सके तो वह भी इतिहासकी एक अमूल्य निधि होगी।

इन्ही ऑधी तूफ़ानोके दिनो (सन् २८ या २९) मे पानीपतमे श्री ऋषभजयन्ती-उत्सव था। मै और स्वर्गीय पं० वृजवासीलालजी वहाँ गये थे। रात्रिके ८ वजे होगे, सभामण्डपमे हिसाव आदिको लेकर खासी गर्मा-गरम वहस हो रही थी। मै सोच ही रहा था कि आज क्या खाक सभा जम सकेगी कि प० वृजवासीलालजी वदहवास-से मेरे पास आये और एकान्तमे ले जाकर वोले—"गोयलीय ! अनर्थ हो गया, अव क्या होगा ?"

मै घवराकर वोला—"पण्डितजी, ख़ैर तो है, क्या हुआ ?"

वे पसीनेको चान्दपरसे पोछते हुए वोले—"वावाजी स्टेशनपर वैठे हुए हैं" और यह कहकर ऐसे देखने लगे जैसे किसी भागी हुई स्त्रीके मरनेकी ख़बर फैलानेके वाद, उसे पुन. देख लेनेपर होती है। मुझे समझते देर नही लगी कि ये वावाजी कौन-से हैं और क्यो आये हैं। वात यह थी कि पानीपतमे ब्रह्मचारीजीके भक्त काफ़ी थे, उन्होने आनेके लिए उन्हे

निमंत्रण भी दिया था, पर इस हवामें कुछ विरोधी विचारके भी हो गये थे, उन्होंने ब्रह्मचारीजीको न आनेका तार दे दिया।

स्थानीय उत्सव था, कोई अखिल भारतीय तो था नही। चाहते तो आना टाला जा सकता था; परन्तु विरोधी तार पहुँचनेपर तो मानो उनको चुनौती मिल गई कि सब कार्यक्रम छोड़कर पानीपत आगये। वहाँके सुधारक भी नही चाहते थे कि व्यर्थमें आपसमे मनमुटाव बढे और अभिलाषा यही रखते थे कि समयाभाव वस न आ सकें तो अच्छा ही है।

लेकिन जव यकायक उनके आनेका समाचार मिला तो मानो अँधेरे मे साँपपर पाँव पड़ गया। अव स्थानीय मनमुटावकी वात तो गौण हो गई, उनके मानापमानकी समस्या खड़ी हो गई। ऐसे अवसरोपर स्थानीय कार्यकर्त्ताओकी स्थिति बड़ी नाजुक हो जाती है। घरमे ही दलवन्दी शुरू हो जाती है। रात-दिनके उठने-वैठनेवाले भी विरोध करने लगते है। मित्र भी शत्रु पक्षमे जा खड़े होते है। खैर, जैसे-तैसे ब्रह्मचारीजीको सभामे लाया गया।

सभाका अध्यक्ष भी उन्हीको चुना गया तो एक दो व्यक्तियोने कुछ पक्षियों-जैसी आवाज़मे फब्ती कसी। मुझे ही सबसे पहले वोलनेको खड़ा किया गया। अभी मुँह खोला भी न था कि बाहर दर्वाजेपर लोग लाठियाँ लेकर आ गये। इधर से भी लोग सामना करनेको जा डटे। हम परेशान थे कि क्या आज सचमुच हमारे जीतेजी ब्रह्मचारीपर हाथ छोड़ दिया जायगा? उन दिनो मै आर्यसमाजी टाइप डडा अपने साथ रखता था, लपककर उसे उठा लिया और आवेश भरे स्वरमे वोला—"ब्रह्मचारीजी, अव आप व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दे, देखे कौन माईका लाल आप तक वढता है।"

ब्रह्मचारीजी सिहर-से गये, वोले—"भाई शान्त रहो, मेरा व्याख्यान करा दो, फिर चाहे मेरा कोई प्राण ही निकाल दे।"

आखिर पाला सुधारकोके हाथ रहा और मुट्ठी भर विरोधी खदेड़कर दूर भगा दिये गये। उन दिनों पानीपतमें प० अरहदासजी जीवित

थे। क्या ही पुरानी वजअ-कतअके धर्मात्मा जीव थे। उनकी मृत्युसे पानीपतकी समाजको बहुत गहरी क्षति पहुँची है। आज भी बा० जय-भगवानजी वकील जैसे दार्शनिक और ऐतिहासिक विद्वान्, पं० रूपचन्दजी गार्गीय आदि जैसे धर्मोपकारी मनुष्य पानीपतमे मौजूद है। इन्ही सबके साहस और सतर्कतासे उस रोज पानीपतके सुधारकोका पानी देखने को मिला। पहले तो ब्रह्मचारीजीको केवल धर्मोपदेशके लिए ही निमंत्रित किया गया था। अब विरोधी पक्षके इस रवैयेसे चिढकर वहाँके कुछ लोगोने, जो विधवा-विवाहके पक्षपाती थे—दूसरे रोज एक सार्वजनिक सभाका बहुत बड़ा आयोजन किया। कानमे भनक पडी कि कुछ लोग ब्रह्मचारीजी-की नाक काटनेको फिर रहे है। सुना तो मै और प० वृजवासीलालजी भौचक रह गये। हे भगवन्! जब उन्हीकी नाक चली जायगी, तब हमारी नाककी कीमत भी क्या रहेगी? पानीपतमे आकर बुरे फँसे। बादशाही लड़ाइयोका पानीपत क्षेत्र रहा है, यह तो इतिहासमे पढा था, पर हम भी कभी जा फँसेगे, यह कभी ख्यालमे भी न आया था। सभा-स्थान जैन-अजैन जनतासे खचाखच भरा था, विरोधी भी डटे खडे थे। जहाँ तक ख्याल है उस सभाके अध्यक्ष बा० जयभगवान्जी बनाये गये थे। प्रारम्भमे ही खडे होकर उन्होने जो मौलिक सारगर्भित, प्रामाणिक, नपा-तुला भाषण दिया तो मै स्तब्ध-सा रह गया! पानीपत ४-५ बार व्याख्यान देने गया था, परन्तु बा० जयभगवान्जीका व्याख्यान नही सुना था। यह तो जानता था कि ये एक सुलझे हुए और दार्शनिक व्यक्ति है, परन्तु इतना गहरा अध्ययन है और ऐसा मर्मस्पर्शी भाषण दे लेते है, यह नही मालूम था। इनके बाद ब्रह्मचारीजीका भाषण हुआ, उनके भाषण सैकडो बार सुने थे, परन्तु उस रोज-जैसा भाषण फिर सुननेको नही मिला। सभा शान्त थी और यह मालूम होता था कि किसी जादू-गरने मोहनी डाल दी है।

सन् ४० में रुग्ण होकर रोहतकसे दिल्ली आये। २-४ रोज रहकर लखनऊ जब जाने लगे तो कारमें बैठते हुए बोले—"गोयलीय! हमारा

जमाना समाप्त हुआ, अब तुम लोगोंका युग है। कुछ कर सको तो कर लो, समाज-सेवा जितनी अधिक बन सके कर लो, मनुष्य-जन्म बार-बार नही मिलनेका. . . .''कहते हुए गला रुँध गया। मै टप-टप रोने लगा, पाँव तो छू सका पर मुँहसे न बोला गया। उस समय यह आभास भी न हुआ कि समाजके प्रति इतनी मोह-ममता रखनेवाला व्यक्ति लखनऊ जाकर यूँ निर्मोही हो जायगा और जिस लखनऊने उसे दिया था, वही हमसे विना पूछे-ताछे अपने उदर-गह्वरमे रख लेगा।

ब्रह्मचारीजीकी मृत्युपर पत्रोने आँसू बहाये, शोक-सभाएँ भी हुई। शीतल-होस्टल, शीतल-वीर-सेवा-मन्दिर और शीतल-ग्रन्थमालाकी योजनाएँ भी कुछ दिनों बड़ी सरगर्मीसे चली, पर आखिर सब सीतल-स्मारक—शीतल होकर रह गये।

—वीर, १५ फरवरी, १९४७ ई०

इस युगके समन्तभद्र

साहू शान्तिप्रसाद

पूज्य ब्रह्मचारीजी इस युगके समन्तभद्र थे, पर इस युगने अपने समन्तभद्रको पहचाननेमें कितनी देर कर दी! मन चाहता है, आज वह जीवित होते और हम उनके इशारे पर अपना जीवन न्यौछावर कर सकते! पर यह होने का नहीं; और आदमी खोकर ही दुर्लभ को पहचानता है!

पूज्य ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी जैन-भारतीके मन्दिरकी देवली पर ज्ञान की जो अखंड ज्योति जला गये हैं, वह युग-युग तक ज्ञाताका मार्ग प्रदर्शन करेगी और ज्ञेयको आलोकित करेगी। सच पूछिये तो उन्होंने समाजको जीवन देनेके लिए स्वयं अपने जीवनकी, और इससे भी अधिक, अपने जीवनके उपार्जित यश की भी बलि चढा दी!

जीवन-झाँकी

श्री राजेन्द्रकुमार, भू० पू० प्रधानमंत्री, जैन-परिषद्

ब्रह्मचारीजीका जन्म लाला मक्खनलालकी धर्मपत्नी श्रीमती नारायणी देवीके उदरसे सन् १८७९ ई० मे लखनऊमें हुआ था। जिस गृहमे आप का जन्म हुआ, वह कालामहलके नामसे प्रसिद्ध है। आपने १८ वर्षकी आयुमे मेट्रिक्युलेशनकी परीक्षा प्रथम श्रेणीमे तथा ४ वर्ष बाद रुडकी इजीनियरिंग कॉलेजसे एकाउण्टेण्टशिपकी परीक्षा पास की। परीक्षाएँ पास करनेके वाद आपको गवर्नमेंट सर्विस मिल गई। इतनी शिक्षा प्राप्त कर लेने तथा गवर्नमेंट सर्विस मिलनेसे कोई वावू सीतलप्रसादजीकी विशेषता या मान्यता वढ गई हो सो वात नही, वल्कि **"होनहार बिरवानके होत चीकने पात"** वाली कहावतके अनुसार पूज्य ब्रह्मचारीजीमे वाल्यकालसे ही उन उत्तम गुणोका समावेश पाया जाता था, तथा उनका हृदय उन शुभ भावनाओसे ओत-प्रोत दिखाई देता था, जो गुण और भावनाएँ उदीयमान नेताके लिए उपयुक्त होती हैं। इसकी झाँकी ब्रह्मचारीजीके उस सर्वप्रथम लेखमें मिलती है जो २४ मई सन् १८९६ ई० के "हिन्दी जैन गजट" मे प्रकाशित हुआ था, उस लेखका कुछ अंश निम्न प्रकार है.—

"ऐ जैनी पंडितो! यह जैनधर्म आप ही के आधीन है। इसकी रक्षा कीजिये, ज्योति फैलाइये, सोतोंको जगाइये और तन-मन-धनसे परोपकार और शुद्धाचार लानेको कोशिश कीजिये, जिससे आपका यह लोक और परलोक दोनों सुधरे।"

१८वर्षकी आयुवाले उदीयमान समाजोद्धारक सीतलप्रसादके ये लेखांश धर्म-प्रचार और समाज-सेवाके सूत्र थे। विज्ञ पाठक देखेंगे कि इन सूत्रों का महाभाष्य ही ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीका जीवन कर्म-क्षेत्र रहा है।

या यो कहिये कि जैन-भवनमे ब्रह्मचारीजीकी जीवनज्योति इनके निमित्त ही प्रकाशित रही।

गृहस्थ, आकस्मिक घटना

आपका विवाह कलकत्ताके वैष्णव अग्रवाल छेदीलालजीकी सुपुत्रीसे हुआ था। आपने अपनी धर्मपत्नीको धार्मिक शिक्षा और सस्कारोसे आदर्श पत्नी वनाया था। उन्होंने अपने मानव शरीरको केवल अपनी गृहस्थ-रूपी गाड़ीके खीचने ही में नही लगाया; वल्कि वीसवी सदीमे जैन-समाज का उत्कर्ष और जैन-धर्मका अनन्य प्रचार करनेमे लगाया। भावी-घटनाओंके घटित होनेके लिए परिस्थितियाँ स्वय पथ निर्माण कर लेती है। सन् १९०४ ई० मे प्लेगने देशमे नरसंहार करके त्राहि-त्राहि मचा दी थी। इसी महामारीमे १३ फरवरीको उनकी आदर्श पत्नी, ९ मार्चको जननी तथा १५ मार्चको अनुज पन्नालालजी सदाके लिए सो गये। इसे हम समाजके लिए भगवान्‌की गुप्त देन कहें तो अनुचित न होगा हालाकि वेदना कितनी तीव्र हुई होगी, इसका पाठक स्वयं अनुमान लगा ले।

अग्नि-परीक्षा

इस प्रकार एक महीनेमे ही स्नेही संवधियोके आकस्मिक वियोगके कारण गृहस्थ सीतलप्रसादजीकी जीवन-नाट्यशालासे मोह-यवनिका उठ चुकी थी; किन्तु अभी उनकी अग्नि-परीक्षा और भी शेष थी। इसके लिए आपने प्रतिदिन सैद्धान्तिक ग्रंथोके स्वाध्याय और सामाजिक सेवाओ द्वारा पर्याप्त वल प्राप्त कर लिया था। एक ओर तो सरकारी नौकरीमे पद और वेतनवृद्धिकी वलवती आशा, प्रौढ़ावस्थाकी उठती हुई हिलोरें, कुटुम्वियों, संवधियो और सहयोगियोंका पुनः पुनः गृहस्थी वसानेका आग्रह, कन्याओंका सौदर्य्य, योग्यता और उनके पिताओका संवंध स्वीकार करनेकी प्रार्थना आदि, दूसरी ओर गृहस्थ सीतलप्रसादजीके मनमें समाजसेवाकी लगन। सीतलप्रसादजी इस अग्नि-परीक्षामें पूरे उतरे। जैन ग्रंथोके स्वाध्याय ने आपके हृदयको विषय-वासनाओसे विरक्त तथा समाजसेवाके लिए

बलिष्ठ बना दिया था। आपने १९ अगस्त सन् १९०५ ई० को अपनी सरकारी नौकरीसे त्याग पत्र दे दिया। अब आपके समयका बहुभाग उच्चकोटिके ग्रथोके मनन करने और समाज-सेवाओमें व्यतीत होने लगा।

स्व० सेठ माणिकचन्दजीके साथ

इसी वर्ष दिसम्बरमे श्री भा० दिगम्बर जैन महासभाका अधिवेशन सहारनपुरमे था। इस अधिवेशनके सभापति प्रसिद्ध दानवीर से० माणिक-चन्द्र हीराचन्द्र जे० पी० थे। इसी समय आपका विशेष परिचय सेठ-जीसे हुआ। स्व० सेठजी सच्चे कार्यकर्त्ताओके पारखी थे। आपने वैरागी, जिनधर्मभक्त और सच्चे समाजसेवी श्री ब्रह्मचारीजीको अपने यहां बबईमें रहनेके लिए आग्रह किया। श्री ब्रह्मचारीजीने उनके पास रहकर उनको धार्मिक कार्यो और समाज-सेवाके लिए उकसाया और अपना सहयोग दिया। स्व० सेठजीने बबई, सांगली, आगरा, अहमदाबाद, शोलापुर, कोल्हापुर, लाहौर आदि स्थानोमे जैन बोर्डिग हाउस, सभा आदि जैनोपयोगी अनेक सस्थाओको स्थापित किया था। इनमे अधिक-तर स्व० ब्रह्मचारीजीका ही हाथ था। स्व० सेठजी प्रत्येक धार्मिक और सामाजिक कार्योमे पूज्य ब्रह्मचारीजीसे सम्मति लेते थे। सेठजी ब्रह्मचारी-जीकी प्रेरणासे अपना व्यापार छोड़कर समाज-सेवाके कार्योमे सलग्न हो गये। इस प्रकार आपने सन् १९०९ तक स्व० सेठजीके साथ रहकर समाज-सेवा की।

दीक्षा, चरित्र-पालन

श्री ब्रह्मचारीजीके शुद्ध चरित्र-पालनके भाव और संस्कार बाल्य-कालसे ही हो गये थे। ब्रह्मचारीजीके पितामह ला० मगलसेनजी अपने समयका बहुभाग श्री गोम्मटसार, समयसार आदि सैद्धान्तिक ग्रथराजोके अवगाहन और तत्त्वचर्चामे लगाते थे। ब्रह्मचारीजीके चरित्रमें धार्मिकता, जैनधर्ममे लगन और चरित्रनिष्ठाको निर्माण करनेकी आधार-शिलाका न्यास आपके पितामह द्वारा रक्खा जा चुका था। इसको स्वाध्याय,

सत्सग और आत्ममननने और बढाया। अतमे आपने ३२ वर्षकी आयुमे सन् १९११ ई० के मार्गशीर्ष मासमे श्री ऐलक पन्नालालजीके समक्ष शोलापुरमे ब्रह्मचर्य-प्रतिमा धारण कर ली। ब्रह्मचारीजी चरित्रके बड़े पक्के थे। शुद्ध-आहार, प्रासुक जल, और शुद्धताके बड़े कट्टर पक्षपाती थे। रेलके सफ़रमे दो-दो दिन व्यतीत हो जाते थे, पर आप इनमे जरा भी शिथिलता नही होने देते थे। त्रिकाल-सामायिक, ग्रथोके स्वाध्याय आदि दैनिक-चर्यामें कभी कमी नही होने पाती थी।

उनका वेष

गृहस्थ अवस्थामें लखनवी देशी चलनकी पोशाक और सातवी प्रतिमा धारण करनेके पश्चात् रगीन गेरुआ शुद्ध खादीकी धोती चादरमे वहुत ही भव्य मालूम होते थे। प्रथम रगीन कपड़े जैनमहिलारत्न मगन वाईजी-ने तैयार किये थे। खद्दरका उपयोग उनका चिरसंगी रहा। उनकी शव-यात्रापर भी खद्दरके तिरंगे झंडे उनके स्वदेशी वेषकी रागिनी गा रहे थे।

उनका भाव

अध्यात्म रसमें उनका अंतरंग रँगा हुआ था। उदारता, सहिष्णुता और विश्वकल्याण उनकी अपनी विशेषता थी। जैनोमे, अजैनोमें, स्वदेश मे, विदेश मे—जैनत्वकी झलक भरनेका प्रयत्न करना उनकी श्वासोका मधुर संगीत बन गया था।

वे पंडितोंमे पंडित थे और वालकोमें विद्यार्थी। उदारता और कट्टरताका उनमें विलक्षण समन्वय था। आटा हाथका पिसा हो, मर्यादाके अन्दर हो, जल छना हुआ तथा शुद्ध हो, गृहस्थकी जैनधर्ममे नि:शंकित श्रद्धा हो, वही उनका आहार होता था। उनका आहार-विहार शास्त्रोक्त था। साथ ही उनका दृष्टिकोण उदार था। सुधारकों मे वे उग्रतम सुधारक थे। कुरीतियों और लोकमूढ़ताओके लिए तो वे प्रलयंकारी ज्वाला थे। जननी जातिकी उन्नतिके लिए उनका हृदय तड़पता था।

असाधारण मिशनरी !

"आप क्या स्वाध्याय करते है ?" जैनोसे यह उनका पेटेण्ट प्रश्न था। "जैन धर्मकी छायामें आप भी आत्मकल्याण करे" अजैनोके लिए उनका यह पवित्र सदेश था। इसी रटनामें उन्होने अटकसे कटकतक और कन्याकुमारीसे रासकुमारीतक भ्रमण किया। बौद्ध संस्कृति और साहित्यसे निकट संपर्क स्थापित करनेके लिए वे लका भी गये। शहरोमे ही नही, देहातोमे भी उन्होने जाग्रतिका मत्र फूंका।

आप अजैन विद्वानोके सामने एक सच्चे जैन मिशनरीकी स्प्रिटसे जा पहुँचते थे। आज पजाव विश्वविद्यालयके वाइस चान्सलर प्रो० वुल्नर को प्रभावित कर विश्वविद्यालयमे जैनदर्शन प्रचारकी जड़ जमाई जा रही है तो कल राधा स्वामियोके 'साहव' जीको जैनदर्शनकी खूबियाँ समझाने दयालवाग पहुँच रहे है।

तीर्थोद्धारक

जैन चिह्नोंकी जहाँ गंध मिली, अखंड जैनसंघकी कमनीय कल्पनामें रत ब्रह्मचारीजी वही खोजको डट गये। इटावाकी नसियाँ, कलुआ पहाड आदि अनेक क्षेत्रोका अनुसधान और उद्धार आपने किया। अलीगढ़ के एक पत्रसे आपको 'कैलाश यात्रा' का पता चला। उस पुस्तकको आपने तीर्थक्षेत्र कमेटीसे प्रकाशित कराया। तीर्थक्षेत्रोंके रक्षार्थ आपने पूरा प्रयत्न किया।

जैनोंकी वाइबिल

'द्रव्यसंग्रह' और 'तत्त्वार्थसूत्र' को वे "जैनोंकी वाइविल" समझते थे। जहाँ जाते, योग्य छात्रोको पढाते। इन ग्रंथोका अधिक-से-अधिक प्रचार करते।

वे राष्ट्रिय थे !

राजनीतिमे उनके विचार कांग्रेसके समर्थक थे। श्री अर्जुनलालजी सेठीकी नजरबंदीके विरोधमे आन्दोलनका नेतृत्व किया। हजारों हस्ताक्षर

कराकर मेमोरियल भेजे; फण्ड स्थापित किये। जैन धनिकों और वकील बैरिस्टरोसे निर्भय होकर सहायताकी प्रेरणा की। राष्ट्रिय महासभाके प्रत्येक अधिवेशनमें वे शामिल होते थे।

आप जैन-पोलिटिकल कान्फ्रेंसके जन्मदाताओमेसे थे, जिसके द्वारा आप जैनों व राष्ट्रिय नेताओंमे संपर्क स्थापित करना चाहते थे। कुछ लोगोने उसमें अड़गा लगाया। इसपर आपने "जैन मित्र" द्वारा उनकी खूब खबर ली।

काशी स्याद्वादविद्यालयके "अधिष्ठाता" होनेके समय, विद्यालयका स्वयंसेवक-दल कानपुर कांग्रेसके अवसरपर सेवार्थ गया।

५ दिसम्बर सन् १९४० ई० के 'जैनमित्र' में 'देशसेवा' शीर्षक लेख में आपने निम्न भाव प्रकट किये थे—

"भारतकी दशा दयाजनक है, देशसेवा धर्म है—कठिन व्रत है। यह एक ऐसा यज्ञ है, जिसमे अपनेको होम देना होता है।"

अंतमे आपने जैनसमाजको उपदेश दिया था कि "अपनेको भारतीय समझो। कांग्रेसका साथ दो।"

उनकी प्रचार-शैली

ब्रह्मचारीजी विवादसे कोसों दूर रहते थे। अतएव अपने उग्र-से-उग्र आलोचकको भी वे उग्र उत्तर न देते थे। वे अपनी बात, युक्ति तथा प्रमाण सहित कहकर चुप हो जाते थे।

१९४०ई० मे—तारण तरण समाजके कुछ नेताओने मूर्तिपूजा खडन का आन्दोलन चलाया। शास्त्रार्थ करनेके लिए चैलेज दिये जाने लगे। समाचार-पत्रोंमे वर्ष दो वर्ष तक पृष्ठके पृष्ठ खंडन-मंडनमें रँगे जाने लगे। ब्रह्मचारीजी शान्तिपूर्वक गतिविधिका अध्ययन करते रहे। नवम्बर १९४० ई० में यह आन्दोलन अप्रिय कटुताकी सीमा तक जा पहुँचा; तब ब्रह्मचारीजीने १२ दिसम्बर सन् १९४० ई० के 'जैनमित्र' द्वारा अपने तरुण तारण भाइयोको समझाते हुए प्रतिपादन किया कि:—

(१) तारण स्वामीने कही भी मूर्ति-पूजाका खंडन नही किया है; निश्चय-नयकी अपेक्षा कथन किया है।

(२) तत्त्वार्थ-सूत्रकी मान्यता आपको भी है ही। उसमे स्थापना-निक्षेपका विधान है। इसलिए सिद्धान्तत: आप मूर्तिपूजाका विरोध कैसे कर सकते है ?

(३) समोशरणकी रचना आप स्वीकार करते ही हैं। उसमे भगवत् पूजन होता ही है। तब आप मूर्तिपूजाका विरोध नही कर सकते !

इस शीतल-वाणीने जादू कर दिया। वह आन्दोलन ही ठप हो गया। विरोधी आन्दोलनके प्रमुख सूत्रधार श्री जयसेनजी (क्षुल्लक)की विज्ञप्ति हम मई '४१ मे पढते है—

"जो पूजीपति नाना मानसिक अत्याचार करते थे और हॉमे हॉ न मिलाने पर पीछी कमंडलु छुडानेकी धमकी देते थे, उनकी सेवामे मैने पीछी कमडलु भेज दिये है।"

गृहत्यागी—गृहस्थ

वैराग्यभावनाके वशीभूत घर छोडकर भी वे समाजकी ममतामें मॉकी तरह लिप्त थे ! अखिल जैन संघ उनका कुटुम्ब बन गया था। "अजितप्रसादजी ! तुम्हारी स्त्री चल बसी है—आओ त्यागी बनो।.... न सही वकालत तो छोड ही दो।" "भाई पन्नालालजी, चम्पतरायजीसे काम लेना चाहिए वरना वे फिर वकालतमे जा फँसेगे।"

उनके इन शब्दोमे—उनके महान् हृदयका चित्रण मिलता है। वस्तुत: धर्मप्रचार और समाजसुधारके लिए ब्रह्मचारीजीकी आशाएँ—वकीलों, बैरिस्टरो, विद्यार्थियो और नवयुवकोपर ख़ास रूपसे केन्द्रित थी। इस क्षेत्रमे वे सदैव जाग्रत रहकर अपने मिशनका प्रचार करते रहे।

महासभामें कार्य्य

पूज्य ब्रह्मचारीजी श्री भा० दि० जैन महासभाके कार्योमे बाल-अवस्थासे योग देते थे। आप इसके प्रत्येक वार्षिक अधिवेशनमें सम्मिलित

होते थे और इसकी उन्नतिकी चेष्टा करते थे। इसके मुखपत्र "जैन गजट" में आप समाज-सुधारके लेख देते रहते थे।

सन् १९०२ ई० में "जैन गजट" का प्रकाशन पूज्य ब्रह्मचारीजीके नियंत्रणमें लखनऊसे होने लगा। आपके २ या ३ वर्षके अथक परिश्रम और लगनने इसको उन्नत बना दिया और उसके फलस्वरूप यह पाक्षिकसे साप्ताहिक हो गया।

जैन-पत्रों का सम्पादन

"जैनमित्र" का संस्थापन पं० गोपालदासजी "वरैया" ने किया था, तथा इसका संपादन भी कुछ समय तक उन्होने ही किया। यह पत्र सर्वप्रथम वंबईसे पाक्षिक रूपमें निकला था। सन् १९०९ ई० मे पूज्य ब्रह्मचारीजी इसके संपादक नियुक्त हुए। सन् १९२९ तक आपने इसका संपादन वड़ी योग्यता, निर्भीकता और श्रमसे किया। आपके संपादन कालमें समाज-सुधार, ऐतिहासिक खोज, जैनधर्म-प्रचार, सामाजिक सगठन, शिक्षाप्रचार आदि उपयोगी विषयोपर उच्च कोटिके लेख और आपके महत्त्वपूर्ण संपादकीय वक्तव्य निकला करते थे। आप प्रायः प्रत्येक अकमें धर्मात्माओंके लिए अध्यात्मरसका अमृत देते थे और साथ-साथमे "मॉडर्न रिव्यू" आदि अंग्रेजी पत्रोसे इतिहास, कला, प्राचीनता आदि विषयोकी अच्छी-अच्छी सामग्री संचित करके "जैनमित्र" के पाठकोको प्रति सप्ताह देते थे। "मित्र" द्वारा आपने सच्ची समाज-सेवा और आदर्श धर्म-प्रचार किया। ब्रह्मचारीजीने "मित्र" द्वारा समाजमे जाग्रति ही नही, बल्कि उद्‌भट लेखकों और सुयोग्य संपादकोको भी पैदा किया। ब्रह्म-चारीजी अनेक जैन नवयुवकोंको लेख लिखनेकी प्रेरणा करते रहते थे।

"वीर" का संपादन भी आपके द्वारा बहुत समय तक हुआ है। आपके सम्पादकीय वक्तव्य और लेख मार्मिक और उच्च कोटिके होते थे। आपने परिषद्‌के उद्देश्योके प्रचारमें बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आपके वक्तव्य और लेख नियमित रूपसे ठीक समयपर "वीर"में प्रकाशित होने के लिए प्राप्त होते थे। चाहे सफ़रमे हों, तूफ़ानी दौरेमे हों, रोगशय्यापर

हो, अथवा सभामें हों, लेखोंके पहुँचनेकी नियामकता (Regularity) कभी भंग नहीं हुई। आपका सदैव यही आदेश रहता था कि "वीर" के प्रकाशनमें देरी न हो। "सनातन जैन" पत्रकी स्थापना भी ब्रह्मचारीजी द्वारा ही हुई थी।

जैन-साहित्य-सेवा

ब्रह्मचारीजीकी साहित्यिक सेवा पत्रोंके संपादन तक ही सीमित नहीं थी। बल्कि उनके जीवनका बहुभाग जैन-साहित्यके निर्माणमें बीता है। आप प्रतिदिन प्रायः १२ घंटे तक लिखते रहते थे। ब्रह्मचारीजी द्वारा विभिन्न विषयोंपर रचना किये गये स्वतंत्र-ग्रंथों, भाषा टीकाओं और पुस्तकोंकी संख्या लगभग ७७ है; जिनका विभाजन विषयोंके अनुसार इस प्रकार है:—आध्यात्म-विषयक २६, जैनदर्शन और धर्मसंबंधी १८, नैतिक ७, अहिंसासंबंधी २, जीवनचरित्र ५, खोज तथा इतिहास संबंधी ६, काव्य २, कोष १, प्रतिष्ठा पाठ १, तारण साहित्य ९। इन ग्रंथोंके अतिरिक्त एक पुस्तक बा० कामताप्रसादजीके पास है, जो शिवचरनलाल फंडकी ओरसे प्रकाशित हो रही है। ब्रह्मचारीजीकी अंतिम पुस्तक "दैव पुरुषार्थ" है, जिसे उन्होंने कंप रोगमें पूरा किया था। इनमेंसे अनेक सैद्धान्तिक ग्रंथोंके बड़े-बड़े पोथे प्राकृत और संस्कृत भाषाके हैं, जिनका पूज्य ब्रह्मचारीजीने बड़ी सरल और सरस भाषामें अनुवाद किया है। आज देशमें लाखों जिन-भक्त इन ग्रंथराजोंका स्वाध्याय कर आत्म-कल्याण कर रहे हैं। आपने जिस विषयको लिया है, उसे ख़ूब माँजा है। आपकी लेखन-शैली जैसी सरल और सरस है वैसी ही मनमोहक भी है।

बौद्ध-साहित्यका गहन-अध्ययन व फल

ब्रह्मचारीजी बौद्ध तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए लंका और बर्मा गये। वहाँ उन्होंने पाली भाषामें बौद्ध-साहित्यका गहन अध्ययन किया और "बौद्ध जैन तत्त्वज्ञान" नामक ग्रंथकी हिन्दी व अंग्रेजीमें रचना की, जिसमें आपने अकाट्य प्रमाणों और बौद्धिक सिद्धान्तोंसे प्रमाणित कर दिया है कि बौद्धदर्शनमें मांसाहार या मृतक जीवके मांस-भक्षणका विधान नहीं है।

विविध-भाषाओं और लिपियोंका ज्ञान

पूज्य ब्रह्मचारीजी पठनावस्थासे ही अंग्रेजी, हिन्दी और उर्दू भाषाओं के ज्ञाता थे, किन्तु आपके ज्ञानकी भूख, तुलनात्मक अध्ययनकी लगन, समाज को विविध विषयोंके ज्ञान करानेकी प्रवल इच्छा और धर्म-प्रचारकी धुनने संस्कृत, फ़ारसी, पाली, अपभ्रंश, प्राकृत, मागधी, कनड़ी, गुजराती और मराठी भाषाओंका भी ज्ञान प्राप्त करा दिया था। विशेष वात यह है कि यह ज्ञान उन्होंने अपने ही परिश्रमसे उपार्जित किया था।

स्तुत्य समाज-सेवा व पदवी-सम्मान

ब्रह्मचारीजीका कार्यक्षेत्र संपूर्ण समाज था। उस समाजकी उलझी हुई समस्याओकी सुलझन, सेवा और अभ्युत्थानके निमित्त उनके इस मानव शरीरका सदुपयोग हुआ है। जिस समय वे समाजके कार्यक्षेत्रमे आये, कोई ऐसी व्यवस्थित सभा न थी, जिसके द्वारा समाजमें धर्मप्रचार, सगठन, शिक्षाप्रचार, कुरीतिनिवारण, रूढियोका दमन और जैन-समाजके स्वत्वों की रक्षा हो सके। उस समय समाजमे केवल दि० जैन महासभा थी। ब्रह्मचारीजीने इसीमें कार्य किया। इसके द्वारा ब्रह्मचारीजीने समाज की स्तुत्य सेवाएँ की। समाजमे सगठन, जनतामे जागरण और सुधारोकी उत्सुकता उत्पन्न होने लगी। ब्रह्मचारीजीने स्याद्वाद विद्यालय काशी, श्री ऋषभब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुर, श्री जैन श्राविकाश्रम वंवई, जैनबाला-आश्रम आरा, श्री जैन व्यापारिक विद्यालय देहली, तथा अनेक जैन वोडिंग हाउसों और जैन पाठशालाओका सस्थापन किया। इधर समाजकी अन्य शिक्षणसंस्थाओं, ग्रंथप्रकाशन समितियों और जैन-धर्म-प्रचारक मंडलोंको भी सहयोग और सहायता दी। जैन सस्थाओके वार्षिकोत्सवों मे सम्मिलित होना, उनकी उन्नतिका पथप्रदर्शन करना, नवयुवकोको समाज-सेवाके लिए प्रेरित करना, शुद्ध आचरण फैलाना, जैन-तीर्थोंकी रक्षा, समाजके स्वत्वोंकी चिन्ता आदि विषयोने ब्रह्मचारीजीको मूर्तिमान् जैन-संस्था बना दिया। यही कारण था कि २८ दिसम्वर सन् १९१३ ई० को काशीमें पूज्य ब्रह्मचारीजीके सम्मानके लिए डाक्टर हर्मन जैकोवी

की अध्यक्षतामें "जैनधर्मभूषण" पदवीका प्रस्ताव पास हुआ। इस प्रस्तावका समर्थन विद्वद्वर प० गोपालदासजी वरैयाने बड़े मार्मिक शब्दोंमें किया था, किन्तु इस महात्माने इस पदवी-दानके समाचार तक अपने पत्र में न दिये और न कभी इस पदवीको अपने नामके साथ लिखा ही।

समाज-संघर्ष

ब्रह्मचारीजीका कार्यक्षेत्र समाजमें व्यापक हो गया था। उनके समाज-सुधार सर्वांगीण और सार्वदेशिक थे। उनके लेखों, व्याख्यानों और प्रवल-प्रचारने समाजमे स्थान-स्थानपर सुधारक दल पैदा कर दिया था। इधर जैन-शिक्षण-सस्थाओंसे जैन विद्वान् भी तैयार होकर कार्यक्षेत्र मे आने लगे। इन विद्वानोके एक दल और सुधारक दलमे कुछ विचार-युद्ध चलने लगा। यद्यपि गुरु गोपालदासजीके जीवनकालमे ही समाजके इन दो दलोंमे विचार-विभिन्नता और कार्यक्षेत्रमे पथ-विभिन्नता दिखाई देती थी; किन्तु गुरु गोपालदासजीके प्रभाव और कार्यपटुतासे ये दोनों दल एक दूसरेके लिए मैदानमे नही उतरे थे। गुरु गोपालदासजीके स्वर्ग-वास होते ही इस पडित-दलकी बागडोर स्व० प० धन्नालालजीके हाथमें पहुँची। उधर सुधारक दलने जैन-ग्रथो (पौराणिक ग्रंथो) की समीक्षा कर कुछ पडितोंके हृदयमें यह आशका पैदा कर दी थी कि ये सुधारक जैनधर्मको डुबो देगे। इन दोनो दलोंमे यह भेदकी खाई बढने लगी। महासभाकी सभासद्-नियमावलीमें वन्दिशे (Restrictions) होने लगी कि विजातीय विवाह, विधवा विवाह और छूताछूतके लोपक विचारोके जन इसके सभासद् न हो सकेंगे; किन्तु कर्मशूर ब्रह्मचारीजी इसकी सेवामे ही लगे रहे। इन दोनो दलोमे स्व० ब्रह्मचारीजीकी स्थिति अजीव थी। वे जैन-समाजसे दल-दलको अलग कर समाजका सर्वांगीण सगठन चाहते थे। वे शास्त्र-अविरुद्ध समाज-सुधारोके पक्षपाती थे।

सन् १९२३ मे श्री भा० दि० जैन महासभाका देहली अधिवेशन था। महासभाके पत्र "जैनगजट" का वहुभाग खंडन-मंडन और व्यर्थके लेखोमे जा रहा था। पत्रका संपादन और प्रकाशन अच्छी तरहसे हो

इसके लिए सहायक संपादक पदके लिए श्रीमान् स्व० वैरिस्टर चम्पतरायजीका शुभ नाम पेश किया गया; किन्तु पंडित-दलने इसका प्रवल-विरोध किया। पूज्य ब्रह्मचारीजीने पंडित-दलको बहुत आश्वासन दिया तथा समझाया, किन्तु पंडित-दल अपने हठपर डटा रहा।

परिषद्‌की स्थापना

जब ब्रह्मचारीजीको पूर्ण निश्चय हो गया कि इस संस्था द्वारा समाज की समुचित सेवा और कल्याण न हो सकेगा—इधर सुधारक-दल भी कार्यक्षेत्रके लिए संस्थाकी माँग कर रहा था—तव आपने उसी समय श्री भा० दि० जैन परिषद्‌की स्थापना की। परिषद् द्वारा समाजसेवा और अभ्युत्थानका आदरणीय कार्य किया। परिषद्‌के जन्मकालमें इसपर यह घोर संकट आया कि पंडित-दलके प्रवल प्रोपेगेंडाके फलस्वरूप रा० ब० सेठ माणिकचन्द्रजीने इसके सभापति पदसे अपना त्यागपत्र दे दिया। उस समय नवजात परिषद् शिशुको पुनर्जीवित करनेका श्लाघनीय श्रेय पूज्य ब्रह्मचारीजीको ही है। परिषद्‌की स्थापना, रूपरेखा, ढाँचा, नीति-रीति और कार्यप्रणाली ये सब ब्रह्मचारीजी द्वारा ही निर्धारित हुई है।

परिषद्‌की स्थापनासे अनेक जैन-सुधारक कार्यक्षेत्रमें कूद पडे। दस्सा पूजाधिकार, अन्तर्जातीय-विवाह, विजातीय विवाह आदि सुधारो का सूत्रपात शुरू हो गया। पंचायती-मरणभोज आदि रूढ़ियोका मूलोच्छेद होना भी प्रारम्भ हो गया।

उग्र-सुधारक

समयकी प्रगति और समाजकी विकट परिस्थितिने जैनसमाजमे भी उग्रसुधारक दल उत्पन्न कर दिया। यह सुधारक दल प्रचार करने लगा कि पुरुषकी भाँति वालविधवाओंका भी पुनर्विवाह होना असंगत नही है। इस उग्रदलकी सस्थाका नाम "सनातन जैन समाज" था। इसकी स्थापना स्व० ब्रह्मचारीजी द्वारा हुई। इस सस्थाको स्थापित कर ब्रह्मचारीजीका मुख्य ध्येय समाजोन्नति तथा वालविधवाओकी विषम और दयनीय स्थितिका सुधार करना था। इन्ही दो उद्देश्योंकी ओर अपना

दृष्टि-कोण रखते हुए वे इस आन्दोलनकी आगमें एक दम कूद पड़े। उन्होने अपनी मान, प्रतिष्ठा और पदकी भी चिन्ता नहीं की। उनके अनेक धार्मिक सहयोगी मित्रोंने उनके इस कार्यको धर्मके विरुद्ध माना; परन्तु अनेक सुधारकोंने इसे समयकी अत्यन्त आवश्यकता (Pressing necessity) समझकर उनका स्वागत किया।

सच्चे एकाउण्टेण्ट

अपनी शिक्षाको समाप्त कर प्रारम्भमे हम उन्हे रेलवे कम्पनीका अच्छा एकाउण्टेण्ट देखते है, जो अपने धार्मिक कर्तव्यको जैनधर्मके महान् दशलाक्षिणी पर्वके दिनोमे दफ्तरके साहब द्वारा शास्त्र पढ़नेके लिए अवकाश मिलनेपर भी पहिले एकाउण्टेण्टके उत्तरदायित्वको पूरा करके ही करते है। आमतौरसे दफ्तरके कार्यकर्ता अपनी पदवृद्धि और वेतन-वृद्धिके लिए लोगोंसे बड़ी-बड़ी सिफारिशे पहुँचवाते है, किन्तु यहाँ दफ्तरका साहब स्वय बाबू सीतलप्रसादजीकी पदवृद्धि और वेतनवृद्धि करके अन्य लोगोसे कहता है कि आप बाबू सीतलप्रसादजीको समझावे कि वे इसे स्वीकार करे और नौकरी न छोडे। बाबू सीतलप्रसादजी किसीकी चिन्ता न कर रेलवेकी नौकरीसे त्यागपत्र दे देते है; किन्तु एकाउण्टेण्टके कार्यको वे फिर भी नही छोड़ते। वे अपने जीवनकी एक-एक क्षणकी क्रियाओका एकाउण्ट रखते है। एक क्षण भी व्यर्थ नही खोते। वे पूर्वसे ही दिन मे करने योग्य कार्य्योको अपनी डायरीमे नोट कर लेते और रातको चतुर व्यापारीकी भाँति उनका मिलान करते और उनकी सफलता-विफलताको देखकर दूसरे दिनकी डायरीमे अपनी दिनचर्य्या बनाते। यह एकाउण्टेण्ट साहब अन्य जनोको स्वाध्याय-प्रतिज्ञा, व्रत, नियम दिलाना, सामाजिक कार्य्य करनेके लिए औरोको उत्तेजित करना आदिका ठीक-ठीक हिसाब (Account) रखनेके लिए दूसरोंको भी एकाउण्टेण्ट बनाते। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारीजी आरम्भमें रेलवेके एकाउण्टेण्ट थे तो अपने अन्तिम समय तक अपने तथा समस्त समाजके आध्यात्मिक एका-उण्टेण्ट रहे।

अपने ही पथपर

अपने शरीर और संसारसे विरक्त होकर वे आत्मसुखके लिए जीवन-साधनामे लगते है। वे अपने परमार्थको भी गौण कर समाजको समुन्नत बनानेके लिए अपने मानव-शरीरको लगाते हैं। अनेक पारमार्थिक संस्थाओंको संस्थापित कर उन्हें व्यवस्थित करते है। स्कूलों, विद्यालयो, पाठशालाओको जन्म देते है। सभा-सोसाइटियोमे योग देते है। देशमे समाज-सुधारों और जैनधर्मप्रचारके लिए तूफानी दौड लगाते है। अपने जीवनके समयको स्याद्वाद साहित्यके प्रसारमे झोंकते है। अतः समाज उनकी पालकी उठाता है, किन्तु कर्तव्यवश जब वे अन्तर्जातीय विवाह, दस्सा पूजाधिकार, और असमर्थ बालविधवाओके पुनर्विवाहके लिए अपने स्पष्ट विचार प्रकट करते है तो जनता बहिष्कारकी कीचड़ फेकती है, उनकी पदवियाँ छीनती है, उन्हे पथभ्रष्ट अन्धा भी कहती है; किन्तु उनकी जीवन-साधनाने सुधारकसे सदैव यह कहा—"अपनी राह चल, अपनी आपत्ति और आराम, साथियोके सहयोग और वियोग, जनताकी पालकी और बहिष्कारकी ओर मत देख।"

संस्थाओंके लिए

उन्होंने अपने जीवनको सामाजिक सस्थाओके संचालनमे ऐसा लगाया, जैसे माता अपने कलेजेके लालके लिए लगाती है। भोजन पीछे करते है पहिले अपने कुटुम्बियों—आश्रित सस्थाओं—के लिए आहारके लिए कहते हैं। जिस प्रकार स्नेहमयी जननी अपने घरको छोड़नेके पहिले सोचती है कि चाहे कुछ हो मेरी सन्तानको हानि न हो, उसी प्रकार ब्रह्मचारीजी उग्र-सुधारक होनेके पूर्व अपनी संस्थाओ—स्याद्वाद विद्यालय आदिसे त्यागपत्र दे देते है कि कही मेरे कारण इनको हानि न उठानी पडे। 'जैनमित्र' की सम्पादकी छूट जाती है पर वे 'जैनमित्र' को नही छोडते अपने लेखों, टिप्पणियों और खोजपूर्ण सामग्रीसे सजाते रहते है।

लेखन-कला, प्रचार-प्रधान

उन्होंने ग्रथकार, अनुवादक, लेखक और सम्पादकके नाते इस युगके जैनियोमे सबसे बढ़कर प्रचुर-साहित्य समाज और देशके लिए दिया। उनकी लेखन-कला, प्रचार-प्रधान रही है। वे इस दृष्टिसे अपने लेखोको नही लिखते थे, जिसमे शब्दालंकार हो, किन्तु जिस विषयको भी वे लेते, सरल और सरस लेखोसे पाठकोके हृदयोको अपनी ओर खीच लेते थे।

धर्म और सुधारका समन्वय

ब्रह्मचारीजी अपने जीवनमे धर्ममय रहे और दूसरोंको भी धार्मिक बनाते रहे। पर कोरे धर्मात्मा न थे, उनके दिल, दिमाग और आत्मा सुधारोसे आर्द्र थे। वास्तवमे ब्रह्मचारीजीका जीवन उस प्रतिमाके समान था जो धर्मात्माओको धर्मरूपी सोनेसे निर्मित मालूम होती थी और सुधारकोको सुधाररूपी रजतसे निर्मित दिखाई देती थी, पर हमारी दृष्टिमे ब्रह्मचारीजी धर्म और सुधारके समन्वय थे। वे सच्चे जैनधर्मको चाहते थे, किन्तु समाजके अन्धविश्वाससे प्रचलित और रूढिसे सने हुए धर्मको नही चाहते थे। वे आधुनिक धर्मप्रकाशमे सुधार चाहते थे।

उनका निर्माण

यद्यपि उनका नश्वर शरीर जगत्के पंचतत्त्वोमे मिल चुका है, किन्तु उनकी आत्मा सदैव अजर और अमर रहेगी—इस हेतुसे नही कि वह जीव है और जीवका स्वभाव निश्चय-नयसे अजर और अमर है, बल्कि इस दृष्टिसे कि उन्होने अपनी जीवन-साधनासे समाजमे अनेक स्थानोंपर अनेक युवको और आदर्श महिलाओका निर्माण किया है। उनके हृदयोंमे वह मत्र फूंका है जो जीवन भर देश और समाजकी सेवा करेगे। जैनधर्मके प्रसारके लिए अपने जीवनकी बाजी लगायेगे।

बेचैन वीतराग

शरीरकी मोह-ममता त्यागने और कषायरहित होने तथा अध्यात्मपथके पथिक होनेसे वे वीतराग थे, किन्तु वे बेचैन-वीतराग थे। उन्हें सदैव समाज-हितकी चिन्ता और जैनधर्मके प्रचारकी बेचैनी रहती थी

इसी कारणसे वे सातवी प्रतिमासे बढ़कर आत्म-कल्याणके लिए मुनि न बने। वे चातुर्मासमे भी चैनसे ४ माह न बैठते, वहाँकी समाजको जगाते, आम जनतामें जैनधर्म प्रचारके लिए व्याख्यान देते, शास्त्रसभा प्रतिदिन करते तथा अपने ग्रंथोका निर्माण करते। वे इस वेचैनीको दूर करनेके लिए वर्षके ८ माहोंमें दौरा करते थे। सारे भारतवर्ष, लंका और वर्मामे घूमे, पर उनकी धर्मप्रचारकी वेचैनी न गई। वे शरीर छोड़ते हैं तब भी उनके श्वासोसे यह वेचैनी निकलती थी कि मै धर्मप्रचारके लिए इगलैंड और अमेरिका न गया।

जैनी बनाकर समाज-सेवा लेना

वे केवल जैनधर्मके प्रचारक ही न थे, बल्कि समाज-सुधारक भी थे। इटारसीमे जाते है, अपने कुछ घंटोके प्रचारसे वर्षोके पचायती झगड़ोंको समाप्त कर एक पंचायत बना देते है। उपदेश देते है तो उनके उपदेशोसे वहाँके पं० मूलचन्द्रजी तिवारी (रिटायर्ड पुलिस-इन्सपेक्टर, वायस चेयरमैन म्यूनिसिपल कमेटी) उनके परमभक्त और जैनधर्मके श्रद्धालु बन जाते है। श्रद्धेय ब्रह्मचारीजी इन्ही प० मूलचन्द्रजी तिवारी को इटारसीके परिषद् अधिवेशनका स्वागताध्यक्ष वनाकर उनसे समाज-सेवा भी लेते हैं।

विशाल जैनसंघके प्रथम संयोजक

श्रद्धेय ब्रह्मचारीजीके लगभग ४५ वर्षके (सयाने होनेसे जीवन-पर्यन्त तक) जीवनमें उनको इस वीसवी सदीमें विशाल जैनसंघके प्रथम संयोजकके रूपमें हम देखते है। इसके लिए उन्होंने समाजमे अनेक स्थानों पर अनेक पारमार्थिक संस्थाएँ स्थापित की। वे समाजके श्रीमानो, विद्वानों और योग्य कार्यकर्ताओसे मिले, उनसे पृथक्-पृथक् कार्य्य लिये। महिलाओंको जाग्रत करने, उनकी जीवन-साधनाओंकी पूर्तिके लिए जैन-महिलाश्रम और जैन श्राविकाश्रम स्थापित कराये। महिलाओके जन्म-सिद्ध अधिकारोंकी प्राप्तिके लिए उन्होंने अपने मान और प्रतिष्ठा तककी चिन्ता न की। वल्कि इस सकल्पकी साधनामें उन्होंने जो उत्सर्ग किया

है, वह उनके जीवनकी कठिन तपस्या थी। ब्रह्मचारीजी स्वय आदर्श जैन त्यागी थे और समाजमे जैनत्यागियोको तैयार करते थे। जैन विशाल सघकी योजना उनकी जीवन-साधनाओसे कहाँ तक हो पाई है और कब तक पूरी हो सकेगी, इसका उत्तर उनके श्रद्धालु भक्त, सहयोगी, और खासकर उनकी योजनाकी पूर्तिमे सलग्न समाजके वर्तमान कार्यकर्त्ता ही दे सकेंगे।

रोग-पीडा

ब्रह्मचारीजीको कार्याधिक्यके कारण वायुकम्प रोग हो गया था। जीवनमें लिखाई अधिक करनेसे इसका प्रवेश उनके हाथसे हुआ था। बम्बई, दिल्ली, रोहतक और लखनऊमे उनकी चिकित्सा हुई। अन्तिम चिकित्सा लखनऊमे हुई और परिचर्य्याका भार प० अजितप्रसादजी एडवोकेटपर था। कुछ स्वास्थ्यलाभ भी हुआ, किन्तु ६ जनवरी सन् १९४२ को खड़े हुए थे कि अचानक गिर पड़े, जिससे कूल्हेकी हड्डीके ४ टुकड़े हो गये और १० फरवरीको ४ बजे प्रातः श्री ब्रह्मचारीजीके प्राण-पखेरू उड़ गये। उनका देहोत्सर्ग समाधि अवस्थामें हुआ।

धैर्य-मूर्ति

करीब १५ महीनोंमे कष्टकी तीव्र-वेदना होते रहनेपर भी ब्रह्मचारी-जीके ओष्ठसे कभी भी 'हाय' शब्द नही निकला। असह्य शारीरिक-यत्रणाओको धैर्यसे सहते रहे। ब्रह्मचारीजीके आपरेशन करनेवाले डाक्टर ने कहा—"जीवनमे मैंने हज़ारों पुरुषोके आपरेशन किये हैं, किन्तु ब्रह्म-चारीजी की-सी कष्टक्षमता और धैर्य्य नही देखा।"

लखनऊमे उनकी शव-यात्राका जलूस बहुत ही आकर्षक था। जैन-जनताके अतिरिक्त अजैन जन भी पर्याप्त थे। उनके मृतक शरीरका दाहसस्कार चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओसे किया गया था।

आज ब्रह्मचारीजी नही है, पर उनका आदर्श सदैव समाजके सेवको को बल और प्रकाश देता रहेगा।

—'वीर' सीतल अंक १९४४

अमर विभूति

श्री कामताप्रसाद, अलीगंज

सन् १९१६ या १७ की वात है। मैं उन दिनों हैदरावाद सिन्धमे अंग्रेज़ी पढ़ता था। जसवन्तनगरसे मुझे वुलावा आया—वहाँ वेदी-प्रतिष्ठोत्सव था। मेरे वहनोई दानवीर स्व० शिवचरणलालजीके चाचाजी की दानशीलताका वह परिणाम था। मै वहाँके लिए चला और आगरा ठहरता हुआ जसवन्तनगर पहुँचा। आगरा फ़ोर्ट स्टेशनपर मैंने एक तीसरे दर्जेके डिव्वेमे गेरुआ रंगके कपड़े पहने हुए ऐनक लगाये सौम्यमूर्ति संन्यासीको देखा। इत्तफाक़से मै भी उसी डिव्वेमे वैठ गया। यह मुझे मालूम था कि व्र० सीतलप्रसादजी भी जसवन्तनगर आनेवाले है; परन्तु उस समय तक मेरे लिए वह अपरिचित थे, और जव मैंने यह जाना कि व्र० जी मेरे सामने मौजूद है, तो मेरे आनन्दका वारापार न था। मेरा उनका केवल धार्मिक सम्वन्ध था—सास्कृतिक अनुराग था। मैंने उनके लेख पढ़े थे—उनका नाम सुना था। उनके नाम और कामने मेरे हृदयमे उनके प्रति आत्मीयताका भाव जाग्रत कर दिया था। मै झुका उन प्रतिभाशालीके पैरोंमें और उनके वरद हाथ मेरे मस्तकपर थे। उन्होने प्यारसे मुझे अपने पास विठाया और नाम-धाम पूछा। कहा, "क्या पढते हो?" मेरा उत्तर पाकर वोले, "स्वाध्याय भी करते हो?" मैंने कहा—"जी हाँ!" तो वोले, "किस शास्त्रका?" "सागार-धर्मामृत" नाम सुनकर उन्होंने मुझे शावाशी दी और अन्य लोगोके प्रश्नोका उत्तर देने लगे। यह मेरे प्रथम दर्शन थे व्रह्मचारीजीके। और वह सजीव दृश्य आज भी मेरे हृदयपर जैसेका तैसा अंकित है।

टूंडला जंक्शनपर हम लोगोने गाड़ी वदली। मैंने देखा व्र० जी एक वड़ा थैला और चटाई वगैरह लिये प्लेटफार्मपर उतर आये है। उनके थैलेको देखकर मै कौतूहलमें पड़ा—उसमें भला क्या हो सकता है? मैं

क्या अनुभव करता ? किन्तु जब उन्होंने उसको खोला और उसमेसे अनेक पुस्तक, और पत्र-पत्रिकाएँ निकली, तो मै समझा, यह ब्र० जीका चलता-फिरता पुस्तकालय है। वह थैला उनके साथ हमेशा रहा और उसमे होकर ब्र० जीकी मूल्यमयी रचनाएँ प्रकाशमे आईं ! न मालूम ब्र० जीका वह पवित्र-स्मृति-चिह्न अब कहाँ है ? उस थैलेके सहारे वह सफ़र करते हुए भी साहित्य-रचना करनेमे सफल हुए थे !

टूँडलापर दूसरी गाड़ी आनेमे कुछ देरी थी। ब्र० जीने अपना थैला हमारे सुपुर्द किया और स्वय प्लेटफार्मके एक छोरपर चटाई बिछाकर सामायिक करने लगे। हम लोग द्विविधामे थे कि कही गाड़ी न आ जावे ? परन्तु ब्र० जी शान्ति और निश्चिन्ततासे जाप करनेमे मग्न थे। जैसे गाड़ी आई, वैसे ही वह भी आ गये। हमने देखा, ब्र० जी समयका मूल्य जानते है। वह अपने समयका हिसाब रखते है। इसीलिए वह रेलकी बेमुरव्वत सवारीमे सफर करते हुए भी अपनी धर्मचर्याका निर्विघ्न पालन कर लेते थे। वक्तकी कद्र करना इसीको कहते है।

रेलमे एक भक्तने उन्हे सोडावाटर भेट किया। उन्होने सधन्यवाद अस्वीकार किया। वह बोला, बहुतसे साधु इसे पीते है। ब्र० जी हँसे और बोले-"जैनी त्यागी और ब्रह्मचारी सयमसे रहते है। वह हर समय और हर एक चीज नही खाते है।" लोगोमे इसीकी चर्चा होने लगी—उनको अपना वक़्त गँवाना था—सफरको पूरा करना था। समयका मूल्य वसूल करना उनके बसका न था, परन्तु ब्र० जी समयका महत्त्व जानते थे। उन्होने ताजा अग्रेजी अख़बार लिया और लेटे-लेटे उसे पढ़ने लगे। मैने देखा, पढते हुए वह अखबारमे निशान लगाते जाते थे। मनमे सोचा, कोई ख़ास बात होगी और उसे पूछा भी। ब्र० जी बोले, यह निशान मै उन खबरों और खास बातोपर लगाता हूँ जिनका सार मै "जैन-मित्र" मे देना चाहता हूँ। 'मित्र' को उपयोगी बनानेके लिए वह हर समय सावधान रहते थे। यही कारण था कि दिनरात सफ़रमे रहते हुए भी उसका सम्पादन नियमित रूपमे सुचारु रीतिसे करते थे।

उसी उत्सवमें मैंने ब्र० जीका भाषण पहले-पहल सुना। वह सीधे-सादे ढंगसे सरल भाषामे बोलते थे—जो भी उनके भाषणको सुनता, वह प्रभावित हुए विना न रहता। उनको मैंने हिन्दीमें ही बोलते सुना। हाँ, जब कोई अंग्रेज़ी-दाँ होता तो वह बीच-बीचमे अंग्रेज़ी भी बोलते जाते थे। उनके भाषणमें आध्यात्मिकताकी पुट रहती थी। वह अध्यात्ममय थे—ब्रह्मने चर्या करते और आत्मसुधाका रस स्वय लेते और दूसरोंको देते थे। इटावेमें उन्होंने चातुर्मास किया था—किसी संस्थाकी ओरसे उनका सार्वजनिक व्याख्यान हुआ। विषय था 'उपकार'! मुझे इमकान न था—मै यह अनुमान न कर सका था कि 'उपकार' पर बोलते हुए, वह जैन-सिद्धान्तकी आध्यात्मिकताको जनताके सम्मुख रख देंगे। उन्होने उसका खूब प्रतिपादन किया और फिर उसे राष्ट्रियताके रंगमे भी रँग दिया—स्वदेशी व्यवहार भी 'उपकार' मे ला दिखाया! सुननेवाले दंग थे। ऐसा भाषण उन्होंने नही सुना होगा!

जसवन्तनगरके प्रतिष्ठोत्सवकी परिसमाप्तिपर वह जाने लगे—हम लोग उनको विदा करने स्टेशन तक गये। मैंने चरण-रज ली। आशीर्वाद देकर बोले—"देखो, सिगरेट कभी मत पीना, स्कूलके लडके सिगरेट पीकर बुरी संगतिमें पड़ते है।" ब्र० जीका कहना सच था। जिस बात की चेतावनी उन्होने मुझे दी थी, वह मेरे छात्र-जीवनमे आगे आई थी। उनकी शिक्षाका ही शायद यह अज्ञात प्रभाव था कि मै दुस्सगतिमें पड़नेसे वच गया। वह अपने भक्तजनोंके चरित्रनिर्माणका पूरा ध्यान रखते थे, क्योंकि वह जानते थे कि कोरी श्रद्धा और छूँछा ज्ञान, चरित्र विना अधूरे है। वह नियम लिवाते थे, परन्तु वही जिनको लेनेवाला सुगमतासे पाल सके।

'दिगम्बर जैन' और 'जैन-मित्र' के पढते रहनेसे मुझे लेख लिखनेका चाव हुआ। मुझे समाचार-पत्र पढनेका शौक 'दिगम्बर जैन' के सचित्र विशेषांकोंसे हुआ। मैंने भी कुछ लिखा। क्या? यह याद नही। वह शायद समाजोन्नतिके विषयपर था! डरते-डरते मैंने उसे ब्र० जीके

पास भेज दिया। शायद तब मैंने ठीक-सी हिन्दी भी न लिखी होगी। किन्तु ब्र० जीने उसे 'मित्र' में प्रकाशित कर दिया। अपना लेख पत्रमें छपा हुआ देखकर मै बहुत प्रसन्न हुआ। मै लिखता रहा! परिषद् की स्थापनाके समय 'वीर' के सम्पादकका चुनाव होनेको था। शायद ब्र० जीने ही मेरा नाम तजवीज किया, मै असमजसमें पड गया, एकदम इतना बडा उत्तरदायित्व मै कैसे लेता? किन्तु ब्र० जी व्यक्तियोसे काम लेना जानते थे। मेरे साहसको उन्होने बढाया। आखिर इस शर्तपर मैने उनकी बात मानी कि वह सम्पादक रहे और मै सहायक। वह प्रत्येक अकमे अपना लेख देते रहे; बाकी मैटर मै जुटाऊँ! यही हुआ। शायद एक साल वह सम्पादक रहे। बादमें 'वीर' का भार मुझे सौप दिया! ब्र० जीने मुझे लेखक और संपादक बना दिया—निमित्त उन्हीने जुटाया था!

इटावेके चातुर्मासमें मै उनकी सत्संगतिका लाभ उठानेके लिए भादोके महीनेमे वही रहा। श्री मुन्नालालजीकी धर्मशालामे ऊपर ब्र० जी ठहरे हुए थे और उसी धर्मशालामे नीचे हम लोग थे। उस समय मुझे ब्र० जीको निकटसे देखनेका अवसर मिला था और मै ज्यादा न लिखकर यही कहूँगा कि ब्र० जी ओतप्रोत धर्ममय थे। उनमें राष्ट्रधर्म भी था, समाजधर्म भी था और आत्मधर्म भी था। उस समय एक दफा उन्हें लगातार दो दिन निर्जल उपवास करना पडा, इसमे शारीरिक शिथिलता आना अनिवार्य था। ब्र० जी रातको धर्मोपदेश दिया करते थे। हम लोगोंने यह उचित न समझा कि ब्र० जी वैसी दशामे बोले। जब उन्होने सुना, वह मुस्कराये और धर्मोपदेश देनेमे लीन हो गये। उस रोज वह खूब बोले—अध्यात्म रस उन्होंने खूब छलकाया। यह था उनका आत्म-बल!

इटावेके चातुर्मासमे उन्होने मुझे 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्रजी' का अर्थ पढाया। मुझे ही नही; इटावेके एक तत्त्वदर्शी अजैन विद्वान्को भी वह जैनधर्मका स्वरूप समझाते रहते थे। आखिर जैनधर्मको उन्होने ब्र० जीसे पढ़ा। जैनपूजामे भक्तिरसकी निर्मल विशुद्धिका परिचय भी

स्वयं पूजा करके उन्होंने सबको बताया ! सारांश यह कि अज्ञान अन्धकार मेटनेके लिए ब्र०.जी सदा प्रयत्नशील रहते थे !

लखनऊमें परिषद्का अधिवेशन था और उसमे मुख्य कार्य एक अजैन क्षत्रियको जैनधर्मकी दीक्षा देना था ! उस क्षत्रियवीरका नाम श्री प्यारेलाल था। ब्र० जीने ही उसको जैनधर्मका श्रद्धालु बनाया था और उन्होंने ही उसे जैनधर्मकी दीक्षा दी थी। जैनदीक्षा कार्यका प्रचार उन्होने प्लेटफार्म और प्रेससे ही नही किया, बल्कि स्वय अपने कर्मसे उसे मूर्तिमान् बनाकर दिखाया ! किन्तु जो जैनी आज अपने जन्मत: जैनी भाइयोसे मिल-जुलकर एक होनेमें संकोच करते है, उपजातिके मोहमे जैनत्वको भुलाते है, वह भला अजैन बन्धुके जैनधर्ममे आनेपर उसे कैसे गले लगाते ? यही कारण है कि ब्र० जी द्वारा रोपा गया जैनदीक्षाका पवित्र धर्मवृक्ष पल्लवित न होकर सूख गया है। विवेकशील जैनजगत् ही इस वृक्षको फिरसे रोप सकता है !

मेरी इच्छा थी कि ब्र० जी कभी अलीगज आवे। मैंने उनसे कह भी रक्खा था; परन्तु उस दिन वह जैसे आये, वह उनकी सरलता और समुदारहृदयताका द्योतक है। मै घरमे था—एक लड़केने आकर कहा, "आपके साधुजी धर्मशालाके चबूतरेपर बैठे है।" मेरा माथा ठनका, मनने कहा, क्या ब्र० जी आ गये ? जाकर देखा, सचमुच ब्र० जी आ गये हैं। वह बोले, "लो, हम तुम्हारे घर आ गये !" इस वत्सलताका भी कोई ठिकाना था। मै सकुचाया-सा रह गया और उन्हे आदरपूर्वक घर लिवा लाया। उस समय स्थितिपालक जैनी ब्र० जीकी स्पष्टवादिता और 'सनातन जैन समाज' की स्थापना करनेके कारण उनसे विमुख-से हो रहे थे। अलीगंजमे भी कुछ जैनी इस रगके थे। ब्र० जीका भाषण हुआ, सब सुनने आये, वह भी आये जो उनसे असहमते थे। उनके सयुक्तिक भाषणको सुनकर सब ही प्रभावित हुए !

ब्र० जीको पुरानी वस्तुओंको देखने और उनका इतिहास संग्रह करनेकी भी अभिरुचि थी। कम्पिलाजी तीर्थमें जब वह आये, तब हम

भी उनके साथ गये। उससे पहिले भी हम कम्पिला गये थे, परन्तु वह चीजें न देखी थी, जो उस रोज ब्र० जीके साथ देखी। इसी तरह इटावेमें ब्र० जीने जाना कि असाई खेड़ामे प्राचीन जिनमूर्तियाँ है—वहाँके लिए चल पडे। दोपहर हो गया जब हम लोग वहाँ पहुँचे, भूख और प्यासकी आकुलता हम लोगोके मुखोंपर नाच रही थी। किसीने कहा कि जलपान कर लिया जावे, तब स्थानका निरीक्षण किया जावे! ब्र० जी इसे सहन न कर सके। सब लोग चुपचाप उनके पीछे-पीछे चल दिये और चहुँ ओर जिनमूर्तियोका पता लगाते फिरे! ब्र० जीने कई मूर्तियोके लेखोंकी प्रतिलिपि ली। तभीसे मैंने जाना कि प्रतिलिपि कैसे लेते है और प्राचीन लेखों को पढनेका भी चाव हुआ!

शायद सन् १९२८ के जाड़ोंमें मै बम्बई गया था। ब्र० जी जैन वोर्डिङ्गमे ठहरे हुए थे। मै गया और उनसे मिला। उन्होंने, जैन जाति की उन्नतिके लिए किस तरह निःस्वार्थ सेवक तैयार किये जावे, इसपर बहुत-सी बाते की। जैन-सिद्धान्तके विषयमे भी कई बाते बताईं। जैन-भूगोल का ठीकसे अध्ययन नही हुआ है, यह भी बतांया और कहा कि पृथ्वीको गोल माननेमे एक बाधा आती है और वह यह कि गोलाकारके इतर भाग का जीव ऊद्ध्र्वगतिसे किस प्रकार सिद्धलोकमें पहुँचेगा! इसलिए जैन मान्यता पृथ्वीको नारंगीकी तरह गोल नही मान सकती! जीवकी अनन्तराशिपर भी उन्होंने जो कहा वह सरल और जीको रुचनेवाला था। उन्होंने जैन-महिलाओकी दयनीय दशापर भी अपने विचार दर्शाये। उनके विचारोसे भले ही कोई सहमत न हो, परन्तु वह वस्तुस्थितिके ज्ञापक और समयकी आवश्यकताके अनुरूप थे, यह हर कोई माननेको बाध्य होगा। उस दिन उन्होने श्राविकाश्रममे धर्मोपदेश दिया। मै समझा, ब्र० जी वह पिता है जो पुत्र-पुत्रियोंकी समान हितकामनामें हर समय निमग्न रहता है।

जैन-धर्म-प्रचारकी भावना उनके रोम-रोममे समाई थी। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियोमे जिस प्रकार स्वामी समन्तभद्रजीने भारतके

इस छोरसे उस छोरतक घूमकर धर्मभेरी बजाई थी, उसी प्रकार इस वीसवीं शतीमें ब्र० जी ने भारतका कोई कोना बाक़ी न छोड़ा, जहाँ उन्होने धर्मामृतकी वर्षा न की हो ! अनेक अजैन विद्वानों और श्रीमानोको उन्होने जैनधर्मके महत्त्वसे अवगत कराया, साधारण जनताको भी उन्होंने धर्मका स्वरूप बताया। भारतमे ही नही, वह वर्मा और सीलोन भी धर्म-प्रचारकी भावना लेकर गये और यथाशक्य प्रचार भी किया। यदि सुविधा होती तो वह चीन और जापान भी जाते। यूरुप जाकर धर्म-प्रचार करनेके लिए भी वह तैयार थे; परन्तु उनके साथ एक और जैनी होना ज़रूरी था जो उनकी संयम-पालनाको निर्विघ्न रखता। यह सुविधा न जुट सकी; इसी कारण वह विलायत न पहुँच पाये। योग्य साथी न मिलनेके कारण वह कैलाशकी यात्रा भी नही कर पाये। जैन-धर्मकी स्थितिका पता लगानेके लिए वह सब तरहकी कठिनाइया सहन करनेको तत्पर रहते थे।

निस्सन्देह इस शतीके जैनियोमें वह एक ही थे। उनके गुणोंका स्मरण कहाँ तक किया जावे ? निस्सन्देह ब्र० जीने जैनियोको सोतेसे जगाया—उन्हें ज्ञानदान दिया और सम्यक् मार्गपर लगाया। वह धर्म और संघके लिए जीये और धर्म एव सघके लिए ही उनका निधन हुआ। वह आधुनिक जैन संघकी अमर विभति है और उनके स्वर्ण-कार्यो के भारसे जैन-सघ हमेशा उपकृत रहेगा।

—'वीर' सीतल अंक १९४४ ई०

जन्म—	पण्डापुर–मथुरा, १८६८ ई०
समाधिमरण—	ईसरी, २६ जनवरी १९४२ ई०

निर्भीक त्यागी

क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी

ऐसा निर्भीक त्यागी इस कालमे दुर्लभ है। जबसे आप ब्रह्मचारी हुए, पैसेका स्पर्श नही किया। आजन्म नमक और मीठेका त्याग था। दो लँगोट और दो चादर मात्र परिग्रह रखते थे। एकबार भोजन और पानी लेते थे। प्रतिदिन स्वामि-कार्तिकेयानुप्रेक्षा और समयसारका पाठ करते थे। स्वयम्भू स्तोत्रका भी निरन्तर पाठ करते थे। आपका गला बहुत ही मधुर था, जब आप भजन कहते थे, तब जिस विषयका भजन होता, उस विषयकी मूर्ति सामने आ जाती थी। आपका शास्त्र-प्रवचन बहुत ही प्रभावक होता था। आप ही के उत्साह और सहायतासे स्याद्वादविद्यालयकी स्थापना हुई थी। ..आपकी प्रकृति अत्यन्त दयालु थी। आप मुझे निरन्तर उपदेश दिया करते थे कि इतना आडम्बर मत कर। एक बारकी बात है, मैंने कहा—"बाबाजी! आपके सदृश हम भी दो चद्दर और दो लँगोट रख सकते है, इसमे कौन-सी प्रशंसाकी बात है?" बाबाजी बोले—"रख क्यो नही लेते?" मै बोला—"रखना तो कठिन नही है, परन्तु जब बाजारसे निकलूँगा, तब लोग क्या कहेगे? इसीसे लज्जा आती है।" बाबाजीने हँसकर कहा—"बस, इसी बलपर त्यागी बनना चाहते हो? अरे, त्याग करना सामान्य पुरुषोंका कार्य नहीं है।.. हाँ यह मै कहता हूँ कि एक दिन तू भी त्यागी बन जायगा। तू सीधा है, अच्छा है, अब इसी रूप रहना।"...लिखनेका तात्पर्य्य यही है कि जो कुछ थोड़ा-बहुत मेरे पास है वह उन्हीके समागमका फल है।

—मेरी जीवन-गाथा पृ० ५८१

निस्पृही

गोयलीय

बूटा-सा कद, तुतई-सा मुँह, गोल और चुन्धी आँखे, दाँत ऊवड़-खावड़, सर घुटा हुआ वैंगन-जैसा गोल, मुँहपर मूँछें नदारद, पाँव वेडौल, रंग ताँवे-जैसा, शरीर कृश और भक्तोका यह आलम कि ग़रीव-अमीर, पण्डित-वावू सभी पाँवोमें गिरे जा रहे है और ये है कि सिहर-सिहर उठ रहे है। अपनी व्रज मातृभाषामे पाँव छूनेको मना भी करते जा रहे है और जो जवरन छूते जा रहे है, उन्हे धर्मलाभका आशीर्वाद भी देते जा रहे है।

मेरे अहकारने इजाजत नही दी कि मै इनके पाँव पड़ूँ। एक तो स्वभावत मुझे साधु-संन्यासियोसे वैसे ही विरक्ति-सी रही है। दूसरे विना परखे-वूझे चाहे जिसके सामने गर्दन झुकानेकी मेरी आदत नही है। इनके त्याग-तपकी अनेक वाते सुनी थी, परन्तु न जाने क्यो विश्वास करनेको जी न चाहा और वात आई-गई हुई।

सम्भवत. उक्त वात १९१८ ई० की होगी। ये चौरासी (मथुरा) आये थे। मेरे गुरुदेव प० उमरावसिहजी न्यायतीर्थ इनके परम भक्त थे और प्रसंग छिड़नेपर इनका वड़ी श्रद्धा-भक्तिसे उल्लेख किया करते थे, परन्तु मुझपर इनका कोई प्रभाव न पड़ा। हाँ, ढोगी और रँगे हुए नही है, यह उस छोटी-सी आयुमे भी जान लिया था।

१९२० के वाद जव मेरा दिल्ली रहना हुआ तो ये कई वार दिल्ली आये-गये। जान-पहचान वढी, पर श्रद्धा-भक्ति न वढ़ी।

१९२९ मे प० जुगलकिशोर मुख्तारने करोलवाग़ दिल्लीमें वीर-सेवामन्दिरकी स्थापना की। मुझे भी 'अनेकान्त'के प्रकाशन निमित्त वहाँ छह माह रहना पड़ा। उन्ही दिनो वावाजीने भी दिल्लीमे चातुर्मास किया

था और आश्रममें ही ठहरे थे। आश्रमके नजदीक ही पहाड था, जहाँ लोग शौच आदिको जाते थे। मैं आश्रमकी छतपर खड़ा हुआ था कि देखा १५-२० मिनिटके अन्दर ४-५ बार बाबाजी उधरको गये-आये। मनमें वहम-सा हुआ, जाकर देखा तो वहाँ रक्तके पतनाले छूटे हुए हैं। देखकर जी घबरा गया। हे अरहंत, यह बाबाजीको क्या हुआ? कोई ऐसी-वैसी चीज़ तो किसीने नही खिला दी। दौड़कर बाबाजीके कमरेमें गया तो सहज स्वभाव बोले—"भैया, होतो कहा, ये तो शरीर है, यामे तो हजारो रोग भरे पड़े है, कब कौन-सौ उभर आवेगो, याकी सार-सम्भार कौन करे?"

और फिर लोटा लेकर पहाड़की तरफ़ चलते हुए। मैंने साथ चलते-चलते कहा—"महाराज! मुझे बहकाइये मत। स्पष्ट बताइये कि किस कारण यह सब हुआ है।"

परन्तु वे है कि हँसते हुए पहाड़की तरफ लपके जा रहे है और कहते जा रहे है—"भय्या, तुम तो बावरे हो, या शरीरको कितनो ही खवाओ-पिवाओ पर ऐब देनेसे नाय चूके। पढ़ो नाय तैने—

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस बसादितें मैली।
नव द्वार बहें घिनकारी, अस देह करे किम यारी॥

मै दौड़कर शहरसे मुख्य-मुख्य ४-५ जैनियोंको बुला लाया। बाबाजीका यह हाल देखकर उनके भी तोते उड़ गये, दिल धक-धक करने लगा। मेरी खुद नब्ज रुक-रुककर-सी चलने लगी। बाबाजीके अचानक ख़तरेमें पड़ जानेकी तो चिन्ता थी ही, परन्तु पुलिस खूनकी गन्ध सूंघती हुई आश्रम में आ धमकेगी। बाबाजी तो अपनी इच्छासे मर रहे है, और मुझे उनकी सेवा करनेको पुलिस बेमौत उनके पास पहुँचा देगी, यह भय भी कम न था, क्योकि उन दिनो लाहौर और दिल्ली षड्यन्त्रके मुख्य कार्यकर्ता मेरे पास आया-जाया करते थे।

बहुत अनुनय-विनय करनेपर मालूम हुआ कि बाबाजी २०-२५ रोजसे भीगे हुए गेहूँ खाकर जीवन-निर्वाह कर रहे है। उन दिनों महात्मा गान्धीने इस तरहका प्रयोग किया था। इन्होने सुना तो ये प्रफुल्ल हो उठे।

"कौन रोजाना आहार करने जानेकी इल्लतमे पड़े ? श्रावकोको तो आहार बनानेमें परेशानी होती ही है, अपना समय भी एक घण्टेसे अधिक व्यर्थ ही चला जाता है। यह महात्माजीने निराकुलताका बहुत सरल उपाय निकाला। बस आध पाव गेहूँ भिगो दिये और खा लिये, फिर २४ घण्टे-को निश्चिन्त। न कही जाने-आनेकी चिन्ता, न कही गृहस्थोसे सम्भाषण की परेशानी। इतना समय स्वाध्यायके लिए और मिला।" इन्ही विचारों मे निमग्न होकर किसीको बताये विना २०-२५ रोजसे भीगे गेहूँ चवा लेते थे। यो तो बावाजी २५-३० वर्षसे नमक, घी, दूध-दही नही खाते थे। केवल उवाले साग और रूखी रोटियाँ खाते थे। अव जो महात्माजी के इस अनोखे आहारके सम्बन्धमे सुना तो वह उवला साग और अलोनी रोटी भी छोड़ दी।

परन्तु वडोकी बाते वडी होती है। महात्माजीके ४-५ रोज़में ही ख़ूनी दस्त प्रारम्भ हो गये तो डाक्टरोने उन्हे भीगे गेहूँ खानेसे मना कर दिया और इसकी सूचना भी नवजीवनमे निकल गई, परन्तु बावाजीको नवजीवन कौन पढकर सुनाता ? उनका क्रम जारी रहा!

अव समझाते है तो समझते नही, नवजीवन पढ़नेको देते है तो पढते नही, सुनाते है तो हँसकर टाल देते है। मैंने रुँधे हुए कण्ठसे निवेदन किया—"महाराज, यह तो महात्माजीकी एक साधना थी। स्वास्थ्यके लिए हानिकर सिद्ध हुई तो उन्होने तर्क कर दी। वे तो जीवनमें अनेक तरहके प्रयोग करते है। आत्मा और मनके लिए अनुकूल हुआ तो जारी रखते है, अन्यथा छोड देते है। आपने भी केवल यही जाननेको कि गेहूँ चवानेसे शरीर चल सकता है या नही, महात्माजीके प्रयोगका अनुकरण किया। जव महात्माजी उसे हानिकारक समझकर छोड़ बैठे और जनताको भी इसकी हानिसे अवगत कर दिया तव आपको भी यह प्रयोग छोड़ देना चाहिए।"

गरज हमारे दिनभर रोने-धोनेसे तंग आकर उन्हें भीगे गेहूँ छोड़ने पड़े और फिर वही नमक-घी रहित आहार स्वीकार करना पड़ा।

एक रोज सुबह उठकर देखा तो बाबाजी अपने कमरेसे मय अपनी चटाई और कमण्डलके गायब हैं। बादमें मालूम हुआ कि पहाड़ी-धीरज दिल्लीके श्रावकोंके अनुरोधपर कुछ दिनोके लिए वहाँ चले गये हैं।

८-१० रोज बाद जाकर देखा तो उनका पाँव टखनेसे लेकर घुटने तक बुरी तरह सूजा हुआ है। उसमेंसे पीप और रक्त बह रहे हैं और बाबाजी ठीकरेसे रगड़-रगडकर उसे और भी लहूलुहान कर रहे हैं और मट्टी थोपते जा रहे हैं।

मैं देखकर खिजलाहटके स्वरमे बोला—"महाराज, किसीको बताया भी नहीं, दस डाक्टरोका प्रबन्ध किया जा सकता था।" सुनकर खिल-खिलाकर हँसे, फिर बोले—"भैया, तुम तो बडी जल्दी घबरा जाते हो, शरीर तो मिट्टी है, मिट्टीमें एक दिन मिल जायगो, याकी चाकरी कबलौ करूँ, तुम ही बताओ ?"

मेरी एक न चली, मिट्टी लगा-लगाकर ही पाँव ठीक कर लिया।

इतना बड़ा तपस्वी, संयमी, निस्पृही, निरहंकारी, क्षमाशील और पूजा-प्रतिष्ठाके लोभका त्यागी मुझे अपने जीवनमे अभी तक दूसरा देखने-को नही मिला।

—'ज्ञानोदय' दिसम्बर १९५०

एक स्मृति

पं० परमानन्द जैन शास्त्री

बाबा भागीरथजी वर्णी जैनसमाजके उन महापुरुषोमेसे थे, जिन्होंने आत्मकल्याणके साथ-साथ दूसरोके कल्याणकी उत्कट भावनाको मूर्त रूप दिया है। बाबाजी जैसे जैनधर्मके दृढ़श्रद्धानी, कष्टसहिष्णु और आदर्श त्यागी संसारमे विरले ही होते हैं। आपकी कषाय बहुत ही मन्द थी। आपने जैनधर्मको धारणकर उसे जिस साहस एवं आत्मविश्वासके साथ पालन किया है, वह सुवर्णाक्षरोमें अकित करने योग्य है। आपने अपने उपदेशो और चरित्रबलसे सैकड़ो जाटोको जैनधर्ममे दीक्षित किया है—उन्हे जैनधर्मका प्रेमी और दृढश्रद्धानी बनाया है, और उनके आचार-विचार-सम्बन्धी कार्योमे भारी सुधार किया है। आपके जाट शिष्योंमेसे शेरसिह जाटका नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है, जो बाबाजीके बडे भक्त है। नगला जिला मेरठके रहनेवाले है और जिन्होने अपनी प्राय· सारी सम्पत्ति जैन-मन्दिरके निर्माण-कार्यमे लगा दी है। इसके सिवाय खतौली और आसपासके दस्सा भाइयोको जैनधर्ममें स्थित रखना आपका ही काम था। आपने उनके धर्मसाधनार्थ जैनमन्दिरका निर्माण भी कराया है। आपके जीवनकी सबसे बडी विशेषता यह थी कि आप अपने विरोधी पर भी सदा समदृष्टि रखते थे और विरोधके अवसर उपस्थित होने पर माध्यस्थ्य वृत्तिका अवलम्बन लिया करते थे और किसी कार्यके असफल होने-पर कभी भी विषाद या खेद नही करते थे। आपको भवितव्यताकी अलंघ्य शक्ति पर दृढ विश्वास था। आपके दुबले-पतले शरीरमे केवल अस्थियोका पजर ही अवशिष्ट था, फिर भी अन्त समयमे आपकी मानसिक सहिष्णुता और नैतिक साहसमे कोई कमी नही हुई थी। त्याग और तपस्या आपके जीवनका मुख्य ध्येय था, जो विविध प्रकारके सकटो-विपत्तियोमें भी आपके विवेकको सदा जाग्रत (जागरूक) रखता था। खेद है कि वह आदर्श त्यागी आज अपने भौतिक शरीरमे नही है, उनका ईसरीमे २६ जनवरी सन् ४२ को समाधिमरणपूर्वक स्वर्गवास हो गया

है ! फिर भी उनके त्याग और तपस्याकी पवित्र स्मृति हमारे हृदयको पवित्र बनाये हुए है और वीरसेवामन्दिरमे आपका ३॥ मासका निवास तो बहुत ही याद आता है ।

बाबाजीका जन्म सं० १९२५ मे मथुरा जिलेके पण्डापुर नामक ग्राममें हुआ था । आपके पिताका नाम बलदेवदास और माताका मानकौर था । तीन वर्षकी अवस्थामे पिताका और ग्यारह वर्षकी अवस्थामे माताका स्वर्गवास हो गया था । आपके माता-पिता गरीब थे, इस कारण आपको शिक्षा प्राप्त करनेका कोई साधन उपलब्ध न हो सका । आपके माता-पिता वैष्णव थे । अतः आप उसी धर्मके अनुसार प्रातःकाल स्नान कर यमुना-किनारे राम-राम जपा करते थे और गीली धोती पहने हुए घर आते थे । इस तरह आप जब चौदह-पन्द्रह वर्षके हो गये, तब आजीविका के निमित्त दिल्ली आये । दिल्लीमें किसीसे कोई परिचय न होनेके कारण सबसे पहले आप मकानकी चिनाईके कार्यमे ईटोंको उठाकर राजोको देने का कार्य करने लगे । उससे जब ५-६ रुपये पैदा कर लिये, तब उसे छोड़कर तौलिया रूमाल आदिका बेचना शुरू कर दिया । उस समय आपका जैनियोंसे बडा द्वेप था । बाबाजी जैनियोके मुहल्लेमे ही रहते थे और प्रतिदिन जैनमन्दिरके सामनेसे आया-जाया करते थे । उस रास्ते जाते हुए आपको देखकर एक सज्जनने कहा कि आप थोड़े समयके लिए मेरी दुकानपर आ जाया करो । मै तुम्हें लिखना-पढना सिखा दूंगा । तबसे आप उनकी दुकानपर नित्यप्रति जाने लगे । इस ओर लगन होनेसे आपने शीघ्र ही लिखने-पढ़नेका अभ्यास कर लिया ।

एक दिन आप यमुनास्नानके लिए जा रहे थे, कि जैनमन्दिरके सामनेसे निकले । वहाँ 'पद्मपुराण' का प्रवचन हो रहा था । रास्तेमें आपने उसे सुना, सुनकर आपको उससे बड़ा प्रेम हो गया और आपने उन्ही सज्जन की मार्फ़त पद्मपुराणका अध्ययन किया । इसका अध्ययन करते ही आपकी दृष्टिमें सहसा नया परिवर्तन हो गया और जैनधर्मपर दृढ श्रद्धा हो गई । अब आप रोज़ जिनमन्दिर जाने लगे तथा पूजन-स्वाध्याय

नियमसे करने लगे। इन कार्योमे आपको इतना रस आया कि कुछ दिन पश्चात् आप अपना धन्धा छोड़कर त्यागी वन गये, और आपने वाल-ब्रह्मचारी रहकर विद्याभ्यास करनेका विचार किया। विद्याभ्यास करनेके लिए आप जयपुर और खुर्जा गये। उस समय आपकी उम्र पच्चीस वर्षकी हो चुकी थी। खुर्जामे अनायास ही पूज्य पं० गणेशप्रसादजीका समागम हो गया, फिर तो आप अपने अभ्यासको और भी लगन तथा दृढताके साथ सम्पन्न करने लगे। कुछ समय धर्मशिक्षाको प्राप्त करनेके लिए दोनों ही आगरेमे प० वलदेवदासजीके पास गये और पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिका पाठ प्रारम्भ हुआ। पश्चात् पं० गणेशप्रसादजीकी इच्छा अजैन न्यायके पढनेकी हुई, तव आप दोनो वनारस गये और वहाँ भेलूपुरा की धर्मशालामे ठहरे।

एक दिन आप दोनो प्रमेयरत्नमाला और आप्तपरीक्षा आदि जैन न्याय-सम्वन्धी ग्रन्थ लेकर प० जीवनाथ शास्त्रीके मकान पर गये। सामने चौकी पर पुस्तके और १ रु० गुरुदक्षिणा स्वरूप रख दिया, तव शास्त्री-जीने कहा—"आज दिन ठीक नही है कल ठीक है।" दूसरे दिन पुनः निश्चित समय पर उक्त शास्त्रीजीके पास पहुँचे। शास्त्रीजी अपने स्थानसे पाठच स्थान पर आये और आसन पर बैठते ही पुस्तके और रुपया उठाकर फेक दिया और कहने लगे कि "मै ऐसी पुस्तकोका स्पर्श तक नही करता।" इस घटनासे हृदयमे क्रोधका उद्वेग उत्पन्न होने पर भी आप दोनो कुछ न कह सके और वहाँसे चुपचाप चले आये। अपने स्थान पर आकर सोचने लगे कि यदि आज हमारी पाठशाला होती तो क्या ऐसा अपमान हो सकता था? अब हमें यही प्रयत्न करना चाहिए, जिससे यहाँ जैनपाठशालाकी स्थापना हो सके और विद्याके इच्छुक विद्यार्थियोको विद्याभ्यासके समु-चित साधन सुलभ हो सकें। यह विचार कर ही रहे थे कि उस समय कामा मथुराके ला० झम्मनलालने, जो धर्मशालामे ठहरे हुए थे, आपका शुभ विचार जानकर एक रुपया प्रदान किया। उस एक रुपयेके ६४ कार्ड खरीदे गये, और ६४ स्थानोको अभिमत कार्यकी प्रेरणारूपमे डाले गये।

फलस्वरूप वा० देवकुमारजी आराने अपनी धर्मशाला भदैनी घाटमें पाठशाला स्थापित करनेकी स्वीकृति दे दी। और दूसरे सज्जनोंने रुपये आदिके सहयोग देनेका वचन दिया। इस तरह इन युगल महापुरुषोंकी सद्भावनाएँ सफल हुई और पाठशालाका कार्य छोटे-से रूपमे शुरू कर दिया गया। वावाजी उसके सुपरिण्टेण्डेण्ट वनाये गये। यही स्याद्वादमहाविद्यालयके स्थापित होनेकी कथा है, जो आज भारतके विद्यालयों मे अच्छे रूपसे चल रहा है और जिसमे अनेक ब्राह्मण शास्त्री भी अध्यापन कार्य करते आ रहे हैं। इसका पूरा श्रेय इन्ही दोनो महापुरुषोंको है।

पूज्य वावा भागीरथजी वर्णी, और पूज्य प० गणेशप्रसादजी वर्णीका जीवनपर्यन्त प्रेमभाव वना रहा। वावाजी हमेशा यही कहा करते थे कि पं० गणेशप्रसादजीने ही हमारे जीवनको सुधारा है। वनारसके बाद आप देहली, खुर्जा, रोहतक, खतौली, शाहपुर आदि जिन-जिन स्थानो पर रहे, वहाँकी जनताका धर्मोपदेश आदिके द्वारा महान् उपकार किया है।

वाबाजीने शुरूसे ही अपने जीवनको निःस्वार्थ और आदर्श त्यागीके रूपमें प्रस्तुत किया है। आपका व्यक्तित्व महान् था। जैनधर्मके धार्मिक सिद्धान्तोका आपको अच्छा अनुभव था। समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, स्वामिकार्तिकेयानुपेक्षा, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र और आप्तमीमासा तथा कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोके आप अच्छे मर्मज्ञ थे, और इन्हीका पाठ किया करते थे। आपकी त्यागवृत्ति वहुत वढ़ी हुई थी। ४० वर्षसे नमक और मीठेका त्याग था, जिह्वा पर आपका खासा नियन्त्रण था, जो अन्य त्यागियोंमे मिलना दुर्लभ है। आप अपनी सेवा दूसरोसे कराना पसन्द नही करते थे। आपकी भावना जैनधर्मको जीवमात्रमें प्रचार करनेकी थी और आप जहाँ कहीं भी जाते थे, सभी जातियोके लोगोसे मांस-मदिरा आदिका त्याग करवाते थे। जाट भाइयोंमे जैनधर्मके प्रचारका और दस्सोंको अपने धर्ममें स्थित रहनेका जो ठोस सेवाकार्य किया है, उसका समाज चिरऋणी रहेगा।

—अनेकान्त, मार्च, १९४२

पूज्य बाबाजी

श्री खुशालचन्द्र गोरावाला

बाबाजी विहार करते हुए सवत् १९८२ के अगहनमे मड़ावरा (झासी) पधारे थे। मै उस समय महरौनीमे दर्जा ६ (हिन्दी मिडिल)में पढता था, लेकिन श्री १०८ मुनि सूर्यसागरजी विहार करते मड़ावरा पहुँचे थे, इसलिए आहार-दानमे सहायता देनेके लिए माताजीने मुझे भी गाँव बुला लिया था। संयोगकी वात है कि जिस दिन स्व० वावाजी मडावरा पधारे, उस दिन मुनि महाराजका मेरे घर आहार हुआ था और मैं आहारदाता था। फलत: अगवानीके समय ही लोगोने परिचय देकर मुझे वावाजीकी अनुग्रहदृष्टिका पात्र वना दिया था। वावाजी इस बार जितने दिन मड़ावरा रहे, उतने दिन मै यथायोग्य उनकी परिचर्यामें उपस्थित रहा। एक दिन अपराह्णमे वावाजी अन्य त्यागियोकी प्रेरणाके कारण ग्रामका ऊजड़ किला देखने गये। साथमे अनेक वालकोके साथ मैं भी था, उस समय मैंने किलेसे सम्वद्ध कुछ ऐतिहासिक किंवदन्तियाँ वावाजीको सुनाई। एकाएक वावाजीने पूछा "तुम क्या पढ़ते हो?" मेरे उत्तर देनेपर उन्होने पूछा "मिडिलके वाद क्या पढोगे?" "घरके लोगोका अग्रेजी पढानेका इरादा है।" उत्तर सुनते ही वोले—"तुम्हारे गाँवके ही पडित गणेशप्रसादजी वर्णी हैं, इसलिए धर्म जरूर पढ़िओ।" इसके वाद और क्या-क्या हुआ सो तो मुझे याद नही, पर इतना याद है कि मिडिलका नतीजा निकलने पर जव मँझले भइयाने ललितपुर भेजनेकी चर्चा की तो काकाजीने कहा—"क्रिस्तान नही वनाना है, धर्म पढ़ेगा।" मैं आज सोचता हूँ कि मेरी तरह न जाने कितने और वालकोको धार्मिक शिक्षा वावाजी की ही उस सत्य प्रेरणासे मिली है, जिसे उनका सहधर्मी वात्सल्य कराता था।

मुझे याद है कि एक त्यागीजीके गुस्सैल स्वभावके कारण हम गाँव के बालक त्यागियोंको भी डरनेकी वस्तु समझने लगे थे, पर माताके समान बाबाजीकी कोमल शिक्षक प्रकृतिने बाबाओके प्रति भक्ति बढानेके साथ-साथ पूजा, स्तवन आदि पढनेमे भी अनुराग पैदा कर दिया था। दूसरी बात जिसने उस समय हमे बारबार बाबाजीके पास जानेको प्रेरित किया, वह यह थी कि बार-बार पूछने पर भी उन्होने किसीको एक जगहसे दूसरी जगह अपनी चटाई तक भी न बिछाने दी थी, अपना अन्य काम तथा वैय्यावृत्ती करानेकी तो बात ही क्या है। उनमें इस तरह अहंमन्यताका तथा पुजानेकी लालसाका अभाव देखकर गाँवके एक हँसमुख व्यक्ति बोले, "महाराज! अबतक जो त्यागी आये वे सेवा कराके सुबहसे शाम तक पुण्य तो कमाने देते थे, पर आप तो हाथ ही नही लगाने देते।" इस पर बाबाजी मुस्कराये और बोले—"भइया! हम तो अपने लिए ही परेशान हैं, दूसरोंको पुण्यप्राप्ति कराना महापुरुषोका काम है।" आज कितने ऐसे त्यागी हैं, जो अपनी अवस्थाका ऐसा सच्चा अनुभव करते हों और जनसाधारणके सामने प्रतिष्ठाका मोह छोड़कर इतनी सरलतापूर्वक कह सकते हों।

दूसरी बार बाबाजीका पुण्यसमागम काशीके श्री स्याद्वाद दि० जैन विद्यालयमें हुआ था। उस समय मै सेठ माणिकचन्द्र परीक्षालय बम्बईसे शास्त्री पास कर चुका था और बालकसे किशोर हो चुका था। मैं बाबाजीके सामने गया और वन्दना करके एक तरफ़ बैठ गया। बाबा जी छात्रोंसे हिलमिल करके बातचीत कर रहे थे और विद्यालयकी स्थापना की कहानी सुना रहे थे। पूज्य वर्णीजीका जिक्र आया तो पूछ बैठे— "मडावरेका कोई लड़का है?" विद्यार्थियोने मेरी ओर सकेत किया तो मेरा नाम पूछा और नाम सुनते ही बोले—"तुम तो बहुत बड़े हो गये हो, मै पहिचान भी न सका।" इसके बाद बाबाजी कई दिन रहे, उनके भाषण भी सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ और कुछ वाक्य अब भी याद हैं। लेकिन जिस भाषणका चित्र आज भी मानसिक क्षितिज पर अंकित

है, वह तो उनका मूक भाषण है, जिसे उनका जागरूक आचरण प्रति-क्षण मौन भाषामे देता था। उनके उपकरण, आहार और विहार सब ही अनोखे थे। मैंने देखा--बाबाजीके पास दो लँगोटी, दो चद्दर, एक मोटा ओढना, एक छोटी और एक बडी चटाई तथा खुरजीमे कुछ किताबे, आवश्यक दो या तीन वर्तन और छन्ना आदि दो-एक आवश्यक वस्तुएँ है। उनका भोजन भी नीरसता और सादगीका आदर्श था। मै बाबाजी को भोजन कराने स्वय ले गया। वहाँ जो देखा, उसे देखकर मै दंग रह गया। बिना नमक और घीकी खिचडी ही अक्सर बाबाजीका भोजन होती थी। यदि बड़ा रद्दो-बदल हुआ तो उबली तरकारी या कच्ची लौकी ले लेते थे। या कुछ फल वगैरह भी भोजनके ही साथ ले लेते थे, लेकिन इन चीजोकी भी एक तरहसे मिट्टी-पलीत ही होती थी। क्योकि बाबाजी उन सबको भी खिचड़ीमे ही मिलाकर उदरदरीको भर लेते थे। इन्द्रियोका ऐसा दमन और खासकर जिह्वाका ऐसा पूर्ण नियंत्रण बाबाजीकी अपनी विशेषता थी।

उनका व्यवहार तो और भी अनोखा था। प्रात कालकी सामायिक-से लेकर सोनेके क्षण तक उनके प्रत्येक कार्यमे एक ही धारा बहती थी। उठते-बैठते, बोलते-चालते एक आत्म-चिन्तवन और कषाय-विजयका विचार चलता था। हम लोगोसे अनेक बार विद्यालयकी बाबत बात हुई, लेकिन उपसंहार हर बार यही होता था--"देखो! ससारके साधन तो हरएक माता-पिता विरासतमे देता है, पर इस आत्माको पतनसे बचाने-वाले आत्मज्ञानको देनेकी किसीको भी चिन्ता नही है।" स्व० बाबा-जीके यह उद्गार कितने सत्य है। आज हम अपने सगोंकी बीमारी, घाटे आदिकी खबर पाते ही विकल हो जाते है, पर दिनोदिन बढ़ते भोग-विलास मे पडकर, खोखले हुए उनके आत्माको हम देखकर भी नही देखते है। मैंने देखा कि बाबाजी प्रतिज्ञा दिलाते थे और उनसे प्रतिज्ञा लेनेमे एक आन्तरिक उत्साहका अनुभव होता था, क्योकि उनकी साधना इतनी ऊँची थी कि उसके प्रभावक्षत्रसे बचकर निकलना ही मुश्किल था।

बचनेकी बात दूर रही, उनके सामने जानेसे ही मनमे त्याग-शक्तिको स्फूर्ति मिलती थी।

अन्तिम बार स्व० बाबाजीके दर्शन काशीमे ही संवत् ९४ में हुए थे। इस बार बाबाजी स्व० बा० छेदीलालजीके मन्दिरकी धर्मशाला में ही ठहरे थे। मैं भी इसकी एक कोठरीमे रहता था। फलत बाबाजी के समागमका पूरा लाभ प्राप्त कर सका था। बाबाजीकी प्रत्येक प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो गई थी, मानो उन्हे अपने अन्तिम समयका भान हो गया हो। शरीर काफ़ी दुर्बल हो गया था, लेकिन धर्माचरणमें पहिलेसे अधिक जागरूक थे। मैने पूछा—"बाबाजी, ईसरीके उदासीन आश्रमसे क्यों चले आये, वहाँ अधिक सरलतापूर्वक धर्म-साधन हो सकता था।" बोले—"धर्म-साधन कही भी हो सकता है, उसके लिए किसी अखाड़ेकी जरूरत नही पड़ती है।" है भी सच, सारी पराधीनताएँ और लौकिक बन्धन तो संसार बनानेके लिए आवश्यक है, संसार-त्यागमे उनकी क्या आवश्यकता है। लेकिन यह बात बाबाजीके सिवा कितने लोगोने समझी है? एक दिन शामको बोले—"लोगोंमे धर्म-प्रेमके नाम पर दम्भ बढ़ता जा रहा है। प्रभावनाके नाम पर लोग अपना विज्ञापन करते है। सेवा का बाना धारण कर अपने आपको पुजवाते है।" मैंने कहा—"बाबाजी, पूर्ण जागृति हो जाने पर यह सब अपने आँप दूर हो जायगा।" बोले—"भइया! यह तो दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा है। शिखरजीकी तेरहपन्थी कोठीमें देखो क्या हो रहा है? पर, इस वनमे मोर नाचनेमें क्या लाभ है।" मैं चुप रहा, पर बाबाजीके हृदयमें समाजके इस आत्मविज्ञापनने इतनी खलबली मचा रखी थी कि, उन्होने 'मयूर-नृत्य' शीर्षक लेख लिखवाया, जो जैनदर्शन अंक ३, वर्ष ५, पृ० १३१ पर छपा था। इसमे बाबाजीने समाजकी कोरी कीर्ति-पिपासाको भूल बताकर, यह निवेदन किया था कि, समाजकी शक्तिका उपयोग एक-एक परमाणु-ज्ञान बढ़ाने और आचरणशील व्यक्ति पैदा करनेमें होना चाहिए।

—'जैन-सन्देश' ९ जुलाई १९४२

जन्म—	हसेरा (झाँसी) क्वार कृष्ण ४ वि० स० १९३१
दीक्षा—	कुण्डलपुर (दमोह) अनुमानतः वि० सं० १९७१
वर्तमान आयु—	७७ वर्ष १९ सितम्बर १९५१ ई०

पावन चरण-रज

तपसे कृश, तेजसे दीप्त, रगमें काला, हृदयका स्वच्छ, पण्डितोंका पण्डित, बालको-जैसा सरल स्वभावी, उन्नत ललाट, नेत्र अन्तरंगको देखनेमे लीन अधखुले-से, कीर्ति-प्रतिष्ठासे निर्लिप्त एक ऐसा व्यक्ति वर्षोंसे नंगे पाँव एक लँगोटी लगाये, चादर ओढ़े सर्दी-गर्मीकी चिन्ता किये विना ही गाँव-गाँव और शहर-शहरमें जन-जनको अहिंसा-सत्यका उपदेश देता हुआ घूम रहा है। वह चलता है तो धनकुवेर उसके पाँवोंमें लक्ष्मी बखेरते चलते है। विद्वद्वर्ग अपनी सीमाओंमें ही रोक रखना चाहते है। लेकिन वह निर्विकार बढ़ता ही जा रहा है। वह अपनी दिव्य वाणीमें लोक-कल्याणका सन्देश अविराम गतिसे देता हुआ बढ़ रहा है, जिसमें जितनी गहरी डुबकी मारनेकी सामर्थ्य है, उतना ही ले पा रहा है। इस तपस्वीको लोग वर्णी कहते है। कई वार उसकी पावन चरण-रज लेकर हम कृतकृत्य हो-चुके है। अभी १९ सितम्बर १९५१ को उनका ७८वाँ जन्म-समारोह जनताने श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मनाया है। हमारी भावना है यह सन्त इसी प्रकार धर्मप्रसार दिगदिगन्त करता रहे।

—गोयलीय

जीवन-रेखा

प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला

कौन जानता था—

'समय एव करोति बलाबलम्' का साक्षात् निदर्शन, आल्हा-ऊदलके कारण आबाल-गोपालमे सुख्यात, तथा पुण्यश्लोका, भारतीय जोन आफ आर्क, स्वतत्र भारतमाताका अवतार महारानी लक्ष्मीबाईके नेतृत्वमे लड़नेवाले अन्तिम विद्रोहियोकी पुण्य तथा पितृभूमि बुन्देलखडपर भी जब सारे भारतके दास हो जाने पर अन्तमे दासता लाद ही दी गई, तो कूटनीतिज्ञ गोरे विजेता उसे सब प्रकारसे साधनविहीन करके ही संतुष्ट न हुए अपितु उन्होने अनेक भागोमे विभाजित करके पवित्र बुन्देलखड नाम तकको लुप्त कर दिया। स्वतत्रताके पुजारियोका तीर्थस्थान झासी सर्वथा उपेक्षित होकर ब्रिटिश नौकरशाहीका पिछड़ा हुआ जिला बना दिया गया; पर इससे बुन्देलखडका तेज तथा स्वतंत्रता-प्रेम नष्ट न हुआ और वह अलख आज भी जलती है। इसी जिलेके मडावरा परगनेमे एक हँसेरा नामका ग्राम है। इस ग्राममे एक मध्यवित्त असाठी वैश्य-परिवार रहता था। इस घरके गृहपतिको ५० वर्षकी अवस्थामे प्रथम सन्तान प्राप्त हुई, जिसका नाम श्री हीरालाल रक्खा गया था। उनकी यद्यपि पर्याप्त शिक्षा नही हुई थी, तथापि वे बड़े सूक्ष्म विचारक तथा स्वाभिमानी व्यक्ति थे। परिस्थितियोके थपेड़ोने जब इनकी आर्थिक स्थितिको बिगाड़ना शुरू किया तब भी ये शान्त रहे। इन्ही परिस्थितियोमे वि० संवत् १९३१ मे इनके घर एक पुत्रने जन्म लिया, जिसका नाम गणेशप्रसाद (आज पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी) रक्खा गया। ज्योतिषियोने यद्यपि बालकको भाग्यवान् बताया था, किन्तु उसके जन्मके बाद छह वर्ष तक घरकी आर्थिक स्थिति हीयमान ही रही। फलतः कर्नल ह्यरोज द्वारा मडावरा-विजयके २२ वर्ष बाद (१८८० ई०) यह परिवार भी आकर मड़ावरामे बस गया।

यद्यपि प्रतिशोध लेनेमें प्रवीण गोरोने भारतीय शासकोके सरदारों तथा अनुरक्त नागरिकोका कसके दमन किया था, तथापि शाहगढ राजकी राजधानी मड़ावरा उस समय भी पर्याप्त धनी थी। नगरवासियोके धर्म-प्रेमका परिचय दो वैष्णव मन्दिर तथा ग्यारह जैनमन्दिर शिर उठाकर दे रहे थे। फलतः इस ग्राममें आते ही श्री हीरालालजी सम्मानपूर्वक जीवन ही न बिताने लगे, अपितु बालक गणेशको भी यहाँके प्राईमरी तथा मिडिल स्कूलोंकी शिक्षाका सहज लाभ हो गया। इतना ही नही जैन-पुरामें रहनेके कारण चिन्तनशील बालक गणेशके मनमे एक अस्पष्ट जिज्ञासा भी जड़ जमाने लगी। उसकी लौकिक एवं आध्यात्मिक शिक्षाएँ साथ-साथ चल रही थीं। एक ओर वह अपने गुरुजीके साथ प्रतिदिन संध्यासमय शाला (वैष्णव-मन्दिर) में आरती देखने, रामायण सुनने, तथा प्रसाद लेने जाते थे तो दूसरी ओर घरके सामने स्थित गोरावालोके जैनमन्दिरके चबूतरे पर होनेवाली शास्त्रसभा तथा पूजा आदिसे भी आकर्षित हुए विना नहीं रह सके। जैन-मन्दिरकी स्वच्छता, पूजाकी प्राञ्जल विधि, पूजन-पाठकी संगीतमयता, पुराणोंमें हनूमानजीको बानर न बताकर वानरवंशी राजा कहना, आदि वर्णन जहाँ विवेकी बालकोके मन पर अपनी छाप डाल रहे थे, वहीं पडोसी जैनियोका शुद्ध आहार-विहार उन्हे अपने कुलके रात्रिभोजन, अनछना पानी, महीनों चलनेवाले दहीके जॉवन, आदि शिथिल आचारसे खींचता जा रहा था। जब दृढ श्रद्धानी पिता सामनेके जैन-मन्दिरमे होनेवाली सभामे जाने लगे, तब बालक गणेशको भी माता वहाँ जानेसे न रोक सकती थी। संयोगवश १० वर्षकी अवस्थामें किसी ऐसी ही सभामें प्रवचनके बाद जब श्रोता नियम ले रहे थे, तभी बालक गणेशने भी रात्रि-भोजनके त्यागका नियम ले लिया।

साँचो देव कौन है इनमें ?

बालक गणेशके मनमें प्रश्न उठता था कि किस धर्मपर श्रद्धा की जाय। कौल-धर्म तथा दृष्ट धर्ममे किसे अपनाया जाय! द्विविधा बढती ही जा रही थी कि एक रात शालामें प्रसादके पेड़े बटे। इन्हें भी पुरोहित

देने लगे, पर इन्होंने इन्कार कर दिया। फिर क्या था सामने बैठे हुए गुरुजी दुर्वासा ऋषि हो गये और डट गया प्रह्लादकी तरह बालक गणेश, "मैं रातको नही खाऊँगा और न सम्यक्दृष्टि वानरवंशी राजा हनूमानको वानर मानूंगा। इतना ही नही, अब मै कलसे शाला भी नही आऊँगा।" प्रकृत्या भीरु शिष्यसे गुरुजीको ऐसी आशा न थी, पर हुक्का फोडकर हुक्का न पीनेकी प्रार्थना करने वाले शिष्यकी ये बाते व्यर्थ तो नही मानी जा सकती थी। फलतः 'समझने पर सब करेगा, मन समझानेके सिवा चारा भी क्या था।'

दूसरी परीक्षा---माताके मुखसे "लड़का बिगरत जात है, देखत नइयॉ बारा बरसको तो हो गओ, जनेऊ काये नईं करा देत।" सुनकर पिताने आजाकी अनुमतिपूर्वक कुलगुरु बुडेराके पुरोतको बुलाया, तथा यज्ञोपवीत-संस्कारकी पूरी तैयारी कर दी। सस्कारके अन्तमे पुरोतजीने मत्र दिया और आज्ञा दी 'किसीको मत बताना।' तार्किक बालककी समझमे न आया कि हजारोको स्वय गुरुजी द्वारा दिया गया मत्र कैसे गोप्य है। शका की और कुलगुरु उबल बडे। माताके पश्चात्ताप और खेदकी सीमा न रही। मुँहसे निकल ही पडा "ईसे बिना लरकाकी भली हती।" जब प्रौढा माता उत्तेजित हो गई तो बारह वर्षका लड़का कहाँ तक शान्त रहता? मनकी श्रद्धा छिपाना असभव हो गया और कह ही उठा—"मताई-आपकी बात बिल्कुल ठीक आय, अब मोय ई धर्ममे नईं रैने। आजसे जिनेन्द्रको छोडकर दूसरेको नई मानूंगो। मै तो भौत दिननसे जाई सोच रओ तो के जैन धर्मइं मोरो कल्याण करै।" माता-पुत्रके इस मतभेदमें भी सेठ हीरालाल अविचलित थे। पत्नीको समझाया कि जोर-जबरदस्ती-से काम बिगडेगा, लड़केको पढने-लिखने दो। पढाई चलती रही। स्कूल-मे जो वजीफा मिलता था, उसे अपने ब्राह्मण साथी तुलसीदासको दे देते थे। इस प्रकार १४ वर्षकी उम्रमे हिन्दी मिडिल पास करनेपर लोगोने नौकरी या धंधा करनेको कहा पर आन्तरिक द्विविधामे पड़ा किशोर कुछ भी निश्चित न कर सका। चार वर्ष बीत गये, धीरे धीरे छोटा भाई भी

विवाह लायक़ हो रहा था। फलतः १८वे वर्षमें इनका विवाह कर दिया गया।

यौवन-प्रभातमें संसारमे भूल जाना स्वाभाविक था, पर प्रकृतिका संकेत और था। यह वर्ष बड़े संकटका रहा। पहिले विवाहित बड़े भाईकी मृत्यु हुई, फिर पिता संघातिक बीमार हुए, जिसे देखकर ११० वर्षकी अवस्थामे आजाको इच्छामरण प्राप्त हुआ और अगले दिन पिता भी चल बसे। विधवा जीवितमृत युवती भाभी और बिलखती वृद्धा माताने सारे वातावरणको संसारकी क्षणभंगुरतासे भर दिया। सिरपर पड़े दायित्वको निभानेके लिए मदनपुरके स्कूलमें मास्टरी शुरू की। ट्रेनिंगका प्रश्न उठा और नार्मल पास करने आगरा गये, किन्तु प्रारम्भ हो गई सत्यकी खोज। किसी मित्रके साथ जयपुर गये और वहाँसे इन्दौर पहुँचे। फिर माता-पत्नीके भरण-पोषणकी चिन्ता हुई और शिक्षाविभागमे वही नौकरी कर ली, पर ये थपेड़े किनारेपर न ला सके, अतः फिर घर लौट आये।

तीसरी परीक्षा—घर आते ही पत्नीका द्विरागमन हो गया, अवस्थाने विजय पाई। कारीटोरन ग्रामके स्कूलमें अध्यापकी करने लगे। पत्नीको बुला लिया, सुखसे समय कट रहा था। ककेरे छोटे भाईका विवाह था, अतः उसमे गये। पंक्तिमे सबके साथ बैठकर जीमनेका मौका आया, किन्तु भोजन जैनियो-जैसा नही था, अतः पाँतमें बैठनेसे इन्कार कर दिया। जातिवाले आगबबूला हो गये, जातिसे गिरानेकी धमकी दी गई। माताने समझाया—"अब तुम लरका नौइ हो, समझबूझके चलो, अपनो धरम पालो, काये मोय लजाउत हो।" पत्नी भी अपने संस्कार तथा सासके समझानेसे अपना वैष्णव-धर्म पालनेका आग्रह करने लगी। फलतः उससे मन हठ गया। सोचा जो करना है उसे कहाँ तक टाला जाय और किसलिए? "आप सब जनोकी बात मंजूर है, मै अपने आप अलग भओ जात।" कहकर घरसे निकल पड़े।

तैसी मिले सहाय—

घरसे चलकर टीकमगढ ओरछा पहुँचे। सौभाग्यसे वहाँ श्रीराम मास्टरसे भेंट हो गई और इन्होंने जताराके स्कूलमे नियुक्ति करवा दी।

यहाँ पहुँचनेसे श्री कड़ोरलाल भायजी, पं० मोतीलाल वर्णी तथा रूपचन्द्र बनपुरयाका समागम प्राप्त हुआ। खूब धर्मचर्चा तथा पूजादि चलती थी। बढती आस्थाके साथ-साथ धर्मका रहस्य जाननेकी अभिलाषा भी बढती जा रही थी। जवानीका जोश त्यागकी तरफ झुका रहा था, फलतः भायजीने समझाया पहिले ज्ञान सम्पादन करो फिर त्याग करना। उन्होंने यह भी बार-बार कहा कि माता-पत्नीको बुला लो। अब वे अनुकूल हो जायेगी किन्तु आत्म-शोधके लिए कृतसंकल्प युवक गणशप्रसादको कहाँ विश्वास था। उनके मनमे श्रद्धा बैठ गई थी कि सब जैनी अच्छे होते हैं। अत. उनकी ही सगति करनी चाहिए, शेष लोगोसे बचना चाहिए। तथापि भायजीकी बात न टाल सके और माताजीको चले आनेके लिए निवेद-नात्मक पत्र डाल दिया, किन्तु इसमे स्पष्ट सकेत था कि "यदि आपने जिन-धर्म धारण न किया तो आप दोनोसे मेरा कोई सम्बन्ध नही रहेगा," पर कौन जानता था कि कुछ ही दिनमे वे माता मिल जानेवाली है जो युवक गणेशको शीघ्र ही पडित गणेशप्रसाद वर्णीके रूपमे जैन-समाजको देगी।

जताराके पासके सिमरा गाँवमे एक क्षुल्लकजी विराजमान थे। फलतः अपने साथियोंके कहनेपर वर्णीजी भी वहाँ गये। शास्त्र बाँचा तथा भोजन करने सम्पन्न विधवा, सिघैन चिरोजाबाईजीके यहाँ गये। भोजनके समय वर्णीजीका सकोच देखकर निस्सन्तान विधवाका मातृत्व उमड़ आया और मनसा उन्होंने, इन्हे अपना पुत्र उसी क्षणसे मान लिया, किन्तु वर्णीजी आत्मरहस्य जाननेके लिए उतावले थे। सोचा क्षुल्लकजी अधिक सहायक हो सकेंगे, पर निकट सम्पर्कने आशाको निर्मूल कर दिया। क्षुल्लक जीने युवक गणेशप्रसादको शास्त्र-प्रवचन करके आजीविका करनेकी सम्मति दी। इस प्रकार जब वर्णीजी अपनी धुनमे मस्त थे, उन्हें क्या पता था कि उनकी धर्ममाताको यह सब नागवार गुजर रहा है। अन्तमे "बेटा घरे चलो" कहकर वे उन्हे अपने घर ले गईं। उनको घर रखा और पर्यूषण पर्व बाद जयपुर जाकर जैन-शास्त्रोके अध्ययनकी सम्मति दी। फलत पर्व समाप्त होते ही जयपुरको चल दिये। इनके चले

जानेके बाद माता-पत्नी आईं और इन्हें न पाकर भग्न-मनोरथ होकर फिर मड़ावराको लौट गईं।

लेकिन अभी समय नही आया था। मार्गमे गवालियर ठहरे तो वहाँ-पर चोरी हो गई फलतः पासमे कुछ न रहा। वर्णीजीने यद्यपि जयपुर-यात्राका विचार छोड़ दिया, तथापि जिस प्रकार कष्ट सहते हुए जतारा लौटे और लज्जा संकोचवश धर्ममाताके पास न गये, उसने ही बाईजी (सिघैन चिरोंजाबाईजी)को आभास दे दिया था कि यह ज्ञान प्राप्त किये बिना रुकनेवाले नही हैं। कुछ समय बाद इनके मित्र धर्मचर्चा सुननेके लिए खुरई गये। उनके आग्रहसे यह भी साथ गये। यद्यपि टीकमगढ़मे ही गोटीराम भायजीकी उपेक्षाने इन्हे शास्त्रज्ञ बननेके लिए कृत-संकल्प बना दिया था, तथापि यह श्रेय तो खुरईको ही मिलना था। जहाँ खुरईके जिनमन्दिर, श्रावक, शास्त्र-प्रवचन, आदिने वर्णीजीको आकृष्ट किया था, वही खुरईकी शास्त्रसभामें—"यह क्रिया तो हर धर्म-वाले कर सकते है. . . .तुमने धर्मका मर्म नही समझा। आजकल न तो मनुष्य कुछ समझें और न जाने केवल खान-पानके लोभसे जैनी हो जाते हैं। तुमने बड़ी भूल की जो जैनी हो गये।" किये गये व्यंग तथा तिरस्कार पूर्ण समाधानने वर्णीजीके सुप्त आत्माको जगा दिया। यद्यपि उनके अत-रंगमे कड़वाहट थी, तथापि ऊपरसे "उस दिन ही आपके दर्शन करूँगा जिस दिन धर्मका मार्मिक स्वरूप आपके समक्ष रखकर आपको सतुष्ट कर सकूँगा।" मिष्ट उत्तर देकर अध्ययनका अटल सकल्प कर लिया। उस समय तुरन्त कोई मार्ग न सूझनेके कारण वे पैदल ही मड़ावराको चल दिये और तीन दिन बाद रातमें घर पहुँचे।

द्वितीय यात्रा—माताने सोचा जगकी उपेक्षाने शायद आँखें खोल दी है और अब यह घर रहकर काम करेगा। पर उनके अन्तरंगमें तो ज्ञानतृषाकी अग्नि प्रज्वलित हो रही थी? तीन दिन बाद फिर बमरानेको और वहाँसे रेशन्दीगिरकी यात्राको पैदल ही चल दिये। वहाँसे यात्रा करके कुण्डलपुर गये। इस प्रकार तीर्थयात्रासे परिणाम तो विशुद्ध होते

थे पर ज्ञानवृद्धि न थी। बहुत सोचकर भी युवक वर्णी दिग्भ्रान्तसे चले जा रहे थे। रामटेक, मुक्तागिरि, आदि क्षेत्रोकी यात्रा की, किन्तु मन्दिरों की व्यवस्था और स्वच्छताने रह-रहकर एक ही प्रश्नको पुष्ट किया—'क्या यहाँ आध्यात्मिक लाभ (ज्ञान-चर्चा) की व्यवस्था नही की जा सकती? उसके विना इस सबका पूर्ण फल कहाँ?' प्रतीत होता है कि मार्गकी कठिनाइयाँ पूर्व बद्ध ज्ञानवरणीको समाप्त करनेके लिए पर्याप्त न थी, फलतः खुजलीने शरीर पर आक्रमण किया, और बढते हुए शारीरिक कष्ट तथा घटते हुए पैसेने कुछ क्षणोके लिए विवेक पर भी पर्दा डाल दिया। फलत पैसा बढानेकी इच्छासे वेतूलमे ताशके पत्ते पर दाव लगाया और अवशेप तीन रुपया भी खो दिये। फिर क्या था शारीरिक कष्ट चरम सीमा पर पहुँच गया, उदर-भरणके लिए मिट्टी खोदनेका काम भी करना पड़ा, इस श्रम-सयोगने उन्हे सदैवके लिए अकार्य करनेसे विरत कर दिया।

"ज्ञानीके छनमें त्रिगुप्तिसे सहज टरेंते"—गजपथामे आरवीके सेठसे भेट हुई और वम्बई पहुँचे। वस यहाँसे विद्वान् वर्णीका जीवन प्रारम्भ होता है। खुरजाके श्री गुरुदयालसिहसे भेंट हुई, उन्होने इनके स्थानादि की व्यवस्था जमवा दी। इन दिनो वर्णीजी कापियाँ वेचकर आजीविका करते थे तथा पं० जीवारामसे कातन्त्र व्याकरण तथा प० पन्नालाल बाकलीवालसे रत्नकरण्ड पढते थे। सयोगवश इसी समय श्री माणिकचन्द्र दि० जैन परीक्षालयकी स्थापना हुई और परीक्षामे ससम्मान उत्तीर्ण होनेके कारण वर्णीजीको पं० गोपालदासजीने छात्रवृत्ति दिलाकर जयपुर भेज दिया। यहाँ आने पर अध्ययनका क्रम और व्यवस्थित हो गया और वे सर्वार्थसिद्धि, आदि ग्रन्थोको पढ सके। जिस समय कातन्त्रकी परीक्षा दे रहे थे, उसी समय पत्नीकी मृत्युका सवाद मिला। वर्णीजीने इसे भी अपने भावी जीवनका पूर्व चिह्न समझा और शान्त भावसे निवृत्तिमार्गको अपनानेका ही संकल्प किया।

जैनसमाजमे भी सास्कृतिक जागरण हो रहा था, फलतः

मथुरामें महाविद्यालयकी स्थापना हुई और वर्तमानमें प्राच्य शिक्षित जैनसमाजके महागुरु प० गोपालदासजी वरैयाने वर्णीजीको मथुरा वुला लिया। अध्ययनका क्रम अब व्यवस्थित हो रहा था, तथा पूर्ण शिक्षा प्राप्त करनेका सकल्प दृढ़तर। फलतः गुरुभक्तिसे प्रेरित होकर वह कार्य भी कर देते थे जो नही करना चाहिए था। यही कारण था कि पं० ठाकुरप्रसादजीके लिए चौदशके दिन बाजारसे आलू-बैंगनकी तरकारी लानेसे इन्कार भी न कर सके तथा अत्यन्त भयभीत भी हुए। लक्ष्यके प्रति स्थिरता तथा भीरुताके विचित्र समन्वयका यह अनूठा निदर्शन था। वर्णीजी अपने विषयमे स्वय एकाधिक वार यह कह चुके हैं कि "मेरी प्रकृति वहुत डरपोक थी, जो कुछ कोई कहता था चुपचाप सुन लेता था।" किन्तु यह ऐसा गुण सिद्ध हुआ कि वर्णीजी सहज ही उस समयके जैन नेताओं तथा गुरु गोपालदासजी, पं० बलदेव-दासजी, आदिके विश्वासभाजन बन सके। इतना ही नही, इस गुणने वर्णीजीको आत्म-आलोचक वनाया, जिसका प्रारम्भ सिमरा भेजे गये जाली पत्रको लिखनेकी भूलको स्वीकार करनेसे हुआ था। तथा हम देखते है कि इस अवसरपर की गई गुरुजीकी भविष्यवाणी "आजन्म आनन्दसे रहोगे" अक्षरशः सत्य हुई है। सच तो यह है कि इसके वाद ही आजके न्यायाचार्य पं० गणेशप्रसादका प्रारम्भ हुआ था, क्योकि इसके वाद दो वर्ष खुरजामें रहकर वर्णीजीने गवर्नमेट संस्कृत कालेज वनारसकी प्रथमा तथा न्यायमध्यमाका प्रथम खण्ड पास किया था।

एक बार बन्दे जो कोई...—खुरजामें रहते समय एक दिन मृत्युका स्वप्न देखा। वर्णीजीकी अटल जैनधर्म श्रद्धाने उन्हे सम्मेद-शिखर यात्राके लिए प्रेरित किया। क्या पता जीवन न रहे? फिर क्या था, गर्मीमें ही शिखरजीके लिए चल दिये। प्रयाग आकर अक्षयवट देखकर जहाँ भारतीयोंकी श्रद्धालुताके प्रति आदर हुआ, वही उनकी अज्ञता को देखकर दया भी आई। वर्णीजीने देखा अज्ञ श्रद्धालु जनताको गुण्डे पण्डे किस प्रकार ठगते हैं फलतः उनकी वैदिक रीति-रिवाजों परसे

बची-खुची श्रद्धा भी समाप्त हो गई। शिखरजी पहुँचने पर गिरिराजके दर्शनसे जो उल्लास हुआ, वह गर्मीके कारण होनेवाली यात्राकी कठिनाईका खयाल आते ही कम होने लगा। उनके मनमे आया "यदि हमारी वन्दना नही हुई तो अधम पुरुषोकी श्रेणीमें गिना जाऊँगा", किन्तु उनकी अटल श्रद्धा फिर सहायक हुई और वे सानन्द यात्रासे लौटकर इस लोकापवाद-भीरुतासे सहज ही बच सके। वर्णीजी परिक्रमाको जाते है और करके लौटते है, पर इस यात्रामे जो एक साधारण-सी घटना हुई वह उनके अन्तरंगको 'करतलामलक' कर देती है। वे मार्ग भूलते है और प्याससे व्याकुल हो उठते है, मृत्युके भय और जीवन-मोहके बीच झूलते हुए कहते है "यद्यपि निष्कामभावसे ही भगवान्का स्मरण करना श्रेयोमार्गका साधक है। हमे पानीके लिए भक्ति करना उचित न था। परन्तु क्या करे? उस समय तो हमे पानीकी प्राप्ति मुक्तिसे भी अधिक भान हो रही थी।......तृषित हो प्राण त्यागूं ?......जन्मसे ही अकिञ्चित्कर हूँ। आज निःसहाय हो पानीके विना प्राण गँवाता हूँ। हे प्रभो! एक लोटा पानी मिल जाय यही विनय है।....भाग्यमे जो बदा है वही होगा, फिर भी हे प्रभो! आपके निमित्तने क्या उपकार किया?" वर्णीजी जब इन संकल्प-विकल्पोंमे डूब और उतरा रहे थे, उसी समय पानी मिल जाता है। पूर्व पुण्योदयसे प्राप्त इस घटनाने उनमे जो श्रद्धा उत्पन्न की, उसकी प्रशसा करते हुए वे स्वयं कहते है—"उस दिनसे धर्ममें ऐसी श्रद्धा हो गई जो कि बड़े-बड़े उपदेशो और शास्त्रोसे भी बहुत ही श्रमसाध्य है।"

कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि—

सम्मेदशिखरसे सिमरा वापस गये। टीकमगढ रहकर ही अध्ययन चालू रखनेका प्रयत्न किया, किन्तु अध्यापक दुलार झासे पशुबलिको लेकर विवाद हो गया और अहिसाके पुजारी वर्णीजीने तय किया "मूर्ख रहना अच्छा किन्तु हिसाको पुष्ट करनेवाले अध्यापकसे विद्यार्जन करना अच्छा नही।" पर जिसकी जीवन-साध ही पांडित्य थी, वह कैसे पढ़ना छोड़कर

शान्त बैठता ? फलतः धर्ममातासे आज्ञा लेकर हरिपुर (इलाहाबाद) पं० ठाकुरप्रसादके यहाँ चले गये। अध्ययन सुचारु रूपसे चल रहा था किन्तु **संगात् संजायते दोषः**। एक दिन साथीके साथ भंग पी ली। नशा हुआ, पंडितजीने रात्रिमें खटाई खानेको कहा, पर 'आत्तं पाल्य प्रयत्नत' फलतः निशिभोजन त्याग व्रतको निभानेके लिए नशेमे भी जागरूक रहे। 'भंग खानेको जैनी न थे' सुनकर गुरुजीके पैरोमे गिर पड़े और अपने अपराधके लिए पश्चात्ताप किया तथा अपने जैनत्वको ऐसा दृढ़ किया कि **'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्'** के गढ काशीमे भी विजय पाई।

वर्णीजी ऊँची शिक्षाके लिए काशी पहुँचे। अन्य विद्यार्थियोंके समान पोथी लेकर पं० जीवनाथ मिश्रके सामने उपस्थित हुए। नाम-कुल-धर्म पूछा गया। प्रकृत्या भीरु प० गणेशप्रसादने साहसके साथ कह दिया 'मै ब्राह्मण नही हूँ।" पंडित आगबबूला हो गया। अब्राह्मण और उसपर भी वेदनिन्दक, कदापि नहीं, मेरे यहाँ त्रिकालमें नही पढ सकता। वर्णीजी भी शमीतरु हैं। उनके भीतर छिपा नैयायिक जाग उठा और बोले "ईश्वरेच्छा बिना कार्य नही होता, तब हम क्या ईश्वरकी इच्छाके बिना ही हो गये ? नहीं हुए; तब आप जाकर ईश्वरसे झगड़ा करो।" विचारे काशीके पंडितके लिए ही यह नूतन अनुभव न था, अपितु वर्णीजीके अन्तरंगमें भी नूतन प्रयोगका संकल्प उदित हो चुका था। नागरिकता एवं सभ्यताकी रग-रगमें भिदी साम्प्रदायिकताने क्षण भरके लिए वर्णीजी को निराश कर दिया। वे कोठीमें बैठ कर रुदन करने लगे और सो गये। स्वप्न देखा, बाबा भागीरथजीको बुलाओ और श्रुतपञ्चमीको काशीमे पाठशालाका मुहूर्त्त करो। फलत. प्रयत्न प्रारम्भ हुआ और दूसरे अध्यापककी खोजमें लग गये। तथा बड़ी कठिनाइयोको पार करते हुए पंडित अम्बादास शास्त्रीके शिष्यत्वको प्राप्त कर सके।

इस समय तक परम तपस्वी बाबा भागीरथजी आ चुके थे। संयोगवश अग्रवालसभामें वर्णीजी चार मिनेट बोले, जिससे काशीके लोग प्रभावित हुए। विद्यालयके प्रयत्नकी चर्चा हुई तथा झम्मनलालजी सा०,

कामासे एक रुपया प्रथम सहायता मिली। वर्णीजी तथा बाबाजी निरुत्साह न हुए, अपितु उस रुपयेके चौसठ कार्ड लेकर समाजके विशेष व्यक्तियोंको लिख दिये[1]। विशुद्ध परिणामोसे कृत प्रयत्न सफल हुआ। स्व० बाबू देवकुमार रईस आरा, सेठ माणिकचन्द जवेरी बम्बई, बाबू छेदीलाल रईस बनारस आदिने प्रयत्नकी प्रशसा की और सहायताका वचन दिया। पं० अम्बादासजीको आदि-अध्यापक तथा पं० वंशीधरजी इन्दौर, पं० गोविन्दरायजी तथा अपने आपको आदि-छात्र करके वर्णीजीने काशीके श्री स्याद्वाद दिगम्बर जैन विद्यालयका प्रारम्भ किया, जिसने जैनसमाजकी सास्कृतिक जाग्रतिके लिए सबसे उत्तम और अधिक कार्य किया है। स्याद्वाद दि० जैन विद्यालयने जैनसमाजकी वही सेवा की है, जो श्री सैय्यद अहमदके अलीगढ विश्वविद्यालयने मुसलमानोंकी, पूज्य मालवीयजीके काशी विश्वविद्यालयने वैदिकोंकी तथा पूज्य गाधीजीके विद्यापीठोंने पूरे भारतकी की है। प्रथम दो शिक्षासंस्थाओकी अपेक्षा स्याद्वाद विद्यालयकी यह विशेषता रही है कि इसने कभी भी जैन साम्प्रदायिकता को उठने तक नही दिया है। यही एक सस्था वर्णीजीको अमर करनेके लिए पर्याप्त है, क्योकि वे इसके सस्थापक ही नही है, अपितु आज जैन समाजकी विविध-सस्थाओके पोषक होकर भी इसके स्थायित्वकी उन्हे सदैव चिन्ता रहती है। ऐसा लगता है कि वे अपनी इस मातृ-पुत्री सस्थाको क्षण भर नही भूलते है।

संसारको जितना अधिक वर्णीजी समझते है, उतना शायद ही कोई जानता हो तथापि इतने गम्भीर है कि उनकी थाह पाना असंभव है, किन्तु विशेषज्ञता तथा गाम्भीर्यने उनकी शिशु-सुलभ सरलता पर रंचमात्र प्रभाव नही डाला है। आज भी किसी बातको सुनकर उनके मुखसे आश्चर्यसूचक प्लुत "अरे" निकल पड़ता है। यही कारण है कि स्व० बाईजी तथा शास्त्रीजी बहुधा कहा करते थे "तेरी बुद्धि क्षणिक ही नही, कोमल भी है। तू प्रत्येकके प्रभावमे आ जाता है।"

---

१. तब एक कार्डका मूल्य एक पैसा था।

मनुष्यके स्वभावका अध्ययन करनेमे तो वर्णीजीको एक क्षण भी नहीं लगता। यही कारण है कि वे विविध योग्यताओके पुरुषोसे सहज ही विविध कार्य करा सके है। यह भी समझना भूल होगी कि यह योग्यता उन्हें अब प्राप्त हुई है। विद्यार्थी जीवनमें बाईजीके मोतियाबिन्दकी चिकित्सा कराने किसी बंगाली डाक्टरके पास झाँसी गये। डाक्टरने यो ही कहा–"यहाँके लोग बड़े चालाक होते है," फिर क्या था माता-पुत्र उसकी लोभी प्रकृतिको भाँप गये और चिकित्साका विचार ही छोड़ दिया। बादमें उस क्षेत्रके सब लोगोने भी बताया कि वह डाक्टर बड़ा लोभी था, किन्तु धर्ममाताकी व्यथाके कारण वर्णीजी दु.खी थे, उन्हे स्वस्थ देखना चाहते थे। तथापि उनकी आज्ञा होने पर बनारस गये और परीक्षामें बैठे गो कि मन न लग सकनेके कारण असफल रहे। लौटने, पर बागमे एक अंग्रेज डाक्टरसे भेंट हुई। वर्णीजीको उसके विषयमें अच्छा ख्याल हुआ। उससे बाईजीकी आँखका आपरेशन कराया और बाईजी ठीक हो गई। इतना ही नहीं वह इनसे इतना प्रभावित हुआ कि उसने रविवारको मासाहारका त्याग कर दिया तथा कपड़ोकी स्वच्छता आदिको भोजन-शुद्धिका अंग बनानेका इनसे भी आग्रह किया।

वर्णीजीका दूसरा विशेष गुण गुणग्राहकता है, जिसका विकास भी छात्रावस्थामें ही हुआ था। जब वे चकौती (दरभंगा) मे अध्ययन करते थे, तब द्रौपदी नामकी भ्रष्ट बालविधवामे प्रौढावस्था आने पर जो एकाएक परिवर्तन हुआ, उसने वर्णीजी पर भी अद्भुत प्रभाव डाला। वे जब कभी उसकी चर्चा करते हैं तो उसके दूषित जीवनकी ओर संकेत भी नही करते है और उसके श्रद्धानकी प्रशंसा करते है। बिहारी मुसहरकी निर्लोभिता तो वर्णीजीके लिए आदर्श है। अल्पवित्त, अपढ़ होकर भी उसने उनसे दस रुपये नहीं ही लिये क्योंकि वह अपने औषधिज्ञानको सेवार्थ मानता था। घोर-से-घोर घृणोत्पादक अवसरोंने वर्णीजीमे विरक्ति और दयाका ही संचार किया है, प्रतिशोध और क्रोध कभी भी उनके विवेक और सरलताको नहीं भेद सके है। नवद्वीपमे जब कहारिनसे मछलीका

आख्यान सुना तो वहाँके नैयायिकोसे विशेष ज्ञान प्राप्त करनेके प्रलोभनको छोड़कर सीधे कलकत्ता पहुँचे। और वहाँके विद्वानोसे भी छह मास अध्ययन किया। इस प्रकार यद्यपि वर्णीजीने तब तक न्यायाचार्यके तीन ही खण्ड पास किये थे, तथापि उनका लौकिक ज्ञान खण्डातीत हो चुका था। तथा उन्होने अपने भावी जीवनक्षेत्र–जैन समाजमे शिक्षाप्रचार तथा मूक सुधारके लिए अपने आपको भली भाँति तैयार कर लिया था।

जानो और जानने दो–

कलकत्तेसे लौटकर जब बनारस होते हुए सागर आये तो वर्णीजीने देखा कि उनका जन्म-जनपद शिक्षाकी दृष्टिसे बहुत पिछड़ा हुआ है। जब नैनागिरकी तरफ़ विहार किया तो उनका आत्मा तड़प उठा। बंगाल और बुन्देलखडकी बौद्धिक विषमताने उनके अन्तस्तलको आलोडित और आन्दोलित कर दिया। रथयात्रा, जलयात्रा, आदिमे हजारो रुपया व्यय करनेवालोंको शिक्षा और शास्त्र-दानका विचार भी नही करते देखकर वे अवाक् रह गये। उन्होने देखा कि भोजन-पान तथा लैङगिक सदाचारको दृढतासे निभाकर भी समाज भाव–आचारसे दूर चला जा रहा है। साधारण-सी भूलोके लिए लोग बहिष्कृत होते है और आपसी कलह होती है। प्रारम्भमें किसी विधवाको रख लेनेके कारण ही 'विनैकावार' होते थे, पर हलवानीमे सुन्दर पत्नीके कारण बहिष्कृत, दिगौडे-मे दो घोड़ोंकी लड़ाईमे दुर्बल घोड़ेके मरने पर सबल घोड़े वालेको दण्ड, आदि घटनाओंने वर्णीजीको अत्यन्त सचिन्त कर दिया था। हरदीके रघुनाथ मोदी वाली घटना भी इन्ही सब बातोकी पोषक थी। उनके मनमे आया कि ज्ञान बिना इस जडतासे मुक्ति नही। फलतः आपने सबसे पहिले बंडा (सागर, म० प्रा०) में पाठशाला खुलवाई। इसके बाद जब आप ललितपुरमे इस चिन्तामे मग्न थे कि किस प्रकार उस प्रान्त के केन्द्रस्थानोमे सस्थाएँ स्थापित की जाये, उसी समय श्री सवालनबीसने सागरसे आपको बुलाया। संयोगकी बात है कि आपके साथ पं० सहदेव झा भी थे। फलतः श्री कण्डयाके प्रथम दानके मिलते ही अक्षय-तृतीया

को प्रथम छात्र पं० मुन्नालाल रांधेलीयकी शिक्षासे सागरमे श्री 'सत्तर्क-सुधा-तरंगिणी पाठशाला' का प्रारम्भ हो गया। गगाकी विशाल धाराके समान इस सस्थाका प्रारम्भ भी बहुत छोटा-सा था। स्थान आदिके लिए मोराजी भवन आनेके पहिले इस संस्थाने जो कठिनाइयाँ उठाईं, वास्तव में वे वर्णीजी ऐसे बद्धपरिकर व्यक्तिके अभावमे इस सस्थाको समाप्त कर देनेके लिए पर्याप्त थीं। आर्थिक व्यवस्था भी स्थानीय श्रीमानोकी दुकानोंसे मिलनेवाले एक आना सैकड़ा धर्मादाके ऊपर आश्रित थी। पर इस संस्थाके वर्तमान विशाल प्राङ्गण, भवन आदिको देखकर अनायास ही वर्णीजीके सामने दर्शकका शिर झुक जाता है। आज जैन-समाजमे बुन्देलखण्डीय पंडितोंका प्रबल बहुमत है, उसके कारणोका विचार करने-पर सागरका यह विद्यालय तथा वर्णीजीकी प्रेरणासे स्थापित साढ़ूमल, पपौरा, मालथौन, ललितपुर, कटनी, मड़ावरा, खुरई, बीना, बरुआसागर, आदि स्थानोके विद्यालय स्वयं सामने आ जाते है। वस्तुस्थिति यह है कि इन पाठशालाओने प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा देनेमे बड़ी तत्परता दिखाई है। इन सबमें सागर विद्यालयकी सेवाएँ तो चिरस्मरणीय है।

वर्णीजीने पाठशाला स्थापनाके तीर्थका ऐसे शुभ मुहूर्तमे प्रवर्तन किया था कि जहाँसे वे निकले वही पाठशालाएँ खुलती गईं। यह स्थानीय समाजका दोष है कि इन संस्थाओंको स्थायित्व प्राप्त न हो सका। इसका वर्णीजीको खेद है। पर समाज यह न सोच सका कि प्रान्त भरके लिए व्याकुल महात्माको एक स्थानपर बाँध रखना अनुचित है। उनके सकेत पर चलकर आत्मोद्धार करना ही उसका कर्त्तव्य है। तथापि वर्णित्रय (पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी, बाबा भगीरथ वर्णी और पं० दीपचन्दजी वर्णी) के सतत प्रयास तथा विशुद्ध पुरुषार्थने बुन्देलखण्ड ही क्या अज्ञान-अन्धका-राच्छन्न समस्त जैन-समाजको एक समय विद्यालय पाठशाला रूपी प्रकाश-स्तंभोंसे आलोकित कर दिया था। इसी समय वर्णीजीने देखा कि केवल प्राच्य शिक्षा पर्याप्त नही है, फलतः योग्य अवसर आते ही आपने जबलपुर 'शिक्षा-मन्दिर' तथा जैन-विश्व विद्यालयकी स्थापनाके प्रयत्न किये।

यह सच है कि जबलपुरकी स्थानीय समाजके निजी कारणोसे प्रथम प्रयत्न तथा समाजकी दलवन्दी एव उदासीनताके कारण द्वितीय प्रयत्न सफल न हो सका, तथापि उसने ऐसी भूमिका तैयार कर दी है जो भावी साधको के मार्गको सुगम बनावेगी। आज भी वर्णीजी बौद्धिक विकासके साथ कर्मठताका पाठ पढानेवाले गुरुकुलो तथा साहित्य प्रकाशक सस्थाओकी स्थापना व पोषणमे दत्तचित्त है। ऊपरके वर्णनसे ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वर्णीजीने मातृमण्डलकी उपेक्षा की, पर ध्रुव सत्य यह है कि वर्णीजीका पाठशाला आन्दोलन लडके-लड़कियोके लिए समान रूपसे चला है। इतना ही नही ज्ञानी-त्यागी मार्गका प्रवर्तन भी आपके दीक्षा-गुरु वावा गोकुलचन्द्र (पितुश्री प० जगमोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री) तथा आपने किया है।

पर स्वारथके कारने—

आश्चर्य तो यह है कि जो वर्णीजी पैसा पास न होने पर हफ़्तो कच्चे चने खाकर रहे और भूखे भी रहे और अपनी माता (स्व० चिरोजावाईजी)से भी किसी चीजको मॉगते शरमाते थे, उन्हीका हाथ पारमार्थिक सस्थाओके लिए मॉगनेको सदैव फैला रहता है। इतना ही नही, सस्थाओका चन्दा उनका ध्येय वन जाता था। यदि ऐसा न होता तो सागरमे सामायिकके समय तन्द्रा होते ही चन्देकी लपकमे उनका शिर क्यो फूटता। पारमार्थिक संस्थाओकी झोली सदैव उनके गलेमे पडी रही है। आपने अपने शिष्योके गले भी यह झोली डाली है। पर उन्हे देखकर वर्णीजीकी महत्ता हिमालयके उन्नत भालके समान विश्वके सामने तन कर खडी हो जाती है। क्योकि उनमे **"मर जाऊँ मॉगूँ नहीं अपने तनके काज।"** का वह पालन नही है जो पूज्य वर्णीजीका मूलमत्र रहा है। वर्णीजीकी यह विशेषता रही है कि जो कुछ इकट्ठा किया वह सीधा सस्था-धिकारियोको भिजवा दिया और स्वय निर्लिप्त। वर्णीजीके निमित्त से इतना अधिक चन्दा हुआ है कि यदि वह केन्द्रित हो पाता तो उससे विश्वविद्यालय सहज ही चल सकता? तथापि इतना निश्चित है कि

असली (ग्रामीण) भारतमे ज्योति जगानेका जो श्रेय उन्हें है, वह विश्व-विद्यालयके संस्थापकोंको नही मिल सकता। क्योंकि वर्णीजीका पुरुषार्थ नदी, नाले और कूप-जलके समान गाँव-गाँवको जीवन दे रहा है।

वर्णीजीको दयाकी मूर्ति कहना अयुक्त न होगा। उनके हृदयका करुणास्रोत दीन-दु:खीको देखकर अबाधगतिसे बहता है। दीन या आक्रान्त को देखकर उनका हृदय तड़प उठता है। यह पात्र है या अपात्र यह वे नही सोच सकते, उसकी सहायता उनका चरम लक्ष्य हो जाता है। लोग वेश बनाकर वर्णीजीको आज भी ठगते है, पर बाबाजी **"कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति।"** के अनुसार **"अरे भइया हमें वो का ठगै जो अपने आपको ठग रहो।"** कथनको सुनते ही आज भी दयामय वर्णीके विविध रूप सामने नाचने लगते है। यदि एक समय लुहारसे सँड़सी माँगकर लकड़हारिनके पैरसे खजूरका काँटा निकालते दिखते है तो दूसरे ही क्षण बहेरिया ग्रामके कुआँपर दरिद्र दलित वर्गके बालकको अपने लोटेसे जल तथा मेवा खिलाती मूर्ति सामने आ जाती है, तीसरे क्षण मार्गमे ठिठुरती स्त्रीकी ठड दूर करनेके लिए लँगोटीके सिवा समस्त कपड़े शरीर परसे उतार फेंकती श्यामल मूर्ति झलकती है, तो उसके तुरन्त बाद ही लकड़हारेके न्याय-प्राप्त दो आना पैसोको लिए, तथा प्रायश्चित्त रूपसे सेर भर पक्वान्न लेकर गर्मीकी दुपहरीमें दौड़ती हुई पसीनेसे लथपथ मूर्ति आँखोके आगे नाचने लगती है। कर्रापुरके कुँएपर वर्णीजी पानी पीकर चलना ही चाहते है कि दृष्टि पास खड़े प्यासे मिहतरपर ठिठक जाती है। दया उमड़ी और लोटा कुएँ से भरकर पानी पिलाने लगे, लोकापवादभय मनमें जागा और लोटा-डोर उसीके सिपुर्द करके चलते बने। स्थितिपालन और सुधारका अनूठा समन्वय इससे बढ़कर कहाँ मिलेगा ?

जो संसार विषै सुख होतो–

इस प्रकार विना विज्ञापन किये जब वर्णीजीका चरित्र निखर रहा था, तभी कुछ ऐसी घटनाएँ हुई, जिन्होने उन्हे बाह्यत्याग तथा व्रतादि ग्रहणके लिए प्रेरित किया। यदि स्व० सिंघैन चिरोंजाबाईजीका वर्णीजी

पर पुत्र-स्नेह लोकोत्तर था तो वर्णीजीकी मातृश्रद्धा भी अनुपम थी। फलतः बाईजीके कार्यको कम करनेके लिए तथा प्रिय भोज्य सामग्री लानेके लिए वे स्वय ही बाजार जाते थे। सागरमे शाक फलादि कूँजड़िने बेचती है। और मुँहकी वे जितनी अशिष्ट होती है आचरणकी उतनी ही पक्की होती है। एक किसी ऐसी ही कूँजड़िनकी दुकानपर दो खूब बड़े शरीफा रखे थे। एक रईस उनका मोल कर रहे थे और कूँजड़िनका मुँह माँगा मूल्य एक रुपया नही देना चाहते थे, आखिरकार ज्यो ही वे दुकानसे आगे बढ़े वर्णीजीने जाकर वे शरीफे खरीद लिये। लक्ष्मी-वाहनने इसमें अपनी हेठी समझी और अधिक मूल्य देकर शरीफे वापस पानेका प्रयत्न करने लगे। कूँजड़िनने इस पर उन्हे आड़े हाथो लिया और वर्णीजीको शरीफे दे दिये। उसकी इस निर्लोभिता और वचनकी दृढ़ताका वर्णीजी पर अच्छा प्रभाव पड़ा और बहुधा उसीके यहाँसे शाक सब्जी लेने लगे। पर चोर यदि दुनियाको चोर न समझे तो कितने दिन चोरी करेगा? फलत. स्वय दुर्बल और भोग-लिप्त मानवोंमे इस बातकी कानाफूसी प्रारम्भ हुई, वर्णीजीके कानमे उसकी भनक आई। सोचा, ससार! तू तो अनादि कालसे ऐसा ही है, मार्ग तो मैं ही भूल रहा हूँ, जो शरीरको सजाने और खिलानेमे सुख मानता हूँ। यदि ऐसा नही तो उत्तम वस्त्र, आठ रुपया सेरका सुगधित चमेलीका तेल, बड़े-बड़े बाल, आदि विडम्बना क्यो? और जब स्वप्नमे भी मनमे पापमय प्रवृत्ति नही तो यह विडम्बना शत-गुणित हो जाती है। प्रतिक्रिया इतनी बढ़ी कि श्री छेदीलालके बगीचेमें जाकर आजीवन ब्रह्मचर्यका प्रण कर लिया। मोक्षमार्गका पथिक अपने मार्गकी ओर बढा तो लौकिक बुद्धिमानोने अपनी नेक सलाहे दी। वे सब इस व्रतग्रहणके विरुद्ध थी तथापि वर्णीजी अडोल रहे।

इस व्रत-ग्रहणके पश्चात् उनकी वृत्ति कुछ ऐसी अन्तर्मुख हुई कि पतितोका उद्धार, अन्तर्जातीय विवाह आदिके विषयमे शास्त्रसम्मत मार्गपर चलनेका उपदेशादि देना भी उनके मनको सतुष्ट नही करता था। यद्यपि इन दिनों भी प्रति वर्ष वे परवार-सभाके अधिवेशनोमें जाते थे, तथा बाबा

सीतलप्रसादजीके विधवा-विवाह आदि ऐसे प्रस्तावोंका शास्त्रीय आधार से खण्डन करते थे। बुन्देलखण्डके अच्छे सार्वजनिक आयोजन उनके विना न होते थे। तथापि उनका मन बेचैन था। इन सबमें आत्मशान्ति न थी। व्यक्तिगत कारणसे न सही समष्टिगत हितकी भावनासे ही विरोध और विद्वेषको अवसर मिलता था। ऐसे ही समय वर्णीजी बाबा गोकुलचन्द्रजीके साथ कुण्डलपुर (सागर म० प्रा०) गये। यहाँ पर भी बाबाजीने उदासीनाश्रम खोल रखा था। वर्णीजीने अपने मनोभाव बाबाजीसे कहे और सप्तम 'प्रतिमा' धारण करके पदसे भी अपने आपको वर्णी बना दिया। ज्ञान और त्यागका यह समागम जैन-समाजमे अद्भुत था। अब वर्णीजी व्रतियोके भी गुरु थे, और सामाजिक विरोध तथा विद्वेषसे बचनेकी अपेक्षा उसमे पड़नेके अवसर अधिक उपस्थित हो सकते थे, किन्तु वर्णीजीकी उदासीनतासे अनुगत विनम्रता ऐसे अवसर सहज ही टाल देती थी। तथा वर्णी होकर भी उनके सार्वजनिक कार्य दिन दूने रात चौगुने बढते जाते थे।

लोग कहते है "पुण्य तो वर्णीजी न जाने कितना करके चले है। ऐसा सातिशय पुण्यात्मा तो देखा ही नही। क्योकि जब जो चाहा मिला, या जो कह दिया वही हुआ" ऐसी अनेक घटनाएँ उनके विषयमे सुनी है। नैनागिर ऐसे पर्वतीय प्रदेशमे उनके कहनेके बाद घटे भरमे ही अकस्मात् अंगूर पहुँच जाना, बड़गैनीके मन्दिरकी प्रतिष्ठाके समय सूखे कुँओका पानीसे भर जाना, आदि ऐसी घटनाएँ है, जिन्हे सुनकर मनुष्य आश्चर्यमे पड़ जाता है।

काहेको होत अधीरा रे—

जब वर्णीजी उक्त प्रकारसे समाजका सम्मान और पूजा तथा मातुश्री बाईजीके मातृस्नेहका अविरोधेन रस ले रहे थे, उसी समय बाईजी का एकाएक स्वास्थ्य बिगड़ा। विवेकी वर्णीजीकी ऑखोके आगे आद्य-मिलनसे तब तककी घटनाएँ घूम गई और कल्पना आई प्रकृत्या विवेकी, बुद्धिमान्, दयालु तथा व्यवस्था-प्रेमी बाईजी शायद अब और

मेरे ऊपर अपनी स्नेह-छाया नही रख सकेंगी। उनका सरल हृदय भर आया और आँखे छलछला आईं, विवेक जागा," माता ! तुमने क्या नहीं दिया और क्या नही किया ? अपने उत्थानका उपादान तो मुझे ही बनना है। आपके अनन्त फलदायक निमित्तको न भूल सकूंगा तथापि प्रारब्धको टालना भी सभव नही।" फलतः अनन्त मातृ-वियोगके लिए अपनेको प्रस्तुत किया। बाईजीने सर्वस्व त्याग कर समाधिमरण पूर्वक अपनी इहलीला समाप्त की। विवेकी लोकगुरु वर्णीजी भी रो दिये और अन्तरगमे अनन्त-वियोग-दुख छिपाये सागरसे अपने परम प्रिय तीर्थक्षेत्र द्रोणगिरिकी ओर चल दिये। पर कहाँ है शान्ति ? मोटरकी अगली सीटके लिए कहा-सुनी क्या हुई, राजर्षिने सवारीका ही त्याग कर दिया। सागर वापस आये तो बाईजीकी "भैया भोजन कर लो" आवाज फिर कानोमें आने-सी लगी। सोचा, मोहनीय अपना प्रताप दिखा रहा है। फिर क्या है अपने मनको दृढ किया और अबकी बार पैदल निकल पड़े वास्तविक विरक्तिकी खोजमे। फिर क्या था गाँव-गाँवने बाईजीके लाडलेसे ज्योति पाई। यदि सवारी न त्यागते, पैसेवाले भक्त लोग आत्म-सुधारके बहाने उन्हें वायुयान पर लिये फिरते, पर न रहा बाँस, न रही बाँसुरी। वर्णीजी झोपडी-झोंपडीमे शान्तिका सन्देश देते फिरने लगे और पहुँचे हजारों मील चलकर गिरिराज सम्मेदशिखरके अंचलमे। शायद पूजनीया बाईजी जो जीवित रहके न कर सकती वह उनके मरणने संभव कर दिया। यद्यपि वर्णीजीको यह कहते सुना है "मुझे कुछ स्वदेश (स्वजनपद)का अभिमान जाग्रत हो गया और वहाँके लोगोके उत्थान करनेकी भावना उठ खडी हुई। लोगोके कहनेमे आकर फिरसे सागर जानेका निश्चय कर लिया। इस पर्यायमें हमसे यह महती भूल हुई, जिसका प्रायश्चित्त फिर शिखरजी जानेके सिवाय अन्य कुछ नही, चक्रमे आ गया।" तथापि आज वर्णीजी न व्यक्तिसे बँधे है न प्रान्त या समाजसे, उनका विवेक और विरक्तिका उपदेश जलवायुके समान सर्वसाधारणके हिताय है।

—वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ

अणोरणीयान् महतो महीयान्

पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

पूज्य क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णीकी उपमा देवताओंमेंसे यदि किसीसे दी जा सकती है तो शिवजीसे। शिवजीके वावा भोलानाथ, विश्वनाथ आदि अनेक नाम हैं और ये नाम वर्णीजीमे भी घटित होते हैं। वे सदा सबका कल्याण करनेमे तत्पर हैं। कोई भी व्यक्ति अपना दुःख-दर्द उनके सामने रखकर उनसे क्रियात्मक सहानुभूति प्राप्त कर सकता है। वे किसीको मना करना जानते ही नही। उनके मुखसे सबके लिए एक ही शब्द निकलता है—'हओ भैय्या।' और राजाओंमेसे यदि किसीसे उनकी उपमा दी जा सकती है तो राजा भोजसे। राजा भोज विद्वानोंके लिए कल्पवृक्ष था। एक वार किसीने यह अफवाह उड़ा दी कि राजा भोज मर गये। विद्वानोमे कुहराम मच गया और एक विद्वान् के मुखसे निकल पड़ा—

'अद्य धारा निराधारा, निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते ॥*'

इतनेमे ही ज्ञात हुआ कि अफ़वाह झूठी थी, राजा भोज सकुशल है। तब वही विद्वान् कह उठा—

---

* अर्थात् 'आज राजा भोजका स्वर्गवास हो जानेसे धारा नगरी निराधार हो गई, सरस्वतीका कोई अवलम्बन नहीं रहा और पण्डित खण्डित हो गये—उनको सन्मान देनेवाला कोई नहीं रहा।'

'अद्य धारा सदाधारा सदालम्बा सरस्वती।
पण्डिता मण्डिताः सर्वे भोजराजे भुवं गते॥'*

वर्णीजी भी विद्यार्थियो और विद्वानोके कल्पवृक्ष है। यदि वह राजा भोजकी तरह किसी राज्यके स्वामी होते तो विद्वानोको आजीविका के लिए किसीका मुँह ताकना न पड़ता। जब वे सुनते है कि किसी विद्वान् को जीविकाका कष्ट है या किसीने विद्वान्‌की अवहेलना की है, तो उनका अन्तःकरण आकुल हो उठता है, और वे भरसक उसकी सहायता के लिए प्रयत्न करते हुए रचमात्र भी नही सकुचाते। उनका एक सिद्धान्त है कि यदि हमारे चार अक्षरोसे किसीका हित होता हो तो इससे अच्छी क्या वात है। उनके चार अक्षरोसे न जाने कितने पीड़ित, दुःखी और निष्कासित छात्रो तथा विद्वानोका हित हुआ है। ऐसे भी लोग है जो उनकी इस उदार वृत्तिकी आलोचना करते है और इसलिए कभी-कभी वर्णीजी भी सकोचमे पड़ जाते है, किन्तु उनका वह सकोच उनकी उदार मनोवृत्तिके सामने एक क्षणसे अधिक नही ठहरता। ठीक ही है, क्या किसीके कहनेसे नदी अपना बहना वन्द कर सकती है, या जलसे भरा मेघ बरसे विना रह सकता है?

जिस दिन वर्णीजी अस्त हो जायेगे, विद्वानोके सिर विना मुकुटके हो जायेगे और उनकी जन्मभूमि वुन्देलखण्ड तो सदाके लिए अनाथ हो जायेगा। विरले ही महापुरुष ऐसे होते है, जो अपनी जन्मभूमिको इतना प्यार करते है। वर्णीजी समस्त भारतकी जैन-समाजके द्वारा आदरणीय होकर भी और भारतके विविध प्रान्तोमे भ्रमण करते हुए भी अपनी जन्मभूमि और उसके निवासियोको नही भूल सके। वुन्देलखण्डका छोटे-से-छोटा अधिवासी भी उनके लिए प्रिय है। वे उसके बच्चोकी शिक्षाकी सदा चिन्ता करते रहते है।

---

* अर्थात् आज राजा भोजके जी उठनेसे धारा नगरी सदाके लिए साधार हो गई, सरस्वतीका अवलम्बन स्थायी हो गया और पण्डितवर्ग मण्डित (भूषित) हो गया।

जैन-समाजमें और विशेष करके बुन्देलखण्डकी जनसमाजमे शिक्षा का प्रसार करनेमे वर्णीजीने अथक प्रयत्न किया है, और ७७ वर्षकी अवस्था हो जाने पर भी वे अपने प्रयत्नसे विरत नही हुए है।

उनकी बालकों-जैसी सरलता तो सभीके लिए आकर्षक है। उन्हें अभिमान छू तक नही गया है। सदा प्रसन्न मुख, मीठी-मीठी बाते, पर-दु.खकातरता और सदा सबकी शुभ कामना, ये वर्णीजीकी स्वाभाविक विशेपताएँ है। जबसे मैंने उन्हे देखा और जाना, तबसे आज तक मुझे उनमें कोई भी परिवर्तन दिखलाई नही दिया। उत्तरोत्तर उनकी ख्याति, प्रतिष्ठा, भक्तोकी संख्या बराबर बढ़ती गई, किन्तु इन सबका प्रभाव उनकी उक्त विशेषताओ पर रंचमात्र भी नही पड़ा।

वे सदा जनताकी भाषामे बोलते है, जनताके हृदयसे सोचते है और जनताके लिए ही सब कुछ करते है। इसीसे जनताके मनोभावोको जितना वे समझते है, जैनसमाजका कोई अन्य नेता नही समझता। वे उसकी कमजोरीको जानते हुए भी उससे घृणा नही करते, किन्तु हार्दिक सहानुभूति रखते है। इसीसे वे जनसाधारणमे इतने अधिक प्रिय है। उनसे मिलनेके बाद प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि वर्णीजीकी मुझ पर असीम कृपा है। यही उनकी महत्ताका सबसे बड़ा चिह्न है। सचमुच में वे छोटे-से भी छोटे और महान्-से भी महान् है।

१० सितम्बर, १९५१

जन्म—	उमराला (काठियावाड़)
	वि० स० १६४६
दीक्षा—	उमराला वि० सं० १६७०
वर्तमान आयु—	६२ वर्ष वि० सं० २००८

काठियावाड़ के रत्न

श्री कानजी महाराज प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। उनके परिचयमें आने वालोंपर उनकी प्रतिभाका अमिट प्रभाव पड़े विना रहता ही नहीं। उनकी स्मरणशक्ति वर्षोंकी वातको तिथि-वारसहित याद रख सकती है। उनकी कुशाग्र वुद्धि हरेक वस्तुकी तहमें प्रवेश करती है। उनका हृदय वज्रसे भी कठिन और कुसुमसे भी कोमल है। वे एक अध्यात्मरसिक पुरुष हैं। उनकी नस-नसमें अध्यात्म-रसिकता व्याप्त है। कानजी स्वामी काठियावाड़के रत्न हैं।

आत्मार्थी श्री कानजी महाराज

पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

सन् १९४० की घटना है। श्रमणवेलगोलाके महामस्तकाभिषेकसे लौटते हुए अम्बाला-सघ स्पेशल श्री गिरनार क्षेत्रपर पहुँची। क्षेत्रके मुनीमसे ज्ञात हुआ कि कानजी महाराज यही है और कल यहाँसे चले जायँगे। हम लोग तुरन्त ही उनसे मिलने गये और हमने लकड़ीके तख्तेपर बैठी हुई एक भव्य आकृतिको देखा, जिसने प्रसन्नमुद्रासे हमारा स्वागत किया। यह प्रथम दर्शन था। उसके पश्चात् १९४६ मे दूसरा अवसर उपस्थित हुआ।

महाराजकी भक्त-मंडलीने सोनगढसे दि० जैन विद्वत्परिषद्को आमन्त्रित किया और मुझे उसका प्रमुख बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। तीन दिनतक चर्चा-वार्ताका आनन्द रहा और जो कुछ सुना करते थे उसे प्रत्यक्ष देखनेका अवसर मिला।

× × ×

कानजी महाराजका जन्म वि० सं० १९४६ के वैसाख मासमें रविवारके दिन काठियावाड़के उमराला गाँवमे, स्थानकवासी जैन-सम्प्रदायकी अनुयायी दशा श्रीमाली जातिमे हुआ। आप बचपनसे ही विरागी थे। छोटी उम्रमें ही माता-पिताके स्वर्गस्थ हो जानेसे कानजी अपने बड़े भाईके साथ आजीविका उपार्जन करनेके लिए पालेजमे चालू दूकानमे शामिल हुए, किन्तु व्यापार करते हुए भी आपका दिल व्यापारी नही था। आपके मनका स्वाभाविक झुकाव सत्यकी खोजकी ओर था। उपाश्रयमें किसी मुनिके आनेका समाचार मिलते ही आप उनकी सेवा और धर्म-चर्चाके लिए उनके पास दौड़ जाते थे। इस तरह आपका बहुत-सा समय उपाश्रयमें ही बीतता था। आपके सम्बन्धी आपको 'भगत' कहते थे।

एक दिन आपने अपने वडे भाईसे साफ-साफ कह दिया कि मुझे विवाह नही करना, मेरे भाव दीक्षा लेनेके है। भाईने बहुत समझाया कि तुम लग्न करो चाहे न करो, तुम्हारी इच्छा, किन्तु दीक्षा मत लो। परन्तु बहुत समझानेपर भी उनका विरागी चित्त ससारमे नही लगा। दीक्षा लेनेसे पहले आप कितने ही महीनों तक आत्मार्थी गुरुकी खोजमें काठियावाड, गुजरात और मारवाड़के अनेक गाँवोमें घूमे। अन्तमे संवत् १९७० में मार्गशीर्ष सुदी नवमी, रविवारके दिन उमरालामे ही बोटाद सम्प्रदायके हीराचन्दजी महाराजसे दीक्षा ले ली।

दीक्षा लेनेके पश्चात् आपने श्वेताम्बर आम्नायके शास्त्रोका गहरा अभ्यास किया। आपकी ज्ञानपिपासा और सुशीलताकी ख्याति शीघ्र ही सौराष्ट्रमे फैल गई। जब कोई मुनि कहता—'चाहे जितना उग्र चारित्र पालन करो, किन्तु यदि सर्वज्ञ भगवान्‌ने अनन्त जन्म देखे होंगे तो उनमेसे एक भी जन्म घटनेका नही।' आप तुरन्त बोल उठते—'जो पुरुषार्थी है, उसके अनन्त जन्म सर्वज्ञ भगवान्‌ने देखे ही नही।'

सं० १९७८ मे भगवान् कुन्दकुन्द विरचित समयसार ग्रन्थ आपके हाथमे आया। उसे पढ़ते ही आपके आनन्दकी सीमा न रही। आपको ऐसा प्रतीत हुआ कि जिसकी खोजमें थे, वह मिल गया। समयसारका आपपर अद्भुत प्रभाव पड़ा, और आपकी ज्ञानकला चमक उठी।

स० १९९१ तक कानजीने स्थानकवासी साधुकी दशामे काठिया-वाडके अनेक गाँवोंमें विहार किया और लोगोको जैनधर्मका रहस्य सम-झानेका यत्न किया। अपने व्याख्यानोमे आप सम्यग्दर्शनपर अधिक जोर देते थे। 'दर्शन-विशुद्धिसे ही आत्म-सिद्धि होती है' यह आपका मुख्य सूत्र रहा है। वे अनेक बार कहते—"शरीरकी चमडी उखाड़कर उसपर नमक छिड़कनेपर भी क्रोध नही किया, ऐसा चारित्र जीवने अनन्त बार पाला है, किन्तु सम्यग्दर्शन एक बार भी प्राप्त नही किया। लाखो जीवों-की हिंसासे भी मिथ्यात्वका पाप अधिक है।. . .सम्यक्त्व सुलभ नही है। लाखों करोड़ोंमेंसे किसी एक विरलेको ही वह प्राप्त होता है। आज तो

सब अपने-अपने घरका सम्यक्त्व मान बैठे है।"

इस तरह अनेक प्रकारसे आप सम्यक्त्वका माहात्म्य लोगोके चित्त-पर बैठानेका यत्न करते। प्रायः देखा जाता है कि साधुओके व्याख्यानमे वृद्धजन ही आते है, परन्तु आपके व्याख्यानमे शिक्षितजन—वकील, डाक्टर वगैरह भी आते थे। जिस गाँवमे आप पधारते, उस ग्राममे घर-घर धार्मिक वायुमण्डल छा जाता। तथा जैनधर्मके प्रति अनन्य श्रद्धा, दृढता और अनुभवके बलपर निकलनेवाले आपके वचन नास्तिकोको भी विचारमे डाल देते और कितनोको ही आस्तिक बना देते।

पहले तो आप स्थानकवासी सम्प्रदायमे होनेसे व्याख्यानोमे मुख्य-तया श्वेताम्बर शास्त्र पढ़ते थे, किन्तु अन्तिम वर्षोमे समयसार आदि ग्रन्थोको भी सभामे पढ़ा करते थे। यह क्रम स० १६६१ तक चलता रहा, किन्तु अन्तरगमे वास्तविक निर्ग्रन्थ मार्ग ही सत्य मालूम होनेसे स० १६६१ के चैत्र सुदी १३ मगलवारको भगवान् महावीरके जन्म-दिवसके अवसर पर आपने धर्म-परिवर्तन कर लिया और सत्यके लिए काठियावाडके सोनगढ नामक छोटेसे गाँवमे जाकर बैठ गये।

जो स्थानकवासी सम्प्रदाय कानजी मुनिके नामसे गौरवान्वित होता था, उसमे इस परिवर्तनसे हलचल होना स्वाभाविक ही था, किन्तु वह हलचल क्रमसे शान्त हो गई। जिन लोगोका उनमे विश्वास था, वे ऐसा विचार कर कि 'महाराजने जो किया वह समझकर ही किया होगा' तटस्थ बन गये और मुमुक्षु तथा विचारक वर्ग तो पहलेसे भी अधिक उनका भक्त बन गया।

परिवर्तनके बाद आपका मुख्य निवास सोनगढमे ही है। आपकी उपस्थितिसे सोनगढ एक तीर्थधाम-सा बन गया है। विभिन्न स्थानोसे अनेक भाई-बहन आपके उपदेशका लाभ लेने सोनगढ आते रहते है। उनके निवास तथा भोजनके लिए वहाँ एक जैन अतिथिगृह है। उसमे सब भाई समयसे एक साथ भोजन करते है। अनेक मुमुक्षु भाई-बहनोने तो वहाँ अपना स्थायी निवास-स्थान बना लिया है।

सोनगढ़का जिन-मन्दिर तथा सीमन्धर स्वामीके समवसरणकी रचना दर्शनीय है। कुन्दकुन्द स्वामीके विषयमें ऐसा उल्लेख मिलता है कि उन्होंने विदेहक्षेत्रमें जाकर सीमन्धर स्वामीके मुखसे दिव्यध्वनिका श्रवण किया था। दर्शनसारमे लिखा है–

"जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥'

अर्थात्–'यदि सीमन्धर स्वामीसे प्राप्त दिव्य ज्ञानसे श्री पद्मनन्दि स्वामी, (कुन्दकुन्द) ने वोध न पाया होता तो मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते ?'

कानजी स्वामीकी उक्त उल्लेखपर दृढ आस्था है। अत उनकी भावनाके अनुसार सोनगढ़में सीमन्धर स्वामीके समवसरणकी रचना रचकर उसमें कुन्दकुन्द स्वामीको भगवान्का उपदेश श्रवण करते हुए दिखलाया है। यह रचना दर्शनीय है।

सोनगढ़का स्वाध्याय-मन्दिर भी दर्शनीय है। यह एक विशाल भवन है, जिसमें कई हजार भाई-वहन एक साथ वैठकर महाराजका उपदेश श्रवण कर सकते है। धर्मोपदेशका समय निश्चित है, सुबह ८ से ९ तक और सन्ध्याको ३ से ४ तक। सब श्रोता ठीक समय पर आकर वैठ जाते है और ठीक समयसे उपदेश प्रारम्भ हो जाता है और ठीक समयपर वन्द होता है। समय-पालनकी विशेपता पर वरावर ध्यान दिया जाता है। सन्ध्याको उपदेशके पश्चात् सब भाई-वहन जिन-मन्दिरमें जाते हैं और वहाँ आधा घंटा सामूहिक भक्ति की जाती है।

कानजी महाराजकी समयसार और कुन्दकुन्दके प्रति अतिशय भक्ति है। वे समयसारको उत्तमोत्तम ग्रन्थ गिनते हैं। उनका कहना है कि 'समयसारकी प्रत्येक गाथा मोक्ष देनेवाली है। भगवान् कुन्दकुन्दका हमारे ऊपर वहुत भारी उपकार है। हम उनके दासानुदास है। भगवान् कुन्दकुन्द महाविदेहमें विद्यमान तीर्थंकर सीमन्धर स्वामीके पास गये थे। कल्पना करना मत, इनकार करना मत, यह वात इसी प्रकार है,

मानो तो भी इसी प्रकार है, न मानो तो भी इसी प्रकार है।'

समयसारकी जो स्तुति वहाँ पढ़ी जाती है, वह भक्तिरससे ओत-प्रोत है। यद्यपि वह गुजरातीमे है, किन्तु गुजराती न जाननेवाले पाठक भी उसका आशय सरलतासे समझ सकते है–स्तुति इस प्रकार है–

सीमन्धर मुख[1]थी फूलडां झरे,
एनी[2] कुन्दकुन्द गूंथी माळ रे,
जिनजी नी वाणी भली रे।
वाणी भली मन लागे रली,
जेमां समयसार सिरताज रे,
जिनजी नी वाणी भली रे···सीमन्धर० ॥१॥
गूंथ्या पाहुड ने गूंथ्यूं पंचास्ति,
गूंथ्युं प्रवचनसार रे,
जिनजी नी वाणी भली रे।
गूंथ्यूं नियमसार, गूंथ्यूं रयणसार,
गूंथ्यूं समयनो सार रे,
जिनजी नी वाणी भली रे···सीमन्धर० ॥२॥
स्याद्वाद केरी[3] सुवासे भरे लो,
जिनजीनो ऊँकार नाद रे,
जिनजी नी वाणी भली रे।
वंदु जिनेश्वर वंदु हुं कुन्दकुन्द,
वंदु ए ॐकार नाद रे,
जिनजी नी वाणी भली रे···सीमन्धर० ॥३॥
हैडे[4] हजो मारा भावे हजो,
मारा ध्याने हजो जिनवाण रे,
जिनजी नी वाणी भली रे।

---

१ मुखसे। २ इसकी। ३ की। ४ जिनवाणी हमारे हृदयमें होवे, जिनवाणी हमारे भावोंमें होवे, जिनवाणी हमारे ध्यानमें होवे।

जिनेश्वर देवनी वाणीसना वायरा[1],
बाजे मने दिन रात रे,
जिनजी नी वाणी भली रे···सीमन्धर० ॥४॥

इसमें सन्देह नहीं कि कानजीका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावक है और वक्तृत्वशैली अनुपम है। उनके प्रभावसे सोनगढ़के जैनेतर अधिवासी भी अध्यात्म-चर्चाके प्रेमी वन गये है। अपने सोनगड़के प्रवास-कालमें हमें इसका अनुभव हुआ। एक दिन एक व्यक्ति विद्वानोंके वासस्थान पर आकर अध्यात्मकी चर्चा करने लगा। पूछनेपर उसने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं मुसलमान हूँ, पुलिसमे कान्सटेवुल हूँ और प्रतिदिन महाराजका उपदेश सुनने जाता हूँ।

दूसरे दिन एक विद्वान्‌को ज्वर आ गया। उन्हे देखनेके लिए डाक्टर आया। एक घंटे तक खूब अध्यात्म चर्चा रही।

किवदन्ती है कि मण्डन मिश्र एक वहुत वड़े विद्वान् थे। जब शंकराचार्य शास्त्रार्थके लिए उनके ग्राममे पहुँचे तो उन्होंने ग्रामके बाहर कुआँपर पानी भरनेवाली एक स्त्रीसे मण्डनमिश्रका घर मालूम करना चाहा। उस पानी भरनेवालीने उत्तर दिया—

"स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारेऽपि नीडान्तःसन्निरुद्धा अवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम॥"

'जिसके द्वारपर पीजरोंमें वन्द मैनाएँ 'प्रमाण स्वतः होता है अथवा परतः होता है' इस प्रकारकी चर्चा करती हों, उसे ही मण्डनमिश्र का घर समझना।' सोनगढ़के विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिए। जहाँके वायुमण्डलमें अध्यात्म प्रवाहित हो वही कानजीका निवास स्थान सोनगढ़ है।

—काशी १ अक्टूबर, १९५१

---

1 वायु।

जन्म—	वृन्दावन
	आपाढ़ शुक्ल ३ वि० सं० १९४६
विवाह—	११ वर्षकी अवस्था में
वैधव्य—	१२ वर्ष की अवोधावस्था में
वर्तमान आयु—	६२ वर्प वि० स० २००८

बापूका आशीर्वाद

पण्डिता चन्दाबाई द्वारा स्थापित "वनिता-विश्राम" देखकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ, और मकानकी शान्ति देखकर आनन्द हुआ।

मोहनदास कर्मचन्द गान्धी

शतशत प्रणाम

श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर

पति मर गया, पत्नीकी उम्र १६ वर्ष है। माँ-बाप विलख रहे हैं, भाई रो रहे हैं, वहनें बेहाल हैं, शहरभरमे हाहाकार है, पर जिसका सब कुछ लुट गया, वह स्नान करके शृंगार कर रही है, आँखोंमें अजन, माँगमे सिन्दूर और गुलाबी चुनरिया, चेहरेपर रूप वरस पड़ा है, अग-अंग मे स्फुरणा है और जिह्वामे मिश्री, जिनसे कभी सीधे मुँह नही वोली, आज उनसे भी प्यार।

शहर भरके लोग एकत्र, युवककी अर्थी उठी, अर्थीके आगे, नारियल उछालती, पर्देके उस बीहड़ अंधकारमे भी खुले मुँह गीत गाती, ढोलके मद भरे घोष पर थिरकती, उसीकी ताल पर अपनी नई चूडियाँ खनखनाती, वह १६ वर्षकी सुकुमारी नारी श्मशानकी ओर जाती, भारत के चिर अतीतमे हमे दिखाई देती है।

उसका पति मर गया, पर वह विधवा नही, यह हमारी संस्कृतिका महा वरदान है। पतिके साथ रही है, पतिके साथ रहेगी—चिताके ज्वालामय वाहन पर आरूढ हो, किसी अक्षयलोककी ओर जैसे देहधरे ही वह उडी जा रही है, जहाँ रूप है, कुरूप नही, मगल है अमंगल नही, मिलन है, वियोग नही। यह भारतके स्वर्णयुगकी महामहिमामयी सती है, उसे शत-शत प्रणाम।

* * *

पति मर गया है, पत्नीकी उम्र १६ वर्ष है, उसके जीवनमे अव आह्लाद नही, आशा नही, दुनियाके लिए वह एक अशकुन है, सासके निकट डायन, माँके लिए बदनसीव, वह मानव है, भगवान्के निवासका पवित्र मन्दिर, पर मानवका कोई अधिकार उसे प्राप्त नहीं। समाज

और धर्मशास्त्र दोनोंने उसके पथमे ऊँचे-ऊँचे 'बोर्ड' खड़े किये है, जिनपर लिखा है, संयम, ब्रह्मचर्य, त्याग, सतीत्व और वन्दनीय, पर व्यवहारमें प्रायः जेठ, देवर, श्वशुर और जाने किस-किसकी पशुताका शिकार। रेलवे डिपार्टमेण्टके 'सफरी' विभागके कर्मचारियोंकी तरह जब आवश्यकता हो, पिताके घर और जब जरूरत हो श्वशुरके द्वार जा 'कर्तव्य-पालन' के लिए बाध्य, ऐसा कर्तव्य पालन, जिसमे रस नही, अधिकार नही, ममता नही, क़ैदीकी मशक्क़तकी तरह अनिवार्य, पर महत्त्वहीन और मानहीन ! यह हमारे राष्ट्रके मध्ययुगकी विधवा है, समाजका अग होकर भी, सामाजिक जीवनके स्पन्दनसे शून्य। साँस चलता है, केवल इसीलिए जीवित; अन्यथा जीवनके सब उपकरणोसे दूर, जिसने सब कुछ देकर भी कुछ नही पाया, बलिदानके बकरेकी तरह वन्दनीय। जिसने ठोकरें खाकर भी सेवा की और रोम-रोममे अपमानकी सुइयोसे बिंधकर भी विद्रोह नहीं किया। हमारे सास्कृतिक पतनकी प्रतिबिम्ब और सामाजिक ह्रासकी प्रतीक इस वैधव्यमूर्तिको भी प्रणाम !

* * *

पति मर गया है, पत्नी १६ वर्षकी है। हँसनेको उत्सुक-सी कली पर विपदाका जब पहाड़ टूटा, माँके विलापका धुवाँ जब आकाशमे भर चला, परिवार और पास-पड़ौस जब कलेजेकी कसकमें कराह उठे, तब पिताने धीमे, पर दृढ़ स्वरमें कहा--रोओ मत, उसकी चूड़ियाँ मत उतारो, मै अपनी बेटीका पुनर्विवाह करूँगा तो जैसे क्षण भरको बहती नदी ठहर गई। साथियोंने हिम्मत तोड़ी, पंचोंने पंचायतके प्रपंच रचे, सुसरालवालोंने कानूनी शिकंजोंकी खूंटियाँ ऐठकर देखी, पर सुधारक पिता दृढ रहा। उसने युगकी पुकार सुनी और एक योग्य वरके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया, धूमधामसे, उत्साहसे, गम्भीरतासे। कन्याका मन आरम्भमे हिरहिराया, फिर अनुकूल हुआ और फिर उसका मन अपने नये घरमें रम गया। पतिके प्रति अनुरक्त, परिवारके प्रति सहृदय और अपनी सन्तानमे लीन वह जीवनकी नई नाव खे चली।

यह हमारे युगकी नई करवट, परम्पराकी नई परिणति, नारीकी असहायताका नया अवलम्ब, समाजके निर्माणकी नव सूचनाका एक प्रतीक है, जिसे आरम्भमे वर्षो पतिका प्यार तो मिला, पर समाजका मान नही, जिसे परिवार मिला, जिसने परिवारका निर्माण किया, पर जिसे वरसो पारिवारिकता न मिली, जिसे बरसो नई आबादीके मधुर कोलाहलमे भी विगत वीरानेकी शून्यताका भार ढोना पड़ा, पर जो धीरे-धीरे युगका अवलम्ब लिये स्थिर होती गई और जो आज भी कुलीनताके निकट व्यंगकी तो नही, हाँ इगितकी पात्र है। नवचेतनाके इस साधना-स्रोतको भी प्रणाम !

* * *

पति मर गया है, पत्नी १६ वर्षकी है। आशाओके सब प्रदीप एक ही झोकेमे बुझ गये। कही कोई नही, कही कुछ नही, बस शून्य—सब शून्य। स्थिरता जीवनमे सम्भव नही, पैर हिलनेकी भी शक्तिसे हीन। सहसा हृदयमे एक आलोक, आलोकमे जीवनकी स्फुरणा और स्फुरणामे चिन्तन !

पति ! नारीके जीवनमें पतिका क्या स्थान है ? पति ? क्या विवाह द्वारा प्राप्त एक साथी ? और विवाह ? आजकी भाषामें एक ऐग्रीमेण्ट ? तो पति मर गया और वह ऐग्रीमेण्ट भग ! अब नारी स्वतन्त्र, चाहे जिधर जाय, चाहे जो करे ? है न यही ? हाँ; तो फिर हमारी संस्कृतिमे, इन शास्त्रोमे, विवाहके ये गीत क्यो ? इस हाँके साथ जैसे भीतरका, आत्माका सब रस सूख चला।

फिर चिन्तन, गम्भीर चिन्तन, अन्तरमे भाव-धाराकी सृष्टि। जीवनमे साथी तो अनेक है, पतिका अर्थ है प्रतीक—व्रतका प्रतीक, लक्ष्य का प्रतीक। पतिव्रतका अर्थ है पतिका व्रत ! पतिकी पूजा ? दुनिया कहती है हाँ, धर्म कहता है नही, पतिका व्रत, पतिकी पूजा ? यह अर्थका अनर्थ है। मानव, मानवकी पूजा करे, मानव ही मानवताका व्रत

हो यह ईश्वरके प्रति द्रोह है। फिर! पतिव्रत--पतिके द्वारा व्रत, पतिके द्वारा पूजा। पूजा लक्ष्यकी, व्रत साध्यकी प्राप्तिका।

तब यह लक्ष्य क्या है? साध्य क्या है। व्यक्तिकी समष्टिके प्रति एकता, अणुकी विराटमें लीनता, भेद-उपभेदोंकी दीवारें लाँघकर, अज्ञान गिरिके उस पार हँसते-खेलते प्रभु-परमात्मामें जीवकी परिणति।

ओह, तब पति है साधन, पति है पथ, पति है अवलम्ब, न साध्य ही न लक्ष्य ही! पर साधन नही, तो साध्य कहाँ, पथके बिना प्रिय-प्राप्ति कैसी और वह हो गया भंग?

भगवान्‌की कृपासे फिर ज्ञानका आलोक। भंग कैसा! लहर जब सरितामें लीन होती है, तब क्या वह नाश है? बीज जब मिट्टीमें मिल वृक्षमें बदलता है, तब क्या वह नाश है? ऊँहूँ: यह नाश नही है, यह परिणति है। पति है लहर, सरिता है समाज, पति है बीज, वृक्ष है समाज। पति नही है! इस नहीका अर्थ है प्रतीककी परिणति।

नारी लक्ष्यकी ओर गतिशील, कल भी थी, आज भी है; यही उसका व्रत है। कल इस व्रतका प्रतीक था पति। आज है समाज। गतिके लिए तल्लीनता अनिवार्य है। कल तल्लीनताका आधार था पति, आज है समाज। कल नारी पतिके प्रेममे लीन थी, आज समाजके प्रेममे लीन है। यह लीनता स्वयं अपनेमें कोई पूर्ण तत्त्व नही, पूर्णताका प्रशस्त पथ है। नारीका लक्ष्य अविचल है, जो कल था, वही आज है, पर पथ परिवर्तित हो गया, प्रतीक बदला, साधन बदले, इँगलैडका यात्री अदनपर अपना जलपोत त्याग हवाई जहाज पर उड चला। उसे इँगलैड ही जाना था, और इँगलैड ही जाना है--यात्राके साधनोंका परिवर्तन यात्राके लक्ष्य का परिवर्तन नही।

ज्ञानके आलोककी इस किरणमालामें स्नानकर नारी जैसे जाग उठी, जी उठी। निराशा आशाके रूपमें बदल गई, वेदना प्रेममें अन्तर्हित, स्तब्धता स्फुरणामें, सामने स्पष्ट लक्ष्य, पैरोमें गति, मनमे उमंग, जीवनमे उत्साह। मस्तिष्क सद्भावनाओसे पूर्ण, हृदय प्रेमसे। कही किसीका

कष्ट देखा और पैर चले, कही किसीका कष्ट देखा और भुजाएँ उठी, कही किसीका कष्ट देखा और मस्तिष्क चिन्तित—विश्वभरके जीवनमे ओत-प्रोत, पत्नी अब वह किसीकी नही, माता सारे विश्वकी, सबके लिए विश्वसनीय, सबके लिए वन्दनीय ।

यह नारीके नारीत्वका चरम विकास है, उसके सतीत्वकी परम गति है, उसकी गतिकी अन्तिम सीमा है, जहाँ वह अपना लक्ष्य पाती है, यही उसके जीवनका गंगा-सागर है, जहाँ वह भगवान्-सागरमे लीन हो, परम सुखका लाभ लेती है। निर्माणमयी, निर्वाणमयी नारीकी इस नित नूतन मूर्तिको लाख-लाख प्रणाम ।

*   *   *

भारतीय सस्कृतिके सबल साधक गान्धीजीने नारीकी इसी शक्तिको, वैधव्यके इसी दिव्य रूपको 'हिन्दूधर्म' का शृगार कहा है। शृगारकी इसी दीप्तिसे प्रोज्ज्वल आज एक नारी हमारे मध्यमें है, ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई !

*   *   *

चन्दाबाई—एक वैष्णव परिवारमें जन्मी, राधाकृष्णकी रसमयी भक्तिधाराके वातावरणमे पलीं। माकी लोरियोमें उन्हे श्रद्धाका उपहार मिला, पिताके प्यारमे उन्होने कर्मठताका दान पाया और ११ वर्षकी उम्रमे एक सम्पन्न जैन-परिवारमे उनका विवाह हुआ ।

विवाह हुआ; उनके निकट इसका अर्थ है, विवाह-संस्कार हुआ और १२ वर्षकी उम्रमे उनका सब कुछ छिन गया, वे ठीक-ठीक जान भी न पाई और वैधव्यकी ज्वालामे उनका सर्वस्व भस्म हो गया ।

१२ वर्षकी एक सुकुमार बालिका, जो दुनियाको देखती है, पर समझ नही पाती; जो समझती है, अपने व्याकरणसे, अपने कोशसे, अपने ही लक्षणसे । इतना विशाल विश्व और अकेले यात्रा यहाँ भाग्यका अस्तित्व है, योग्य अभिभावक मिले, पथ बना । वैष्णवकी श्रद्धाका सम्बल

लिए वे चलीं, जैनत्वकी साधनाने उन्हें प्रगति दी। श्रद्धा और साधना दोनों दूर तक साथ-साथ चली। श्रद्धा समर्पणमयी है, साधना ग्रहणशील, श्रद्धा साधनामें लीन हो गई।

श्रद्धामयी साधना मूक भी है, मुखरित भी। मुखरित साधना, जिसमें अन्तर और वाह्य मिलकर चलते हैं—बुद्ध, महावीर और गान्धीकी साधना, जिसमे आत्मचिन्तन भी है, जगकल्याण भी। यही पथ चन्दावाईजीने चुना। विगत वर्षोंमें उन्होंने जो आत्मसाधनाकी अन्तरमे तप तपा, वह उनकी आकृतिमे, जीवनके अणु-अणुमें व्याप्त है। प्रत्यक्ष, जिसके अनुसन्धानमें श्रम अभीष्ट नहीं, और इन्ही वर्षोमे उन्होने लोक-कल्याणकी जो साधना की, उसका मूर्तरूप आराका 'जैनवाला-विश्राम' है देशकी एक प्रमुख सेवा-संस्था। आत्मसाधनामें संन्यासी, लोकव्यवहारमे सांसारिक, विश्व और विश्वात्माका समन्वय ही इस महिमामयी नारीकी जीवन-साधना है। जीवनमें धार्मिक, व्यवहारमे देशसेवक; सिद्धान्तोमे अतीतकी मूलमें, प्रगतिमें नवयुगकी छायामे, जिसकी एक मुट्ठीमे भूत, दूसरीमें भविष्य और वर्तमान जिसके जीवनोच्छ्वासमे व्याप्त, यही पण्डिता चन्दावाई है। युगका सन्देश वहन करती साधनामयी इस नारीको भी शत-शत प्रणाम !

—अनेकान्त, नवम्बर १९४३

प्रथम दर्शन

श्री नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य्य

पहली मई सन् १९३९ को पत्र मिला—"आप इण्टरव्यूके लिए चले आइये, मार्गव्यय मिल जायगा।" पत्रने मेरे मनमे गुदगुदी पैदा करदी, मेरे हृदयकुञ्जमे मदिर भाव विहगोंका कूजन होने लगा। वीणाके तारोमे सोया हुआ सगीत मुखरित हो उठा। मनने कहा—सफलता निकट है, आजीविका मिल जायेगी; पर हृदयने वेदनाके एक सजल छोरको पकडकर झकझोरते हुए कहा—यह अधर छलकती मुस्कान प्रकृतिका नवल उल्लासमात्र है। आरामे धर्मशास्त्रज्ञा पण्डिता चन्दावाईजीके समक्ष जाना है, वड़े-वड़े पण्डित उनके पाण्डित्यके समक्ष मूक हो जाते है, तुम नये रँगरूट, अनुभवशून्य, मात्र कितावी कीड़े टिक सकोगे ? हृदय-के इस कथनकी कल्पनाने अवहेलना की। वह सुख-दुख, हास-विषाद, सकल्प-विकल्पके साथ आँख-मिचौनी खेलने लगी। कर्मयोगका विश्वासी इस अनन्त विश्वमें साधनाशील होकर ही जीवनके सत्यको प्राप्त करता है। सहसा अन्धकारमय क्षितिज पर एक निर्मल ज्योतिकी प्रभा अवतरित हुई और अन्तस्से ध्वनि निकली कि चलकर हितैपी गुरुवर्य्य पण्डित कैलाशचन्द्रजीसे सलाह क्यों न ली जाय ?

वेदनासे भाराच्छन्न मन लिये गुरुवर्य्यके समक्ष पहुँचा और काँपते हुए पत्र उनके हाथमे दे दिया। एक ही दृष्टिमे पत्रके अक्षरोको आत्म-सात् करते हुए वह वोले—"तुम काम करना चाहते हो, आरा अच्छी जगह है, चले जाओ। ब्र० प० चन्दावाईजीके सम्पर्कसे तुम्हारा विकास होगा, सोना वन जाओगे।"

मैंने धीरेसे कहा—"पण्डितजी ! डर लगता है। इण्टरव्यूमें क्या कहूँगा।"

गुरुदेवने प्रेमभरे शब्दोंमें कहा—"डरनेकी वात नही, सँभलकर उत्तर देना।"

वार्षिक परीक्षा समाप्त होनेपर ५ मईके प्रातःकाल कल्पनाके कमनीय पंखों पर उड़ता हुआ, उल्लासकी वीणा पर भव्य भावनाओंकी कोमल अँगुलियाँ फेरता, अनेक अरमानोंको हृदयमें समेटे, खिन्न मन मैना सुन्दर भवन (नयी धर्मशाला) आरामे आ पहुँचा। दरबानने एक कोठरी ठहरनेको दे दी, सामान एक किनारे रख नित्यकर्मसे निवृत्त हुआ; और स्नान, देवदर्शनके पश्चात् कर्मचारियोंसे मालूम किया कि पं० चन्दाबाईजीके दर्शन कहाँ होगे ?

धर्मशालाके मैनेजर काशीनाथजीने कहा—"कलसे वे कोठी (श्री वावू निर्मलकुमारजीके भवन) में आई हुई है। आप अभी ७ वजे उनसे कोठीमें ही मिल आइये, दो वजे वह आश्रम चली जायेंगी।" मैंने नम्रतापूर्वक कहा—"कृपया मुझे कोठीका रास्ता बतला दे, यदि अपने यहाँके आदमीको मेरे साथ कर दें तो मै अपनेको धन्य समझूँ।"

उन्होंने मेरे साथ सहानुभूति प्रकट की और धर्मशालाके सेवक चतुर्गुणको मेरे साथ कोठी तक कर दिया। वहाँ जाकर मैंने दरबानसे पूछा—"श्री पं० चन्दावाईजीसे मुलाकात कहाँ होगी ?" उसने कहा कि "आप छोटी बहूजीसे मिलना चाहते है ? इस समय तो वह मन्दिरमे सामायिक कर रही है।" मैंने कहा—"नही जी, मुझे प० चन्दाबाईजीसे मिलना है, जो बालाविश्रामकी संचालिका है।" कठिनाई यह थी कि दरवान भोजपुरीमें बोलता था और मै बोलता था हिन्दीमे। दोनो ही परस्पर एक दूसरेकी बातोको ठीक तरहसे समझनेमे असमर्थ थे। बडी देरतक वह छोटी बहूजी, छोटी बहूजी कहता रहा और मैं पं० चन्दावाईजीको पूछता रहा। इसी बीच ऊपरसे कोई रसोइया आया और वह हम दोनोकी बातोंको सुनकर बोला—"हाँ, हाँ, वही धनुपुरा वाली बहूजी। अभी-अभी सामायिक करके आई है। आप क्या चाहते हैं ? मै ऊपर पूछकर आता हूँ, अपना नाम बतला दीजिये।"

मैने एक चिटपर अपना नाम लिखकर और उनका इण्टरव्यूके लिए प्राप्त पत्र उस रसोइयेको दे दिया। थोड़ी देरमे उस व्यक्तिने आकर कहा—"आपको ऊपर बहूजी बुला रही है।"

मैने उस आदमीसे कहा—"भई! मै नया आदमी हूँ, यहाँके नियमोसे बिल्कुल अपरिचित हूँ, ऊपर तक मेरे साथ चलनेका कष्ट करे।" सच कहता हूँ उस समय मेरे मनमे उससे कही अधिक घबडाहट थी; जैसी विषय तैयार न होनेपर कभी-कभी परीक्षाभवनमे घबड़ाहट हो जाती थी। कलेजा धक्-धक् कर रहा था, नाना प्रकारके सकल्प-विकल्प उत्पन्न हो रहे थे। मै अपने भाग्यका निपटारा कराने जा रहा था।

ऊपर पहुँचकर कमरेके बरामदेसे मैने झाँका डरते हुए, सकुचाते हुए, भय खाते हुए। मन कह रहा था कि कही मुझसे कुछ अशिष्टता न हो जाय और बना-बनाया सारा खेल न बिगड जाय। मै प्रतीक्षा कर रहा था कि एक मधुर आवाज आई, आप भीतर चले आइये। फिर क्या था अमल धवल खद्दरकी साडी पहने दिव्य तेजस्विनी, सादगीसे ओत-प्रोत, मधुरभाषिणी, तपस्विनी, स्नेहशीला माँके दर्शन हुए। उस समय हृदयमे नाना प्रकारकी तरगे उठ रही थी। मैने श्रद्धा और भक्तिसे प्रणाम करते हुए मनमे कहा—"यही पंडिता चदाबाईजी है, तब तो डरनेकी कोई बात नही। मै जिनसे डर रहा था, उनमे अपूर्व स्नेह और ममता है, वाणीमे तो मिश्री घोल दी गई है।" न मालूम क्यो मेरे हृदयने बरबस ही उनके गुणोकी श्रेष्ठता स्वीकार कर ली और उनकी चरण-रज सिरपर धारण करनेको लालायित हो उठा।

स्नेहामृत उँडेलकर कुर्सी पर बैठालते हुए उन्होने पूछा—"रास्तेमें कष्ट तो नही हुआ ? अपना सामान आपने कहाँ रक्खा है ? आप रहनेवाले कहाँके है ?" मैने संक्षेपमे उपर्युक्त प्रश्नोका उत्तर दिया। पश्चात् उन्होने पुनः कहा—"आपने कहाँ तक अध्ययन किया है ? धर्मशास्त्रमें कौन-कौन ग्रथ पढे है ? सस्कृत-साहित्य और व्याकरणका अध्ययन कहाँ तक किया है ? न्यायतीर्थकी परीक्षा किस वर्ष दी ?" मैने पूज्य पंडित

कैलाशचन्द्रजी द्वारा प्रदत्त परिचयपत्रको देते हुए उपर्युक्त प्रश्नोका सक्षेपमे जवाब दिया। अब मुझमें साहस आने लगा था और भय उत्त-रोत्तर घटता जा रहा था।

अनन्तर माँश्रीने हँसते हुए प्रथम गुच्छक, जिसका वह स्वाध्याय कर रही थी उठा लिया और मुझसे देवागम-स्तोत्रकी बाहरवी कारिका—**"अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम्"** का अर्थ पूछा। मैं अष्ट-सहस्रीकी परीक्षा देकर आया था। मुझे अपने तद्विषयक पांडित्यका पूरा भरोसा था; अतः प्रसन्न होकर कारिकाका अर्थ 'शती' और 'सहस्री' टीकाओके आधारपर उद्धरणसहित बताया। माँश्रीने हँसते हुए बीचमें रोककर कहा कि कारिकाके उत्तरार्द्ध 'बोधवाक्यं' का अर्थ फिरसे कहिये। मैंने रटी हुई पंक्तिके आधार पर कहा—**"बोधस्य स्वार्थसाधनदूषणरूपस्य वाक्यस्य च परार्थसाधनदूषणात्मनो संभवात्तन्न प्रमाणम्"** अर्थात् स्वार्था-नुमान और परार्थानुमानकी प्रमाणता सिद्ध न हो सकेगी।

माँश्रीने बीचमें रोकते हुए कहा—"बोध" शब्दका अर्थ अनुमान और "वाक्य" शब्दका अर्थ आगम लिया जाय तो क्या हानि है? वसुनदी वृत्तिके आधार पर उन्होने अपने अर्थकी पुष्टिके लिए प्रमाण भी उपस्थित किये। मैं उनकी तर्कणाशक्तिको देख आश्चर्यमे डूब गया। पश्चात् 'आत्मानुशासन' और 'नाटकसमयसारकलश' के कई श्लोकोंका अर्थ पूछा। मैं अर्थ कहता जाता और माँश्री बीच-बीचमें शंकाएँ करती जाती थी। बृहत्स्वयंभूस्तोत्रमें मुनि सुव्रतनाथकी स्तुतिमें आये—**"शशिरुचि-शुचिशुक्ललोहितं"** श्लोकका अर्थ गलत कर रहा था तो माँश्रीने मीठे शब्दोमे मेरी ग़लती बतलाई और उस श्लोकके दो-तीन अर्थ भी प्रकारान्तरसे किये।

गोम्मटसार जीवकाण्डको लेकर उन्होने **"अवरुवरि इगिपदेसे जुदे असंखेज्जभाग वड्ढीए"** आदि अवगाहनाके वृद्धिक्रमवाली गाथाओकी व्याख्या करनेका मुझे आदेश दिया। गणित विषयमें विशेष रुचि होनेके कारण मैंने गोम्मटसारमें आई हुई संदृष्टियोंको अपने कल्पित उदाहरणो द्वारा हृदयंगम कर लिया था, पर फिर भी न मालूम क्यों मैं इस समय अधिक

नरवस होता जा रहा था। धीरे-धीरे मेरी आवाज भी भर्राती जा रही थी। गलेमे भी खुसखुसाहट होने लगी थी। यद्यपि मै सदृष्टिसहित अर्थ कह रहा था, पर मुझे ऐसा लग रहा था कि मुझसे विषय स्पष्ट नहीं हो रहा है। चार-पाँच गाथाओकी व्याख्याके पश्चात्—माँश्रीने प्रश्न किया कि—"अवगाहनामें चार ही वृद्धियाँ क्यो होती है, अनन्तभाग और अनन्त-गुण वृद्धि क्यो नही होती?" मै इस शंकाका समाधान नही कर सका और घबड़ाकर बगलें झाँकने लगा। उन्होने मधुर स्वरमे कहा—"**असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्**" सूत्र याद है। आत्मा जब असख्यात प्रदेशी है तो उसमे अनन्तभाग या अनन्तगुणवृद्धि कैसे होगी? मै चुप रह गया और अपनी पराजय स्वीकार कर ली।

इण्टरव्यू समाप्त हुआ। वह वोलीं—"पडितजी! हमारा विचार बालकोकी नैतिक शिक्षाके लिए एक रात्रि पाठशाला खोलनेका है। धन-के विना मनुष्य उठ सकता है, विद्याके विना भी बड़ा बन सकता है, पर चरित्रवलके विना सर्वथा हीन और पंगु है। आचरणहीन ज्ञान पाखण्ड है। नैतिक व्यक्ति ही अपने प्रति सच्चा ईमानदार हो सकता है। आज-की स्कूल और कॉलेजकी शिक्षामे नैतिकताका अभाव है। बच्चे अपरि-पक्व घड़ेके समान है, इनके ऊपर आरभसे ही अच्छे सस्कारोका पड़ना आवश्यक है। अतएव हाईस्कूलोमे पढ़नेवाले अपने बच्चोको धार्मिक शिक्षा देनेके लिए ऐक रात्रिपाठशाला खोलनी है। आपको उस पाठ-शालाका शिक्षक बनना होगा। आप सुविधानुसार प्रातः और सायकाल बच्चोंको धार्मिक शिक्षा दे, शहरमे यो तो ५०-६० बच्चे पढनेके लिए मिल जायेगे, पर जब तक २०-२२ लड़के भी आते रहेगे, पाठशाला चलती जायगी। इस पाठशालाका कुल व्यय हम अपने पाससे देगी।

आप इस बातका ख़याल रखे कि श्लोक या पद्य रटानेकी अपेक्षा उन्हे जीवन क्या है और उसे कैसे व्यतीत करना चाहिए—सिखलावे। शिक्षाको कल्याणकारी बनानेके लिए शिक्षकको पूर्ण दायित्वका निर्वाह करना होता है। उसे अहंकार छोड़कर एक ही मार्गके यात्रीके रूपमे

शिक्षार्थीके साथ जीवनके स्वाध्याय और सदाचरणमें भाग लेना होता है। बच्चोंको डाँटने-डपटनेकी अपेक्षा स्नेहसे समझाना और सन्तानवत् वात्सल्यभाव रखना ज़्यादा हितकर होता है। शिक्षा देना एक साधना है, यह तब सफल होती है, जब विद्यार्थियोको मनुष्य बना दिया जाता है। बच्चे स्थूल विविधतासे विशेष परिचित नही होते, वे केवल जीवन-को पहचानते है। जहाँ उन्हे जीवनसे स्नेह सद्भावकी किरणे फूटती जान पड़ती है, वहाँ वे व्यक्त विषम रेखाओकी उपेक्षा कर डालते है, किन्तु जहाँ दण्ड, घृणा आदिके धुएँसे जीवन आच्छादित रहता है, वहाँ वे हितकी बातें भी नही ग्रहण कर पाते।

इस समय हमारा समाज ऐसा हो रहा है कि स्वार्थके सिवा और हमे कुछ भी दिखलाई नही पड़ता। आज शिक्षा जैसी पवित्र वस्तुमे भी व्यापार चल गया है, व्यापारिक दृष्टिकोणसे मोल-तोल किया जाता है, जिससे जीवनका मर्म समझनेवाले शिक्षक नही मिल पाते।" इतना कहते-कहते उन्होने पुकारा—"सुबोध (श्री बा० सुबोधकुमारजी), इधर आओ। देखो, बनारससे बुलाये गये पंडितजी आ गये है।"

मैंने देखा—अधबाँही क़मीज़ पहने, लंबा इकहरा शरीर, उजली बड़ी-बड़ी आँखें, रोबीला चेहरा, मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातोके अध्ययन-में उत्सुक, जीवनसंग्राममे उतरनेकी तैयारीमे संलग्न, उत्साही, मुस्कुराता हुआ, मेरी ही उम्रका एक युवक बगलके कमरेसे निकलकर आया। पारस्परिक अभिवादनके अनन्तर माँश्रीने मेरा परिचय उनसे कराया और मुझसे कहा—"पंडितजी, रात्रिपाठशालाका मंत्री इन्हीको बनाना है। यह बहुत उत्साही विचारक और परिश्रमी है। अब ज़मीदारीका काम-काज भी यह देखने लगे है। आप दोनोको मिलकर पाठशाला चलाना है। मुझसे तो अब विशेष काम-धाम हो नही सकता है। हाँ, समय-समय पर आप लोगोंको सलाह दे दिया करूँगी।" थोड़ी देर पश्चात् अन्य सामा-जिक चर्चाओंके अनन्तर मै प्रणाम कर चलनेका उपक्रम करने लगा तो माँश्रीने स्नेह-सिक्त स्वरमे कहा—"आप भोजन कहाँ करेगे ?"

मैंने सहमते उत्तर दिया—"कही कर लूँगा ।"

उन्होने कहा—"कही क्या, भोजन यही कर लीजियेगा । यहाँ कुछ विलम्बसे लगभग १२ बजे भोजन तैयार होता है । भोजन तैयार होने-पर मैं आपको बुलाने आदमी भेज दूँगी; आप चले आइयेगा । सन्ध्या-समय ५॥ बजे भोजन बनता है । मैं दोपहरको आश्रम चली जाऊँगी, आपकी व्यवस्था शामको हो जायगी ।" मैंने शिष्टता दिखलाते हुए कहा—"माँ जी ! आप कष्ट मत कीजिये, मैं अपने भोजनका प्रवन्ध कर लूँगा ।"

स्नेह-रोषसे उद्दीप्त उनका मुखमडल धूप-छाँहकी तरह मालूम पडता था । मैं अनुभव कर रहा था कि मुझसे गलती हो गई है । बाह्य-शिष्टाचारके नाते मैं अपनी गलतीके लिए क्षमा-याचना करना चाहता था पर ऐसा करनेकी हिम्मत न हुई । माँश्रीने अपराधी बच्चेको आँखे दिखलाते हुए कहा—"आप लडकपन क्या करते है ? अब आप विद्यार्थी नही है, पंडित हो गये है । आज तो यहाँ भोजन कर लीजिये, कलसे आप जैसा उचित समझे करें ।" उन्होने स्नेहकी हँसी हँसते हुए मेरी झेंपको दूर कर दिया !

मै माँश्रीके स्नेह-भारसे दबा जा रहा था, अत मैंने मौन रहकर आदेश स्वीकार किया । मेरा मौन भंग हुआ, पर वाणी न निकली । मेरी कल्पना स्वच्छन्द रूपसे बढ़ चली । इतना महान् व्यक्तित्व और मुझ जैसे नये आदमीके लिए इतनी चिन्ता ?

मै पूरे दो घण्टेके बाद कोठीसे बाहर हुआ और धर्मशालामे आकर क्लान्त और खिन्न-सा जीवनकी विभिन्न पहेलियोंको सुलझानेकी उधेड-बुनमे लग गया । मेरी यह विचारधारा तब रुकी, जब कोठीके दरबानने आकर कहा—"पडितजी, चलिये, भोजन तैयार है ।"

लगभग १२॥ बजे चिलचिलाती जेठकी दुपहरियामे भोजन करके लौटा और कमरेमें पड़ी हुई चौकी पर पड़कर आशा, उल्लास और भावना-विभोर हो छतकी ओर एकटक देखने लगा ।

भयंकर गर्मी थी। लू तेजीसे चल रही थी। सड़क कुम्हारका आवाँ बनी हुई थी। घरसे इस समय बाहर निकलना किसी भाग्यके मारेका ही काम था। दोपहरी थके यात्रीके समान ठहर-ठहरकर बढ रही थी। ठीक दो बजेके लगभग एक आदमीके सिर पर एक बड़ी-सी टोकरीमें आटा, दाल, चावल, मिर्च, मसाला, घी, चीनी और आवश्यक रसोईके वर्तन रखाये हुए कन्या पाठशालाकी अध्यापिका श्री मथुराबाईजी मेरे कमरे तक आई। लूसे बचनेके लिए मैने अपना कमरा बन्द कर लिया था तथा पसीनेमे शराबोर तंद्रामे पड़ा करवटें बदल रहा था। किवाडो की खड़खड़ाहट सुनकर मैने दरवाजा खोला और सारा सामान देखकर दंग रह गया। मैने पूछा—"यह कहाँसे आया है ?"

अध्यापिकाजीने कहा—"छोटी बहूजी (श्री० ब्र० प० चन्दाबाईजी) ने आपके लिए भेजा है। मै उत्तर देनेकी तैयारीमें था कि मोटरका हॉर्न सुनाई पड़ा और धर्मशालाके भीतरी फाटक पर मोटर आकर रुक गई। मोटरमेसे मॉश्री उतरी और हँसते हुए मुझसे आकर कहा—"पडितजी, आप कोठीमे भोजन करनेमे संकोच करते थे। आप यहाँके लिए नये है, अतः शुद्ध खाद्य सामग्री एकत्र करनेमें आपको पर्याप्त कष्ट होता; इसलिए हमने विचारा कि कम-से-कम एक महीनेका सारा सामान आपके पास पहुँचा दिया जाय। आटा चार-पाँच दिनके बाद समाप्त हो जायगा; एक महीने तक यह बाईजी आपको आटा दे जाया करेंगी। आप हमें आवश्यकतासे ज़्यादा संकोची मालूम पड़ते है। आप भले ही पंडित है, हम तो आपको अपने बच्चेके समान समझती है।" इसी बीच उन्होंने धर्मशाला के व्यवस्थापक काशीनाथजीको पुकारा और उनसे कहा—"पंडितजीके लिए एक रसोईघर खोल दीजिये और इस सारे सामानको ठीक तरहसे रसोईघरमे लगवा दीजिये। देखो ! पंडितजीको किसी भी प्रकारका कष्ट न हो; इन्हे जिस चीजकी आवश्यकता हो, कोठीसे लाकर दे देना या हमको खबर देना।"

सामानकी व्यवस्था कर माँश्री वहाँ बैठ गईं और जिस कमरेमे

रात्रिपाठशाला खोली जा रही थी, वह मुझे दिखलाया। मुझसे कहा कि "पाठशालाकी स्थापनाके लिए कोई शुभ दिन देख लीजिये। जल्दी नही है, दो चार दिन आपको यहाँ खाली रहना भी पडे तो आप भवन (श्रीजैन सिद्धान्त भवन) मे चले जाया करिये; वहाँ पुस्तकें और समाचारपत्र पढनेमे आपका मन लग जायगा। बालाविश्राम तो यहाँसे लगभग दो मीलकी दूरीपर है, वहाँका ग्रीष्मावकाश भी होनेवाला है। आप वहाँ भी चलकर बाहुबली स्वामीके दर्शन कर आइये।"

मैंने पंचाग देखकर ११ मईका दिन पाठशालाकी स्थापनाके लिए शुभ बतलाया। माँश्रीने स्वीकार कर लिया। इस समय आपसे अनेक सामाजिक और धार्मिक चर्चाएँ हुई, जो आज बारह वर्ष पश्चात् स्मृति-के कोषमे धूमिल हो चुकी है। एक घटना याद है, जो आज भी अतीतके दिन प्रतिदिन गाढे होनेवाले धुधलेपनमे एक रेखा खीचकर सजीवता प्रदान कर देती है और मै कह उठता हूँ कि माँश्रीमें दया, करुणा, सहानु-भूति, क्षमा, ममता, स्नेह आदि गुणोके सिवा जो सबसे बड़ी चीज़ है, वह है माँका हृदय, जिसके कारण वह समस्त बालाविश्रामके परिवारकी सचमुच धर्मशीला माँ हैं। आज भी उनमें छात्राओ और शिक्षकोंके लिए अपार वात्सल्य वर्त्तमान है।

घटना यह है कि जब वह मोटरमे बैठकर बालाविश्रामको जाने लगी तो मथुराबाईजीको अलग बुलाकर कुछ रुपये दिये और उनसे कहा—"पंडितजी अभी बनारस विद्यालयसे आ रहे हैं, सभवत: खर्चके लिए उनके पास रुपये न हो। संकोचवश वह माँग नही सकते है और देने पर लेगे भी नही। आदमी-की पहिचान तुरंत हो जाती है। अत तुम चुपचाप २५ रुपये दे दो और कह देना कि पाठशालाके लिए सामान मँगानेको जमा कर लें। हिसाब-किताब इन रुपयोका पीछे हो जायगा।" मथुराबाईजीने मुझे २५ रुपये दिये और कहा कि ये रुपये पाठशालाके है, आप जमा कर लें। रजिस्टर, पेंसिल, दावात, कलम आदि आवश्यक सामान मँगा लीजिये।

मैंने कहा—"इस सामानके लिए अधिकसे अधिक पाँच रुपये पर्याप्त

है। पच्चीस रुपयोंका क्या होगा? मै इतने रुपये नहीं लूंगा।" माँश्री अभी बरामदेमे ही थी, उन्होने जब मेरी दलील सुनी तो हँसती हुई आईं और कहने लगीं—"ये रुपये आपको दिये थोड़े ही जा रहे है, जिससे आप लेनेमें आनाकानी करते हैं। पाठशालाके लिए सामान खरीदनेको रख लें। आवश्यकतानुसार सामान खरीदते जाइये, पीछे हिसाब दे दीजियेगा।" माँश्री इतना कहकर मोटरमे बैठ गईं; मैं पॉच-सात मिनट तक उनकी दूरदर्शिता और मातृवात्सल्यकी मन ही मन प्रशंसा करता रहा।

वस्तुतः माँश्रीका जीवन जैन सस्कृतिका प्रतीक है। आपने राज-भोगसे मुँह मोड़कर महाभिनिष्क्रमण किया है, वैभवकी उपेक्षा कर त्याग की शूलशय्याको अपनाया है। अहिसा और सत्यकी साधनामे निरंतर संलग्न है। एक सहृदय शासिका और संचालिका होनेके साथ तपस्विनी माँ, ज्ञान और साधनामें संलग्न, यशकी आकाक्षासे रहित, परोपकारमे रत एवं मूक सेवक हैं। माँश्री सचमुचमें लोहाको सोना बना देती है। आज भी स्मरण कर लेता हूँ कि सोना बन जाओगे क्या यह कभी सत्य होगा?

—आरा, ६ जुलाई १९५१

माँ श्री

श्री नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य्य

संवत् १९९८ की आषाढ सुदी द्वितीयाका दिन था। प्रातःकाल घडीने टन्-टन् कर ८ बजाये। ग्रीष्मावकाश समाप्त कर कल ही वापस आया था, अतः यात्राकी थकान दूर करनेके लिए कुछ अधिक विलम्ब तक सोता रहा। आकाश भी स्वच्छ नही था, लगभग रातके १२ बजेसे ही रिमझिम-रिमझिम वर्षा हो रही थी; बीच-बीचमे दामिनी कडकडा कर दूरके खेतोंमे टूटती दिखलायी पड़ रही थी। वृक्षोकी डालियाँ चूँ-चड़ड कर टूटनेके उपक्रममे रत थी। आश्रमकी स्तब्ध वाटिकासे झाँय, झाँय, साँय-साँयकी तुमुल ध्वनि उद्दाम घोष करती हुई सुनाई पड़ रही थी। सहसा मेरे कमरेमे एक बडी कक्षाकी छात्रा प्यारीबाईने प्रवेश किया और प्रणाम करते हुए कहा—"पडितजी! कल हम माँजीकी जन्मगाँठ मनाने जा रही है। कृपया भाषण देनेके लिए माँजीके सम्बन्ध-मे कुछ बतला दीजिये तथा कलका कार्यक्रम भी बना दीजिये।"

मैंने कुछ अस्त-व्यस्त कागज-पत्र अलमारीसे निकाले और उनकी शृखला जोड़ते हुए कहा—

"नारी जाति जिन दिनो अज्ञान, कुरीतियो और सामाजिक अत्या-चारोसे अभिभूत थी, बालिकाएँ माता-पिताके सिरका बोझ थी, घरमें कन्याका जन्म साढेसाती शर्नाचरसे अधिक भयावना था, उन्ही दिनों विक्रम सवत् १९४६ मे आषाढ शुक्ला तृतीयाके दिन वृन्दावनके एक सम्पन्न अग्रवाल वैष्णव परिवारमे माँश्री—प० चन्दाबाईका जन्म हुआ। इनके पिताका नाम बा० नारायणदासजी और माताका नाम श्रीमती राधिकादेवी था। श्री बा० नारायणदासजीने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की थी; आप देशभक्त, समाजसेवक और कर्मठ व्यक्ति थे। कई वर्षो

तक आप यू० पी० धारासभाके सदस्य भी रहे। श्रीमती राधिकादेवी भी पतिके समान दयालु, परोपकारी और सेवाकार्यमे रत थी। माँश्री बचपनसे ही होनहार, कुशाग्रबुद्धि और निडर थी। माता-पिताने अपने अरमान पूरे करनेके लिए अपनी इस कन्याका विवाह मात्र ११ वर्षकी आयुमें आराके सुप्रसिद्ध रईस गोयल गोत्रीय, जैनधर्मावलम्वी श्री पं० प्रभुदासजीके पौत्र और श्री बा० चन्द्रकुमारजीके पुत्र बा० धर्मकुमारजीके साथ कर दिया था। बा० धर्मकुमारजी सस्कृत और अंग्रेजीके विद्वान् थे। एफ० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर बी० ए० मे अध्ययन करना आरम्भ किया था। विवाहके समय आपकी आयु १८ वर्षकी थी।

जैन-समाजके प्रसिद्ध साहित्यसेवी, धर्मनिष्ठ, परोपकारी बाबू देवकुमारजी बा० धर्मकुमारजीके अग्रज थे। दोनों भाइयोंमे अपूर्व वात्सल्य था। बा० देवकुमारजी प्रतिभासम्पन्न अपने अनुजको सुयोग्य विद्वान् बनाना चाहते थे, पर दुर्दैवने असमयमे ही उनके इच्छा-कुसुमोंको कुचल दिया। विवाहके एक वर्ष बाद ही बा० धर्मकुमारजीका स्वर्गवास हो गया और माँश्री पं० चन्दाबाईजीको मात्र बारह वर्षकी अवस्थामे सौभाग्य-सुखसे वंचित होना पड़ा।

दूरदर्शी श्री बा० देवकुमारजीके मनको अपनी बन्धु-वधूके मानसिक विकासकी चिन्ताने भारी कर दिया। उन्होंने विचार किया कि विवेक या ज्ञानके बिना नर हो या नारी दोनोमेसे किसी एकका भी उद्धार होनेका नहीं। मानवके उत्कर्षके लिए ज्ञान और सद्‌गुणोंकी वृद्धिकी आवश्यकता है। अतएव बा० देवकुमारजीकी प्रेरणा और प्रोत्साहनसे माँश्री पंडिता चन्दाबाईने पुनः विद्यारम्भ किया। आपने धर्मशास्त्र, न्याय, साहित्य और व्याकरणकी शिक्षा अनेक कठिनाइयोमे प्राप्त की। उन दिनों पर्दा प्रथा अपनी चरम सीमा पर थी, युवतियोका अध्ययन समाजमे सर्वथा हेय माना जाता था, अच्छे शिक्षकोंकी भी कमी थी; फिर भी आपकी ज्ञान-साधनामे कोई कमी नही आई और थोडे ही समयमे आपने काशीकी पंडिता परीक्षा उत्तीर्ण कर ली।

जैनशास्त्रोंके अध्ययन, आलोडन और मन्थन करनेके कारण आपको जैनधर्ममे अडिग श्रद्धा उत्पन्न हो गई। अतः अपने साथ आपने अपनी दोनो बहिन—श्रीमती केशरदेवी और श्रीमती ब्रजवालादेवीको भी जैनधर्ममे दीक्षित कर लिया।

सन् १९०७ मे कन्याशिक्षाके प्रचार और प्रसारके लिए आपने अपने नगर आरामे ही श्री बा० देवकुमारजीको कन्या पाठशालाकी स्थापना करनेकी प्रेरणा की और श्री शान्तिनाथ मन्दिरके कमरोमे दो अध्यापिकाएँ नियुक्त कर धूमधामसे कन्यापाठशालाकी स्थापना कराई। यह छोटा-सा विद्यामन्दिर तबसे लेकर अब तक आपके ही तत्त्वावधानमे बा० देव-कुमारजी द्वारा स्थापित ट्रस्टसे निर्विघ्न चल रहा है। वर्तमानमे भी लगभग ५०-६० बालिकाएँ इसमे आरम्भिक शिक्षा ग्रहण करती है।

माँश्री बाबू देवकुमारजीके साथ १९०८ मे दक्षिण भारतके जैन-तीर्थोकी यात्राके लिए गई। आपने श्रवणबेलगोल, धर्मस्थल, मूडबिद्री, कार्कल आदि स्थानोकी भक्तिभावपूर्वक वन्दना की। इस यात्रामे वर्णी नेमिसागरजी भी साथमे थे। माँश्री और बाबू देवकुमारजीके प्रत्येक स्थानपर हिन्दीमे भाषण होते थे और वर्णीजी आप लोगोके भाषणोका दक्षिणीमे अनुवाद करते थे। मूडबिद्रीमे पाठशालाकी स्थापना आप लोगोंकी प्रेरणासे ही हुई थी। इसी यात्रामे माँश्रीका परिचय श्री ललिता-बाईजी, श्री मगनबाईजी, श्री ककूबाईजी आदिसे हुआ था।

दानवीर बाबू देवकुमारजीकी असामयिक मृत्युके उपरान्त भी माँश्रीकी ज्ञानपिपासा ज्योकी त्यो बनी रही और आप ज्ञानकणोके अर्जन में सतत प्रयत्नशील रही।

दासत्वकी शृंखलामे जकड़ी, घूँघटमे छुपी, अज्ञान और कुरीतियो से प्रताड़ित नारीकी दशापर आप निरन्तर विचार करती रहती थी। आपका एकमात्र विश्वास है कि समस्त सामाजिक रोगोकी रामबाण औषधि शिक्षा है। यदि नारीका अज्ञान दूर हो जाय तो वह निश्चय ही स्वास्थ्यलाभ कर सकती है, स्वतन्त्र आजीविका प्राप्त कर धर्मसाधन

करती हुई प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती है। क्योंकि खोये हुए आत्मगौरव की प्राप्तिका साधन शिक्षा ही है।

जिन विधवा बहनोंकी आज समाजमें नगण्य स्थिति है, जिनके साथ पशु-जैसा व्यवहार किया जाता है, उनकी स्थिति भी शिक्षाके द्वारा ही सुधर सकती है। शिक्षा प्राप्त कर वे जीवित मानवोंकी पक्तिमें स्थान पा सकती हैं। अतएव एक ऐसा विद्यामन्दिर स्थापित करना चाहिए, जिसमें विधवा बहनोके साथ कुमारी कन्याएँ और समाजकी अभिशप्त सधवाएँ भी सच्चा विवेक प्राप्त कर सकें। आपकी इस विचारधाराके स्निग्ध सीकर आपके कुटुम्बियों और हितैषियोंपर भी पड़े, पर कुछ निर्णय न हो सका।

सन् १९२१ में आप अपने परिवारके साथ श्रीसम्मेदशिखरजीकी यात्राके लिए गईं। समग्र पहाड़की वंदना करनेके उपरान्त श्रीपार्श्व-प्रभुकी टौक पर आकर माँश्रीने सब लोगोसे नियम लेनेको कहा। आदेशा-नुसार श्री बा० निर्मलकुमारजी, श्री बा० चक्रेश्वरकुमारजीने भगवान्‌के समक्ष नियम लिये तथा बाबू निर्मलकुमारजीने कहा—"बहूजी (चाचीजी), आप भी यह नियम ले लीजिये कि एक महीनेमे महिलाश्रमकी स्थापना अवश्य कर दी जायगी।" नियम ग्रहण कर आप लौट आईं और इसी वर्ष नगरसे दो मीलकी दूरीपर धनुपुरा गाँवके ही निकट अपने ही बगीचेमे अपने परिवारवालोके सहयोगसे श्री जैनबाला-विश्रामकी स्थापना की। आपकी प्रेरणासे आपकी ननद श्रीमती नेमिसुन्दर बीबीने लगभग बीस हजार रुपये लगाकर विद्यालयभवन और उसीके ऊपर लगभग पाँच हजार रुपये लगाकर चैत्यालयका निर्माण कराया।

माँश्रीने तो इस संस्थामें अपना तन, मन, धन सब कुछ लगा दिया है। चाँदीके टुकड़ोमे आपके त्यागका मूल्यांकन नही किया जा सकता। यह संस्था जैनसमाजकी नारी-सस्थाओमें अद्वितीय है। इसमे न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न और शास्त्री तककी शिक्षा दी जाती है। छात्राएँ प्राइवेट मैट्रिककी परीक्षा भी देती है, मिडिल तक नियमतः शिक्षा दी जाती है।

संस्थाका अन्तरंग और वहिरंग सारा प्रवन्ध माँश्रीके ऊपर ही है ।

धार्मिक भावना भी माँश्रीमे वड़ी प्रवल है । आपने राजगृहमे अपनी ओरसे द्वितीय रत्नगिरि पहाड़ पर जमीन ख़रीदकर दिव्य जिनालय-का निर्माण कराकर धूमधामसे प्रतिष्ठा कराई तथा वालाविश्रामके रम्य उद्यानमे सन् १९३९ मे अपने निजी द्रव्यसे भव्य एवं चित्ताकर्पक मानस्तम्भका निर्माण कराया है। श्रवणवेल्गोलस्थ गोम्मटस्वामीकी मूर्त्तिकी प्रतिलिपि कराकर विश्रामकी वाटिकामे ही सन् १९३७ में कृत्रिम पर्वतके ऊपर१३ फुट ऊँची वाहुवली स्वामीकी मनोज्ञ मूर्त्ति स्थापित की है ।

यद्यपि माँश्रीका आचार-विचार सातवी प्रतिमाका है, पर आपका त्याग और तप आर्यिकासे कम नही है । असत्य भाषण आपने अपने जीवनमे कभी नही किया है, अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतोके पालनमे आप अत्यन्त जागरूक है । आपकी कषाय मन्द है, प्रत्येक वातका उत्तर हँसकर देना आपका स्वभाव है । सादगी और सरलता आपके जीवनकी प्रमुख विशेपताएँ है । आपके परिग्रहकी सीमाका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि आप अपना सामान रखनेके लिए वक्स नही रखती, एक थैलेमे ही ओढने, विछाने और पहननेके कपडे रखती है ।

विदुषी होनेके साथ माँश्री सुलेखिका और सफल सम्पादिका भी है । सन् १९२१ से जैन महिलादर्श नामक पत्रका सम्पादन करती आ रही है । उपदेशरत्नमाला, सौभाग्यरत्नमाला, निवन्धरत्नमाला, आदर्श कहानियाँ, आदर्श निवंन्ध और निबन्धदर्पण आदि कई महिलोप-योगी पुस्तके भी लिखी है ।

भाषण देनेमे भी माँश्री सिद्धहस्त है । आपकी वाणी अत्यन्त मधुर और हृदयस्पर्शी है। अ० भा० दि० जैन महिला परिषद्के १०वें और २०वे अधिवेशनके अध्यक्षपदसे आपने वड़े मार्मिक भाषण दिये है । आपका अधिक भीडमें पहला भापण १७ वर्षकी अवस्थामे पानीपत पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठामे हुआ था ।

माँश्री युगसंस्थापिका है। आपका हृदय-मुकुर इतना विशाल, स्थिर और निर्मल है कि समाज और व्यक्तिके मानसका सही प्रतिबिम्ब पड़े बिना नही रहता। यशलालसा और सम्मानकी आकाक्षासे आप दूर है। माताका स्नेह, वीरागनाओंका गौरव, कुलललनाओकी सहिष्णुता, आर्यिकाओंका तप-त्याग एवं गृहलक्ष्मीकी उदारता आदि गुण आपमें वर्तमान है।

इस बीसवी सदीमें सरस्वतीकी सबसे लाडली, जीवन-विकासकी मीटर, और जीवनकी अमर कलाकार माँश्रीकी जन्मगाँठ मनानेका आयोजन करनेका विचार आपका स्तुत्य है।"

छात्रा अपने निवासस्थानपर चली गई और मै कई-एक क्षणो तक माँश्रीके गुणोका विचार करता रहा।

* * *

८ फरवरी १९४२ को आप अचानक बीमार पड़ गईं। आपका स्वास्थ्य पाँच-छ दिनमें ही इतना खराब हो गया कि उठने-बैठनेकी शक्ति भी न रही। इस असमर्थ अवस्थामे भी त्रिकाल सामायिक, पूजन, भक्ति आदि दैनिक धार्मिक कृत्योको आप बराबर करती रही। जब आप बिल्कुल अशक्त हो गईं तो बालाविश्राम-परिवारके साथ अन्य कुटुम्बियोंको भी चिन्ता हुई। सभीने आपसे इञ्जेक्शन लेनेकी प्रार्थना की। धर्माध्यापक होनेके नाते मुझसे कहा गया कि आप कहिये कि धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे इञ्जेक्शन लेनेमे कोई हर्ज नही है, आपका फतवा मान्य होगा। माँश्रीको आपकी बातका विश्वास है। मैने हितैषियोकी प्रेरणा सेसहमते हुए माँजीसे कहा—"आप इञ्जेक्शन ले लीजिये, यह तो खानेकी दवा नहीं है। आजकल कई त्यागी महानुभाव इञ्जेक्शन लेते भी है।" माँश्रीने क्षीण स्वरमे कहा—"पडितजी! अन्य लोग मोहवश इञ्जेक्शन लेनेकी बात कहें तो कोई आश्चर्य नही, पर आपके इन शब्दोंको सुनकर हमें महान् आश्चर्य हो रहा है। आपसे तो हमे यह आशा है कि समय पड़ने पर हमारे धार्मिक कृत्योमें सहायक होगे। इस अनित्य शरीरके

साथ इतना मोह क्यो ? यह तो अनादिकालसे प्राप्त होता आ रहा है।"
मैं आपकी दृढता और सहनशक्तिको देखकर चकित रह गया।

*   *   *

सन् १९४२ की क्रान्तिके दिन थे। देशमे एक आजादीकी लहर आई हुई थी। नवयुवक, विशेषतः विद्यार्थीवर्ग सलग्न था। गोरी सेनाने सर्वत्र अपना आतक फैला रखा था। जैन-बालाविश्राम धर्मकुञ्ज से उठकर शहरमे 'नाजघर' नामक भवनमे चला गया था। छात्रावास और शिक्षणका कार्य उक्त भवनमे ही सम्पन्न होने लगा था। उस समय लगभग ७० छात्राएँ छात्रावासमे निवास करती थी। कुछ दिनोके उपरान्त लाइनकी मरम्मत हो जाने पर जव ट्रेनें चलने लगी तो माँश्रीने मुझे बुलाकर कहा—"अभी गोरी सेनाका आतक ज्योका त्यो है। धर्मकुञ्जमे सस्था-को ले जाने लायक समय नही है। इतनी छात्राओको अधिक दिन तक शहरमे रखना हमारे लिए कठिन है। अतः अव हमारा विचार सभी छात्राओंको सुरक्षित रूपसे घर भेजकर कुछ समयके लिए सस्था बन्द कर देनेका है।" मैने कहा—"माँजी ! आप जैसा उचित समझे, करे।"

आपने कहा—"इस जन-जागृतिके युगमे सस्थाधिकारियोको सबकी सलाहसे ही चलना उचित है। आप लोग सब आश्रम-परिवारके है, अतः हमारा विचार है कि कल सभी शिक्षक-शिक्षिकाओको बुलाकर इस विषय-पर विचार-विमर्श कर लिया जाय। जो निर्णय हो उसे समस्त आश्रम परिवार—छात्राओ और शिक्षकमण्डलके समक्ष पुन. विचारके लिए प्रस्तुत किया जाय। इसके पश्चात् ही कोई कदम बढ़ाना उचित होगा। आपको हमने इस विषयमे सलाह लेनेके लिए बुलाया है।"

मै विचारने लगा कि माँश्री कितनी दूरदर्शितासे कार्य करती है। शिक्षकोका इनकी दृष्टिमें कितना ऊँचा स्थान है ? आश्रम-परिवारकी प्रधान होकर भी सबकी बातोपर ध्यान देती है।

अगले दिन अन्तरंग-समितिकी बैठक की गई। सभी शिक्षक-शिक्षिकाओने अपने-अपने विचार पक्ष-विपक्षमे प्रकट किये तथा बहुमतसे

हुए निर्णयको पुनः समस्त आश्रम-परिवारके समक्ष विचारके लिए रखा गया। माँश्रीने देशकी परिस्थितिका सुन्दर खाका खीचते हुए संस्था-संचालनकी कठिनाइयोंपर प्रकाश डाला। सभीने आपकी दलीलोंसे प्रभावित होकर कुछ समयके लिए संस्था बन्द कर देनेके प्रस्तावको स्वीकार कर लिया। अगले दिनसे छात्राओको विश्वस्त योग्य व्यक्तियोके साथ भेजना आरम्भ किया। ट्रेनमें स्थान न मिलनेके कारण आपने आसनसोल और कलकत्तेसे स्थान सुरक्षित कराये। उस सकटापन्न स्थितिमे छात्राओं-को भेजना एक दक्ष व्यक्तिका ही कार्य था। इस समय आपकी प्रवन्ध-पटुता, कर्त्तव्यशीलता और कार्यक्षमता देखने योग्य थी।

* * *

सन् १९४३ मे दक्षिण भारतकी निवासिनी लक्ष्ममती छात्रा बीमार पड़ी। टाइफाइडने भयंकर रूप धारण कर लिया था। सन्निपातके कारण छात्रा अर्धविक्षिप्त-सी हो रही थी। यों तो वीमारीके आरम्भसे ही माँश्रीने उसकी परिचर्याका प्रवन्ध कर दिया था, तथा स्वय भी डाक्टर-के साथ दिनमें तीन-चार वार आकर देख जाया करती थी; पर जव उसकी बीमारी अधिक वढ़ गई और जीवन खतरेमे पड़ गया, तव तो आपने स्वयं खाना-पीना छोडकर परिचर्या करना आरम्भ किया। डाक्टरके परामर्शानुसार बर्फकी थैली सिरपर रखना, सिरमे तैलकी मालिश करना हाथ-पैर दवाना आदि कार्योको स्वय करती थी। यद्यपि अन्य लोग आपको ऐसा करने देना नही चाहते थे, पर आपने स्वय परिचर्या करना नही छोड़ा। आपने ओजस्वी वाणीमे कहा—"मुझे विश्वास है कि मैं अपनी सेवा द्वारा इसे बचा लूँगी।"

तीन दिनोतक लगातार आप सव कुछ छोड़कर दिनरात उस रोगिणीकी सेवामे सलग्न रही। रातको न सोनेके कारण आपका स्वास्थ्य भी खराब होने लगा था, आँखें सूज गई थी, फिर भी आपने सेवा करना नही छोडा। आपकी लगभग एक सप्ताहकी कठोर साधनाने उस लड़की के प्राण वचा लिये और वह न्यायतीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण कर अपने देश गई।

इस प्रकार आप आश्रमवासिनी छात्राओकी सेवा उनकी माँसे भी वढकर करती है । आश्रम-परिवारके किसी भी व्यक्तिका तनिक भी कष्ट आपकी चिन्ताका विषय बन जाता है और उसके कष्टको दूर किये बिना आपको शान्ति नही मिलती ।

* * *

बालाविश्रामान्तर्गत बालाहितकारिणी सभाके साधारण अधिवेशनोमे मुझे आपके भाषण सुननेका अनेक वार अवसर प्राप्त हुआ है । मुझे जहाँ तक स्मरण है कि सन् १९४३ की २२ जनवरीको आपने भाषणमे कहा कि "भगवान् महावीरने नारीजातिके उद्धारका भार पुरुषों पर ही नही छोड़ा है, किन्तु गृहस्थ तथा त्यागी स्त्री-समाजके लिए श्राविका तथा आर्यिका ऐसे दो सघ स्थापित किये । स्त्रियाँ जब तक अपने पैरोंपर खडी न होगी, उनका उद्धार होना कठिन ही नही, असम्भव है । आजके नारी वर्गने अपनी सारी समस्याएँ पुरुषो पर छोड़ दी है, इसी कारण नारी-समाजका अधःपतन होता जा रहा है । नारियाँ आज स्वयं ही पुरुषोकी दासी और भोगलिप्सापूर्तिका साधन वन गई है । पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावसे कुछ नारियाँ स्वतन्त्र होनेका दावा करने लगी है, पर उनका यह दावा विलकुल झूठा है । जव नारी पुरुषकी अर्धांगिनी है, तव वह पुरुषके समान अपने अधिकारोकी स्वय भोक्ता है । क्या अधिकार कभी किसीको माँगने पर मिला है ?

भारतीय नारीको वीरता और त्यागको फिरसे अपनाना होगा । किसीके अत्याचारोको सहना भी उतना ही गुनाह है, जितना अत्याचार करना । अहिसा वहुत वड़ा अस्त्र है, पर इसका उपयोग समझ-बूझकर करना होगा । जो नारियाँ विना किसी प्रकारकी चूँ-चपट किये किसी आततायीको आत्मसमर्पण कर देती है, वे वस्तुतः कायर है । जव तक शरीरमे प्राण है, विरोधीका मुकावला डटकर करना चाहिए । यदि आत्मिक शक्तिका पर्याप्त विकास हो जाय, जीवनमें अहिसा उतर जाय, तो हमारा विश्वास है कि कोई भी आततायी कुदृष्टि डाल ही नही सकता

है। अतएव प्रत्येक बहिनको वीर बनना चाहिए। विपत्तिके आने-पर कभी भी धैर्यका त्याग नही करना और प्रबल शक्तिके साथ संकटका सामना करना जीवन-विकासके लिए आवश्यक है। सच बात यह है कि मैं नारियोंकी वीरताकी उपासक हूँ, जिसको अपनाकर वे किसी भी प्रकार आततायीको स्वय दण्ड दे सकती है। अथवा अपने आत्मबल द्वारा उसकी कलुषित भावनाओको बदल सकती है। प्रलोभन और स्वार्थोको पराजित कर त्याग, तपश्चर्या, बलिदान और सयमको अपनाये बिना नारीका उद्धार होनेका नही है।"

आप सदा कहा करती है कि धर्मका मार्ग सुखकर ही नही, श्रेयस्कर भी है। वह सुखकी ओर नही, कल्याणकी ओर जाता है। यह कल्याण किसी एक व्यक्ति या वर्गका नही, समस्त मानव-समाजका है।

* * *

सन् १९४७ की १८ जूनको मैं श्री बाबू निर्मलकुमारजी द्वारा निर्मित उनके चद्रलोक भवनमे गृह-चैत्यालयकी शुद्धि और वेदी-प्रतिष्ठाके लिए गया। माँश्री भी वहाँ पहलेसे पहुँची हुई थी। प्रतिष्ठाका कार्य ६-७ दिनोंमें विधिवत् सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर मुझे माँश्रीके अति निकट सम्पर्कमें रहनेका अवसर मिला। यागमण्डल विधानमे माँश्री साथमें अत्यन्त मधुर ध्वनिसे श्लोक पढ़ती थी एवं उपस्थित व्यक्तियोको उनका अर्थ तथा विधानके रहस्यको भी समझाती जाती थी। पहाड़का पानी मेरी प्रकृतिके प्रतिकूल पड़नेके कारण वहाँ मेरा स्वास्थ्य कुछ बिगड़ गया। इस अवसरपर माँश्रीके स्नेहका मुझे साक्षात्कार हुआ। आप मेरी उतनी चिन्ता रखती थी, जितनी एक परिवारके व्यक्ति की। साधारण व्यक्तियोंकी चिन्ता और पीड़ाको भी अपनी चिन्ता और पीड़ा बना लेना और उनके लिए परेशानी उठाना माँश्रीकी नैसर्गिक विशेषता है। मैंने देखा कि आप अकेली ही दस आदमियोका काम कर लेती है। दिनमें सोनेवालोंसे आपको चिढ़ है। कर्त्तव्यपालन करनेकी दृढता और अथक परिश्रम आपके जीवनके प्रधान गुण है। बुद्धिकी प्रखरता निकट

सम्बन्ध वालोको चकित ही नहीं करती, किन्तु श्रद्धा उत्पन्न कर देती है। आपके व्यवहारसे लोग मुग्ध हो जाते हैं।

२८ या २९ जूनको हम लोग—मैं, माँश्री चन्दाबाईजी, मातेश्वरी बा० निर्मलकुमारजी और कई एक नौकर चाकरोके साथ कालिम्पोगसे आराको रवाना हुए। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो घरमे अपने व्यक्तित्वको छुपा सकता है पर बाहर—यात्रामे किसीका व्यक्तित्व छिप नही सकता। कुलियोको पैसे देना, भिखारियोको दान देना तथा अपने परिचारकोके साथ व्यवहार आदिसे उसका यथार्थ व्यक्तित्व पकड़ा जा सकता है। मोटर द्वारा जब हम लोग सिलीगुडी पहुँचे उस समय लगभग सध्याके ५ बजे थे। धीमी-धीमी वर्षा हो रही थी, यद्यपि भोजन कालिम्पोगसे करके ही चले थे, पर वहाँ आते ही भूख बडे जोरसे लगी। सभ्यताके आवरणके कारण मैं तो कुछ कह नही सकता था। साथके व्यक्तियोमे भी एक-दो जैन थे पर वे भी मौन। गाड़ी छूटनेमे अभी दो घटेकी देरी थी। माँश्रीको मैंने चार टिकट सेकिण्ड क्लास और शेष व्यक्तियोके लिए सरवेण्ट टिकट लाकर दिये। माँश्रीने टिकट लेकर कहा—"आप तो दो बार भोजन करते है, ब्यालू कर लीजिये।" इतना कहकर भजनलाल रसोइयेसे कहा—"स्टेशनके उस पारसे जाकर दो रुपयेके आम ले आओ। अन्य अच्छे फल मिले तो और भी खरीद लाना।" साथमे नास्तेका कुछ सामान भी था। आपने आम स्वय बनाये और हम लोगोको खिलाये तथा अपने हाथसे भोजन कराया। जितने भी सरवेण्ट साथमे थे, सबको एक-एक रुपया भोजनके लिए दे दिया गया। हम लोग अगले दिन ८ बजे पारवतीपुर आये। यहाँसे गाडी ११ बजे मिलती थी, अत: माँश्री स्टेशनपर ही जल्दी-जल्दी स्नान कर वहाँके किसी सेठके चैत्यालयमे दर्शन-पूजन करने चली गईं। हम लोग स्नानादिसे निवृत्त होकर गाड़ीकी प्रतीक्षा करने लगे। ठीक १०॥ बजे आप लौटीं, गाड़ी भी ठीक समय पर आई और सारा सामान गाड़ीमे लादा जाने लगा। इस समय मैंने एक अजीब दृश्य देखा, चैत्यालयके स्वामी—सेठजीने अपनी मोटर स्टेशन तक भेज दी थी। जब

ड्राइवर जाने लगा, माँजी उसको ५) इनाम देने लगी। सेठजीने उसे इनाम लेनेको मना कर दिया था; अतः वह सेठजीके कारण रुपये लेनेसे इन्कार करता था और माँजी जबरदस्ती देना चाहती थी। लगभग १० मिनट वह मना करता रहा, पर अन्तमे माँश्रीने समझा-बुझाकर उसे रुपये दे ही दिये। कुलियोको पैसे देनेके लिए भजनलाल झिक-झिक कर रहा था, तो आपने कहा—"अरे इतना अधिक सामान है; इन लोगोको दो-दो चार-चार आने और ज्यादे दे दो।" इसी प्रकार जितने भी भिखमगे आये सब एक शब्द सुने बिना चार-आठ आना पाते ही गये।

* * *

जैनधर्मके उज्ज्वल प्रकाशको निखिल विश्वमे फैलानेके लिए आप सदा आतुर है। सन् १९४८ मे 'सर्चलाइट' मे एक समाचार छपा था कि जॉर्ज बर्नार्ड शा 'जैनमतका उत्थान' नामक पुस्तक लिख रहे है इसमे जैनाचार्यो द्वारा प्रतिपादित अहिसाका महात्मा गान्धीकी अहिसा के साथ तुलनात्मक विवेचन करेंगे। इस कार्यके लिए डा० शाने महात्मा गान्धीके पुत्र देवदास गान्धीको बुलाया है। इस समाचारने आपके हृदय में अपूर्व उत्साह उत्पन्न कर दिया। उसी दिन आपने जैनसमाजके प्रमुख धनिक और सरस्वतीपुत्री सर सेठ हुकुमचन्दजी, साहू शान्तिप्रसादजी, सेठ भागचन्दजी, बाबू छोटेलालजी, प्रो० खुशालचन्दजी, डा० ए० एन० उपाध्याय, डा० हीरालालजी आदिके पास पत्र लिखे। आपने मुझसे कहा—"यदि समाचार सत्य है तो जैनसमाजसे आर्थिक सहायता न मिलनेपर भी हम अपनी ओरसे किसी उद्‌भट धर्मशास्त्रज्ञ अग्रेजी भाषाके ज्ञाता जैन विद्वान्‌को डा० शाके पास भेजेंगी। डा० शाकी ख्याति साहित्यिक जगत्‌में अद्वितीय है। उनकी लेखनीका सम्मान विश्वके कोने-कोनेमे है। जैनधर्मके सम्बन्धमे उनकी लेखनीसे प्रसूत रचना अमर होगी, विश्व-मे वह आदर और सम्मानकी दृष्टिसे देखी जायगी। बड़े-बड़े अन्वेषक विद्वान् उसे प्रामाणिक समझेंगे। अतः जैन विद्वान्‌के साथ उनका सम्पर्क रहना अत्यावश्यक है। इस विद्वान्‌के सहवाससे जैन-अहिसा और जैन-

दर्शनके तत्त्वोके सम्बन्धमे उन्हे जानकारी हो जायगी; इससे वह जैनधर्म-के सम्बन्धमे यथार्थ लिख सकेगे ।"

उदारताके साथ माँश्रीमें मितव्ययिता भी पूर्ण रूपसे विद्यमान है । आप एक-एक पैसेका उचित व्यय पसन्द करती हैं । आपको अनि-यमितता बिल्कुल पसन्द नही । आत्मशोधक होनेके कारण आपमे यत्किञ्चित् सूक्ष्मता भी है । दूसरोसे अधिक मिलना-जुलना और अना-वश्यक बाते करना आपको पसन्द नही । अखण्ड आत्मविश्वास होनेके कारण अपने सत्यपक्षकी पुष्टिके लिए डट जाना, जिसे दूसरे लोग भले ही हठ कहें, आपका एक विशेष गुण है । आत्मविज्ञापनसे दूर रहकर कर्त्तव्य करना, निन्दा-स्तुतिका ख़याल न करना, सेवा और परोपकारमे निरन्तर रत रहना, सहानुभूति और सहृदयताके साथ किसी भी बातका विचार करना आपके गुण है ।

आरा
२० जुलाई १९५१

सतीतेज

एक बार मैं भाई निर्मलकुमारजीके साथ मसूरी ठहरा हुआ था। वहाँ बाईजी भी थी। मुझे वहाँ ज्वर हो गया। कलकत्तेके प्रसिद्ध कविराज हारान बाबू मुझे देखने आये। पूजन करनेके लिए जाते हुए बाईजीको उन्होने देखा तो मुझसे बोले—"इनको देखते ही मेरे मन-में आ रहा है कि मै इनकी पद-रज लूं।" जब मैंने उनका परिचय दिया तो इतने प्रभावित हुए कि वे चरण-स्पर्श करनेके लिए एक घण्टेतक प्रतीक्षा करते रहे।

एक दफ़ा बाईजी पेटके ट्यूमरकी आशंकाकी निवृत्तिके लिए कलकत्ते-के विशेषज्ञोंसे परामर्श करने कलकत्ते आई हुई थी। यहाँ स्त्रीरोग-चिकित्साके विशेषज्ञ और प्रख्यात डाक्टरको दिखाया तो वह अंग्रेज़ डाक्टर जिसे बाईजीका किंचित् भी परिचय नही था, अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहने लगे कि "ऐसा मालूम पड़ता है कि बाईजी बड़ी सती, साध्वी और एक महान् आत्मा है।"

—छोटेलाल जैन

कलकत्ता

१ जुलाई १९४२

पीहर-सासरेकी शोभा

भूआकी उम्र इस समय लगभग ९२ वर्षकी है। फिर भी जिन-दर्शन और स्वाध्याय उसी मनोयोगसे चल रहे हैं। उनके शुद्ध आचार-विचार, आहार-पानमें तनिक भी शिथिलता नही आई है। वही धर्ममें दृढ श्रद्धा, वही तीर्थोकी वन्दनाके परिणाम, वही ज्ञानकी पिपासा जो बचपनसे देखता आ रहा हूँ, आज भी है। शरीर जर्जर होता जा रहा है, पर आत्मामें वही रत्नत्रयकी ज्योति जगमगा रही है।

जुलाईमें दिल्ली गया तो इस तीर्थकी वन्दनाको भी पहुँचा। मेरी अभिलाषा हुई कि भूआको अपने पास रखकर, उनकी सेवा-सुश्रूषा करके जन्म सार्थक कर लूं। सहमते हुए विचार व्यक्त किया तो बोली—"बेटे, मेरे पीहर और सासरेकी शोभा इसीमें है कि मै जिस घरमें डोलेसे उतरी, उसी घरसे मेरी डोली उठे।" और न जाने कितनी देरतक मेरे सरपर हाथ फेरती रही।

—गोयलीय

डालमियानगर

१ अक्टूबर १९५१

हमारे कुलकी गौरव

गोयलीय

ये मेरे पिताजीकी भूआ है, मेरी भी भूआ है, और मेरे बच्चे भी इन्हे भूआजी कहते है, और काश ये जीती रही तो हमारी और भी पीढी इन्हें भूआजी ही कहेगी; परन्तु ईमानकी बात तो यह है कि ५-६ वर्ष पहले तक तो इन्हे भूआ कहनेको जी चाहता था, मगर अब तो दादीसे बढ़-कर परदादी-जैसी दीख पडने लगी है। उनके उस अतीत गौरव-वैभवका जब वर्तमानसे मिलान करता हूँ तो रुलाई आ जाती है। ६ वर्ष पूर्व ८० वर्षकी होने पर भी, यह कभी ध्यान न आया कि इन्हे इतनी शीघ्रता से बुढापा घेर लेगा। स्वस्थ शरीर, दिव्य और गौरवपूर्ण मुख, स्वच्छ और धवल वस्त्र पहिने हुए, उनके रोम-रोमसे ब्रह्मचर्यकी आभा टपकती थी। प्रत्येक कार्यमे स्फूर्ति, स्वर मधुर, नेत्रोमे स्नेह, स्वभाव गभीर, धार्मिक श्रद्धासे ओतप्रोत, श्रावकोचित कर्तव्योमे लीन भूआजीको उनसे आयुमे बडे भी ताईजी कहकर सम्बोधित करते और उनके चरणोको देखते रहते।

उनके पुत्र उन्हे ताईजी कहते थे, इसलिए आरम्भमे तो वे ताई इसी कारण कहलाई, फिर भीष्म पितामह जैसे सबके पितामह हो गये है, उसी तरह छोटे-बडे सब उन्हे ताईजी कहने लगे। मेरे कुटुम्बी, रिश्तेदार और मित्रवर्ग मेरे नाते इन्हें भूआजी कहते है।

भूआजी पुरानी वजअ-क़तअ़की बड़ी पाबन्द है। देहलीकी हर रीति रस्मोरिवाजसे परिचित है। सदरबाजारकी जैन-महिलाओमे

इनकी सम्मति बड़ा मूल्य रखती है। ५० वर्षसे भी अधिक हुए इन्होंने शास्त्रसभा स्थापित की थी, जो बराबर चालू है, और बहुत बड़ी संख्यामें प्रातःकाल शास्त्र-प्रवचनमें स्त्रियाँ सम्मिलित होती हैं। पहले स्वयं शास्त्र-प्रवचन करती थी, अब अशक्त हो जानेसे यह भार इन्हीकी शिष्याओं-की पुत्री, पौत्रियोने सम्भाल लिया है।

५-६ वर्ष पहिले जब स्वस्थ थी, इनके पास बड़ी-बूढ़ियाँ घरेलू कार्योंके लिए परामर्श लेने आती; बहुएँ सिलाई और कढ़ाईका काम सीखने आती, कन्याएँ पढने आतीं और बड़े-बूढे पुरुष भी रीति-रिवाज की गुत्थियाँ सुलझाने इनके पास आते।

३-४ मील पैदल चलकर मन्दिरोंके दर्शन कर आतीं, परन्तु इन ५-६ वर्षोंमें ऐसा परिवर्तन हुआ है कि बमुश्किल पहिचानमे आती है।

१५ जनवरीको दिल्ली गया तो मन्दिरसे भी पहले इनकी वन्दनाको पहुँचा। देखकर लक़वा-सा मार गया। सरके बाल मुड़ा डाले हैं, सारे शरीर पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं, नेत्रोसे क़तई नही दीखता है, मुँहके दाँत दग़ा दे गये हैं। भूआजी मेरी बलायें लेती रही, पुचकारती रही, पीठ-पर, सरपर हाथ फेरती रही और मैं पत्थर बना बैठा रहा। भूआके यह दुर्दिन देखनेको भी हमे जीना पड़ेगा। यह किसे ख़याल था। जब नही बैठा गया, चुपचाप चला आया। न भूआके घर कुछ खाया न पिया।

४-५ रोज तक फिर मैं उनके पास नही गया, जानेको जी ही नहीं चाहता था। तब वे स्वयं ही लाठी टेकती डाक्टर कैलाशचन्द्रका सहारा लिये दो फर्लांग पैदल चलकर मुझे देखने आई। दामनमे ४-५ पैवन्द लगे हुए, चादरके नामपर एक चीथडा-सा मैला ओढना उनके शरीर-पर था। जिनके लिबास और रहन-सहनको उदाहरणमे पेश किया जाता था, वही आज इस रूपमें, और वह भी घरके भीतर नही, सबके सामने! मनको बड़ी धिक्कारी-सी आई। जिसने हमेशा देनेकी कोशिश की, हक होते हुए भी लेनेमें संकोच ही किया, उस भूआको मैं वस्त्र भी नही जुटा सका। इस देवीको भी इस ब्लैक मार्केटिंगके जमानेमे नही बख्शा

गया ! मै स्नान करके धवल वस्त्रोमें वगला बना बैठा था, ४-५ साथी गपशप लड़ा रहे थे। तभी भूआजी आ गई। वड़ी आत्मग्लानि हुई। सोचा इस समय न आती तो अच्छा था, ये भी अपने मनमें क्या कहते होंगे ?

भूआ मुझसे प्यारकी बातें कर रही थी और मै खोया हुआ-सा वैठा था।

थोडी देर वाद वोली–"वेटे ! अव जीवनमें कोई साध नही रह गई है। समाधिमरणपूर्वक यह चोला छूट जाय, केवल यही अभिलाषा शेष रही है। मोह-ममता सव दूर हो गई है। समरम्भ-समारम्भ नाम-मात्रको रह गया है। वस्त्रोकी भी प्रतिज्ञा है। जो शरीर पर है, ये भी भार मालूम होते है। तू मेरी चिन्ता करके दुखी न हुआ कर। तेरी कीर्ति वढे, फले-फूले; मेरे भाईका घर, दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति करे, मेरी यह दुआ है। मै तुझे देख लेती हूँ तो सव कुछ पा लेती हूँ।"

सुना तो दग रह गया। अपरिग्रह और सन्तोषका कैसा जीता-जागता उदाहरण है। लोगोकी ख़रीदते-ख़रीदते भूख नही मिटती। ये इन चिथडोको भी भारस्वरूप पहने हुए है।

ये हमारे कुलकी गौरव भूआ वैरिस्टर चम्पतरायजीकी सगी वहन है। वात लिखनेकी नही; न हम कभी यह स्वप्नमे सोच ही सकते है कि ये मेरे वावाकी सगी वहन नही, वा० चम्पतरायजीकी सगी वहन है। मेरे वावाकी वहन मर गई तो इन भूआजीके साथ मेरे वावाजीके वहनोई लाला ईश्वरीप्रसादजीकी दूसरी शादी हुई।

वावाजीकी सगी वहनको मैने तो क्या मेरे पिताजीने भी नहीं देखा था। दादीजी और माताजीके कोई लडकी नही हुई। न मेरी पत्नीने अभी तक कोई पुत्री प्रसव[1] की है, अतः हमारे वशकी यही लाडली लड़की रही है। श्री चम्पतरायजी अधिकतर विलायत रहे। अतः फूफाजीको

१—यह संस्मरण लिखनेके ३ वर्ष बाद २९ दिसम्बर १९४९ को लक्ष्मीरत्नकी प्राप्ति हो गई है। जिसका प्यारका नाम 'लाडो' रखा गया है।

नवीन ससुरालसे कोई वास्ता नही रहा। उन्हे पहली ससुराल अधिक प्रिय रही, हमारा घर लड़कियोंका नदीदा रहा, अतः दोनो ओरसे प्रेम उमडता ही गया।

मेरे पिताजीने इन्हीके पास रहकर वचपनमे शऊर सीखा। मुझे भी आदमियत इन्हीसे मिली। मेरी माँको डोलेमेसे इन्हीने उतारा, मेरी दुल्हनको भी यही कारमेसे उतारकर लाई; और मेरा वड़ा लडका श्रीकान्त जन्मा तो उसे भी मैंने इन्हीकी गोदमे सवसे पहले देखा। ऐसी हैं हमारे वंशकी अधिष्ठात्री देवी ये हमारी भूआ!

पिताजी हुए, तो इन्हे मुँहमाँगा मिला, मै हुआ तो वड़े चावसे मेरे कपड़े लाई। उस वक़्तकी लैस लगी हुई पीले मख़मलकी टोपी आज भी वड़े यत्नसे मैंने सम्भालकर रक्खी हुई है। वावा मरे तो कह मरे-"वेटा, जीजीके यहाँ भात ऐसा देना कि दिल्ली वाले भी दंग रह जाये। चम्पतरायसे हल्का रहा तो मेरी आत्माको परलोकमें भी कल न पड़ेगी।" पिताजी भी क्यों कसर रखने लगे थे, और भूआजीने भी हम गरीवो-देहातियोंका भात इस चावसे पहना कि ३५-४० वर्ष पुरानी वात होने-पर भी उसका जिक्र माँ अक्सर हमको सुनाती रहती है, और हम भी पुरानी टेकको निभाते चले आ रहे है।

भूआजीके अपार स्नेह और लाड़-चावके आगे हमारा परिवार यह कभी सोच ही नही सका कि ये दूसरी भूआ है। राखी-वन्धन, विजया-दशमी और भैयादूजको पहले हमारे यहाँ टीका करने आती; वादमे वा० चम्पतरायजीके यहाँ जाती।

मेरे पिताजी ४१ वर्ष पूर्व मरे तो सधवा होते हुए भी इन्होने जेवर पहनना यह कहकर छोड़ दिया कि "जव मुझसे छोटी मेरी भतीज वहूके जेवर उतर गये तो अव मैं पहनती क्या अच्छी लगूंगी!"

हम लोगोंको जव कभी यह हमारे कुलकी रीत वताती, तो सदैव-"मेरे मायकेमें यों होता था, मेरा भाई यों कहकर मरा था और मेरा रामसरन (लेखकके पिता) इस स्वभावका था" वगैरह सब सगी वहन-वेटीकी तरह

ममता ज़ाहिर करती, उनकी यादमे आँखे भी भीग जाती। कभी उनके मुँहसे पहला पीहर या दूसरे भाई-भतीजेका आभास तक नही मिला। माँने यह भेद बताया तो मुझे बहुत दिनों तक विश्वास ही नही हुआ कि ये मेरी सगी भूआ नही है।

भूआ दिल्लीके पुराने और प्रतिष्ठित धनिक घरमें ब्याही आई। सास-ससुरकी लाड़ली बनकर रही। हाथो छाँह की गई। दोनो पीहरों मे भी मौज थी। जहाँ भी जाती आँखे बिछ जाती। उनका अपना निजी व्यक्तित्व बडा प्रभावशाली और प्रतिष्ठित रहा। मगर सच बात तो यह है कि सीता, द्रौपदीके समान ये भी संसारमे दुख भोगने ही आईं। इस तपस्विनीको सुखकी भेंट देनेमे मानो विधाता भी सटपटा गया।

सतान हुई नही, युवावस्थामें सुहाग लुट गया। दत्तक पुत्र लिया तो वह भी नि.सतान भरी जवानीमे चल बसा। सारी जायदाद चौपट हो गई। नकद और जेवर धीरे-धीरे छीजते गये। पारिवारिक ,क्लेश, मानसिक वेदना जीवन भर पल्ला पकड़े रहे। तीर्थ-भ्रमण, धर्मध्यान, सयम, तप, त्याग द्वारा जो आत्मसुख मिला सो सुख मिला।

सन् १९२० की बात है। उस छोटी-सी आयुमे आजीविकाकी तलाश में मैं घरसे निकला। एक पाठशालामे नौकरीकी बातचीत पक्की हो गई। मार्गमे दिल्ली पड़ी तो भूआजीके दर्शन किये बगैर आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता था। इस छोटी-सी आयुमे आजीविकाकी तलाश और वह भी धार्मिक नौकरी, सुनकर रो पड़ी। बोली—"नही बेटे! ऐसी बात फिर कभी जुबानपर मत लाना, मेरे भाई-भतीजे स्वर्गमें बैठे क्या कहेगे कि 'भीरो' (भूआका नाम) के होते हुए हमारे बच्चेको नौकरी करनी पड़ी। नहीं, मै ऐसा हरगिज नही होने दूंगी।"

कपडेकी कोठीमे काम सीखनेको भेजा गया। मगर उस भाग्य के आगे भूआजीकी क्या पेश पड़ती; जिसमे गुलामीकी एक अमिट लकीर खींच दी गई थी और तारीफ यह कि इस गुलामीकी रिक्शाका भार ढोते हुए देखकर भी बहुतसे बन्धु मेरे भाग्यपर ईर्ष्या करते है!

सन् १९२० की ही बात है, दिल्लीमें रहते हुए बमुश्किल मुझे एक माह हुआ होगा ! यह मुझे खाना खिलाकर चारपाईपर लेट गई और मुझे समाधिमरण सुनानेका आदेश दिया ! मैं कुछ घबराया हुआ-सा सुनाता रहा ! समाधिमरण सुनकर बोली–'५ रु० का दूध कुत्तोको पिला आओ।' यह हुक्म भी मैंने बिना चूँ चाँके बजा दिया। फिर बोली–'सुबह मन्दिरजीमें पूजा करने अवश्य जाना'। अब मेरे धैर्यका बाँध टूट गया। मैंने समझा मृत्यु-समय नजदीक हैं, इसलिए यह सब कुछ हो रहा है। मुझे बताना नहीं चाहतीं हैं। मैंने पाँव दबाने चाहे तो मना कर दिया ! सरकी तरफ बढ़ा तो भी रोक दिया ! मुझसे न रहा गया, मैं रो पड़ा, तो बोलीं–'बेटे रोते है, यह तो आनन्द और खुशीका अवसर है।' यह सुना तो पाँवके नीचेसे जमीन खिसकती दिखाई दी, सर घूमने लगा, बडी कठिनाईसे अपनेको सम्हाल कर पूछा—"आज भूआजी, आपको हुआ क्या है। मेरी तो जान-सी निकली जा रही है।"

भूआ बोलीं—"छिः, इसमे घबरानेकी बात क्या है, आज मेरा तेला व्रत है। कल पारना करूँगी।"

सुनकर अवाक् रह गया। तीन रोजसे निर्जल उपवासी थी। बदस्तूर मेरा सब काम करती रही और मुझे इसका आभास भी नही होने दिया। सदैव हर एकके दुख-दर्दमे शामिल रही, अपने और परायेके आड़े वक्तमें काम आई। पीहर और सासरेकी प्रतिष्ठा और गौरवको धरोहरकी तरह सम्हाल कर रक्खे रही और अपने दिव्य चारित्रसे दोनो तीनों कुलोंको अभिमान योग्य बनाया, ऐसी भूआ क्या फिर किसी जन्ममें मिल सकेंगी ?

—वीर, नवम्बर १९४६.

जन्म— आगरा, वि० सं० १९२३

स्वर्गवास— सन् १९१७ ई०

मेरी तीर्थ-यात्रा

गोयलीय

आर्यसमाजमे जो स्थान श्रद्धानन्द, रायजादा हंसराज और मुस्लिम क़ौममें सरसैयद अहमदका है, वही स्थान जैनसमाजमे पं० गोपालदासजी वरैयाको प्राप्त है। जिस समय जैनसमाज अपने धर्मसे अनभिज्ञ मिथ्यान्धकारमे फँसा हुआ था, उसके चारो ओर शिक्षा-प्रसारका उज्ज्वल प्रकाश फैल रहा था, और उसकी चकाचौधसे चुन्धियाकर इधर-उधर ठोकरें खा रहा था, तभी उसके हाथमे धर्मज्ञानका दीपक देकर वरैयाजीने उसे यथार्थ मार्ग देखनेका अवसर दिया। आज जो जैनसमाजमे सर्टीफिकेटशुदा विद्वद्वर्ग नजर आ रहा है, उसमे अधिकाश उनके शिष्यो और परशिष्योका ही समूह है।

वरैयाजीका आविर्भाव होनेसे पूर्व भारतमे धर्मशिक्षाप्रसार और सम्प्रदाय-संरक्षणकी होड़-सी लगी हुई थी। आर्यसमाज समूचे भारतमे ही नहीं, अरब-ईरानमें भी वैदिकधर्मका झण्डा फहरानेका मनसूवा डकेकी चोट जाहिर कर रहा था; उसके गुरुकुल, महाविद्यालय, हाईस्कूल और कॉलेज पनवाड़ीकी दूकानकी तरह तीव्रगतिसे खुलते जा रहे थे। मुसलमानोके भी देववन्दमे धार्मिक और अलीगढ़मे राज्यशिक्षा-प्रणालीके केन्द्र खुल चुके थे। ईसाइयोंकी तो होड़ ही क्या, हर शहरमे मिशन-शिक्षा-केन्द्रोंका जाल-सा विछ गया था। लाखोकी सख्यामे धार्मिक ट्रेक्ट वितरित ही नहीं हो रहे थे, अपितु वपित्समा दिया जा रहा था। केवल अभागा जैनसमाज खिसियाना-सा अकर्मण्य वना अलग-अलग खड़ा था।

शायद अकलंक और समन्तभद्रकी आत्मा जैनसमाजकी इस दयनीय स्थितिसे द्रवीभूत हो गई और उन्होने अपना अलौकिक ज्ञान और शास्त्रार्थ

की प्रतिभा देकर फिर एकबार जैनधर्मकी दुन्दुभि वजानेको इस कृशकाय सलौने व्यक्तिको उत्साहित किया।

बरैयाजीने जो अभूतपूर्व कार्य किया, भले ही हम काहिल शिष्यों द्वारा वह लिखा नही गया है; परन्तु उनके महत्त्वपूर्ण कार्यके साक्षी आज आचार्य, तीर्थ, शास्त्री और पण्डित रूपमे समाजमे सर्वत्र देखनेको मिलते हैं।

मेरे होश सम्हालने, कार्यक्षेत्रमे आनेसे पूर्व ही बरैयाजी स्वर्गस्थ हो गये, न मैं उनके दर्शनोका ही पुण्य प्राप्त कर सका, न उनके सम्बन्धमे ही विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सका। उनके दर्शन न हुए तो न सही, उनकी कार्यस्थली मोरेनाकी रज ही किसी तरह मस्तकपर लगाऊँ, उनके समवयस्क और सहयोगियोसे उनके सस्मरण सुनकर कानोको तृप्त करूँ, ऐसी प्रवल इच्छा वनी रहती थी कि दिसम्वर १९४० मे परिषद्के कार्यकर्ताओके साथ मोरेना जानेका अवसर भी प्राप्त हो गया। बरैयाजीके साझीदार ला० अयोध्याप्रसाद[1] तथा बा० नेमिचन्द वकील आदि १०-१२ वन्धुओसे रातभर बरैयाजीके सम्बन्धमे कुरेद-कुरेद कर बाते जाननेका प्रयत्न किया, किन्तु एक-दो घटनाके सिवा कुछ नही मालूम हो सका। आज उन्ही स्मृतिकी धुन्धली रेखाओंको कागजपर खींचनेका प्रयास कर रहा हूँ।

× × ×

सामाजिक क्षेत्रमे आनेसे पूर्व किसी समय बरैयाजी एक रायबहादुर सेठके[2] यहाँ २० रु० मासिकपर कार्य करते थे। एकबार सेठ साहब आपको भी तीर्थयात्रामे अपने साथ ले गये। शास्त्रप्रवचनके साथ-साथ गुमास्तेकी उपयोगिताका भी विचार करके, इन्हे साथ लिया गया था। बरैयाजी शास्त्र-प्रवचनमे तो पटु थे, किन्तु गुमास्तगीरीकी कलामे कोरे थे। सफरमे रेल्वे-टिकिटोकी कतरव्योत, लगेज, भाड़ा दिये बिना पार करना, चुंगीवालोको चकमा देना, स्टेशन बाबुओंको झाँसा देना, कुलियो-

१—सम्भवतः यही नाम था, यदि भूलसे दूसरा नाम लिखा गया हो तो वे वन्धु क्षमा करेंगे। २—नाम मैंने जान बूझकर नहीं लिखा है।

ताँगेवालोंको बातोंमे राजी करना, थर्डको भी विस्तर बिछाकर सेकिण्ड वना लेना, धर्मशालाके चपरासियोसे भी भरपूर सुविधा लेना और इनाम की जगह अँगूठा दिखा देनेमें जो जितना प्रवीण होता है, वही प्रवासमे रखनेके लिए उपयुक्त समझा जाता है। बरैयाजी इस शिक्षामे कोरे थे। इन्हें शिक्षित और चतुर समझकर टिकिट लानेका कार्य दिया गया। ये टिकिटोमे कुछ कतरव्योंत तो क्या करते, उल्टा लगेज तुलवाकर उसका भी भाड़ा दे आये।

सेठ और रायवहादुर होकर उनका सामान तुल जाये, इससे अधिक और सेठ साहवका क्या अपमान होता? धनियोके यहाँ चापलस और चुगुलखोरोंकी क्या कमी? उन्होने वरैयाजीके वुड़बक होनेका ऐसा सजीव वर्णन किया कि वेचारे शिकारपुरी न होते हुए भी, सेठ साहवकी नजरोंमे शिकारपुरी होकर रह गये। जहाँ सत्यका प्रवेश नही, यथार्थ बात सुननेका चलन नही। धोखा छल-फरेब मायाचार ही जहाँ उन्नति के साधन हों, विलफ और चकमा खाना ही जहाँ अभीप्ट हो, वहाँ वरैयाजी कितने दिन निभते? किनाराकशी ही स्वाभिमानकी रक्षाके लिए उन्होने आवश्यक समझी।

× × ×

यह मूर्खता करके वरैयाजी पछताये नही, यह अचौर्यव्रत उनके पञ्चाणुव्रतोंमेंसे तीसरा आवश्यक व्रत था। एकबार वे सपरिवार बम्बई से आगरे आये। घर आकर कई रोज बाद मार्ग-व्यय आदि लिखा तो मालूम हुआ नौकरने उनके तीन वर्षके बालकका टिकट ही नही लिया। मालूम होनेपर बड़ी आत्म-ग्लानि हुई और आपने तत्काल स्टेशन-मास्टर के पास पहुँचकर क्षमा-याचना करते हुए टिकटका मूल्य उनकी मेज़पर रख दिया। स्टेशनमास्टरने समझाया कि ढाई वर्षसे अधिककी आयु पर टिकट लेनेका नियम है तो, पर कौन इस नियमका पालन करता है? हम तो ४-५ वर्षके बालकको नज़रन्दाज़ कर देते है। अपने आप टिकट का पैसा देने कोई हमारे पास आया हो, हमे ऐसा मूर्ख कभी नही मिला।

आप बड़े भोले मालूम होते हैं, यह दाम आप उठा लीजिये, सब यूँ ही चलता है।" परन्तु बरैयाजी चालाक और धूर्त दुनियाके लिए सचमुच मूर्ख थे, वे दाम छोडकर चले आये और बुद्धिपर जोर देनेपर भी अपनी इस मूर्खताका रहस्य न समझ पाये और जीवनभर ऐसी मूर्खता करते रहे।

× × ×

ला० अयोध्याप्रसादजीके साझेमें मोरेनामें बरैयाजीकी आढ़तकी दूकान थी। लाला साहबका एक व्यक्तिसे लेन-देनका झगड़ा चल रहा था। आख़िर वह व्यक्ति तंग आकर बोला—"आपके साझी बरैयाजी जो निर्णय देंगे, मुझे मंजूर होगा।" लालाजीने सुना तो बाँछे खिल गईं। मनकी मुराद छप्पर फाड़कर आई, परन्तु निर्णय अपने विपक्षमें सुना तो उसी तरह निस्तब्ध रह गये; जिस तरह ऋद्धिधारी मुनिके हाथोंमें गरमागरम खीर परोसकर रत्नोकी वारिश देखनेको बुढ़िया आतुरता-पूर्वक आकाशकी ओर देखने लगी थी और वर्षा न होनेपर लुटी-सी खड़ी रह गई थी।

लाला साहबको बरैयाजीका यह व्यवहार पसन्द न आया। "अपने होकर भी निर्णय शत्रु-पक्षमें दिया, ऐसी-तैसी इस न्यायप्रियताकी। डायन भी अपना घर बख्श देती है, इनसे इतना भी न हुआ। हमें मालूम होता कि पण्डितजीके मनमें यह कालौस है तो हम क्यों इन्हे पंच स्वीकार करते? इससे तो अदालत ही ठीक थी, सौ फी सदी मुक़दमा जीतनेका वकीलने विश्वास दिलाया था। वाह साहब, अच्छी इन्होने आपसदारी निभाई। माना कि हमारी ज्यादती थी, फिर भी क्या हुआ, आपसदारीके नाते भी तो हमारी टेक रखनी थी। जब पण्डितजीने हमारा रत्तीभर लिहाज़ नही किया तो अब इनसे क्या साझेमे निभाव होगा? भई, ऐसे तोते-चश्मसे तो जुदा ही भले।"

इसी तरहके विचारोसे प्रेरित होकर लाला साहबने पण्डितजीसे साझा बाँट लिया, बोलचाल बन्द कर दी। बरैयाजीसे किसीने इस आशा-रहित निर्णयके सम्बन्धमें जिक्र किया तो बोले—"भाई, इष्टमित्रोकी

खातिर मैं अपने धर्मको तो नहीं बेचूंगा। जब मुझमे न्यायीकी स्थापना दोनों पक्षोंने कर दी तो फिर मैं अन्यायीका रूप क्यों धारण करता? मेरा धर्म मुझे न छोड़े, चाहे सारा संसार मुझे छोड दे, तो भी मुझे चिन्ता नही।"

लालाजीने मुझे स्वयं उक्त घटना सुनाई थी। फर्माते थे कि—"थोड़े दिन तो मुझे पण्डितजीके इस व्यवहारपर रोष-सा रहा; पर धीरे-धीरे मेरा मन मुझे ही धिक्कारने लगा और फिर उनकी इस न्यायप्रियता, सत्यवादिता, निष्पक्षता और नैतिकताके आगे मेरा सर झुक गया, श्रद्धा भक्तिसे हृदय भर गया और मैंने भूल स्वीकार करके उनसे क्षमा माँग ली। पंडितजी तो मुझसे रुष्ट थे ही नही, मुझे ही मान हो गया था, अतः उन्होंने मेरी कौली भर ली और फिर जीवनके अन्त तक हमारा स्नेह-सम्बन्ध बना रहा?"

मुझे जिस तरह और जिस भाषामें उक्त संस्मरण सुनाये गये थे, न वे अब पूरी तरह स्मरण ही रहे है न उस तरहकी भाषा ही व्यक्त कर सकता हूँ, फिर भी आज जो बैठे-बिठाये याद आई तो लिखने बैठ गया।

—अनेकान्त, मार्च १९४८ ई०

उनकी सीख

महात्मा भगवानदीन

हमने पं० गोपालदासजी वरैया-जैसा दूसरा आदमी समाजमें आज तक नही देखा, पर यह वात तो हर आदमीके लिए कही जा सकती है। नीमके पेड़के लाखो पत्तोमें कोई दो पत्ते एकसे नही होते, पर सव हरे और नुकीले तो होते है। समाजके हर आदमीसे यह आशा की जाती है कि वह कम-से-कम अपने समाजके मेम्बरोंको सताये नही, उनसे झूठा व्यवहार न करे, उनके साथ ऐसे काम न करे, जिनकी गिनती चोरीमें होती है। समाजमें रहकर अपनी लँगोटी और अपने आँखके वाँकपनपर पूरी निगाह रखे और अपनी ममताकी हद वाँधकर रहे। इन पाँच बातोमें, जिन्हें अणुव्रत यानी छोटे व्रत नामसे पुकारा है, वे पूरे-पूरे पक्के थे, और पाँचों अणुव्रतोको ठीक-ठीक निभानेवाला समाजमें हमारे देखनेमें कोई दूसरा आदमी नही मिला। वह पूरे गृहस्थ थे, दुकानदारी भी करते थे, और पडित और विद्वान् होनेके नाते जगह-जगह व्याख्यान देने भी जाते थे और इस नाते आने-जानेका किराया और खर्च भी लेते थे, पर दुकानदारी और इन सव वातोमें जितनी सचाई वह बरतते थे, और किसी दूसरेको बरतते हुए नही देखा है। अगर उन्हें कोई ५० रु० पेशगी भेज दे और घर पहुँचते-पहुँचते उनके पास १० रु० वचे तो वह १० रु० वापिस कर देते थे और दो पैसे वच रहें तो दो पैसे भी वापिस कर देते थे। वह हर तरहसे हिसावके मामलेमें पैसे-पैसेका ठीक-ठीक हिसाब रखते थे। पाँचो व्रतोमेंसे हर व्रतका पूरा-पूरा ध्यान रखते थे और इन व्रतोके प्रति सचाई ही उनमें एक ऐसा जादू वनी हुई थी, जिससे सभी उनकी तरफ़ खिचते थे।

धर्मके मामलेमे आम तौरसे लोग अणुव्रतोंमेंसे किसी व्रतकी परवाह नही करते और सचाईके अणुव्रतकी तो बिल्कुल ही परवाह नही करते।

एक पण्डितजी ही थे जो धर्म और व्यवहारमें कही भी सचाईको हाथसे नही खोते थे। तभी तो वह उन पण्डितोकी नजरमें गिर गये जो धर्मके ज्ञाता थे, पर उसपर अमल करनेके अभ्यासी नही थे।

पण्डितजी अणुव्रती थे, पर साथ-ही-साथ परीक्षा-प्रधानतामें पूरा विश्वास रखते थे, और जैसे-जैसे वह परीक्षा-प्रधानताको समझते जाते थे; वैसे-वैसे उसपर अमल करते जाते थे। दूसरों शब्दोमें वह धीरे-धीरे परीक्षा-प्रधानी बनते जा रहे थे कि मौत उन्हें उठाकर ले गई। कोई मनचला यह सवाल उठा सकता है कि क्या वह शुरू-शुरूमें परीक्षाप्रधानी नहीं थे? हम उसे जवाब देंगे—हाँ, वह नही थे। वह शुरू-शुरूमे अन्ध-श्रद्धानी थे, कोरे कट्टर दिगम्बरी थे। उनकी कट्टरता दिनोदिन कम होती जा रही थी और अगर वह जीते रहते तो वह कट्टरता खत्म हो जाती और फिर वह दिगम्बरी न रहकर जैन बन जाते और अगर कुछ और उमर पाते तो सर्वधर्म-समभावी होकर इस दुनियासे कूच करते।

हम ऊपरके पैरेमें बहुत बड़ी बात कह गये है, पर वह छोटे मुंह बडी बात नही है। हमने पण्डितजीको बहुत पाससे देखा है। पण्डितजी हमको बहुत प्यार करते थे और जब भी हम उनसे मिले, उन्होने पूरी एक रात हमसे बिल्कुल जी खोलकर बातें की और हमारी बाते खुले दिलसे सुनी। हमसे जब वह बात करते थे तो एकदम अभिन्न हो जाते थे। हम ये सब कहकर भी यह नही कहना चाहते कि उन्होने हमसे कबूला कि वह कट्टर दिगम्बरी थे। इस तरह बेतुकी बात हम क्यो पूछने लगे और वह हमसे क्यों कहने लगें? हम तो ऊपरकी बात सिर्फ इसलिए लिख रहे हैं कि हमने उन्हें पाससे देखा है और उनका खुला हुआ दिल देखा है। बस उस नाते और सिर्फ उस नाते हम यह कहना चाहते हैं कि हम जो कुछ ऊपर कह आये है, वो वह है कि जो हमने नतीजा निकाला है।

हमने यह नतीजा कैसे निकाला, यह बतानेसे पहले हम यह कह देना चाहते हैं कि जो आदमी परीक्षाप्रधानी बनने जा रहा है, वह किसी धर्म या पन्थका कितना ही कट्टर अनुयायी क्यो न हो, उस आदमीसे लाख

दरजे अच्छा है, जो अन्धश्रद्धानी होते हुए सर्वधर्म-समभावी होनेका दावा करता है। वह तो सर्वधर्म-समभावका नाटक खेलता है, या ढोग रचता है। पण्डितजीने कभी किसी चीजका नाटक नही खेला, वे जब जो कुछ थे, सच्चे जीसे थे और सचाई ही तो पूज्य है, वही तो धर्म है, वही तो अँधेरे से उजालेकी तरफ लेजानेवाली चीज है और वह पण्डितजीमें थी। इस सचाईके बलपर ही वह झट ताड़ जाते थे कि मै अबतक कौन-सा नाटक खेलता रहा हूँ; और कौन-सा ढोग रचता रहा हूँ। अपनी परीक्षामें जैसे ही उन्होने नाटकको नाटक और ढोगको ढोग समझा कि उसे छोडा। जैसे ही उन्होने परीक्षासे यह जाना कि सोमदेवकृत 'त्रिवर्णाचार' आर्ष ग्रन्थ नही है, वैसे ही उन्होने उसको अलग किया और उसके आधारपर जो पूजाकी क्रियाएँ करते थे, उन्हें धता बताई। धता बताई शब्द जरा भी हम बढकर नही कह रहे है, उन्होने इससे ज्यादा कड़ा शब्द इस्तेमाल किया था।

धर्मके मामलेमें उनकी कही हुई खरी-खरी बातें आज बच्चे-बच्चे की जबानपर है, उन्हे हम दुहराना नही चाहते। हम तो यहाँ सिर्फ इतना ही कहेंगे कि पण्डित गोपालदासजी बरैया सचाईके साथ विचारस्वाधीनता का दरवाजा खोल गये और आज जो स्वामी सत्यभक्तके रूपमें पण्डित दरबारीलालजी स्वाधीन विचारोका चमत्कार दिखा रहे है, वह उसी द्वारसे होकर आये है, जिसका दरवाजा पण्डितजी हिम्मत करके खोल गये थे।

पण्डितजीने सम्यक्त्व, देवता, कल्पवृक्ष, केवलज्ञान, मुक्ति इनके बारेमें ऐसी-ऐसी बातें कही, जिनसे एक मर्तबा समाजमें खलबली मची, पर वैसा तो होना ही था, कुछ दिनों पण्डितजीकी हँसी उड़ाई गई, फिर जोरका विरोध किया गया, फिर सहन किया गया और फिर मान लिया गया।

पण्डितजीने क्या-क्या काम किये, इनको गिनाकर हम क्या करे, ये काम मुरेना महाविद्यालयका है। हम तो सिर्फ़ वो ही बातें लिखना

चाहते हैं, जिनका हमारे दिलपर असर है। पण्डितजीको जो संगिनी मिली थी, वह उन्हीके योग्य थीं, उनकी संगिनी उनके अणुव्रतोकी परीक्षा-की कसौटी थीं, पर पण्डितजी उस कसौटीपर हमेशा सौटंच सोना ही साबित हुए। उनकी संगिनीके स्वभावके बारेमें हमने सुना ही सुना है, पर वह सुना ऐसा नही है कि जिसपर विश्वास न किया जाय। हमारा देखा हुआ कुछ भी नही है, कोई ये न समझे कि हम ऐसी बात कहकर पूर्वापर-विरोध कर रहे है। चूंकि अभी तो हम कह आये है कि हमने पण्डितजीको पाससे देखा है और जब पाससे देखा है तो क्या संगिनीको नही देखा था, हाँ, देखा था पर हमने कभी उनको ऐसे रूपमें नही देखा, जैसा सुन रक्खा था, और इसके लिए तो हम एक घटना लिखे ही देते है।

इटावामें 'तत्त्व-प्रकाशिनीसभा'का जलसा था। पण्डितजी अपनी संगिनी समेत वहाँ आये हुए थे। उनकी संगिनी उस वक़्त प्रेमीजीके लडके को जो उस वक़्त वर्ष या डेढ़ वर्षका होगा, गोदमें खिला रही थी। वह लड़का उनकी गोदमें बुरी तरह रो रहा था, हम उस वक़्त तक उनको पण्डितजीकी संगिनीकी हैसियतसे नही जानते थे। इसलिए हमने उनकी गोदसे उस लड़केको छीन लिया; और सचमुच छीन लिया, ले लिया नही। छीन लिया हम यो कह रहे है कि हमने उस बच्चेको लेते वक़्त कहा तो कुछ नही, पर लेनेके तरीकेसे ये बताया कि हम यह कह रहे है कि तुम्हें बच्चा खिलाना नही आता और होनहारकी बात कि वह बच्चा हमारी गोदमें आकर चुप हो गया। यह सब कुछ प्रेमीजी खड़े-खड़े देख रहे थे। वे थोड़ी देरमें चुपके-से हमारे पास आकर बोले कि "आप बडे भाग्यशाली हैं।" मैंने "पूछा—क्यों ?" बोले—"आपने पण्डितानीजीसे बच्चा छीन लिया और आपको एक शब्द भी सुननेको नही मिला। हम तो उस वक़्त न जाने क्या-क्या अंदाजा लगा रहे थे।"

उस दिनके बाद हम जब भी पण्डितजीसे मिले, हमने तो उनको इसी स्वभावमें पाया। यही वजह है कि हम उनके स्वभावके बारेमें जो कुछ कह रहे है वह सब सुनी-सुनाई बात है।

कुछ भी सही, हाँ तो उनकी संगिनी उनके अणुव्रतकी कसौटी थी और उन्होने जीवनभर उनका साथ ऐसा निभाया कि जो एक अणुव्रती ही निभा सकता था।

पण्डितजीने जीते जी दूसरी प्रतिमासे आगे बढनेकी कोशिश नही की, लेकिन एकसे ज्यादा ब्रह्मचारियोंको हमने उनके पाँव छूते देखा, वह सचमुच इस योग्य थे।

आज जो तत्त्व-चर्चा घर-घरमें फैली हुई है और ऐसी बन गई है, मानो वह माँके पेटसे ही साथ आती हो, ये सब पण्डितजीकी मेहनतका ही फल है। वे गहरी-से-गहरी चर्चाको इतनी आसान बना देते थे कि एक वार तो तत्त्वोका बिल्कुल अजानकार भी ठीक-ठीक समझ जाता था। यह दूसरी बात है कि अपनी अजानकारीके कारण वह उसे ज्यादा देरके लिए याद न रख सके। इसलिए उन्होने 'जैन-सिद्धान्त-प्रवेशिका' नामकी एक किताब लिख डाली थी, उसे आप जैन-सिद्धान्तका जेबीकोश यानी पाकेट डिक्सनरी कह सकते है।

पंडितजीकी जीवनीसे जो कुछ सीख ली जा सकती है, उसका निचोड़ हम यह समझें है—

१. सच्चे या अणुव्रती बनना ह तो निर्भीक बनो।

२ निर्भीक बनना है तो किसीकी नौकरी मत करो, अपना कोई रोजगार करो।

३ रोजगार करते हुए अगर धर्म या धर्मचर्चाके वक्ता बनना चाहते हो तो अणुव्रतका ठीक-ठीक पालन करो, तभी दुकान चल सकेगी।

४ अणुव्रतोको अगर ठीक-ठीक पालन करना है तो अपनी हद बाँधो।

५. अपनी हद बाँधनी है तो किसी कर्त्तव्यसे बँधो।

६. कर्त्तव्यको ही अधिकार मानो।

७ अधिकारी बनो, अधिकारके लिए मत रोओ।

—ज्ञानोदय, जुलाई १९५१

परिचय

श्री नाथूराम प्रेमी

पण्डितजीका जन्म विक्रम संवत् १९२३ के चैत्रमे आगरेमे हुआ था। आपके पिताका नाम लक्ष्मणदासजी था। आपकी जाति 'वरैया' और गोत्र 'एछिया' था। आपके वाल्यकालके विपयमे हम विशेष कुछ नही जानते। इतना ही मालूम है कि आपके पिताकी मृत्यु छुटपनमे हो गई थी। अपनी माताकी कृपासे ही आप मिडिल तक हिन्दी और छठी-सातवी तक अंग्रेज़ी पढ सके थे। धर्मकी ओर आपकी जरा भी रुचि न थी। अंग्रेजीके पढ़े-लिखे लड़के प्रायः जिस मार्गके पथिक होते है, आप भी उसी पथके पथिक थे। खेलना-कूदना, मजा-मौज, तम्बाकू-सिगरेट पीना, शेर और चौवोला गाना आदि आपके दैनिक कृत्य थे। १९ वर्ष की अवस्थामे आपने अजमेरमे रेलवेके दफ़्तरमे पन्द्रह रुपये महीनेकी नौकरी कर ली। उस समय आपको जैनधर्मसे इतना भी प्रेम न था कि कम-से-कम जिन-दर्शन तो प्रतिदिन कर लिया करे। अजमेरमे पण्डित मोहनलालजी नामके एक जैन विद्वान् थे। एक वार उनसे आपका जैन-मंदिरमें परिचय हुआ। उनकी सगतिसे आपका चित्त जैनधर्मकी ओर आकर्पित हुआ और आप जैन-ग्रंथोंका स्वाध्याय करने लगे। दो वर्पके वाद आपने रेलवेकी नौकरी छोड दी और रायवहादुर सेठ मूलचन्द्रजी नेमीचन्द्रजीके यहाँ इमारत बनवानेके कामपर २० रु० मासिककी नौकरी कर ली। आपकी ईमानदारी और होशियारीसे सेठजी प्रसन्न रहे। अजमेरमे आप ६-७ वर्ष तक रहे। इस वीच आपका अध्ययन वरावर होता रहा। संस्कृतका ज्ञान भी आपको वहीपर हुआ। वहाँ-की जैन-पाठशालामें आपने लघुकौमुदी और जैनेन्द्रव्याकरणका कुछ अंश और न्यायदीपिका ये तीनो ग्रंथ पढ़े थे। गोम्मटसारका अध्ययन भी

आपने उसी समय शुरू कर दिया था। अजमेरके सुप्रसिद्ध पण्डित मथुरादासजी और 'जैनप्रभाकर' के वास्तविक सम्पादक बाबू वैजनाथजीसे आपका बहुत मेल-जोल रहता था।

संवत् ४८ मे सेठ मूलचन्द्रजी, जैनविद्री मूडविद्रीकी यात्राको निकले और आपको साथ लेते गये। लौटते समय आप बम्बई आये और यहाँ आपकी तबियत ऐसी लग गई कि फिर आपने यहीपर रहनेका निश्चय कर लिया। हिसाब-किताबके काममे आप बहुत तेज थे, इस कारण यहाँ आपको एस० जे० टेलरी नामकी यूरोपियन कम्पनीमे ४५ रु० मासिक की नौकरी मिल गई। आपके कामसे कम्पनीके मालिक बहुत खुश रहते थे। उन्होने थोडे ही समयमे आपका वेतन ६० रु० मासिक कर दिया उसी समय आपकी माताजीका स्वर्गवास हो गया और आप विना छुट्टी लिये ही आगरे चल दिये। फल यह हुआ कि आपको नौकरीसे हाथ धोना पडा। इसके बाद आप फिर बम्बई आये और सेठ जुहारमल मूलचन्द्रजी की दूकानपर मुनीम हो गये। कुछ समय पीछे एस० जी० टेलारीने आपको फिर रख लिया। अबकी बार आपने कई वर्ष तक यह काम किया। स० ५१ मे दिल्लीवाले लाला श्यामलालजी जौहरीके साथ आप जवाहरातकी कमीशन एजेटीका काम करने लगे। इस कामको आपने कोई छः महीने तक किया, पर इसमे अपने अचौर्य और सत्यव्रतका पालन न होते देखकर आप इससे अलग हो गये और 'गोपालदास लक्ष्मणदास' के नामसे गल्लेका काम करने लगे। यथेष्ट लाभ न होनेसे पाँच छ महीनेके बाद यह काम उठा दिया। सवत् ५२ मे पडित धन्नालालजी काशलीवालके साझेमे आपने रुई, अलसी, चाँदी आदिकी दलालीका काम करना शुरू किया और तीन-चार वर्ष तक जारी रक्खा। सवत् ५६ मे इसी कामको आप स्वतत्र होकर करने लगे और दो वर्ष तक करते रहे।

वम्बईमे सेठ नाथारगजी गाँधीके फर्मके मालिक सेट रामचन्द्र नाथाजीसे आपका अच्छा परिचय हो गया था। सेठजी बडे ही सज्जन और धर्मात्मा है। स० ५८ में आपके ही साझेमें पंडितजीने मोरेनामें

आढ़तकी दूकान खोल ली और बम्वईका रहना छोड़ दिया। यह काम आपने कोई चार वर्ष तक किया। गाँधी नाथारंगजीको जब मोरेनामें लाभ नहीं दिखाई दिया, तब उन्होने सं० ६२ मे शोलापुर वुला लिया और वहाँ आप लगभग दो वर्ष तक काम करते रहे। इसके बाद आप फिर मोरेना चले गये और वहाँ आपने सेठ हरिभाई देवकरण और सेठ रावजी नानचन्द्रकी सहायतासे 'गोपालदास माणिकचन्द्र' के नामसे स्वतंत्र आढ़तकी दूकान खोली। इस कामको करते हुए आपने 'माधव जीनिंग फैक्टरी लिमिटेड' की स्थापना की। इस काममें आपने वहुत परिश्रम किया। पर कई कारणोंसे आपको कोई दो वर्षके वाद इससे सवंध छोडना पड़ा। इसके बाद आपने फिर गाँधी नाथारंगजीके साथ काम किया। सं० ७०-७१ मे रायबहादुर सेठ कल्याणमलजीके और उनके वाद अभी दो वर्षसे आप रायबहादुर सेठ कस्तूरचन्द्रजीके साझेमे काम करते थे।

जिस समय पण्डितजी अजमेरमें थे उस समय उनकी शादी हो चुकी थी। सं० ४५ में आपको प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ, जो थोड़े ही दिन जिया। सं० ४७ मे कौशल्याबाई और ४९ में चि० माणिकचन्द्रका जन्म हुआ। इसके बाद आपके कोई सन्तान पैदा नही हुई। पिछली दोनो सन्ताने जीवित है। भाई माणिकचन्द्रका विवाह हो चुका है और उनके तीन-चार वर्ष-का एक पुत्र भी है।

पण्डितजीके सार्वजनिक जीवनका प्रारम्भ वम्बईसे होता है। यहाँ आपके और पण्डित धन्नालालजीके उद्योगसे मार्गशीर्ष सुदी १४ सवत् १९४९ को दिगम्बर जैन सभाकी स्थापना हुई। पण्डित धन्नालालजी आपके अनन्य मित्रोमेंसे थे। लोग आप दोनोको "दो शरीर एक प्राण" कहा करते थे। पण्डित धन्नालालजी आपके प्रत्येक काममें प्रधान सहायक थे। इसी वर्षके माघमे श्रीमन्त सेठ मोहनलालजीकी ओरसे खुरई (सागर) की सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठा हुई। इतना बड़ा जनसमूह शायद ही किसी मेलेमे इकट्ठा हुआ होगा। दिगम्बर जैन-समाजके प्राय: सभी धनी-मानी और

पण्डित जन उपस्थित हुए थे । इस अवसरको वहुत ही उपयुक्त समझकर वम्वई-सभाने आपको और पण्डित धन्नालालजीको सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाजकी एक महासभा स्थापित करनेके लिए खुरई भेजा । इसके लिए वहाँ यथेष्ट प्रयत्न किया गया । परन्तु यह जानकर कि जम्वूस्वामी मथुरा-के मेलेमे महासभाकी स्थापनाका निश्चय हो चुका है, इन्हे लौट आना पड़ा । इसके वाद स० ५० के जम्वूस्वामीके मेलेमे भी वम्वई-सभाने इन्हे भेजा और उनके उद्योगसे वहाँपर महासभाका कार्य शुरू हुआ । महासभाके महाविद्यालयके प्रारम्भका काम आपके ही द्वारा होता रहा है । स० ५३ के लगभग भारतवर्षीय दिगम्वर जैन परीक्षालय स्थापित हुआ और उसका काम आपने बड़ी ही कुशलतासे सम्पादन किया । इसके वाद आपने दिगम्वर जैन सभा वम्वईकी ओरसे जनवरी सन् १९०० मे (स० ५६ के लगभग) "जैनमित्र" निकालना शुरू किया । पण्डितजीकी कीर्तिका मुख्य स्तम्भ 'जैनमित्र' है । यह पहले ६ वर्ष तक मासिक रूपमे और फिर सवत् ६२की कार्तिक सुदीसे २-३ वर्ष तक पाक्षिक रूपमे पण्डित-जीके सम्पादकत्वमे निकलता रहा । सं० १९६५ के १८ वे अंक तक जैन-मित्रकी सम्पादकीमे पण्डितजीका नाम रहा । इसकी दशा उस समयके तमाम पत्रोसे अच्छी थी, इस कारण इसका प्रायः प्रत्येक आन्दोलन सफल होता था । स० ५८ के आसोजमे वम्वई प्रान्तिक सभाकी स्थापना हुई और इसका पहला अधिवेशन माघ सुदी ८ को आकलूजकी प्रतिष्ठापर हुआ । इसके मत्रीका काम पण्डितजी करते थे और आगे वरावर आठ दस वर्ष तक करते रहे । प्रान्तिक सभाके द्वारा संस्कृत विद्यालय वम्वई, परीक्षालय, तीर्थक्षेत्र, उपदेशभडार आदिके जो-जो काम होते रहे है, वे पाठकोसे छिपे नही है ।

वम्वईकी दिगम्वर जैन पाठशाला स० ५० में स्थापित हुई थी । यह पाठशाला अव भी चल रही है । पडित जीवराम लल्लूराम शास्त्री-के पास आपने परीक्षामुख, चन्द्रप्रभकाव्य और कातत्र व्याकरण इसी पाठ-शालामे पढा था ।

कुण्डलपुरके महासभाके जलसेमें यह सम्मति हुई कि महाविद्यालय सहारनपुरसे उठाकर मोरेनामें पंडितजीके पास भेज दिया जाय, परन्तु पण्डितजीका वैमनस्य मुशी चम्पतरायजीके साथ इतना वढ़ा हुआ था कि उन्होंने उनके अण्डरमें रहकर इस कामको स्वीकार न किया। इसी समय उन्हे एक स्वतंत्र जैन पाठशाला खोलकर काम करनेकी इच्छा हुई। आपके पास पं० वंशीधरजी कुण्डलपुरके मेलेके पहिले ही पढ़ते थे। अब दो-तीन विद्यार्थी और भी जैन सिद्धान्तका अध्ययन करनेके लिए जाकर रहने लगे। इन्हे छात्रवृत्तियाँ वाहरसे मिलती थी। पण्डितजी केवल इन्हे पढा देते थे। इसके वाद कुछ विद्यार्थी और भी आ गये और एक व्याकरणका अध्यापक रखनेकी आवश्यकता हुई, जिसके लिए सबसे पहले सेठ सूरचन्द्र शिवरामजीने ३० रु० मासिक सहायता देना स्वीकार किया। धीरे-धीरे छात्रोंकी संख्या इतनी हो गई कि पंडितजीको उनके लिए नियमित पाठशाला और छात्रालयकी स्थापना करनी पडी। यही पाठशाला आज 'जैनसिद्धान्त विद्यालय' के नामसे प्रसिद्ध है और इसके द्वारा जैनधर्मके वडे-वड़े ग्रंथोके पढनेवाले अनेक पंडित तैयार हो गये हैं। पाठशालाके साथमें एक छात्राश्रम भी है। छात्राश्रम और पाठशालाके लिए एक अच्छी इमारत लगभग दस हजार रुपयोंकी लागतकी बन गई है। पाठशाला और छात्राश्रमका वार्षिक खर्च इस समय कोई दस हजार रुपया है, यह सब रुपया पण्डितजी चन्देसे वसूल करते थे।

ग्वालियर स्टेटकी ओरसे पण्डितजीको मोरेनामें आनरेरी मजिस्ट्रेट का पद प्राप्त था। वहाँके चेम्वर आफ कामर्स और पचायती वोर्डके भी आप मेम्वर थे। वम्बई प्रान्तिक सभाने आपको 'स्याद्वादवारिधि', इटावेकी जैनतत्त्वप्रकाशिनी सभाने आपको 'वादिगजकेसरी' और कलकत्तेके गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेजके पण्डितोंने 'न्यायवाचस्पति' पदवी प्रदान की थी। सन् १९१२ में दक्षिण महाराष्ट्र-जैन-सभाने आपको अपने वार्षिक अधिवेशनका सभापति वनाया था और आपका वहुत वड़ा सम्मान किया था।

पण्डितजीकी पठित विद्या वहुत ही थोडी थी। जिस संस्कृतके वे पण्डित कहला गये, उसका उन्होंने कोई एक भी व्याकरण अच्छी तरह नहीं पढा था। गुरुमुखसे तो उन्होने वहुत ही थोड़ा नाममात्रको पढा था। तव वे इतने वड़े विद्वान् कैसे हो गये? उसका उत्तर यह है कि उन्होने स्वावलम्वन-शीलता और निरन्तरके अध्यवसायसे पाण्डित्य प्राप्त किया था। पण्डितजी जीवनभर विद्यार्थी रहे। उन्होने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया वह अपने ही अध्ययनके वलपर; और इस कारण उसका मूल्य रटे हुए या घोखे हुए ज्ञानसे वहुत अधिक था। उन्हे लगातार दस वर्ष तक वीसो विद्यार्थियोको पढाना पडा और उनकी शंकाओंका समाधान करना पड़ा। विद्यार्थी प्रौढ थे, कई न्यायाचार्य और तर्कतीर्थोंने भी आपके पास पढा है। इस कारण प्रत्यक शकापर आपको घंटो परिश्रम करना पडता था। जैनधर्मके प्राय. सभी वडे-वड़े उपलव्ध ग्रथोको उन्हे आवश्यकताओके कारण पढना पडा। इसीका यह फल हुआ कि उनका पाण्डित्य असामान्य हो गया। वे न्याय और धर्मशास्त्रके वेजोड विद्वान् हो गये और इस वातको न केवल जैनोने, किन्तु कलकत्तेके वडे-वडे महामहोपाध्यायो और तर्कवाचस्पतियोने भी माना। विक्रमकी इस वीसवी शताब्दीके आप सवसे वड़े दिगम्वर जैन पण्डित थे, आपकी प्रतिभा और स्मरणशक्ति विलक्षण थी।

पण्डितजीकी व्याख्यान देनेकी शक्ति भी वहुत अच्छी थी। यह भी आपको अभ्यासके वलपर प्राप्त हुई थी। आपके व्याख्यानोमे यद्यपि मनोरंजकता नही रहती थी और जैन सिद्धान्तके सिवाय अन्य विषयोपर आप वहुत ही कम वोलते थे, फिर भी आप लगातार दो-दो, तीन-तीन घटे तक व्याख्यान दे सकते थे। आपके व्याख्यान विद्वानोके ही कामके हुआ करते थे। वाद या शास्त्रार्थ करनेकी शक्ति आपमे वडी विलक्षण थी। जव जैन-तत्त्व-प्रकाशिनी सभा इटावेके दौरे शुरू हुए और उसने पंडितजीको अपना अगुआ वनाया, तव पण्डितजीकी इस शक्तिका खूव ही विकास हुआ। आर्यसमाजके कई वडे-वडे शास्त्रार्थोमे आपकी वास्त-

विक विजय हुई और उस विजयको प्रतिपक्षियोने स्वीकार किया। बड़े-से-बड़ा विद्वान् आपके आगे बहुत समय तक न टिक सकता था ; आपको अपनी इस शक्तिका अभिमान था। कभी-कभी आप कहा करते थे कि मै अमुक-अमुक महामहोपाध्यायोको भी बहुत जल्दी पराजित कर सकता हूँ; परन्तु क्या करूँ उनके सामने घंटों तक धाराप्रवाह संस्कृत बोलने की शक्ति मुझमें नही है। पण्डितजी संस्कृतमे बातचीत कर सकते थे और अपने छात्रोंके साथ तो वे घंटों बोला करते थे; परन्तु फिर भी व्याकरण इतना पक्का नही था कि वे इसकी सहायतासे शुद्ध संस्कृतके प्रयोग औरोके सामने निर्भय होकर करते रहे।

पण्डितोंको लिखनेका अभ्यास नही रहता है, पर पडितजी इस विषयमें अपवाद थे। उनमें अच्छी लेखनशक्ति थी। यद्यपि अन्यान्य कार्योमे फँसे रहनेके कारण उनकी इस शक्तिका विकास नही हुआ, और इस ओर उन्होने प्रयत्न भी बहुत कम किया, फिर भी हम उन्हे जैन-समाजके अच्छे लेखक कह सकते है। उनके बनाये हुए तीन ग्रथ है—जैनसिद्धान्त-दर्पण, सुशीला उपन्यास और जैनसिद्धान्त-प्रवेशिका। जैनसिद्धान्त-दर्पणका केवल एक ही भाग है। यदि इसके आगेके भी भाग लिखे गये होते, तो जैन-साहित्यमें यह एक बड़े कामकी चीज होती। यह पहला भाग भी बहुत अच्छा है। प्रवेशिका जैनधर्मके विद्यार्थियोके लिए एक छोटेसे पारिभाषिक कोशका काम देती है। इसका बहुत प्रचार है। सुशीला उपन्यास उस समय लिखा गया था, जब हिन्दीमे अच्छे उपन्यासो का एक तरहसे अभाव ही था और आश्चर्यजनक घटनाओके बिना उपन्यास ही न समझा जाता था। उस समयकी दृष्टिसे इसकी रचना अच्छे उपन्यासोमें की जा सकती है। इसके भीतर जैनधर्मके कुछ गंभीर विषय डाल दिये गये हैं, जो एक उपन्यासमे नही चाहिए थे, फिर भी वे बड़े महत्त्व के हैं। इन तीन पुस्तकोके सिवाय पडितजीने सार्वधर्म, जैन-जागरफ़ी आदि कई छोटे-छोटे ट्रैक्ट भी लिखे थे।

पण्डितजीका चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल था। इस विषयमे वे पंडित-

मडलीमें अद्वितीय थे। उन्होंने अपने चरित्रसे दिखला दिया था कि संसार मे व्यापार भी सत्य और अचौर्यव्रतको दृढ रखकर किया जा सकता है। यद्यपि इन दो व्रतोके कारण उन्हे बार-बार असफलताएँ हुई, फिर भी उन्होने इन व्रतोंको मरणपर्यन्त अखड रखा। कडी परीक्षाओंमें भी आप इन व्रतोसे नही डिगे। एक बार मडीमे आग लगी और उसमे आपका तथा दूसरे व्यापारियोका माल जल गया। मालका बीमा बिका हुआ था। दूसरे लोगोने बीमा-कम्पनियोसे इस समय खूब रुपये वसूल किये, जितना माल था उससे भी अधिकका बतला दिया। आपसे भी कहा गया। आप भी उस समय अच्छी कमाई कर सकते थे, पर आपने एक कौड़ी भी अधिक न ली। रेलवे और पोस्ट आफिसका यदि एक पैसा भी आपके यहाँ भूलसे अधिक आ जाता था तो उसे वापस किये बिना आपको चैन नही पड़ता था। रिश्वत देनेका आपको त्याग था। इसके कारण आपको कभी-कभी बडा कष्ट उठाना पड़ता था, पर आप उसे चुपचाप सह लेते थे।

पण्डितजीको कोई भी व्यसन नही था। खाने-पीनेकी शुद्धतापर आपको अत्यधिक ख्याल था। खाने-पीनेकी अनेक वस्तुएँ आपने छोड़ रखी थी। इस विषयमे आपका व्यवहार बिलकुल पुराने ढगका था। आपका रहन-सहन बहुत ही सादा था। कपडे आप इतने मामूली पहनते थे कि अपरिचित लोग आपको कठिनाईसे पहचान सकते थे।

धर्मकार्योंके द्वारा आपने अपने जीवनमे कभी एक पैसा भी नहीं लिया। यहाँ तक कि इसके कारण आप अपने प्रेमियोको दुखी तक कर दिया करते थे, पर भेंट या बिदाई तो क्या, एक दुपट्टा या कपडेका टुकडा भी ग्रहण नही करते थे। हाँ, जो कोई बुलाता था, उससे आने-जानेका किराया ले लिया करते थे।

पण्डितजीमें गजबका उत्साह और गजबकी काम करनेकी लगन थी। पिछले दिनोमे उनका शरीर बहुत ही शिथिल हो गया था, पर उनके उत्साहमे जरा भी अन्तर नही पड़ा था। वे धुनके पक्के थे। जो

काम उन्हे जँच जाता था, उसे वे करके छोड़ते थे। उन्हे अपनी शक्तियो-पर विश्वास था। इस कारण वे कठिन-से-कठिन काममे हाथ डाल देते थे। मोरेनामें पाठशालाकी इमारत उनके इसी गुणके कारण बनी थी। लोग नही चाहते थे कि मोरेना-जैसे अयोग्य स्थानमे इमारत-जैसा स्थायी काम हो, पर उन्हे विश्वास था कि पाठशालाका ध्रुव फड एक लाख रुपयो का हो जायगा और तब मोरेनामे भी पाठशालाका काम मजेसे चलता रहेगा। कहते हैं कि पण्डितजी अन्तिम समय तक यह कहते रहे है कि यदि एक बार अच्छा हो जाऊँ, तो एक लाख रुपया पूरा कर डालूं और फिर सुखसे परलोककी यात्रा करूँ।

पण्डितजी जिस बातको सत्य मानते थे, उसके कहनेमे उन्हे जरा भी संकोच या भय नहीं होता था। खतौलीके दस्सा और बीसा अग्रवालो के बीचमें जो पूजाके अधिकारके सम्बन्धमे मामला चला था, उसमे आपने निर्भीक होकर साक्षी दी थी कि दस्सोको पूजा करनेका अधिकार है। जैन-जनताका विश्वास इससे बिलकुल उलटा है, परन्तु आपने इसकी ज़रा भी परवाह नही की। इस विषयको लेकर कुछ "धर्मात्माओ" और "सेठो" ने बड़ा ऊधम मचाया, पण्डितजीको हर तरहसे बदनाम करनेकी कोशिशें की, परन्तु अन्तमे जनताने पण्डितजीके सत्यको समझ लिया और वह शान्त हो गई। "इसके बाद मासभोजी भी सम्यग्दृष्टि हो सकता है या नही" इस विषयमे भी पंडितजीने एक 'अप्रिय सत्य' कहा था, और उसपर भी बड़ी उछल-कूद मची थी। इस विषयमे वे जैन समाजके वर्त्तमान पण्डितोंसे बहुत ऊँचे थे। हमने प्रतिष्ठाएँ करानेवाले एक प्रतिष्ठित पण्डितजीको छापेके विरोधी धनियोंके सामने छापेकी घोर निन्दा करते और छापेवालोके सामने उसीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते देखा है। ऐसे लोग वही बात कहते हैं, जो लोगोंको अच्छी लगती है। पर पण्डितजी बड़े निर्भीक थे। चापलूसी और ख़ुशामदसे उन्हे बड़ी चिढ थी। वे बडे-बडे लखपतियों और करोड़पतियोको उनके मुँहपर खरी-खरी सुना दिया करते थे। अनेक धनियोंके शत्रु वे अपने इसी स्वभावके कारण बन गये थे।

जैनग्रथोंपर पण्डितजीकी प्रगाढ श्रद्धा थी, बल्कि सत्यके अनुरोधसे कहना पड़ेगा कि जरूरतसे ज्यादा थी। एक वार आपने जोशमे आकर यहाँ तक कह डाला था कि यदि कोई पुरुष जैनभूगोलको असत्य सिद्ध कर देगा, तो मैं उसी दिन जैनधर्मका परित्याग कर दूंगा। इससे पाठक जान सकेगे कि उनकी श्रद्धा कितनी ऊँची चढ़ी हुई थी। इस श्रद्धाके अतिरेकके कारण ही जैन पाठशालाओके कोर्सके द्वारपर 'दिगम्बरजैन-धर्मसे अविरुद्ध' की मजवूत अर्गला लगाई गई थी। पडितजी नही चाहते थे कि किसी भी जैन पाठशालामें कोई ऐसी पुस्तक पढ़ाई जाय जो जैन-धर्मके विरुद्ध हो। उन्होने अपने विद्यालयमे भूगोल, इतिहास आदि विषयोको कभी जारी नही होने दिया। अजैनोके संस्कृत ग्रंथ भी, यहाँ तक कि व्याकरण, काव्य, नाटक आदि भी पढ़ाना पसन्द न था। काशीकी पाठशालाके विद्यार्थी गवर्नमेटकी सस्कृत परीक्षाके ग्रथ पढा करते थे। इसपर पण्डितजीने जैनमित्रमे 'काशीका कटुक फल' शीर्षक बडा ही कड़ा लेख लिखा था। सिद्धान्तविद्यालयके किसी भी विद्यार्थीने विद्यालयमे रहते हुए कोई भी सरकारी परीक्षा नही दी।

आज-कलके पण्डितोको हम जीते-जागते या सजीव शास्त्र समझते हैं। उन्हे शास्त्र याद भर रहता है, विचार करना वे नही जानते। जड-शास्त्रोसे जो उपकार होता है, वही उपकार इनसे होता है; इससे अधिक नही। पर पण्डितजी इस विषयमे अपवाद थे। वे अच्छे विचारक थे। वे अपनी विचारशक्तिके वलपर पदार्थका स्वरूप इस ढगसे बतलाते थे कि उसमें एक नूतनता मालूम होती थी। उन्होने जैन-सिद्धान्तकी ऐसी अनेक गाँठे सुलझाई थी, जो इस समयके किसी भी विद्वान्से नही खोली जा सकती थी। वे गोम्मटसारके प्रसिद्ध टीकाकार प० टोडरमलजी-की भी कई सूक्ष्म भूले वतलानेमे समर्थ हुए थे। जैनभूगोलके विषयमे उन्होने जितना विचार किया था और इस विषयको सच्चा समझानेके लिए जो-जो कल्पनाएँ की थी, वे वड़ी ही कुतूहलवर्धक थी। एक वार उन्होने उत्तर-दक्षिण ध्रुवोकी छः महीनेके रात-दिनको भी जैनभूगोल

के अनुसार सत्य सिद्ध करनेका यत्न किया था। वर्तमानके यूरोप आदि देशोंको उन्होंने भरतक्षेत्रमें ही सिद्ध किया था और शास्त्रोक्त लम्बाई-चौड़ाईसे वर्तमानका मेल न खानेका कारण पृथिवीका वृद्धि-ह्रास या घटना-बढ़ना 'भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ' आदि सूत्रके आधारसे बतलाया था। यदि पण्डितजीके विचारोका क्षेत्र केवल अपने ग्रथोंकी ही परिधिके भीतर क़ैद न होता, सारे ही जैनग्रंथोंको प्राचीनों और अर्वाचीनोंको वे केवली भगवान् की ही दिव्य-ध्वनिके सदृश न समझते होते, तो वे इस समय-के एक अपूर्व विचारक होते, उनकी प्रतिभा जैनधर्मपर एक अपूर्व ही प्रकाश डालती और उनके द्वारा जैनसमाजका आशातीत कल्याण होता।

पण्डितजीकी प्रतिष्ठा और सफलताका सबसे बड़ा कारण उनकी निःस्वार्थसेवाका या परोपकारशीलताका भाव था। एक इसी गुणसे वे इस समयके सबसे बड़े जैनपण्डित कहला गये। जैनसमाजके लिए उन्होंने अपने जीवनमे जो कुछ किया उसका बदला कभी नही चाहा। जैनधर्मकी उन्नति हो, जैनसिद्धान्तके जाननेवालोकी सख्या बढे, केवल इसी भावनासे उन्होने निरन्तर परिश्रम किया। अपने विद्यालयका प्रबध-सम्बन्धी तमाम काम करनेके सिवाय अध्यापनकार्य भी उन्हे करना पडता था। हमने देखा है कि शायद ही कोई दिन ऐसा जाता होगा जिस दिन पंडितजीको अपने कम-से-कम चार घटे विद्यालयके लिए न देने पडते हों। जिन दिनो पण्डितजीका व्यापार-सम्बन्धी काम बढ़ जाता था और उन्हें समय नही मिलता था, उस समय बडी भारी थकावट हो जाने पर भी वे कभी-कभी १०-११ बजे रातको विद्यालयमें आते थे। गत कई वर्षोसे पण्डितजीका शरीर बहुत शिथिल हो गया था। फिर भी धर्मके कामके लिए वे बड़े-बड़े लम्बे सफ़र करनेसे भी नही चूकते थे। अभी भिडके मेलेके लिए जब आप गये, तब आपका स्वास्थ्य बहुत ही चिंतनीय था और वहाँ जानेसे ही, इसमें सन्देह नहीं कि आपकी घटिका और जल्दी आ गई।

पण्डितजीकी निःस्वार्थ वृत्ति और दयानतदारीपर लोगोंको दृढ

विश्वास था। यही कराण है जो विना किसी स्थिर आमदनीके वे विद्यालयके लिए लगभग दस हजार रुपया सालकी सहायता प्राप्त कर लेते थे।

पण्डितजीको जहाँ तक हम जानते हैं कि कुटुम्व सम्बन्धी सुख कभी प्राप्त नही हुआ। इस विषयमे हम उन्हें ग्रीसके प्रसिद्ध विद्वान् सुकरात के समकक्ष समझते है। पण्डितानीजीका स्वभाव वहुत ही कर्कश, क्रूर, कठोर, जिद्दी और अर्धविक्षिप्त है। जहाँ पण्डितजीको लोग देवता समझते थे, वहाँ पण्डितानीजी उन्हे कौडी कामका आदमी नही समझती थीं। वे उन्हे वहुत तग करती थी और इस वातका जरा भी खयाल न रखती थी कि मेरे वर्तावसे पण्डितजीकी कितनी अप्रतिष्ठा होती होगी। कभी-कभी पण्डितानीजीका धावा विद्यालयपर भी होता था और उस समय छात्रो तककी शामत आ जाती थी। अभी पण्डितजी जब आगरेमे वहुत ही सख्त वीमार थे, तव पण्डितानीजीकी विक्षिप्तता इतनी वढ़ गई थी कि छात्रोको उनके आक्रमणसे पण्डितजीका जीव वचाना भी कठिन हो गया था। वे वडी मुश्किलसे पिड छुडाकर उन्हे अपने घरसे वेलनगज ले गये थे। सारा समाज आज जिनके लिए रो रहा है, उनके लिए पण्डितानीजी-की आँखसे शायद एक आँसू भी न पडा होगा। इस अप्रिय कथाके उल्लेख करनेका कारण यह है कि पण्डितजी इस निरन्तरकी यातनाको, कलहको, उपद्रवको वडी ही धीरतासे विना उद्वेगके भोगते थे और अपने कर्त्तव्यमे जरा भी शिथिलता नही आने देते थे और यह पण्डितजीका अनन्यसाधारण गुण था। सुकरातकी स्त्री खिसियानी हुई बैठी थी, सुकरात कई दिनके वाद घर आये। खाने-पीनेकी वस्तुओका इन्तजाम किये विना ही वे घरसे चले गये थे और कही लोकोपकारी व्याख्यानादि देनेमे लगकर घरकी चिता भूल गये थे। पहले तो श्रीमतीने वहुत-सा गर्जन-तर्जन किया, पर जव उसका कोई भी फल नही हुआ तव उसका वेग नि:सीम हो गया और उसने वर्फ-जैसे पानीका एक घड़ा उस शीतकालमे सुकरातके ऊपर औधा दिया। सुकरातने हँसकर कह दिया कि गर्जनके वाद वर्षण तो स्वाभाविक ही है। पण्डितजीके यहाँ इस प्रकारकी घटनाएँ—यद्यपि

वे लिखनेमे इतनी मनोरंजक नही है—अक्सर हुआ करती थी और पण्डितजी उन्हें सुकरातके ही समान चुपचाप सहन किया करते थे।

विद्यालयसे पण्डितजीको वहुत मोह हो गया था। उसे तो वे अपना सर्वस्व समझते थे। पडितजी वड़े ही स्वाभिमानी थे। किसीसे एक पैसेकी भी याचना करना उनके स्वभावके विरुद्ध था। शुरू-शुरूमे जव मैं सिद्धान्तविद्यालयका मंत्री था, पण्डितजी विद्यालयके लिए सभाओंमें सहायता माँगनेके सख्त विरोधी थे, पर पीछे पंडितजीका यह सख्त अभिमान विद्यालयके वात्सल्यकी धारामे गल गया और उसके लिए 'भिक्षा देहि' कहनेमें भी उन्हें संकोच नही होने लगा।

पण्डितजी वहुत सीधे और भोले थे। उनके भोलेपनसे धूर्त लोग अक्सर लाभ उठाया करते थे। एकाग्रताका उन्हे बहुत ही ज्यादा अभ्यास था। चाहें जैसे कोलाहल और अशान्तिके स्थानमे वे घटों तक विचारोंमें लीन रह सकते थे। स्मरणशक्ति भी उनकी वडी विलक्षण थी। वरसोंकी वाते वे अक्षरशः याद रख सकते थे। विदेशी रीति-रिवाजोसे उन्हें अरुचि थी। जवतक कोई वहुत जरूरी काम न पड़ता था, तव तक वे अग्रेजीका उपयोग नही करते थे। हिन्दीसे उन्हे वहुत ही ज्यादा प्रेम था। अन्य पण्डितोके समान वे इसे तुच्छ दृष्टिसे नही देखते थे। उनके विद्यालयकी लायब्रेरीमे हिन्दीकी अच्छी-अच्छी पुस्तकोका सग्रह है। पण्डितजी वड़े देशभक्त थे। 'स्वदेशी' आन्दोलनके समय आपने 'जैन मित्र' के द्वारा जैनसमाजमे अच्छी जागृति उत्पन्न की थी।

मनुष्यके स्वभाव और चरित्रका अध्ययन करना वहुत कठिन है और जव तक यह न किया जाय, तव तक किसी पुरुषका चरित्र नही लिखा जा सकता। पण्डितजीके सहवासमें थोड़े समय (छः-सात महीने) रहकर हमने उनके विषयमे जो कुछ जाना था उसीको यहाँ सिलसिलेसे लिख दिया है।

—जैन-हितैषी, अप्रैल १९१७

आजन्म नहीं भूल सकता

क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी

मैं श्रीमान् वरैयाजीसे न्यायदीपिका पढा करता था[१]।...चौरासी मथुरामे दि० जैन महाविद्यालयकी स्थापना श्रीमान् राजा लक्ष्मणदासजीके करकमलों द्वारा हो चुकी थी। उसके मत्री श्रीमान् बरैयाजी थे। आपका ध्येय इतना उच्चतम था कि चूँकि जैनियोमें प्राचीन विद्या व धार्मिक ज्ञानकी महती त्रुटि हो गई है, अत: उसे पुनरुज्जीवित करना चाहिए। आपका निरन्तर यही ध्येय रहा कि जैनधर्ममे सर्वविषयके शास्त्र हैं, अत पठनक्रममे जैनधर्मके ही शास्त्र रक्खे जावे। आपका यहाँ तक सदाग्रह था कि व्याकरण भी पठनक्रममे जैनाचार्य्यकृत ही होना चाहिए। . .... आपकी तर्कशैली इतनी उत्तम थी कि अन्तरग कमेटीमे आपका ही पक्ष प्रधान रहता था। ...आप धर्मशास्त्रके अपूर्व विद्वान् थे। केवल धर्मशास्त्रके ही नही, द्रव्यानुयोगके भी अपूर्व विद्वान् थे। पचाध्यायीके पठन-पाठनका प्रचार आप ही के प्रयत्नका फल है। इस ग्रन्थके मूल अन्वेषक श्रीमान् पण्डित बलदेवदासजी है। उन्होने अजमेरके शास्त्रभण्डार मे इसे देखा और श्री वरैयाजीको अध्ययन कराया। अनन्तर उसका प्रचार वरैयाजीने अपने शिष्योमे किया।

.. आप परीक्षाप्रधानी भी प्रथम श्रेणीके थे। एक बारका जिक्र है—मैंने मथुरासे एक पत्र श्रीमान् पण्डितजीको इस आशयका लिखा कि "बाईजीका स्वास्थ्य अत्यन्त ख़राब है, अत. उन्होने मुझे १५ दिनके लिए सिमरा बुलाया है।" आपने उत्तर दिया—"बाईजीका पत्र हमारे पास भेज दो।" मैंने बाईजीके हस्ताक्षर-जैसा पत्र लिखकर अपने पतेसे डाकख़ानेमे डाल दिया। दूसरे दिन वह पत्र मुझे मिल गया। मैंने वह

१—मेरी जीवनगाथा पृ० ६६।

पत्र लिफ़ाफेमें बन्द करके उनके पास भेज दिया। जवाब मिला—"तुम शीघ्र ही चले जाओ, परन्तु जब देशसे वापिस आओ तो हमसे आगरा मिलते हुए चौरासी जाना।"

मैं १५ रोज देश रहकर आगरा पहुँचा। पण्डितजीने मुसकराते हुए बाईजीका स्वास्थ्य पूछा। मेरे बतलानेपर उन्होंने निम्न श्लोक याद करनेको कहा—

उपाध्याये नटे धूर्ते कुट्टिन्यां च तथैव च।
माया तत्र न कर्तव्या माया तैरेव निर्मिता॥

श्लोक सुनते ही मैंने नम्र प्रार्थना करते हुए कहा—"महाराज, मैंने बडी ग़लती की है जो आपको मिथ्या पत्र देकर असभ्यताका व्यवहार किया।" गुरुजीने कहा—"जाओ, हम तुमसे खुश है, यदि इसी प्रकारकी प्रकृति (अपराध स्वीकृत कर लेनेके स्वभाव) को अपनाओगे तो आजन्म आनन्दसे रहोगे। हम तुम्हारे व्यवहारसे सन्तुष्ट है और तुम्हारा अपराध क्षमा करते है। तुम्हे जो कष्ट हो हमसे कहो, हम निवारण करेंगे। जितने छात्र हैं, हम उन्हे पुत्रसे भी अधिक समझते है। यदि जैनधर्मका विकास होगा तो इन्ही छात्रोंके द्वारा होगा। इन्हींके द्वारा धर्मशास्त्र तथा सदाचारकी परिपाटी चलेगी। मै तुम्हें दो रुपया मासिक अपनी ओरसे दुग्ध-पानके लिए देता हूँ।......

आप केवल विद्वान् ही नहीं, सदाचारी भी अद्वितीय थे। आपका आगरेमें मकान था। म्यूनिसिपल जमादारने शौच-गृहके बनानेमे बहुत बाधा दी। यदि आप दस रु० की घूस दे देते तो मुकदमा न चलता, परन्तु पण्डितजीको घूस देनेका त्याग था। मुकदमा चला, बहुत परेशानी उठानी पड़ी। सैकड़ों रुपयोका व्यय हुआ। अन्तमें आप विजयी हुए।

आपमें सहनशीलता भी पूर्ण थी। आपकी गृहिणीका स्वभाव कुछ उग्र था, परन्तु आपने उसके ऊपर कभी भी रोष नही किया।...... आपने मेरा जो उपकार किया है उसे मै आजन्म नही भूल सकता[1]।"

१—मेरी जीवनगाथा पृ० ७१-७५।

पण्डित
उमरावसिंह
न्यायतीर्थ

उनका वरदान

गोयलीय

"यह कौन लड़का है ?"

"जी, मैं हूँ ।"

यह पत्र (जैनहितैषी मासिक पत्र) उठाकर कहाँ ले जा रहा है ?"

"जी, यह अकलंक शारदा सदन (विद्यार्थियोकी लायब्रेरी) मे आता है और मै उसका मंत्री हूँ, इसलिए इसे लिए जा रहा हूँ ।"

"चुप रहो, असत्य वोलते हुए भी लज्जा नही आती । अभी-अभी पढनेके लिए मै इसे बक्समेंसे निकालकर रखने भी न पाया कि हजरत उचकाकर चलते वने !"

"मैंने समझा कि आजकी डाकसे यह पत्र पुस्तकालयके नाम आया है और आपने भूलसे खोल लिया है । इसी ख़यालसे लेकर चल दिया था। क्योंकि पुस्तकालयकी डाक सब यही आती है और वह सब डाक मै स्वय यहाँ आकर ले जाता हूँ ।"

"जी, यह तो मैंने सुना था कि इस विद्यालयके लडके चोर और शैतान है, मगर झूठे और मुँहजोर भी है यह मालूम नही था ।"

"आपका है तो यह लीजिये, मगर......मै... ..!"

आगे वात मुँहसे न निकली, गला रुक गया और मै खिसयाना-सा चुपचाप अपने रूममें चला आया ।

जी हाँ, रूममें ? क्योंकि उन दिनों हम लोग कमरेको रूम, पेशाव को लघुशका, चूनको आटा और नौनको लवण कहा करते थे । यह सन् १९१८ की उन दिनोंकी वात है, जब मै चौरासी (मथुरा) में महासभाके महाविद्यालयमे पढता कम और खाता-खेलता अधिक था । उन दिनो महासभा और महाविद्यालयके महामंत्री स्वर्गीय सेठ जम्बूप्रसादजी सहारनपुरवाले थे ।

हाँ, तो यह झड़प प० उमरावसिहजी न्यायतीर्थसे हुई जो स्याद्वाद विद्यालय काशीसे त्यागपत्र देकर यहाँ प्रधानाध्यापक होकर उसी रोज आये थे और विद्यालयके दफ्तरमे ही ठहरे हुए थे। विद्यार्थियों ओर पुस्तकालय आदिकी डाक सभी दफ़्तरमे रखी रहती थी और यहीसे सव अपनी-अपनी डाक ले जाते थे। मै हस्वमामूल रोजानाकी तरह गया और पण्डितजी वाला अखबार पुस्तकालयका समझकर उठाकर चल दिया। इसी तनिक-सी वातपर पण्डितजी विगड़ गये।

रूममे आकर मुँह लपेटकर चारपाईपर पड़ गया। सोचा, शकुन तो अच्छा नही हुआ। गुरुदेवसे परिचय भी हुआ तो किस बुरी सायत में। मेरे सम्बन्धमें न जाने कैसी धारणा उनके मनमे वैठ जायेगी? और इन लक्खनो गुरु-शिष्यकी क्या ख़ाक पटरी वैठेगी? यह तो अच्छे ख़ासे शक्की और विगडैल मालूम होते है। तव जो इतनी प्रशंसा सुनी थी, वह क्या ढोलमे पोल ही रही। दो-तीन आनेके अख़वारपर जब यह हाल है तो आगे तो भगवान् ही ख़ैर करे। तब क्या इन्हे भी औरोंकी तरह वोरिया-विस्तर वॉधकर जाना पडेगा! आसार तो कुछ ऐसे ही नजर आते है। जब मेरे ही साथ इनका ऐसा वरताव है—जो इनकी नियुक्तिकी वात सुनकर फूला नही समाया था और आनेकी वाट वडी उत्सुकतासे जोह रहा था और विद्यालयकी कुव्यवस्थाके दूर होनेके अनेक कल्पित चित्र अपने मस्तिष्कमे वना चुका था—तव उन लडकोंके साथ पटरी कैसे वैठेगी जो इनकी नियुक्तिसे प्रसन्न नही है।

क्लासमे पढाने आते तो किसी न किसी पाठपर चोरी, झूट, माया-चारी, आदिको लेकर व्याख्यान झाडने लगते और वह सब मुझको लक्ष्य करके। मै मन ही मनमे आकुल हो उटता, शर्मसे गड-सा जाता, मगर उन्हे दया नही आती। शुक्र इतना ही था कि सहपाठियोंको यह आभास न हो सका कि गुरुजीका लक्ष्य इस गरीवकी ओर है। वे इसे गुरुजीकी एक आदत-सी समझने लगे। यह सव मुझे लक्ष्य करके नित नया उपदेश दिया जाता है, इसका आभास होना भी असंभव था। क्योकि ज्ञानकी

न्यूनता मुझमें रही हो, पर श्रद्धा और चारित्र तो आयुके हिसाबसे उन दिनों आवश्यकता-से-अधिक ही प्रतीत होते थे।

दिनमें तीन बार सामायिक, अष्टमी चतुर्दशीको एकाशना, २०-२५ पृष्ठ स्वाध्याय, प्रायः दैनिक पूजन, मौन भोजन करना, लेशमात्र भी झूठा न छोड़ना एक आदत-सी बन गई थी। चोरी आदिकी कुटेव कभी थी ही नही। सहपाठियोंसे भी बहुत स्नेहपूर्ण और मधुर सम्बन्ध थे। क्लासमें सर्वश्रेष्ठ नही तो घटियल भी नही था। ऐसी स्थितिमें गुरुजी का लक्ष्य मेरी ही ओर है, यह कोई कैसे ताड़ सकता था। पर, मेरी स्थिति बड़ी दयनीय थी। हर वक्त भय लगा रहता था कि सहपाठियोको जिस दिन पता चला कि सब घृणा करने लगेंगे। विद्यालयमें यों कब तक रहना हो सकेगा। घरवाले भी क्या कहेंगे !

धीरे-धीरे गुरुजी मुझसे अपना व्यक्तिगत कार्य कराने लगे। कभी अपने कमरेमेसे पुस्तक मँगवाते, कभी सन्दूकसे कपड़ा निकलवाते और रुपये उनके इधर-उधर पड़े रहते। जान-जानकर ऐसा कार्य बताते कि रुपये मेरी आँखोसे निकल जाएँ। मै कुछ भी इस तथ्यको न समझता और अत्यन्त श्रद्धा भावसे उनके आदेशका पालन करता। पूरी लगनसे मै उनकी सेवाके लिए तत्पर रहता। शनैः-शनैः उनका विश्वास और स्नेह इतना पा लिया कि वे मुझे पुत्रवत् प्यार करने लगे।

वे मेरठ जिलेके रहनेवाले थे। प० गोपालदासजी वरैयाके सुयोग्य और स्नेहपात्र शिष्य थे। उनका अत्यन्त श्रद्धा और भक्तिभावसे बखान किया करते थे। उनकी सौम्य मुखाकृतिपर धवल वस्त्र खूब खिलते थे। चूड़ीदार पायजामेपर अचकन और गोलेदार गुलाबी पगड़ी देखते ही बनती थी। सरल और सादे स्वभावके थे। संयम, सन्तोष और सौजन्य की मूर्ति थे। उन्हे किसी दलसे सरोकार न था। जैनधर्मके प्रति श्रद्धा उनके रोम-रोममें थी। प्रवचन करते-करते विदेह-से होने लगते थे और जब सम्हलते तो गीले-गीलेसे मालूम होते थे। एक बार सामायिकमे ऐसे लीन हुए कि कई फर्लांग सुनाई देनेवाली विद्यार्थियोंकी प्रातःकालीन

प्रार्थना तकका आभास न हुआ। व्यक्तित्व उनका आकर्षक और प्रभाव-शाली था। दिनमें केवल एक वार भोजन करते थे और संध्याको अक्सर गन्ना चूसकर रह जाते थे। उन्हींसे मालूम हुआ कि पहले वे काफी खाते थे, पर पूज्य वावा भागीरथदास वर्णीके उपदेशसे प्रभावित होकर संयमी जीवन रख सकनेमें समर्थ हो सके थे। उनकी पहली शादी करनेमें किसी तरह घरवाले कामयाव हो गये थे। विवाहके थोडे ही दिन वाद पत्नी मरी तो फिर विवाहको राजी न हुए। घरवालोने एक दफ़ा घेर भी लिया मगर वे ऐन मौकेपर भाग निकले। वडे दयालु स्वभावके थे; तनिक-सी ठेससे दु.खित हो उठते थे।

मेरी नन्दसाल (कोसी), चौरासीसे केवल २४ मील दूर थी। मामाजीका अपना रईसी इक्का था। उसीपर १५-२० रोजमे कभी मामा-मामी, कभी माॅ और नानी मुझे देखने आया करते थे और नाश्ता वगैरह दे जाते थे। गुरुजी तव नये-नये आये थे। इन्होंने कभी उन्हे देखा न था। तभी एक रोज माॅ और नानी इक्केपर आई। लेकिन इक्केको उसी रोज फिर २४ मील वापिस जाना था। इसलिए नानी-माँ वाहर सडकपर ही इक्का वापिस करके सरपर ही गठरी-उठरी रखे मेरे रूमकी तरफ उतावलीसे वढी जा रही थी कि गुरुजीने देख लिया। दर्याफ्त करनेपर मालूम हुआ कि अजुध्याकी माॅ और नानी है तो मुझे वुलाया और वक्समेसे रुपये निकाल लेनेको कहा! पहले तो मैं कुछ समझ न सका; फिर समझनेपर मैंने वास्तविक वात वताई तो भरे हुए गलेसे वोले—"वेटे! मै भी कैसा मूर्ख हूँ; उनको नंगे पाॅव सामान लिये इस तरह जाते देख मेरा जी भर आया कि वेचारी कितनी गरीव हैं कि किराये-को भी पास पैसा नही। तुम भी अपने मनमे क्या सोचते होगे!"

गुरुजीके इस सद्‌व्यवहारका मेरे जीवनमे काफी प्रभाव पड़ा।

सन् १९१९ के लगभग विद्यार्थियोकी ओरसे हस्तलिखित अर्द्ध-साप्ताहिक 'ज्ञानवर्द्धक' पत्र निकाला गया। इसे भाई सुन्दरलालजी (जो आजकल दमोहमे अपना औषधालय चलाते है) सुन्दर अक्षरोमें लिखते

थे, मैं और मथुरादासजी (बी० ए०, न्यायतीर्थ) सम्पादन करते थे। इस पत्रमें विद्यालयकी अव्यवस्था तथा सामाजिक, राजनैतिक टिप्पणियाँ भी रहती थी। इसी पत्रमे विद्यालयके तत्कालीन अधिष्ठाताकी निरंकुशता, विद्यार्थियोंके सत्याग्रह तथा पं० अर्जुनलालजी सेठीपर लगाई गई पावन्दियोपर तीव्र टीकाएँ की गई थी।

'ज्ञानवर्द्धक' को गुरुजी भी अवश्य देखते थे। एक रोज वुलाया और बोले :—"बेटा! तू अपनी जिदसे वाज नही आयगा।" मैं कुछ भी न समझ सका, सकपकाकर चुपचाप खडा रहा। वे ही बोले—

"हम ज्ञानवर्द्धकके लेखों और सभा आदिकी कार्यवाहीसे अत्यन्त प्रसन्न हैं। हम नहीं चाहते थे कि अपनी प्रसन्नता तुझपर प्रकट करे, परन्तु तूँने उसे प्रकट करा ही लिया! तू इनाम लिए वगैर नही मानेगा। अच्छा बोल क्या इनाम लेना चाहता है?"

मैंने चट झुककर उनके चरण छुए तो गद्गद कण्ठसे बोले—"तू अव विद्यालयमे अपना जीवन नष्ट मत कर! जा तुझे लिखने और बोलनेका वरदान दिया!"

मैंने यह आशीर्वाद सुना तो फिर झुककर पग-धूल ली और सब कुछ पाकर अपने कमरेमें जा बैठा। इस निधि-प्राप्तिकी बात कंजूसकी तरह अव तक छिपाये रहा हूँ।

मै स्वयं अपने अहंकार और प्रमादके कारण गुरुजीके वरदानका मूल्य नहीं समझ पाया। यदि प्रयत्न करता रहता तो गुरुजीका वरदान मेरे लिए कल्पवृक्ष सिद्ध हुआ होता। फिर भी आजतक जो कुछ समाज-सेवा, भाषण या लेखोसे कर पाया हूँ, यह सब गुरुजीकी देन है, इसके लिए मेरा रोम-रोम उनका ऋणी है।

उसी वर्ष (अप्रैल १९१९ में) अनायास विद्यालय छोड़नेका अवसर भी आ गया। रौलट एक्टके विरोध-स्वरूप महात्मा गांधीके आदेशसे समस्त भारतमें आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। हम लोगोंनें भी व्रत रखा। उसमे प्रमुख विद्यार्थियोंके विद्यालय न जाकर सभाका आयोजन किया। उसमे प्रमुख विद्यार्थियोंके

गरमागरम भाषण हुए और शामको मथुराकी वृहत् सभामे सम्मिलित हुए। इन सभी कार्योमें समस्त छात्र सम्मिलित हुए। विद्यार्थियोका यह सगठन, अधिकारीवर्गको रुचिकर नही हुआ। इधर हम लोग विद्यालयकी अव्यवस्थासे काफी परेशान रहते थे। ५-६ माहसे केवल अरहर की दालसे दोनो वक्त रूखी रोटियाँ खाते-खाते मतली-सी आने लगी थी। उस वक्तके अधिष्ठाताकी निरकुशता, और अकर्मण्यताका यह हाल था कि विद्यार्थी तो विद्यार्थी अध्यापकवर्ग तक परेशान थे। उधर गुरुजी, विद्यालय छोड़कर ब्रह्मचारी हो गये थे।

अब विद्यालयमे अध्ययनका कोई आकर्षण नही रह गया था। अत. हम लोग गर्मियोकी छुट्टियोमे वहाँसे मुक्त हुए तो फिर जानेका नाम नही लिया और वह विद्यालय फिर चौरासीसे गुरुजी जयपुर पहुँचा आये।

गुरुजी दीक्षा लेकर काशीसे अहिसा-प्रचार करने लगे। इधर मैं सन् २० मे दिल्ली चला आया। तभी आप दिल्ली किसी कार्यवश पधारे और मुझे "अहिसा" पत्रमे कार्य करनेके लिए काफी उत्साहित किया, परन्तु भूआजीने स्वीकृति नही दी और अनेक अनुनय-विनय करके उन्होने मुझे दिल्ली ही रहनेकी गुरुजीसे स्वीकृति ले ली।

उन्होने अल्प समयमे ही अहिसा सभा और पत्र द्वारा काफी कार्य किया। यदि उनका असमयमे ही स्वर्गवास न हुआ होता तो वे भी समाज के लिए ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी सरीखे कर्मवीर सिद्ध हुए होते।

—वीर, १ मार्च १९४७

मेरे गुरु

पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

१९१५ ई० की भाद्रपद मासकी कृष्णा चतुर्थीको मैंने अपने भाई के साथ स्याद्वाद विद्यालयके सुन्दर सुविस्तृत भवनमें पदार्पण किया। उस समय पं० उमरावसिहजी धर्माध्यापक और सुपरिण्टेण्डेण्ट थे। जाते ही उनसे भेंट हुई। उन्होंने मुझे सिरसे पैर तक देखा और मेरा म्लान मुख देखकर हँस पड़े। वे—जैसा कि मुझे आगे चलकर मालूम हुआ—फूलसे भी कोमल और पत्थरसे भी कड़े थे। उनकी कर्तव्य-निष्ठा अद्भुत थी। एक बार जिस कार्यको करनेका संकल्प कर लेते थे, उसे करके ही छोड़ते थे। उनकी एकान्त कर्तव्यनिष्ठाने ही उनके जीवनमें कई बार दुःखद प्रसंग उपस्थित किये—जैसा कि मैं आगे लिखूंगा।

सामाजिक संस्थाओके संचालनके लिए अधिकारियोंकी नही—निस्स्वार्थ सेवकोकी आवश्यकता है। शिक्षासंस्थाओके जीवन-स्वरूप छात्रोके लिए शासककी नही, कर्तव्यनिष्ठ पितृतुल्य गुरुकी आवश्यकता है। पं० उमरावसिंहजीमे दोनों गुण मौजूद थे, वे निस्स्वार्थ सेवक भी थे और कर्तव्यनिष्ठ गुरु भी। उन्होंने अपने जीवनके थोड़े-से कार्यकालमें जो कुछ किया, वह जैन-संस्थाओंके इतिहासमे सर्वदा स्मरणीय रहेगा।

संस्थाओंके लिए लक्ष्मीपुत्रोकी जेवसे रुपया निकलवा लेना कितनी टेढ़ी खीर है? इसका उत्तर भुक्तभोगी ही दे सकते है; किन्तु स्याद्वाद-विद्यालयमे जो धनिक जैन पधारते थे, उनमेसे बिरले ही अपनी भरी पाकेट लेकर लौटते थे। जिस दिन मैं विद्यालयमे प्रविष्ट हुआ, उसी दिन छपराके सेठ केदारमल दत्तूमलने एक हजार रुपया ध्रौव्यकोष में दान दिया था। यह सब पं० उमरावसिंहकी कर्त्तव्य-निष्ठाका सुफल था। विद्यालयमें प्रविष्ट हुए, मुझे तीन दिन बीत चुके थे। ये तीन दिन मुझे तीन वर्षसे भी अधिक लम्बे मालूम पड़े। घरकी अविकल स्मृतिने

मुझे विकल कर रक्खा था। भूख और प्यास हवा हो गई थी। मेरे भाई अभी ठहरे हुए थे। वे जब-जब घर जानेका नाम लेते थे, मेरी आँखो के आगे विस्तृत अन्धकार छा जाता था, जिसमें अपने उद्धारका मुझे कोई मार्ग नही सूझ पड़ता था। आखिर दूसरा उपाय न देखकर, मुझे उनसे अपने साथ घर लौटा ले जानेका अनुरोध करना पड़ा, किन्तु वे किसी तरह मेरे प्रस्तावसे सहमत न हो सके। अन्तमें, मेरे शोकाश्रुपूर्ण म्लान मुखने मेरे सहोदरके स्नेही हृदयपर विजय पाई। वे मुझे घर ले चलनेके लिए सहमत हो गये। घर पहुँचनेकी कल्पनासे मेरे सुस्त शरीरमे उत्साह की विजली-सी दौड़ गई। हृदय आनन्दसे नाच उठा, मानो—जन्मके अन्धेको दो आँखें मिल गई। अव हम दोनो भाई विद्यालयके अधिकारियो तथा विद्यार्थियोकी आँखोसे वचकर वहाँसे निकल भागनेका उपाय सोचने लगे। अन्तमें वहुत देर दिमाग लड़ानेके बाद, सन्ध्याको विद्यालयकी प्रार्थना के वाद भाग चलनेका प्रोग्राम तय किया गया। कारण, प्रार्थनाके समय छात्रोंकी हाजिरी ली जाती थी और उस समय पं० उमरावसिंहजी स्वय उपस्थित रहते थे। अतः हम लोगोको आशा थी कि प्रार्थनामें उपस्थित रहनेसे अधिकारी हमारी ओरसे निश्चिन्त हो जायेंगे और फिर रातभर कोई खवर न लेगा।

सन्ध्या आई, प्रार्थनाके वाद मेरे भाई अपना 'वोरिया' 'वँधना' उठाकर विद्यालयसे रवाना हुए। आँख वचाकर, उछलते हुए हृदयसे उनके पीछे-पीछे मै भी 'एक, दो, तीन' हो गया। अभी हम विद्यालयके फाटकसे कुछ ही पग जाने पाये थे कि, मार्गमें एक 'यमदूत' से भेंट हो गई। स्यात् मेरी भावभंगीसे उसे मुझपर कुछ शक हुआ और उसने तुरन्त पूछा— "कहाँ जा रहे हो?" मै कुछ सकपकाया, किन्तु मामला विगड़ते देखकर फ़ौरन उत्तर दिया—"भाईको पहुँचाने जा रहे है।" काम वन गया। हम लोग आगे बढे और तेज-सा इक्का किराये करके स्टेशनपर पहुँच ही तो गये। वहाँ कुलियोसे पूछनेपर मालूम हुआ कि, रातमें कोई भी गाड़ी पश्चिमकी ओर नही जाती। वना-वनाया खेल बिगड़ता देखकर

मै फिर अधीर हो उठा, किन्तु सन्तोषके सिवा उस अधीरताका दूसरा इलाज भी तो नही था। लाचार होकर, मुसाफिरखानेमे एक ओरको बिस्तर बिछाकर मै अपने भाईके साथ लेट गया। भाई तो लेटते ही कुम्भ-कर्णसे बाजी जीतनेकी तैयारी करने लगे और चिन्ताओके आघात-प्रतिघातसे क्लान्तहृदय मै भी करुणामयी निद्रादेवीका आह्वान करने लगा। वे आई अवश्य, किन्तु कुछ अनमनी-सी होकर। अचानक किसीके पुकारने-का शब्द सुनकर मेरी तन्द्रा भंग हो गई। भाई भी जाग गये। मैंने धड़कते हुए हृदयसे आँख खोलकर देखा तो मुँहसे एक हलकी-सी बेबसीकी चीख निकल गई। पं० उमरावसिहजीके दो 'यमदूत' मुझे सशरीर पकड़नेके लिए मुँह बाये खड़े थे। उन्होने आगा देखा न पीछा, झटसे मुझे पकड़ ही तो लिया और इक्केमे सवार कराके विद्यालय ले चले। दूर ही से अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे मेरे प्रिय भाईने मुझे विदा किया। लगभग १५ दिन तक मेरा चित्त विक्षिप्त रहा। इस बीचमे जब कभी मै अधिक उद्विग्न हो जाता था तो पण्डितजी अपने पास बैठाकर 'मर्यादा' और 'सर-स्वती' की फाइलोके चित्रोसे मेरा अनुरंजन करते थे।

यदि पं० उमरावसिह उस समय मेरी ओरसे उदासीन हो जाते और मुझे मेरे भाईके साथ भाग जानेका अवसर दे देते तो आज मेरे प्रारंभिक जीवनकी यह घटना मेरे ही अन्तस्तलके स्मृति-मन्दिरमे विलीन हो जाती। शिक्षासंस्थाओके कर्ता-हर्ताओंमेंसे कितने माईके लाल पं० उमरावसिहकी तरह अपने कर्तव्यका पालन करते है?

× × ×

आर्यसमाजके विख्यात गुरुकुल कांगड़ीके वार्षिक समारोहपर प्रतिवर्ष 'सर्वधर्मसम्मेलन' की आयोजना की जाती है। उस वर्ष जैन-धर्मकी ओरसे निबन्ध पढ़नेके लिए पं० उमरावसिहजी उसमें सम्मिलित हुए थे। जिन्हें आर्यसमाजकी शिक्षा-संस्थाओंको—खासकर गुरुकुल कांगड़ीको—देखनेका सुअवसर प्राप्त हुआ है, वे बतला सकते हैं कि उनकी कार्यप्रणाली कितनी आकर्षक और उपयोगी होती है? उनके

विद्यार्थियोका शारीरिक, मानसिक और नैतिक वल स्पर्द्धाके योग्य होता है। प० उमरावसिहजीने वह सव देखा, उनके हृदयपर वहांकी शिक्षा-प्रणालीका वहुत कुछ असर पडा और वे वहुतसे मनसूवे बाँधकर वहाँसे वनारस लौटे। विद्यालयको साप्ताहिक सभाओमें अक्सर उनके भापण होते थे, उनमे उनकी आन्तरिक भावनाओका स्पष्ट निर्देश पाया जाता था, विद्यार्थियोके प्रति उनका जितना अनुराग था, विद्यार्थियोका भी उनके प्रति उससे कम अनुराग नही था। सन् १९१६ के मध्यमें जव प्रवन्धकारिणी समितिके अधिकारी और पण्डितजीके वीचमे लम्वा झगड़ा हुआ था, तव विद्यार्थियोने उनका खूव साथ दिया था, किन्तु इस घटना के कुछ ही समय वाद समयने पलटा खाया और विद्यार्थीमडल उनसे इतना नाराज हो गया कि उस व्यवहारसे दुखी होकर उन्हे काशी छोड़नी पडी।

प० उमरावसिह विद्यार्थियोके सच्चे हितैषी थे, इसमे तो कोई शक नही। आजकलके अभिभावकोमें जिस वातकी कमी पाई जाती है, वह उनमें कूट-कूटकर भरी थी। विद्यार्थियोके आचरणपर उनकी कड़ी निगाह रहती थी। रात्रिमें वे स्वयं छात्राश्रमका चक्कर लगाते थे। इतना ही नही, इस कार्यके लिए गुप्त रूपसे उन्होने कुछ विद्यार्थी भी नियुक्त कर रखे थे—जो समय-समयपर उन्हे ऐसी सूचनाएँ देते थे। उनकी इस सतर्क दृष्टि और कार्यप्रणालीने विद्यार्थियोमें असन्तोषका भाव उत्पन्न कर दिया था। नीतिकारोका मत है कि 'सोलहवें वर्पमे पदार्पण करते ही पुत्रके साथ मित्रका-सा व्यवहार करना चाहिए।' पं० उमरावसिहजी ने इस नीतिकी सर्वथा उपेक्षा की—छोटे और वड़ेके भेदको भुलाकर उन्होने सवके साथ एक-सा ही व्यवहार रक्खा। उनकी रीति उस डाक्टरके समान थी जो रोगीकी नाड़ी देखे विना ही उसपर औषधिका प्रयोग करता जाता है।

अष्टमी या पड़वाका दिन था। विद्यालयकी छुट्टी थी। उस रोज पं० उमरावसिहजीकी ओरसे एक सूचना इस आशयकी प्रकाशित हुई कि आज दोपहरको सभा होगी; कोई विद्यार्थी शहर न जाय।

न मालूम क्यों ? इस सूचनाने आगमें घीका काम किया ! जगह-जगह विद्यार्थियोंकी गोष्ठी होने लगी। कुछ विद्यार्थी सूचनाकी उपेक्षा करके बाजार भी चले गये। नियत समयपर सभा हुई। विद्यार्थियोने अपने व्याख्यानोंके द्वारा पण्डितजीपर खूब ही वाग्वाण चलाये। अन्तमें दुखी मन और खिन्न वदनसे पण्डितजीने भी कुछ कहा। सभा भंग हुई, पण्डितजी-ने विद्यालय छोड़नेका पक्का इरादा कर लिया। छात्रोने सुना तो 'सन्न' रह गये। उन्हें इस दुष्परिणामकी आशा न थी। छात्रोंकी ओरसे कुछ प्रतिनिधि अनुनय-विनय करनेके लिए पण्डितजीके पास गये, किन्तु सब व्यर्थ। उन्होंने कहा—"जिनकी सेवाके लिए मैं यहाँ रहता हूँ उन्हें जब मेरी सेवा ही स्वीकार नही तो मेरा रहना निष्फल है।"

पं० उमरावसिहजी अपने तथा अपने छोटे भाईके खर्चके लिए विद्या-लयसे केवल २५ रु० मासिक लेते थे। उक्त घटनाने उनके इस अवैतनिक समाजसेवाके भावको भी गहरा धक्का पहुँचाया। उन्होने संकल्प किया कि अब मैं पूरा वेतन लेकर ही समाजसेवाका कार्य करूँगा। मेरी समझ-के अनुसार यह पण्डितजीका नैतिक पतन था। विपत्तियाँ ही मनुष्यताकी कसौटी हैं। विपत्तिमें भी जो अपने विचारोंपर दृढ़ रहता है, वही सच्चा मनुष्य है। अस्तु, उन्होंने स्याद्वाद विद्यालयसे अपना पुराना नाता तोड़ दिया और ७० रु० मासिकपर भारतवर्षीय दि० जैन महाविद्यालयके प्रधानाध्यापक होकर चौरासी—मथुरा चले गये। उन्हें मथुरामे कार्य करते हुए अभी कुछ मास ही बीते थे कि उनके सप्तम प्रतिमा धारण करनेके समाचार मैंने पत्रोमे पढ़े। लोगोने देखा कि, पं० उमरावसिह अपने योग्य वेष 'सप्तमप्रतिमा' और सार्थक नाम 'ज्ञानानन्द' को धारण करके दूने उत्साहसे कार्यक्षेत्रमे उतरे हैं।

सप्तमप्रतिमा उनका योग्य वेष कैसे थी ? इस प्रश्नके समाधानके लिए उनके प्रारम्भिक जीवनकी एक घटनाका उल्लेख करना आवश्यक है, जो पाठ पढ़ाते समय उन्होने एक वार स्वयं वतलाई थी। १९ वर्षकी अवस्थामें उनकी सहधर्मिणीका शरीरान्त हो गया। घरवालोंने दूसरा

बिवाह करना चाहा तो छिपकर काशी या मोरेना विद्याध्ययनके लिए जा पहुँचे और शायद फिर घर नही गये। यह तो हुई उनकी स्त्री-विरक्तिकी बात, अब सादगीका भी हाल सुन लीजिये। उनके कोटके बटन खो गये थे या टूट गये थे। वे बाजारसे नये बटन खरीदकर लाये थे। बटन फैशनेबुल तो न थे, पर थोडे चमकदार अवश्य थे। किसीने अचानक टोक दिया "पण्डितजी, बटन तो बड़े बढिया लाये हो।" पण्डितजीने उसी समय उन बटनोका परित्याग कर दिया। अपने फैशनेबुल रंगढंगके कारण एक बार इन पंक्तियोके लेखकको भी उनका कोपभाजन बनना पड़ा था। मेरे स्नेही पिताजीने मुझे एक बढिया विलायती डोरियाका कुर्ता सिला दिया था। वह कम्बख्त कुर्ता एक दिन मैला हो गया और उसे धोबीका मेहमान बनना पडा। धोबी कुर्ता तो धोकर ले आया, किन्तु धुलाईमें झगडा करने लगा। बात पण्डितजीके कानो तक पहुँची या कम्बख्ती का मारा मै ही ले गया। कुर्तेको देखते ही भड़क उठे और बोले, "ऐसा बढिया कुर्ता क्यो सिलाकर लाया है ?" जान बचाना मुश्किल हो गया। ऐसे सादगी-पसन्द और स्त्री-विरक्तोके लिए 'सयम सोपान' नही है तो क्या 'नार मई घर सम्पति नासी' वालोके लिए है ?

ज्ञानानन्द ! सचमुच वे कार्यत ज्ञानानन्द थे। रातदिन ज्ञानाभ्यास करते रहते थे। उनके रात्रिमे अध्ययन करनेसे मुझे बडी चिढ थी। बात यह थी कि उन दिनो मुझे खूब नीद आती थी और इसलिए जो खूब सोते थे तथा मुझे सोनेमे सहायता देते थे, वे मेरे अत्यन्त स्नेहभाजन थे, किन्तु जो न स्वय सोते थे और न दूसरोको सोने देते थे, जैसे कि प० उमरावसिह, वे मेरे आन्तरिक कोपके ही नही, बल्कि घृणाके भी पात्र थे। रात्रिमें जब कभी मेरी नीद खुल जाती और मै उन्हें पढते हुए देखता तो मुझे उनकी इस बेवकूफ़ीपर हँसी आये बिना न रहती। मै सोचता--"यह कितने बेवकूफ है जो इतना पढलिखकर भी इस सुहावनी रातमें जो केवल सोनेके लिए ही बनाई गई है, पुस्तकोमें सिर खपाते है। जब मै इतना पढ जाऊँगा तो सोनेके सिवाय दूसरे कामको हाथ भी न लगाऊँगा।" मै और भी सोचता--

"अमीर-उमराव तो लम्बी तानकर सोते है। यह कैसे उमराव है जो रातो जगते है?" उनके 'उमरावसिंह' नामके प्रति मेरे शयन-प्रिय वालहृदयमें जो विद्रोह उत्पन्न हो गया था, वह तव शान्त हुआ, जव हमारे उदासीन पण्डितजीने अपने वेषके साथ ही साथ नाम भी वदल डाला और ब्रह्मचारी ज्ञानानन्दके नामसे ख्यात हुए।

उन दिनों भारतवर्षीय दि० जैन महासभाके आश्रित मथुरा महाविद्यालयकी आन्तरिक दशा वहुत शोचनीय थी। कई वर्ष योग्य अभिभावक निरीक्षकके अभावसे गृह-कलहने अपने पैर जमा लिये थे। अध्यापकोको समयपर वेतन भी न मिलता था। उमरावसिहजी जव ब्रह्मचारी हुए थे, उनका कई मासका वेतन विद्यालयपर अवशेष था। मथुराकी समाज और महासभाके अधिकारी दोनो ही उस ओरसे उदासीन हो गये थे। ब्र० ज्ञानानन्दजीने अपने अध्यापन-कालमें इस परिस्थितिको हृदयंगम किया। उन्हे यह लगा कि अव इस स्थानमें यह विद्यालय न चल सकेगा, यदि इसका जलवायु वदल दिया जाय तो शायद यह मृत्युके मुखसे वच जाय। ब्रह्मचारी होते ही उन्होंने अपना ध्यान उस ओर दिया। व्यावरके स्वर्गीय सेठ चम्पालालजी रानीवालोने कुछ आश्वासन दिया। डूवते हुएको तिनकेका सहारा मिला, ब्रह्मचारीजी वावा छोटेलालजी भरतपुरके सहयोगसे विद्यालयको चौरासी (मथुरा) से व्यावर ले गये। मथुरावालोंने वहुतेरी 'हाय-तोवा' की, महासभाके अधिकारियोका भी आसन डोल उठा, किन्तु कर्तव्यशील ब्रह्मचारीजीके सामने किसीकी भी न चली। व्यावरमे रानीवालोके वंशने विद्यालयको अपनी नशियांजीमें स्थान दिया और धीरे-धीरे घाटेका कुल भार अपने ऊपर ले लिया।

मथुरा महाविद्यालयका सुप्रवन्ध करनेके वाद ब्रह्मचारीजीकी दृष्टि श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुरकी ओर गई। उन दिनो ब्रह्मचर्याश्रम अपने शैशव-कालको समाप्त करके युवावस्थामे प्रवेश करनेकी तैयारी कर रहा था; किन्तु आश्रमके संस्थापक, संचालक, पोषक और रक्षक धीरे-धीरे एक-एक करके गृहकलह और मतभेदके शिकार वन चुके थे।

समाजका लाखो रुपया आश्रमके पोषणमे खर्च हो चुका था। गुरुकुल कागड़ीके जिस मनोहर आदर्शपर आश्रमकी स्थापना की गई थी, उसी उन्नत आदर्शपर मोहित होकर, उत्तर प्रान्तकी समाजने अपनी पूर्ण शक्तिसे आश्रमके पौदेको सीचा था। समाजमे आश्रमका शोर मचा, लोग अकलंक और निकलकके समान ब्रह्मचारी युवकोको देखनेके लिए तरस रहे थे, किन्तु—

"बहुत शोर सुनते थे पहलूमें दिलका,
जो चीरा तो एक क़तरये ख़ूं न निकला।"

समाजकी आशाओपर पानी फिर गया, टकटकी बाँधकर देखने वालोंने अपनी आँखे फेर ली, धनिकोने अपनी थैलीके मुँह बन्द कर दिये, आरम्भशूर सचालकोने अपना-अपना रास्ता नापा। हस्तिनापुरके बीहड़ स्थानमे सूखा बगीचा रह गया। हरे-भरे पौदोकी ख़ैर-ख़बर लेनेवाले बहुत मिल जाते है, सूखी हुई डालपर पक्षी भी बसेरा नही लेते, किन्तु जिनका काम ही है सूखोको हरा करना—हरे-भरोको सुखाना नही—वे पददलितोकी खोजमे रहते है। ब्रह्मचारी ज्ञानानन्दजी भी अपने स्वभावके अनुसार आश्रमको हरा-भरा करनेका उपाय सोचने लगे। मथुरा महाविद्यालयके लिए जिस औषधिकी व्यवस्था की गई थी, अनुभवी ब्रह्मचारीजीने आश्रमके लिए भी उसे ही उपयुक्त समझा और एक दिन समाजने समाचारपत्रोमे आश्रमके स्थानपरिवर्तनके समाचार पढ़े। आश्रम हस्तिनापुरसे उठकर जयपुर चला गया था। आश्रम जयपुर चला गया, किन्तु ब्यावरके रानीवालोकी तरह वहाँ उसे कोई अभिभावक मिल न सका। ब्रह्मचारीजी कुछ दिन तक अन्य सामाजिक कार्योमें व्यग्र रहकर बीमार पड़ गये। आश्रमने ज्यो-त्यो करके कुछ वर्ष विताये और ब्रह्मचारीजीका देहावसान होनेके बाद उसे जयपुर भी छोड़ना पड़ा। अब वह चौरासी (मथुरा) में अपना कालयापन कर रहा है।

मथुरा महाविद्यालय और आश्रमका पुनरुद्धार करनेके बाद ब्रह्मचारीजीकी दृष्टि अपने पुराने कार्यक्षेत्र बनारसकी ओर आकर्षित हुई और

सन् १९२० के चैत्रमासमे मैंने अपने साथियोके साथ पण्डित उमराव-सिहजीको ब्रह्मचारी ज्ञानानन्दजीके नवीन संस्करणके रूपमे पहली वार देखा। काशी संस्कृत विद्याका पुरातन केन्द्र है। हिन्दू-विश्वविद्यालयकी स्थापना हो जानेसे सर्वागीण शिक्षाका केन्द्र बन गया है। न यहाँ विद्वानो की कमी है और न पुस्तकालयों की. ज्ञानार्जन और ज्ञानप्रचारके प्रेमियोके लिए इससे उत्तम स्थान भारतवर्षमे नही है। जो ज्ञानानन्दी जीव एक वार उसके वातावरणका अनुभव कर लेता है, उसकी गुजर-वसर, फिर अन्यत्र नही हो पाती। समाजके प्रायः समस्त शिक्षालयोके वातावरणका अनुभव करनेके वाद भी ब्रह्मचारीजी अपने पूर्वस्थान वनारसको न भूल सके और कई शिक्षासस्थाओके संचालनका भार स्वीकार करने पर भी उन्होंने परित्यक्त वनारसको ही अपना कार्यक्षेत्र वनाया।

उन दिनो मध्यप्रदेशके रतौना गाँवमे स'कार एक कसाईखाना खोलनेका विचार कर रही थी, वहाँ प्रतिदिन कई हजार पशुओंके क़त्ल करनेका प्रबन्ध होने जा रहा था। इस वूचडखानेको लेकर अखवारी दुनियामे खूब आन्दोलन हो रहा था। स्थान-स्थानपर सरकारी मन्तव्यके विरोधमें सभा करके वाइसरायके पास तार भेजे जाते थे। रक्षावन्धनके दिन स्याद्वादविद्यालयमे भी सभा हुई। वूचड-खानेके विरोधमें पूज्य पण्डित गणेशप्रसादजी वर्णीका मर्मस्पर्शी भाषण हुआ। ब्रह्मचारी ज्ञानानन्दजीने वूचड़खाना स्थापित होनेके विरोधमें मीठे सेवनका त्याग किया और अहिसा धर्मका ससारमे प्रचार करनेके लिए एक अहिसाप्रचारिणी परिषद् स्थापित करनेकी योजना सुझाई।

मै पहले वता चुका हूँ कि ज्ञानानन्दजी किसी आवश्यक विचारको **'काल करै सो आज कर, आज करै सो अव'** सिद्धान्तके पक्के अनुयायी थे। अहिंसा-प्रचारकी प्रस्तावित योजनाको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिए उन्होंने कलकत्तेकी यात्रा की और दशलाक्षणी पर्व वहीं बिताया। कलकत्तेकी दानी समाजने उनका खूब सम्मान किया और ८००० रुपये के लगभग अहिंसा-प्रचारके लिए भेट किये। कलकत्तेसे

लौटते ही ब्रह्मचारीजी अपने काममे जुट गये। अखिल भारतीय अहिंसा प्रचारिणी परिषद्‌की स्थापना की गई और काशी नागरीप्रचारिणी समिति के भवनमें डा० भगवानदासजीके सभापतित्वमे उसका प्रथम अधिवेशन खूब धूमधामसे मनाया गया। जनतामें परिषद्‌के मन्तव्योंका प्रचार करनेके लिए 'अहिंसा' नामकी साप्ताहिक पत्रिका प्रकाशित की गई। उपदेशक भी घुमाये गये, अजैन जनताने भी परिषद्‌के कार्यमे अच्छा हाथ बटाया। अनेक रजवाडोने भी सहानुभूति प्रदर्शित की। बहुतसे अजैन रईस एक मुश्त सौ-सौ रुपये देकर परिषद्‌के आजीवन सदस्य बने ।

प्रारम्भमें अहिसाका प्रकाशन एक-दूसरे प्रेससे हुआ था। पीछे एक स्वतंत्र प्रेस खरीद लिया गया, जो अहिंसा प्रेसके नामसे ख्यात हुआ। प्राय अधिकाश मनुष्य आत्मप्रशंसाको जितनी चाहसे सुनते हैं, खरी आलोचनाको उतनी ही घृणासे देखते है, किन्तु ब्र० ज्ञानानन्दजीमें यह बात न थी, वे अपनी आलोचनाको भी बहुत सहानुभूतिके साथ सुनते थे। एक बार कुछ ऐसी ही घटना घटी। ब्रह्मचारीजीने अहिसा परिषद्‌के लिए कुछ लिफाफ़े और लेटर पेपर छपाये थे, जो बढिया थे। हमारी विद्यार्थी-मण्डलीने ब्रह्मचारीजीके इस कार्यको समाजके रुपयेका दुरुपयोग बतलाया था। यह बात ब्रह्मचारीजीके कानों तक पहुँची। अवसर देखकर एक दिन रात्रिके समय हमारी मण्डलीके मुखिया लोगोके सामने उन्होंने स्वयं आलोचनाकी चर्चा उठाई। उस समयका उनका प्रसन्न मुख आज भुलाने पर भी नही भूलता। बोलें—"मुझे प्रसन्नता है कि तुम लोग मेरे कार्योंकी भी आलोचना करते हो। मैंने बढ़िया कागजोकी छपाई-में व्यय अपना शौक पूरा करनेके लिए नही किया, किन्तु जमानेकी रफ़्तार-को देखते हुए राजा-रईसोके लिए किया है। हम लोग उनका उत्तर सुनकर कुछ सकुचा-से गये, किन्तु फिर कभी उस विषयपर आलोचना नही हुई।

जिन दिनो 'अहिसा' का प्रकाशन आरम्भ हुआ, उन दिनो भारतके राजनीतिक आकाशमें गाँधीकी आँधीका जोर बढ़ता जाता था। असहयोग आन्दोलनने भारतीयोमें पारस्परिक सहयोगका भाव उत्पन्न करके विदेशी

शासन-प्रणालीको विचलित कर दिया था। अदालतो, कौसिलों, सरकारी स्कूलोंका बायकाट प्रतिदिन जोर पकड़ता जाता था। मशीनगनोकी वर्षाके मुकाबलेपर भारतके राष्ट्रपत्र वाग्बाणोकी वर्षा कर रहे थे। घमासान युद्ध मचा हुआ था, किन्तु दुश्मनको मारनेके लिए नही, स्वय मरनेके लिए। रक्त लेनेके लिए नही, रक्त देनेके लिए। क्योकि अहिंसात्मक युद्ध मारना नहीं सिखाता है।

"जिसे मरना नहीं आया उसे जीना नहीं आता।"

इस परिस्थितिमें जन्म लेकर और राष्ट्रका तत्कालीन अस्त्र 'अहिंसा' का नाम धारण कर 'अहिंसा' राष्ट्रकी आवाजमें आवाज मिलानेसे कैसे पीछे रह सकता था, किन्तु उसकी आवाज राष्ट्रकी आवाजकी प्रतिध्वनि मात्र थी, उसने राष्ट्रिय पत्रोंकी बातको दोहराया बेशक, किन्तु कोई 'अपनी बात' न कही। इसका कारण जो कुछ भी रहा हो, परन्तु ब्र० ज्ञानानन्दजीके राष्ट्रप्रेमी होनेमें कोई सन्देह नही है। वे पक्के धर्मात्मा होनेपर भी जननी-जन्मभूमिकी व्यथाको भूले नही थे, राष्ट्रकी प्रत्येक प्रगतिपर उनकी कड़ी दृष्टि रहती थी और उसपर वे विचार भी करते थे।

उनकी आन्तरिक अभिलाषा थी कि प्रेसके कार्यमें अपने कुछ शिष्यो-को दक्ष कर दिया जाय और एक विशाल 'छापेखाने'का आयोजन किया जाय। इसलिए वे प्रतिदिन किसी न किसी छात्रको अपने साथ प्रेसमें ले जाते थे। एक दिन मुझे भी ले गये और 'अहिसा'के 'प्रूफ'—सशोधन-का कार्य मुझे सौपकर विश्राम करने लगे। 'प्रूफ' में किसी राष्ट्रिय पत्र-की प्रतिध्वनि थी—यदि मैं भूलता नही हूँ तो वह एक प्रहसन था, और शायद 'कर्मवीर' से नकल किया गया था। भारतके राजनैतिक मंचके सूत्रधार महात्मा गाँधी और अली बन्धु 'प्रहसन' के पात्र थे। 'प्रूफ' में उक्त प्रहसन अधूरा था और मैं उसके आदि और अन्तसे अपरिचित था। प्रूफपर दृष्टि पड़ते ही मुझे 'मौलाना' गाधी दिखाई दिये। मैं चकराया। आगे बढ़ा तो 'महात्मा' शौकतअलीपर नज़र पड़ी। अब

मैंने 'गांधी-अली' संवादपर दृष्टि डाली तो सब जगह एक-सी ही 'बेवकूफी देखी। संपूर्ण संवादमें गाधीके साथ 'मौलाना' और शौकतअलीके साथ 'महात्मा' शब्दका प्रयोग देखकर मेरा 'टेम्परेचर' भडक उठा और मुझे प्रेसके भूतोंकी वेअक़लीपर हँसी आ गई। आव देखा न ताव, कलम कुठार उठाकर 'मौलाना' और 'महात्मा' दोनोका शिरच्छेद कर डाला और नई रीतिसे गाधीके साथ महात्मा और शौक़तअलीके साथ 'मौलाना' शब्द जोड़ डाला। इस कार्यमें एक घंटेके लगभग लग गया। अब मैं प्रेसके भूतोकी वेवक़ूफी और अपनी बुद्धिमानीका सुसंवाद कहनेके लिए ब्रह्मचारीजीकी निद्रा भंग होनेकी प्रतीक्षा करने लगा। उनके उठते ही मैंने प्रूफ उनके सामने रक्खा। अभी मै कुछ कहने भी न पाया था कि ब्रह्मचारीजीके श्रीमुखसे मैंने अपने लिए वे शब्द सुने, जो कुछ देर पहले अपने दिल ही दिलमें, मै प्रेसके भूतोको कह चुका था। ब्रह्मचारीजीकी इस 'नाशुक्री' पर मुझे वडा खेद हुआ, किन्तु जब मुझे मालूम हुआ कि प्रहसन' में हिन्दू-मुसलिम एकताका 'प्रहसन' किया गया है तो मेरे देवता कूँच कर गये, और मै प्रेससे 'एक दो तीन' हो गया।

× × ×

'अहिसा परिषद्' और शिक्षासंस्थाओके संचालनमें ब्रह्मचारीजी इतने तल्लीन हुए कि शारीरिक स्वास्थ्यकी ओरसे एकदम उदासीन हो गये। कभी-कभी बुखार आ जानेपर भी दैनिक कार्य करना नही छोड़ा। जब रोग बढ गया तो चिकित्साके लिए बनारससे बाहर चले गये। ज्वर ने जीर्ण ज्वरका रूप धारण कर लिया, खांसी भी हो गई। यक्ष्माके लक्षण प्रकट होने लगे। फिर भी सामाजिक कार्योमें भाग लेना न छोड़ा। फरवरी १९२३ में देहलीमें जो पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ था, व्यावर विद्यालयके छात्रोके साथ उसमें वे सम्मिलित हुए थे और सेठके कूँचेकी धर्मशालामें ठहरे थे। मै अपने सहयोगियोके साथ उनसे मिलने गया। उस समय उन्हें ज्वर चढ रहा था और खाँसी भी परेशान कर रही थी। हम लोगोंकी आहट पाते ही उठकर वैठ गये और उसी स्वाभाविक मुस्कान-

के साथ हम लोगोंसे मिले। किसे खबर थी कि यह 'अन्तिम दर्शन' है? अफसोस!!! उसी वर्ष ग्रीष्मावकाशके समय अपने घरपर एक मित्र के पत्रसे मुझे ज्ञात हुआ कि ब्र० ज्ञानानन्दजीका देहावसान हो गया। पढकर मै स्तम्भित रह गया। रगोमें वहनेवाला खून जमने-सा लगा, मस्तक गर्म हो गया। अन्तमे अपनेको समझाया और उनकी सत्शिक्षा, सद्व्यवहार और कर्तव्यशीलताका स्मरण करके, स्वर्गगत हितैषीको श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

मनुष्य जब तक जीवित रहता है, तब तक उसके अत्यन्त निकट रहनेवाले व्यक्ति भी उसका महत्त्व समझनेकी कोशिश नही करते। मेरी भी यही दशा हुई, मैंने भी ब्रह्मचारीजीकी सत्शिक्षाओको सर्वदा उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा। आज जब वे नही है और पद-पदपर उनके ही सदुपदेशोका अनुसरण करना पड़ता है, तब अपनी अज्ञानतापर अत्यन्त पश्चात्ताप होता है।

—जैनदर्शन, १९४२

पण्डित
पन्नालाल
वाकलीवाल

जैनसमाजके विद्यासागर

श्री धन्यकुमार जैन

"एक काग़ज़ दीजिये न, किताबोंपर चढ़ाऊँगा ?"

"एक काग़ज़की क़ीमत दो पैसे है,–पैसे देकर ले सकते हो।"

"यों ही एक दे दीजिये न, बहुत-से तो हैं ?"

"इनका मैं मालिक नहीं, मैं तो बिना पैसेका नौकर हूँ।"

"तो मालिक कौन है, उनसे कहके दिलवा दीजिये न ?"

"मालिक तो सारा जैन-समाज है,–हम-तुम सभी मालिक हैं; पर लेनेके लिए नहीं, देनेके लिए।"

सन् १९१४-१५ की वात है। मैं तव स्याद्वादमहाविद्यालय काशीमे शिक्षा पा रहा था। मैंदागिनकी जैनधर्मशालाके फाटकके पास भारतीय जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्थाका कार्यालय था, जिसमें वैठे जैन-समाजके सुप्रसिद्ध शिक्षागुरु स्व० पं० पन्नालालजी वाकलीवाल पुस्तकें बाँध रहे थे। जिस समय उनसे मेरी उपर्युक्त वातचीत हुई थी, तव मैं नही जानता था कि मैं उन्हीसे वात कर रहा हूँ, जिनकी लिखी कई पुस्तकें मैं पढ़ चुका हूँ और 'मोक्षशास्त्र' आदि अव भी पढ़ रहा हूँ, जिनपर चढ़ानेके लिए क़ागज माँग रहा था। तव तो मुझे ऐसा लगा कि बुड्ढा बहुत कंजूस है और निर्दयी भी, कि जिसको मेरी विनीत प्रार्थना पर जरा भी दया नही आई। मुझमे तव इतनी समझ ही कहाँ थी कि उनके उन सीमित शब्दोंमें-अवैतनिक सामाजिक कार्यकर्ताओके उत्तरदायित्वका कितना जवरदस्त उपदेश है। वादमे तो लगभग दस-वारह वर्ष तक मुझे उनके निकट रहकर उक्त संस्थाकी सेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त रहा; और खूब अच्छी तरह समझ गया कि अवैतनिक कार्यकर्ता का आदर्श क्या होना चाहिए।

एक मैं ही नही, और भी अनेक ऐसे लेखक है, जिनके उत्साहका मूल स्रोत 'गुरु' जी थे। उन्होने अनेकोंको सामाजिक सेवाके लिए तैयार किया और जीवनकी अन्तिम घडी तक करते रहे।

गुरुजीके प्रारम्भिक जीवनके सम्बन्धमे भला मुझे क्या जानकारी हो सकती थी? हाँ, जब वे पुराने किस्से कहनेमे दिलचस्पी लेते थे, तब कुछ-कुछ मालूम होता रहता था। एक जमाना था, जब जैनग्रंथ छापने वालोको लोग घृणाकी दृष्टिसे देखा करते थे। गुरुजीने उस समय जैन ग्रथोका प्रकाशन करना प्रारम्भ कर दिया था। उनकी भावना थी कि जैन-समाजका बच्चा-बच्चा अपने धर्म-सिद्धान्तसे परिचित हो जाय। इसके लिए उन्होने बीसियो पाठ्य पुस्तके लिखी; और अन्त तक इस व्रतका वे लगन और उत्साहके साथ पालन करते रहे। मुझे उन्हीसे मालूम हुआ था कि कई पाठ्य पुस्तके उन्होने दूसरोके नामसे प्रकाशित करके उनका इस दिशामे उत्साह बढाया। 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय' उन्ही की स्थापना है। जिसने अपने प्रारम्भिक जीवनमे अच्छे-से-अच्छा जैन साहित्यका प्रकाशन किया।

श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीकी प्रतिभा देखकर उन्होने उन्हें जैनग्रथ-कार्यालयका साझीदार बना लिया था, और उनके भरोसे उस कार्यको छोड़कर वे उच्चतर प्रकाशन सस्था और विद्यालयोकी स्थापना आदि महत्त्वपूर्ण कार्योमे जुट पड़े थे।

श्री प्रेमीजीने अपनी एक पुस्तक समर्पण करते हुए गुरुजीके लिए जो कुछ लिखा है, उससे हम उनकी महानताका अनुमान कर सकते है; वे लिखते है—"जिनके अनुग्रह और उत्साहदानसे मेरी लेखनकलाकी ओर प्रवृत्ति हुई और जिनका आश्रय मेरे लिए कल्पवृक्ष हुआ, उन गुरुवर पं० पन्नालालजी वाकलीवालके करकमलोमे सादर समर्पित।"

सन् १९१८ तक जैनसमाजको उनकी कितनी सेवाएँ प्राप्त हुईं, इसका सिलसिलेवार वर्णन तो मैं नही कर सकता, पर इतना जरूर कह

सकता हूँ कि उनके जीवनका कोई भी क्षण जैनसमाजकी सेवाके सिवा उनके निजी कार्यमें नहीं लगा।

जब वे "जैनहितैषी" निकाला करते थे, तब निर्णयसागर प्रेससे उनका विशेष सम्बन्ध था। निर्णयसागर प्रेसके मालिकोंने उन्हीकी प्रेरणासे 'प्रमेयकमलमार्तण्ड', 'अष्टसहस्री', 'यशस्तिलकचम्पू' आदि अनेक जैनग्रंथ प्रकाशित किये थे, जिनका कि उस समय जैनसमाज द्वारा प्रकाशन होना असंभव-सा था।

बंगालमें जिनवाणी-प्रचार—

वनारससे 'भारतीय जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्था' को कलकत्ता ले गये थे कि वगाली विद्वानोसे मिल-जुलकर उन्हे भगवान् महावीरकी वाणीकी महत्ता सुझाये।

मुझे वे पचासोंवार पचासों बंगाली विद्वान्, संपादक और लेखकोके पास ले गये थे। उन्हे वे संस्कृत प्राकृतके जैन ग्रथ भेट किया करते थे; और इस तरह जिनवाणीकी ओर उनका मनोयोग खीचा करते थे। बँगला मासिकपत्रोमें सर्वश्री महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य, पं० हरिहर शास्त्री, वा० शरच्चन्द्र घोषाल, वा० हरिसत्य भट्टाचार्य्य, पं० चिन्ता-हरण चक्रवर्ती प्रमुख अनेक विद्वानोको उन्होने जैन-साहित्यकी ओर आक-षित किया था। वे वंगीय साहित्य-परिषद्के सभासद् रहे और वहाँ उन्होंने अनेक बंगाली लेखकोंकी जैनसाहित्यकी ओर रुचि बढाई। अन्तमें यह सिलसिला इतना वढ़ता गया कि उनके आसपास वंगाली विद्वानोका एक समूह-सा जम गया।

इसी समय उन्होने 'वगीय अहिसा परिषद्' की स्थापना की और उसकी तरफ़से 'जिनवाणी' नामक एक बँगला मासिकपत्रिका प्रकाशित की गई। अहिंसा-परिषद्का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो रहा था, जिसे स्व० रसिकमोहन विद्याभूषण आदि अनेक प्रभावशाली वंगाली विद्वान् लेखक और वक्ताओंका सहयोग प्राप्त था।

भारतीय जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्थाने जैनसिद्धान्तका महत्त्व-पूर्ण प्रकाशन किया; और आज भी, अगर स्व० गुरुजीके निर्देशानुसार ही उसका कार्य जारी रहता तो, और जैसी कि स्व० गुरुजीकी भावना थी, आज निस्सन्देह वह 'गीता प्रेस गोरखपुर' और 'कल्याण' जैसी आदर्श सस्था हुई होती। पर जैनसमाजका इतना सौभाग्य कहाँ, जो उसे अपने धर्मकी वास्तविकता समझनेका सुन्दर साहित्य उपलब्ध हो ?

मैने अपनी आँखोसे गुरुजीको कईवार इसलिए रोते हुए देखा है कि उक्त दोनो सस्थाएँ किसी योग्य, उत्साही और कर्मठ सेवकके हाथ सौप दी जाएँ, भले ही वह न्यायतीर्थादि उपाधिधारी न हों, पर उसमे लगन और जीवन खपा देनेकी भावना होनी चाहिए।

आज, वंगीय अहिसा परिषद् और बँगला 'जिनवाणी' का तो नामो-निशान तक मिट चुका है, और भारतीय जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्था जिससे गुरुजीका 'गीता प्रेस' का स्वप्न मूर्तिमान हो सकता था, कलकत्ते के किसी एक मकानमे पडी अपनी अन्तिम साँसे ले रही है।

काशीके स्याद्वादमहाविद्यालयकी स्थापना करनेमे भी आपका हाथ था। 'जैन-हितषी' पत्रके जन्मदाता भी आप ही थे। 'धर्मपरीक्षा' का अनुवाद, 'रत्नकरण्डश्रावकाचार', 'द्रव्यसंग्रह' और 'तत्त्वार्थसूत्र' की छात्रोपयोगी टीकाएँ, 'जैन-वाल-बोधक' (४ भाग) 'स्त्री शिक्षा' (२ भाग) आदि जैनधर्मकी पुस्तकोके सिवा हिन्दीकी सर्वोपयोगी पुस्तकें भी आपने लिखी है।

यह तो सन् १९१६–१७ तककी वात है। उसके वाद तो उनके द्वारा वहुत-सी पुस्तके लिखी गई; और अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। सच वात तो यह है कि जैन-समाज, समाज-सेवक और साहित्य-सेवियोका आदर करना जानती ही नही, अन्यथा जैन-समाजमे स्वर्गीय पं० पन्नालाल वाकलीवालका स्थान वही होता, जो वगालमे स्व० ईश्वरचंद्र विद्या-सागरका है। भावी जैनसमाजको धर्मज्ञानकी सच्ची शिक्षासे शिक्षित

देखनेकी दीपशिखावत् चिर-प्रज्वलित महान् भावनासे उन्होने जैन शिक्षालयोके लिए पाठ्य-साहित्यका निर्माण-यज्ञ प्रारम्भ किया था।

वह यज्ञ उनकी खुदकी दृष्टिमें अपूर्ण रह गया, यही उनका अन्त समयका पछतावा था, और दूसरा कल्पवृक्ष--जिसका बीज उन्होने भा० जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्थाके रूपमे बोया था, वह अपने यौवनकालमे ही क्षयरोगग्रस्त हो गया।

युक्ति-अयुक्ति और संभव-असंभवका विचार मै नही करना चाहता; मै तो चाहता हूँ कि आज जैन-समाजको कविवर पं० बनारसीदासजी, पंडितप्रवर टोडरमलजी, दीवान अमरचन्दजी और पं० पन्नालालबाकलीवाल जैसे महापुरुषोंकी आवश्यकता है; और उसकी पूर्ति हो जाय तो जैन-समाज जी जाय।

—दिगम्बर जैन,
दिसम्बर १९४३

पण्डित ऋषभदास

जन्म— चिलकाना, १८६३ ई०

स्वर्गवास— चिलकाना १८९२ ई०

गुदड़ीमें लाल

बाबू सूरजभानु वकील

सहारनपुरसे ६ मीलकी दूरीपर पं० ऋषभदासजी चिलकानेके रहनेवाले थे। इनके पिता पं० मंगलसैनजी जमीदार भी थे, बहुधाकर साहूकारी करते थे। पं० ऋषभदासजीका देहान्त उनकी २९ बरसकी उमरमें ही, शायद सन् १८९२ ई० मे या इसके करीव हो गया। उन्होंने चिलकानेमें ही किसी मुसलमान मियाँजीसे किसी मकतवमें या उर्दू स्कूलमें तीन-चार वर्ष पढ़कर सिर्फ कुछ थोड़ा-सा उर्दू लिखना-पढना सीखा था, जैसा कि उस जमानेमें हमारी तरफ़ दस्तूर था। हिन्दी लिखना-पढ़ना उन्होंने अपने पितासे ही सीखा, और फिर उन्हीके साथ स्वाध्याय करने लगे। इस स्वाध्यायसे ही वह ऐसे अद्वितीय विद्वान् हो गये कि जिसकी कुछ भी प्रशंसा नही की जा सकती है। आप बडे तीक्ष्ण-बुद्धि थे। न्याय और तर्कमें आपकी बुद्धि बहुत ही ज्यादा दौडती थी।

चिलकानेसे १४ मीलके फ़ासलेपर कस्वा नकुड है, जहाँका मै रहनेवाला हूँ। यहाँ पं० सन्तलालजी जैन, हिन्दी भाषा जाननेवाले जैन-धर्मके अच्छे विद्वान् रहते थे, वह भी बड़े तीक्ष्णबुद्धि थे और न्याय तथा तर्कके शौकीन थे। परीक्षामुख और प्रमाण-परीक्षाको खूब समझे हुए थे।

पं० ऋषभदासजीके यह बहुत ही नजदीकी रिश्तेदार थे। उन्हीकी संगतिसे पं० ऋषभदासजीको न्याय और तर्कका शौक हुआ। एकमात्र इस शौक़ दिलाने या प्रवेश करानेके कारण ही पं० ऋषभदासजी अपनेको पं० सन्तलालजीका शिष्य कहा करते थे। पं० मंगलसैनजीने अपने दोनों बेटोको अलग-अलग साहूकारीकी दूकान करा दी थी और स्वयं एक तीसरी दूकान साहूकारीकी करते थे।

सन् १८८६ ई० मे क़स्बे रामपुर जिला सहारनपुरके उत्सवमें मै भी गया और पं० ऋषभदासजी भी गये। मै उन दिनो सहारनपुरमें

अपने चाचा ला० बुलन्दराय वकीलके वकालतके इम्तिहानकी तैयारीके वास्ते रहता था। वे और उनके पिता रायसाहब मथुरादास इंजिनियर आर्यसमाजी थे। रामपुरके जैन उत्सवमें मेरे साथ बा० बुलन्दराय भी गये थे, वहाँ उन्होने जैन पण्डितोके साथ ईश्वरके कर्ता-अकर्ता होनेकी बहस उठाई। जब मैंने देखा कि जैन पण्डितोके उत्तरसे उनकी पूरी तसल्ली नही होती है, तब स्वयं मुझे ही उनके सन्मुख होना पडा और बेधडक तर्क-वितर्क करके उनको कायल कर दिया। इस समय तक मेरी और ऋषभदासजीकी कुछ जान-पहचान नही थी। क्योकि इससे पहले मेरा रहना परदेशमें ही होता रहा था। यह हमारी बहस प० ऋषभदासजीने बडे गौरसे सुनी, जिससे उनके हृदयमें मुझसे मित्रता करनेकी गहरी चाह हो गई। सभा विसर्जन होनेपर जब सब अपने-अपने डेरेपर वापिस जा रहे थे, प० ऋषभदासजी भी हमारे साथ हो लिये और बाबू बुलन्दराय-से इस विषयमें कुछ तर्क-वितर्क करना चाहा। अतः हम सब लोग रास्ते ही में एक जगह बैठ गये और ऋषभदासजीने नये-नये तर्क करके उनको बहुत ही ज्यादा कायल कर दिया, जिससे मेरे मनमें भी उनसे मित्रता करनेकी गहरी इच्छा हो गई। इस इच्छासे वे रात्रिको मेरे डेरेपर आये और हमारी उनकी घनिष्ठ मित्रता हो गई, जो अन्त तक रही। उनको अक्सर सहारनपुर आना पडता था। जब-जब वे आते थे, मुझसे ज़रूर मिलते थे और धार्मिक सिद्धान्तोपर घण्टो बातचीत होती रहती थी।

मेरे पितामहके भाई रायसाहब मथुरादास इजिनियरकी बहस ईश्वरके सृष्टिकर्ता विषयपर बहुत दिनोसे प० सन्तलालजीसे लिखित रूपसे चल रही थी। रायसाहब आर्यसमाजके बडे-बडे विद्वान् पण्डितोसे उत्तर लिखवाकर उनके पास भेजा करते थे। अन्तमें पं० सन्तलालजीने जो उत्तर दिया, वह बहुत ही गौरवका था, जिसका उत्तर लिखनेको राय-साहबने प० भीमसैनजीके पास भेजा जो आर्यसमाजमें सबसे मुख्य विद्वान् थे और स्वामी दयानन्दके बाद उनके स्थानमें अधिष्ठाता माने जाते थे। भीमसैनजीने अपने आर्यसमाजी विद्वान्के उस उत्तरको, जिसका प्रतिउत्तर

पं० सन्तलालजीने दिया था, दूषित बताकर स्वयं नवीन उत्तर लिखकर भेजा, जिससे यह बहस बिल्कुल ही नवीन रूपमें बना दी गई। इस समय पं० सन्तलालजीका देहान्त हो चुका था। इस कारण रायसाहबने भीमसैनजीका लिखा हुआ यह नवीन उत्तर वा नवीन तर्क मेरे पास भेजकर जैन पण्डितोंसे इसका उत्तर लिखकर भेजनेको बहुत दबाया।

रायसाहबका यह खयाल था कि पं० भीमसैनजी-जैसे महान् विद्वान्के इस नवीन तर्कका जवाब किसी भी जैन पण्डितसे नही दिया जावेगा। इस ही कारण उन्होंने बड़े गर्वके साथ मुझको लिखा था कि यदि तुम्हारे जैन पंडित इसका उत्तर न दे सके तो तुम जैनधर्मपरसे अपना श्रद्धान त्यागकर आर्यसमाजी हो जाओ।

मैने पं० भीमसैनजीकी इस बहसको सहारनपुरमें सब ही जैन विद्वानोंको दिखाया और इसका उत्तर लिखनेकी प्रार्थना की, परन्तु कोई भी इसका उत्तर लिखनेको तैयार नही हुआ। जब इस भारी लाचारीका जिक्र पं० ऋषभदासजीसे किया गया तो उन्होने कहा कि घबराओ मत इसका उत्तर मै लिख दूंगा, और छ. दिनोंके बाद उन्होने उसका उत्तर लिखकर मेरे पास भेज दिया और वह मैंने रायसाहबके पास भेज दिया, जिसको पढ़कर रायसाहब और उनके आर्यसमाजी विद्वान् ऐसे कायल हुए कि फिर आगे इस बहसको चलानेकी उनकी हिम्मत नही हुई और बहस बन्द कर दी गई। इन ही दिनों पं० चुन्नीलाल और मुशी मुकुन्दराय मुरादाबाद-निवासी दो महान् जैन परोपकारी विद्वान् सारे हिन्दुस्तान मे जैन जातिकी उन्नति और उत्थानके वास्ते दौरा करते फिरते थे। जहाँ-जहाँ वे जाते थे, वहाँ-वहाँ जैन-सभा और जैन-पाठशाला स्थापित कराते थे। इस प्रकार उन्होंने सैकडों स्थानोपर सभा और पाठशाला स्थापित करा दी थी। मथुरामें जैन-महासभा और अलीगढमें जैनमहाविद्यालय भी उन्होने ही स्थापित कराये थे। दो साल इस प्रकार दौरा करनेके बाद मुशी मुकुन्दरायको गठियावाय हो गई, तो भी उन्होने दौरा करना नही छोड़ा। फिर एक वर्षके बाद उनका देहान्त हो गया। वे महान् विद्वान्,

सभाचतुर और महान् उच्च कोटिके वक्ता और उपदेशक थे। उनके देहान्तके कारण यह दौरा वन्द हो गया और महासभा भी बन्द हो गई।

फिर इसके दो वर्षके वाद मैंने मथुरा जाकर यह महासभा स्थापित कराई थी और जैनगजट जारी किया था, जो अब चल रहे है। दौरा करते समय जब यह दोनो विद्वान् सहारनपुर आये थे, तब मैंने प० ऋषभदासजी का लिखा हुआ प० भीमसैनजीके महान् तर्कका उत्तर इन दोनो विद्वानोको दिखाकर पूछा था कि यह उत्तर ठीक है या नही ? जिसको देखकर उन्होने कहा था कि यह उत्तर अत्यन्त ही उच्च कोटिका है और किसी महान् शिरोमणि जैन विद्वान्का लिखा हुआ है, तब मैंने जाहिर किया कि यह ऋषभदासजीका लिखा हुआ है तो उन्होने किसी तरह भी विश्वास नही किया और कहा कि हम उसको अच्छी तरह जानते है। यह उत्तर ऐसे नौजवानका नही हो सकता है, यह तो किसी महान् अनुभवी विद्वान् का ही लिखा हुआ है।

तब मैंने ऋषभदासजीको वुलवाकर इन विद्वानोके सामने पेश किया, और कहा कि आप इनकी भली-भाँति परीक्षा कर लें, यह इन्हीका लिखा हुआ है। तिसपर मुंशी मुकुन्दरायजीने दो घण्टे तक तर्कमें उनकी कड़ी परीक्षा ली और अन्तमें आश्चर्यके साथ यह मानना ही पड़ा कि यह महान् उत्तर इन्हीका लिखा हुआ है।

इसके वाद मेरा उनका यही मशविरा हुआ कि इस विषयपर एक ऐसी महान् पुस्तक लिख दी जावे, जिसमें सव ही तर्क-वितर्कोका उत्तर आ जावे और कोई भी वात ऐसी बची न रहे, जिसकी वावत किसी विद्वान् से पूछनेकी जरूरत रहे। इस मशविरेके वाद ही उन्होने 'मिथ्यात्वनाशक नाटक' लिखना शुरू किया और एक वर्षकी रात-दिनकी भारी मिहनतके वाद यह महान् अद्भुत भारी पुस्तक तैयार हो पाई। तैयारीके कुछ दिनों पीछे ही, उनकी दूकानमें रातको चोरी होकर यह पुस्तक भी चोरी चली गई।

पक्का सन्देह उनका यही था कि पुस्तकके ही चुरानेके वास्ते ईर्ष्या-वश किसीने यह चोरी कराई है, जिसपर उन्होने धैर्य धर, फिर दोबारा

यह पुस्तक रचनी शुरू कर दी, और बहुत कुछ लिख भी ली, तब किसी प्रकार यह पहली लिखी पुस्तक भी उनको कहीसे मिल गई। यह पुस्तक उर्दू-अक्षरोंमें लिखी गई थी। उन दिनो मैं देववन्दमें वकालत करता था और 'जैन हितोपदेशक' नामका एक मासिक पत्र उर्दूमें निकालता था। पं० ऋषभदासजीका 'मिथ्यात्वनाशक नाटक' नामका यह महान् ग्रन्थ मैंने देववन्द मँगा लिया और उसका प्रारम्भिक एक बड़ा भाग नमूने के तौरपर छपवाकर जैन हितोपदेशकके ग्राहकोके पास भेजा, जिसके पढते ही जैन-जातिमे इसकी भारी दुन्दुभि मच गई, चारो तरफसे इस सारी पुस्तकको प्रकाशित करनेकी ताकीद आने लगी, तब मैंने इस सारे ग्रन्थको छपवानेका वन्दोबस्त किया, एक कापीनवीस वुलाकर अपने पास रखा और मसालेके कागजपर मसालेकी स्याहीसे पत्थरके छापेपर छपनेवाली कापियाँ लिखवाना शुरू की। बड़े गौरके साथ उनको शुद्ध करके मुजफ्फरनगरमें उनको छपनेको भेजता रहा। इकट्ठा कागज खरीदकर छापेवालेको दे दिया। छापेवाला सिलसिलेवार इन कापियोको नही छापता था, किन्तु वे-तरतीव जो कापी हाथ आई, वह ही छापता रहा। आधेसे ज्यादा छप जानेपर प्रेस वन्द हो गया, जो कापी छपनेसे रह गई थी, उसको देहली छपनेको भेजा, परन्तु अधिक पुरानी हो जानेके कारण वह न छप सकी, सब करा कराया ग़ारत गया, सारा धन लगा हुआ फिजूल गया, छपे हुए सब क़ागज जलाने पड़ गये। कुछ दिनो पीछे मास्टर विहारीलालजी वुलन्दशहरने इसके पॉच प्रथम भाग छपवाये, जिसके वाद पुस्तक में न्यायके कठिन शब्द आ गये जो उर्दू अक्षरोमे लिखे जानेके कारण कुछ ठीक नही पढ़े जाते थे, इस कारण मास्टर विहारीलालजीने उनको शुद्ध कर हिन्दीमें लिखे जानेके लिए वावू जुगलकिशोर मुख्तार सरसावा ज़िला सहारनपुरके पास भेज दिया, परन्तु उनको फुर्सत कहाँ? इस कारण वर्षोंसे अब यह महान् ग्रन्थ उन्हीके पास है, पूर्ण नही छप सका है। इसका उद्धार होना बहुत ही ज़रूरी है।

—दिगम्बर जैन, सूरत, दिसम्बर १९४२

पण्डित महावीरप्रसाद

धर्मस्नेहसे ओत-प्रोत

गोयलीय

पण्डित महावीरप्रसादजीका भौतिक शरीर हमारी दृष्टिसे ओझल हो गया है, किन्तु उनकी आत्मा हमारे चारो ओर घूम रही है। जब उनके शवपर देहलीके जैन खड़े हुए रो रहे थे, तभी किसी देवीने रुँधे हुए गलेसे कहा—"भाई! शास्त्र पढते हुए देवोकी बात सुनाते थे, तुम भी देवत्व प्राप्त करना आवागमनके चक्करमें न पड़ना।"

उस देवीकी बात सुनकर मुझे भी रुलाई आ गई। मैंने सोचा ये वहन कितनी भव्यात्मा किन्तु भोली है। अरे जो जैनसमाजके लिए अपने हृदयमें एक वेदना लेकर मरा है, वह क्या कहीं परलोकमे चैनसे रह सकेगा? उसकी आत्माकी वह तड़प, वोह आग क्या इस नश्वर शरीर-

से निकलते ही मिट जायगी ? आत्माकी लगन तो आत्माके साथ रहती है, वह शरीरके साथ कैसे रह जायगी ?

दशलाक्षणीमे वे रुग्णशय्यासे न उठ सके, तो न नये मन्दिरमे शास्त्र-प्रवचनको बाहरसे विद्वान् ही आया, न कुछ उत्साह ही दीख पड़ा। उत्साह दीखता भी कहाँसे ? वह तो पण्डितजीकी चारपाई पकडे उनके जीवन की दुआएँ माँग रहा था !

पण्डित महावीरप्रसादजी देहलीके थे, देहलीमें ही जन्मे और देहली मे ही मरे। उनका प्यारका नाम नूरीमल था। अखिल भारतीय ख्याति-प्राप्त न थे, और न इस ख्यातिकी उन्हें चाह थी। वे जैनधर्मके ख़ासे जानकार और पण्डित थे। पर सर्टिफिकेटशुदा और पेशेवर पण्डित न थे। आजीविकाका साधन व्यापार था। घरका मकान था, माँ और स्त्री मर चुकी थी, एक लड़की है, उसकी शादी करके निश्चिन्त थे। निरा-कुलतापूर्वक जीवन व्यतीत करते थे।

देहलीमे रहते थे, पर समूची जैनसमाजकी हलचलका ज्ञान रखते थे, और देहलीका तो ऐसा एक भी कार्य नही, जिसमे उनका सहयोग न हो। उनके प्रत्येक श्वासमे समाज-सेवाकी भोंक रहती थी।

लोग कहते है कि पण्डितजी क्या गये, देहली जैनसमाजका स्तम्भ गिरा गये। मै कहता हूँ स्तम्भ तो फिर भी लगाया जा सकता है, पर जिसके प्राण निकल गये हो, वह क्या करे ? पण्डित महावीरप्रसादजी देहली जैनसमाजके प्राण थे।

देहलीमे परिषद्-अधिवेशन हुआ, आप प्राणपणसे जुट गये ! वीर-जयन्ती महोत्सव आता, रात-दिन एक कर देते। कही भाषण हो, आपको किसी कोनेमे बैठा देख लो, कोई उत्सव हो, पण्डितजी व्यस्त है। हरएकके आड़े वक़्तमे काम आते। सच्चे सुधारक और पक्के आचार-वान्। कोई पण्डित है या बाबू इससे उन्हे क्या, उनके स्नेह या आदरके लिए तो जैन होना ही काफ़ी था।

मुझे याद नही कि पण्डितजीसे मेरा परिचय कब और कैसे हुआ ? वह परिचय क्या था ? गायका बछड़ेके प्रति स्नेह था। मुझे क्या, वे प्रत्येक सहधर्मीको देखकर हरे हो जाते थे। उनके हृदयमे जो एक धर्मके प्रति अनुराग और मोह था, वह बर्बस बाहर छलक पडता था।

मुझे याद है कि जब मुझे लिखनेकी बीमारी थी, कुछ कर गुज़रने की सनक थी। तभी मैने "राजपूतानेके जैन वीर" निबन्ध लिखा था। वह कैसे लिखा गया, कागज और क़लम-दावातको पैसे कैसे जुटाये, इतनी पुरानी बात अब याद नही। याद है केवल एक बात, और वह यह कि वह हस्तलिखित प्रति उदयपुरके एक ऐतिहासिक बन्धुको दिखाना चाहता था, उनकी भी इच्छा थी। सुयोग भी सहसा मिल गया। एक मेरे परिचित सज्जन उदयपुर जा रहे थे, अत उनको वह हस्तलिखित प्रति उदयपुर दिखानेको दे दी।

पण्डितजीको उसी रोज मालूम हुआ तो सन्न रह गये। बोले– "तुमने यह क्या किया ? यदि ले जानेवाला कापी खो दे, या न दे तो तुम क्या कर लोगे ? इतने श्रमसे तैयार की हुई पुस्तक तुमने पानीमें बहा दी ? उसे देते हुए तुम तनिक भी न झिझके।"

उसके हाथ कापी भेजते हुए मुझे कितना दु.ख हुआ था, कितना संकोच था, यह मै पण्डितजीको कैसे बताऊँ ? मुझे चुप देखकर बोले– "जाओ उनसे जैसे भी बने कापी वापिस ले आओ, खबरदार जो आइन्दा ऐसा बचपन किया तो ?"

फिर बोले—"तुम कापी वापिस न लाओ, न जाने वह क्या समझे ? मुमकिन है वह देनेसे मना कर दे। अतः तुम भी उनके साथ उदयपुर चले जाओ और रास्तेमे कुछ घटाने-बढ़ानेके बहाने कापी लेकर अपने क़ब्ज़ेमे कर लेना। उस कापीपर तुम्हारा ही नहीं, हम सबका अधिकार है। अतः अपने सामने दिखाकर वापिस ले आना।"

न जाने क्या-क्या बाते समझाई, पर मै कैसे कहूँ कि पण्डितजी

रेलवे उधार टिकिट देती नही है, और मुझे बगैर टिकिट बैठनेका अभ्यास नही है। मुझे बोलनेका मौका न देकर स्वय ही बोले—

"लो यह २५ रु०, अभी जाकर उदयपुर जानेकी तैयारी कर दो। यह रुपये जब चाहो सुभीतेसे दे देना, चिन्ताकी जरूरत नही।"

वे रुपये तो उन्होने मुझे वैसे ही दिये थे, उधार नही। पर कहा इसलिए नही कि मैं कही बुरा न मान जाऊँ। दान देकर भिक्षुकके स्वाभिमानकी रक्षा भी हो जाये, यह कला हरएक थोड़े ही जान सकते हैं। जो जानते हैं, वे संसारमे विरले ही होते हैं और उनमें एक थे पण्डित महावीरप्रसादजी !

पुस्तक भी छपी, उनके रुपये भी उतर गये, पर वह बात नही भूलती। भुलाई भी कैसे जाय ? यह बात भी क्या भूलनेकी है।

उन दिनो "अनेकान्त" बन्द था। वीर-शासन-जयन्तीपर १३ जुलाई १९३८ को सरसावा जाना था, पण्डितजीको मालूम हुआ तो बोले— "तुम्हारा जाना बेकार न निकले, जाओ तो कुछ कामकी बात करके आना। मुख्तार साहबके पास अनमोल हीरे भरे पड़े हैं, छीन सको तो छीन लो और समाजमें बखेर दो, इस जीवनका कोई भरोसा नही, उनसे जो कुछ लिया जा सके, जल्दीसे ले लो।"

बात सुनी और अनसुनी कर दी, मगर सरसावे गया तो ऐसा मालूम हुआ कि पण्डितजीका वह आदेश हमारे साथ-साथ आया है और वही आदेश अनेकान्तको फिर दुबारा देहली ले आया ! उन्हे अनेकान्तके पुन. प्रकाशनकी सूचना मिली तो गद्गद हो गये, क्या पुत्रके विवाहमे वह खुशी होती होगी ? पर हाय रे विधना ! अनेकान्तके पुनः प्रकाशनके उस अंकको वह न देख सके और उससे पहले ही स्वर्गस्थ हो गये।

पारसाल पोह वदी २ को रथोत्सव था। जल्दी तैयार हुआ, मनमें उमंग थी, उत्सवमें पण्डितजी मिलेगे ! सहसा दिलमे किसी ने घूँसा मारा—पण्डितजी अब कहाँ और कैसे मिलेगे ? वह हर जयन्ती और

हर उत्सवमें याद आते हैं, जब दीख नहीं पड़ते, तो एक अभाव-सा खटकता है। वीर-जयन्ती नजदीक है, आज उसी सिलसिलेमें उनकी याद हो आई और इसलिए दो शब्द लिखकर उनके प्रति यह श्रद्धाञ्जलि भेंट कर रहा हूँ।

—वीर, १२ अप्रैल १९४०
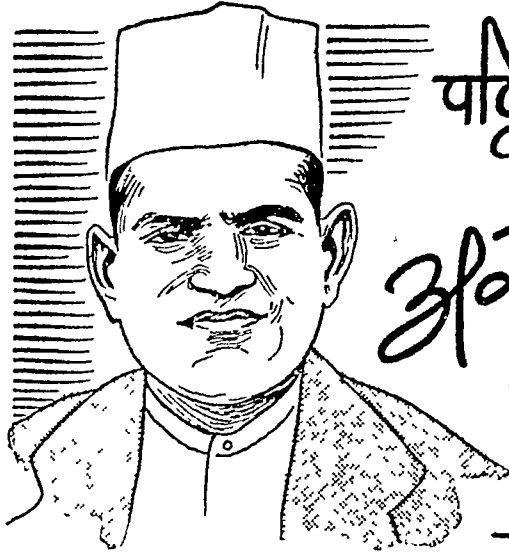
जन्म— पानीपत, १८९६ ई०

स्वर्गवास— २५ मार्च १९३३ ई०

क्या खूब आदमी थे

पं० अरहदासजीका रोम-रोम धर्म-रसमें डूबा हुआ था। उनका जीवन सदाचरणसे ओत-प्रोत और खान-पान, अत्यन्त शुद्ध और सात्त्विक था। पूजा, स्वाध्याय, सामायिक आदिमें जिस प्रकार वे लीन रहते थे, उसी प्रकार समाजोन्नतिके कार्य्योंमें भी वे सदैव अग्रसर रहते थे। पानीपतके हिन्दू-मुसलमान सभी उन्हें अपना समझते थे, हर एकके आडे वक़्तमे काम आते थे। महमाँनवाज, मिलनसार और वड़े ही ज़िन्दादिल इन्सान थे।

—गोयलीय

सेवाभावी

श्री रूपचन्द्र गार्गीय

पंडित अरहदासजी पानीपतनिवासी, उत्तर भारतकी जैन-समाजके एक नर-रत्न थे। सदा हँसमुख, सरलस्वभावी, धार्मिक क्रियाओमे सावधान रहते थे। आप शुद्ध खद्दरके वस्त्र पहनते थे, ऊन व चमडेकी वस्तुओका प्रयोग नही करते थे। शास्त्र-स्वाध्याय मन लगा कर करते थे। ऊँचे सिद्धान्त-ग्रन्थोका खूब अध्ययन करते थे। दार्शनिक चरचामे उनकी वडी रुचि थी। देवपूजा वडे चावसे करते थे, पर्वके दिनो मे तो गाजेवाजेके साथ घटो पूजनमे सलग्न रहते थे। भजन गायन द्वारा भी भक्ति करनेका उन्हे वडा शौक था। रथोत्सवोके अवसरपर व्याख्यान देने व भजन गानेमे भी आप दक्ष थे। भगवान्‌के सामने नृत्य करनेमें अपना सौभाग्य समझते थे। इनका यह दृढ विचार था कि ३५ वर्षकी अवस्था हो जानेपर, घरबारके धन्धोको छोडकर एकान्तमे रहकर धर्म-साधन किया करेगे, परन्तु उस अवसरके आनेपर आप अस्वस्थ हो गये और दो सालकी लम्बी वीमारीके बाद २५ मार्च १९३३ को स्वर्गवासी हो गये। अनुचित वातोका सामना करनेमें आप वड़े दिलेर थे और छोटे-वडे सभी वन्धुओकी समान भावसे सेवा करनेमें तत्पर रहते थे। अनेक कष्ट सहन करके व खर्च करके भी सेवासे मुख नही मोड़ते थे, इसी कारणसे वे सवको प्रिय थे। शहरकी हिन्दू व जैन समाजकी किसी भी सभा-सोसा-इटीका कार्य रुकता देखकर, उसके चलानेका सारा भार अपने कन्धोपर ले लेते थे। इसी कारण आप वरसो गऊशाला कमेटी व काग्रेस कमेटीके सभा-पति रहे। उनका देश-प्रेम भी ऊँचे दर्जेका था। आप सुधारक-विचारो-के थे, जाति व समाजको लगी बुराइयो व रूढ़ियोसे उभारनेमे चिन्तित रहते थे। स्त्रियोको धर्म-मार्गपर लगानेका कार्य भी आपने वडी लगन

से किया। दिगम्बर जैन-शास्त्रार्थ संघ अम्बालाकी स्थापना वे कार्य-संचालनमें आपका प्रमुख हाथ था। ब्र० सीतलप्रसादजीके साथ आपका गहरा सम्बन्ध था, उनकी सुधारक योजनाओको सफल बनानेमे आप प्रयत्नशील थे। यद्यपि ब्र० सीतलप्रसादजी मन्दिरोंमे सुधारक विषयो को छोड़कर धार्मिक विषयोंपर ही भाषण करते थे, फिर भी एकबार पानीपतके कुछ स्थितिपालक महानुभावोंने श्री ब्र० सीतलप्रसादजीका व्याख्यान दि० जैन-मन्दिरमें करानेका विरोध किया तो आपने उनका डटकर विरोध किया और भाषण करानेमे सफल हुए। इस प्रकार पं० अरहदासजीका जीवन एक अलौकिक और क्रान्तिकारी जीवन रहा है जो समाजके अन्य युवकोंके लिए आदर्श था।

—पानीपत, १० मई १९५१

जन्म—	सरसावा, वि० सं० १९३४
वर्तमान आयु—	७५ वर्ष वि० सं० २००८

पथ-चिन्ह

श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

जीवनका रिकार्ड—

मगसिर सुदि एकादशी, संवत् १९३४ ।

वर्षके ३६५ दिनोमे वह भी एक दिन था। उस दिन भी प्रभातके अनन्तर सन्ध्याका आगमन हुआ था और तब निशा रानीने अपना काला आँचल पसार सबको अपनी गोदमे ले लिया था। यह कोई खास बात न थी, पर हाँ, एक ख़ास बात थी, जिसके कारण राष्ट्रभारतीके इस पत्रकार-को उसका उल्लेख यहाँ करना पडेगा। उस दिन सरसावा (सहारनपुर) मे श्री चौधरी नत्थूमल जैन अग्रवाल और श्रीमती भोईदेवी जैन अग्र-वालके घरमें एक बालकने जन्म ग्रहण किया था।

बुद्धू और घसीटा, अल्लादिया और विल्सन, सबके जन्मोका रिकार्ड म्यूनिसिपैलिटियाँ रखती है, पर कुछ ऐसे भी है, जिनके जन्मका रिकार्ड राष्ट्र और जातियोंके इतिहास प्यारसे अपनी गोदमे सुरक्षित रखते है। यह बालक भी ऐसा ही था—जुगलकिशोर! उसीकी जीवन-प्रगतिके पथचिह्नोंका एक संक्षिप्त लेखा मुझे यहाँ देना है।

साहित्य-मन्दिरके द्वारपर—

"अरे तुम पहले पढ़ लो, फिर जुगलकिशोर जम गया, तो रह जाओगे!" यह मकतबके मुंशीजीका दैनिक ऐलान था।

५ वर्षकी उम्रमे उर्दू-फ़ारसीकी शिक्षा आरम्भ। जहन अच्छा और परिश्रमी। पढनेका यह हाल कि २०-२० पत्रोंका रोज सबक। शुरूमें पढ़ने बैठ जायें, तो मुंशीका सारा समय पी ले और दूसरे लड़कोका सबक़ नदारद।

गुलिस्ताँ-बोस्ताँ पढते-पढते आपकी शादी हो गई और १३-१४ वर्षकी उम्रमे आप गृहस्थी हो गये।

उन्ही दिनो सरसावामे हकीम उग्रसैनने एक पाठशाला खोली। आप उसमे हिन्दी पढने लगे और संस्कृत भी। साथमे जैन-शास्त्र भी धार्मिक भावसे पढते थे, पर पढनेका शौक देखिये कि इन सबके साथ आपने उस समयके पोस्टमास्टर श्री बालमुकुन्दसे अपने फालतू समयमें अग्रेज़ीकी प्राइमर भी पढ ली।

मास्टर जगन्नाथजी बाहरसे बुलाये गये और अग्रेजीका एक नया स्कूल खुला। अपने इस स्कूलकी ओर लडकोंको आकर्षित करनेके लिए आपने एक कविता लिखी, जिसकी आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार थी—

नया इस्कूल यह जारी हुआ है, चलो, लड़को पढ़ो, अच्छा समा है।
जमाअ़त दसवीं[1]से है पाँचवीं तक, पढाई सर-बसर क़ायम है अब तक॥

कविता लिखनेकी यह प्रवृत्ति आपमे कहाँसे आई? यह एक महत्त्व-पूर्ण प्रश्न है, क्योकि उस समय एक तो सारे देशमे ही ऐसा साहित्यिक वातावरण न था, फिर सरसावा तो बहुत ही पिछडी हुई जगह थी। मुझे ऐसा लगता है कि आपमें जन्मजात जो प्रचार-प्रतिभा थी, उसने आपको प्रेरणा दी—'चलो लडको, पढो, अच्छा समा है!' और आपकी आरम्भिक उर्दू शिक्षा इस 'कविता' के शब्दसंगठनमे सहायक हुई—'पढाई सर-ब-सर कायम है अबतक'। उस दिन कौन जानता था यही बालक भविष्यमे 'मेरी भावना' का लेखक और 'वीरसेवामन्दिर' का सस्थापक होनेको है।

पहला मोर्चा—

पाँचवे क्लास तक इस स्कूलमे पढकर आप गवर्नमेण्ट हाईस्कूल सहारनपुरमे प्रविष्ट हुए और 'दूसरे' (आज-कलकी ९ वे) क्लास पास करने तक यहाँ पढते रहे। इण्ट्रेंस आपने प्राइवेट पास किया, इसकी भी

१—उस समयके स्कूल दसवें क्लाससे आरम्भ होते थे और पहलेमें इन्ट्रेन्स होता था।

एक कहानी है। जैन-शास्त्रका आप प्रतिदिन पाठ करते थे और उसकी 'विनय' के भावसे आपने बोर्डिंगहाउसके अपने कमरेपर यह लिख रक्खा था कि None is allowed to enter with shoes किसीको जूता पहने अन्दर आनेकी इजाजत नही। एक मुसलमान विद्यार्थी एक दिन जबर्दस्ती भीतर जूता ले आया। इस पर उसे धक्का देकर आपने बाहर कर दिया। नये आये हुए हेडमास्टरने इस केसमे न्याय नहीं किया और प्रतिवादमें आपने स्कूल छोड़ दिया। इस हेडमास्टरसे आप इस बातसे भी असन्तुष्ट थे कि उसने एक बार दशलक्षण पर्वमे शास्त्र पढनेके लिए सरसावा जानेको छुट्टी नही दी थी। पर्वके दिनोमे आप ही वहाँ, अपनी छोटी उम्रसे ही, शास्त्र पढा करते थे, इसलिए छुट्टी न मिलने पर भी आप गये और जुर्मानेका दण्ड स्वीकार किया।

आनुषंगिक संयोग देखिये कि इस रूपमे आपने अपने जीवनका जो सबसे पहला संघर्ष रचा, उसका सीधा सबध जैनसाहित्यके साथ था। उस दिन कौन कह सकता था कि इस 'किशोर'का सारा जीवन ही जैनसाहित्यके लिए संघर्ष करनको निर्मित हुआ है!

छापेके अक्षरोंमें-

सरसावाकी जैनपाठशालामे पढते समय ी, आपकी लेखन-प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित हो चली थी। आपके उस समयके अभ्यास-लेखादि तो अप्राप्य है, पर ८ मई १८९६ के 'जैन गज़ट' (देववन्द) मे आपका जो पहला लेख छपा था, वह प्राप्य है। यह जैनकालिजके समर्थनमे है और इसका आरम्भ इस प्रकार होता है—

"भाई साहवो, सब तरह विचार करने और दृष्टि फैलानेसे मेरी सम्मतिमें तो यही आता है कि सब अन्धकार केवल अविद्याका है और विद्यारूपी सूरजके प्रकाश होते सब भाग जायेगा, फिर न मालूम भाइयों ने और कौन-सा उपाय इसके दूर करनेका सोच रक्खा है, जिससे कि इतना समय बीत गया है और यह दूर नही हुआ और इसके कारण जो-जो नुकसान हुए हैं, वह सबको विदित हैं।"

इस लेखपर जैनगजटके सम्पादक श्री बाबू सूरजभानजीने जो शीर्षक लगाया था, वह उस कालकी हिन्दी-पत्रकार-कलाका एक मनोरजक उदाहरण है—

"लाला जुगलकिशोर/विद्यार्थी, सरसावा जिला सहारनपुरका लेख अवश्य पढिये।"

सम्पादकके पास लेख भेजते समय जो पत्र आपने लिखा था वह भी 'जैन गजट'के इसी अकमे छपा है, उसका दर्शनीय 'ड्राफ़्ट' इस प्रकार है—

प्रार्थना

"श्रीमान् बाबू सूरजभान साहिब, जैसे कि लघु एक पुरुष व बड़े काम करनेकी प्रार्थना करे तो यह कैसे हो सकता है, परन्तु जैसे कि पानके सगतसे तुच्छ पत्ता बादशाह तक पहुँच जाता है, इसी प्रकार मै हकीम उग्रसैनकी आज्ञानुसार और आप लोगोकी सहायतासे आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे इस उपरोक्त विषयको यदि आप अच्छा समझे, तो सुधार कर अपने अमूल्य पत्रमें स्थान देवे। यद्यपि यह लेख योग्यता नही रखता है, परन्तु यदि आप स्थान देगे, तो मेरा मन भी प्रफुल्लित हो जावेगा और मै आपको कोटिशः धन्यवाद दूँगा।

आप कृपापूर्वक प्रार्थनाको पहले लिखे, पश्चात् कुल लेख लिखे। यदि एक पत्रमे न आवेगा तो दोमे छाप देवे।

आपका आज्ञाकारी

जुगलकिशोर वि० दफे ३"

'वि० दफे ३' का अर्थ है—दर्जा ३ का विद्यार्थी, पर ३ छपाईकी भूल है, उस समय आप ५वे क्लासमें पढते थे। सन् १९०० मे आपके घरमें बच्चा होनेवाला था, उस अवसरपर स्त्रियाँ जो गीत गाती है, वे आपको पसन्द नही आये और आपने स्वय एक गीत लिखकर दिया, जिसकी पहली पक्ति इस प्रकार थी—

"गावो री बधाई सखि मंगलकारी"

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि आपकी भावनाओंका जागरण तीव्र-गतिसे हो रहा था और आप पढते समय ही उर्दूसे हिन्दीकी ओर ढल गये थे।

'जैनगज़ट' में आप अक्सर लेख लिखते रहे और आपकी काव्य-प्रवृत्ति भी प्रस्फुटित होती रही। संभवतः १९०० में ही शोलापुरसे 'अनित्य पंचाशत्' नामका ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। आपको वह बहुत पसन्द आया और आपने तभी उसका पद्यानुवाद कर डाला।

उसका एक नमूना अनुवाद सहित इस प्रकार है—

यद्येकत्र दिने न भुक्तिरथवा निद्रा न रात्रौ भवेत्
विद्रात्यम्बुजपत्रवद् दहनतोऽभ्याशस्थिताद्यद्ध्रुवम् ।
अस्त्रव्याधिजलादितोऽपि सहसा यच्च क्षयं गच्छति,
भ्रातः कात्र शरीरके स्थिरमतिर्नाशेऽस्य को विस्मयः ॥

× × ×

एक दिवस भोजन न मिले या नींद न निशिको आवै,
अग्निसमीपी अम्बुज दल सम यह शरीर मुरझावै,
शस्त्र-व्याधि-जल आदिकसे भी, क्षणभरमें क्षय हो है,
चेतन ! क्या थिर बुद्धि देहमें विनशत अचरज को है ?

उपदेशकके रूपमें—

इन्ट्रेंस पास करते ही आपके सामने जीविकाका प्रश्न आया। इधर-उधर नौकरीकी तलाश की, पर मन-माफिक़ कोई काम न मिला। अन्तमे आपने वम्बई प्रान्तिक सभाकी वैतनिक उपदेशकी सन् १८९९ के नवम्बरमें आरम्भ की जो १ मास १४ दिन ही चली। उपदेशकके दो रूप हैं। एकमे वह अपनेको उपस्थित जनसमूहके सामने नेताके रूपमे सन्देश देते हुए पाता है और दूसरेमे संस्थाके सभापति और महामन्त्रीके सामने एक नौकरके रूपमे निर्देश लेते हुए; और तब उसका मन उससे पूछता है कि ये लोग कुछ न करते हुए भी सम्माननीय हैं और मैं संस्थाके लिए रात-दिन काम करके भी सम्मान-हीन हूँ। केवल इसीलिए तो कि मैं अपने निर्वाहके लिए कुछ रुपये भी लेता हूँ और ये नही लेते। संभवतः

इसी प्रकारका कोई अनुभव पण्डितजीको हुआ या क्या, उन्होने यह निश्चय किया कि रुपया लेकर उपदेशकीका काम न करेंगे और नौकरी छोड़ दी।

मुख्तार हुए–

अपने निर्णयको उन्होने इतनी कठोरतासे निवाहा कि पारिश्रमिक आदिके रूपमे रुपया लेकर कभी समाजका काम नही किया और काम करके भी अपने लिए समाजसे कभी रुपया नही लिया। स्वतन्त्र रोजगार की दृष्टिसे सन् १९०२ मे आपने मुख्तारीकी परीक्षा पास की और सहारनपुरमें प्रैक्टिस करते रहे। १९०५ मे आप देववन्द चले गये और वही प्रैक्टिस करते रहे। अपना यह स्वतन्त्र कानूनी व्यवसाय करते हुए भी आप वरावर समाजसेवाके कामोमे भाग लेते रहे।

सम्पादकके रूपमे–

१ जुलाई १९०७ मे आप महासभाके साप्ताहिक मुखपत्र 'जैन गजट' (देववन्द) के सम्पादक बनाये गये। यह आपके सम्पादनका आरम्भ था। सम्पादन ग्रहण करते समय पत्रमे आपने किसी प्रकारकी अपनी नीतिघोषणा नही की, सिर्फ मगलाचरणके रूपमे एक लेख लिखा। वास्तवमे तव आप लेखक थे और आपकी सम्पादन-कला अकुरित ही हो रही थी। ३१ दिसम्बर १९०९ तक आप उसके सम्पादक रहे।

इस वीचके 'जैन गजट'का निरीक्षण करनेसे हम आपकी तात्कालिक सम्पादन-प्रवृत्तियोको ३ भागोमें बॉट सकते है। पहली भाषा-सशोधनात्मक, दूसरी सुधारभावनात्मक और तीसरी प्रमाणसग्रहात्मक। आपने उस कालमे अपनी और दूसरे लेखकोकी भाषाके संशोधनमे वहुत भारी परिश्रम किया। आप यह ध्यान वरावर रखते थे कि हरेक लेख, टिप्पणी या सूचना इस प्रकार दी जाये कि समाजमे सुधारकी भावना जागृत हो; और जो कुछ भी कहा जाये वह प्रमाण-परिपुष्ट हो। अपने अग्रलेखोमें आपने सदैव तीनो प्रवृत्तियोका समन्वय रखनेकी चेष्टा की है और यही कारण है कि आपके अग्रलेख प्रायः वहुत लम्बे रहे है। २०×२६=४ साइजके पत्रमें ७-८ कालमके अग्रलेख आप प्रायः लिखते थे। १ अक्टूबर

१९०७ का अग्रलेख तो ११। कालममें समाप्त हुआ है। यह 'आवागमन' के सम्बन्धमें है।

१ सितम्बर १९०७ के अग्रलेखमे आपने पत्रोंमे प्रकाशित होनेवाले अश्लील विज्ञापनोंका विरोध किया है और फिर १ जनवरी १९०८ मे भी इसी विषयपर लिखा है। सम्भवतः विज्ञापनोके संशोधनपर देशभरमे सबसे पहले आवाज़ उठानेवाले सम्पादक आप ही है।

अनुसंधान-प्रवृत्तियाँ–

आपकी तीसरी प्रवृत्ति प्रमाण-संग्रहने ही वास्तवमें आपके अनुसंधाता रूपकी सृष्टि की है। १ सितम्बर १९०७ के अंकमे शाकटायनके व्याकरणपर आपका एक लेख है— 'हर्षसमाचार'। इसमें इस व्याकरण-के छपनेपर हर्ष प्रकट किया गया है और जैनियोंसे उसके अध्ययनकी सिफ़ारिश की गई है। यह सबसे पहला लेख है, जिसकी लेखनशैली-में खोजपूर्णता तो नही, पर प्राचीन साहित्यके अनुसंधानके प्रति मुख़्तार साहबकी बढ़ती अभिरुचिका निर्देश है। ८ सितम्बर १९०७ के अग्रलेख-में यह प्रवृत्ति और स्पष्ट हुई है जो सम्मेदशिखर तीर्थके सम्बन्धमे लिखा गया था।

सफल सम्पादक–

आपके सजीव सम्पादनको जनताने पसन्द किया और 'जैन गजट' की ग्राहकसंख्या ३०० से १५०० हो गई। श्री नाथूरामजी प्रेमीने इसके १० वर्ष बाद 'जैनहितैषी' का सम्पादन मुख़्तार साहबको सौपते समय लिखा था–"वे कई वर्ष तक 'जैन गजट' का बड़ी योग्यताके साथ सम्पादन कर चुके है। उनके सम्पादकत्वमें 'जैन गजट' चमक उठा था।" प्रेमीजी जैसे विद्वान्के मनपर १० वर्ष बाद तक उनके इस सम्पादनकी छाप रही, यह पर्याप्त महत्त्व-सूचक है।

'जैन गजट' के सम्पादकत्वसे आपने क्यों त्यागपत्र दिया, ठीक मालूम नही। २४ दिसम्बरके अकमे मोटे टाइपमे यह सूचना आपने दी है कि ३१ दिसम्बरके बाद हम काम नही करेंगे, यह बात हम अधिकारियोंको

वार-वार लिख चुके है। इस सूचनामें कुछ ऐसी ध्वनि है कि अधिकारियों-से आपका सम्भवतः कुछ मतभेद था।

भट्टारकोंके दुर्गपर–

'जैन गजट' के सम्पादनसे जो समय वचा, उसे आपने जैन साहित्य-के गम्भीर अध्ययनमें लगाया। आपके जीवनमे व्यावहारिक आदर्शकी प्रवृत्ति थी–आप समाजको जिस ढोंगहीन सात्त्विक रूपमे ढालनेका आन्दो-लन करते थे, उसमें अपना ढलना सवसे पहले आवश्यक समझते थे। जैन-धर्मकी दृष्टिमे आदर्श गृहस्थका क्या रूप है, इसका अध्ययन आपने इसी दृष्टिसे आरम्भ किया। आपका विचार था कि इसके अध्ययनके फलस्वरूप एक पुस्तक लिखेगे। वह पुस्तक तो आज तक न लिखी गई, पर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वात यह हुई कि आपका ध्यान इस वातपर गया कि जैन-शास्त्रोमे भट्टारकोने जैनधर्मके विरुद्ध वहुत-सा अण्ट-सण्ट इधर-उधरसे लाकर मिला दिया है जिससे जैनधर्मकी मूल-परम्पराका विकृत रूपमें हमे दर्शन मिलता है। इस प्रक्षिप्त अशकी ओर पहले भी शायद विद्वानोका ध्यान गया होगा, पर आपने यह मौलिक खोज आरम्भ की कि यह प्रक्षिप्त अश कहाँसे लिया गया है? वादमें यही खोज 'ग्रन्थपरीक्षा' नामक पुस्तकके चार भागोमे प्रकाशित हुई।

त्यागके पथपर–

यह गम्भीर अध्ययन आपके जीवनपर भी अपनी गभीर छाप डालता-गया और अव वह मुख्तारगीरी आपको भार होने लगी। जीवनका वहु-मूल्य समय जीविकामे लगाकर फालतू समयमे अनुसधान या समाजसेवा-का कार्य किया जाये, यह आपके लिए अव असह्य हो चला और आप वावू सूरजभानजीसे वार-वार यह तकाजा करने लगे कि दोनो वकालत छोडकर सारा समय अनुसधान और समाज-सेवामे लगावें। जब-तव आप वावूजीपर यह तकाजा करने लगे। एक दिन शामको घूमते समय वावूजीने कहा– "अच्छा तुम रोज कहते हो, तो आज रातमे गम्भीरतासे सोच लो, कल अन्तिम निर्णय करेगे। दूसरे दिन प्रात काल आप वावूजीके घर पहुँचे

और अपना निर्णय उन्हे बताया। फलत: १२ फ़रवरी १९१४ को बाबू सूरजभानजीने अपनी वकालत और प० जुगलकिशोरजीने अपनी मुख्तारी छोड दी। आप दोनों ही उस समय देववन्दके प्रमुख 'लीगल प्रैक्टिशनर' थे, इसलिए आप लोगोंके भीतर समाज-सेवाका जो अन्तर्द्वन्द्व चल रहा था, उससे अपरिचित होनेके कारण लोगोको इससे बहुत आश्चर्य हुआ।

साधनाका 'मैनीफेस्टो'–

यह अन्तर्द्वन्द्व मुख्तारगीरी छोड़नेके बाद लिखी उस कवितामें प्रकट हुआ, जो 'मेरी भावना' के नामसे प्रसिद्ध है। यह कविता पुस्तिका रूपमें अभीतक २० लाख छप चुकी है और इसका अग्रेजी, सस्कृत, उर्दू, गुजराती, मराठी, कन्नड भाषाओमे अनुवाद हो चुका है। यूरोपकी राजनीतिक पार्टियोके चुनाव मैनीफेस्टोकी तरह यह मुख्तार साहबकी जीवन-साधनाका मैनीफेस्टो (घोषणापत्र) थी। अनेक प्रान्तोके डिस्ट्रिक्ट और म्यू० के स्कूलोमे तथा कारखानोमे यह सामूहिक प्रार्थनाके रूपमे प्रचलित है और जैनसमाजमे तो पं० जुगलकिशोर और मेरी भावना एक ही चीजके दो नाम समझे जाते हैं। हजारो परिवारोमे उसका नित्य पाठ होता है और जैन उत्सवोकी आरम्भिक प्रार्थनाके लिए तो वह पेटेण्ट ही हो गई है। उसके प्रचार, प्रकाशनका हिन्दीमे एक अपना ही रिकार्ड है। यह कविता सबसे पहले 'जैनहितैषी' अप्रैल-मई १९१६ के सयुक्ताकमे छपी थी।

नया बम–

१९१६ के लगभग ग्रन्थपरीक्षाके दो भाग प्रकाशित हुए। यह परम्परागत संस्कारोंपर कड़ा आघात था। अनेक विद्वान् इससे तिलमिला उठे और उन्होने पण्डितजीको धर्मद्रोहीकी उपाधि दी। भोली जनता भी इस प्रवाहमे बह गई, पर आप चुपचाप अपने काममे लगे रहे और अपने गम्भीर अध्ययनके बलपर आपने एक नया बम पटक दिया—जैनाचार्यो तथा जैनतीर्थङ्करोमें शासन-भेद! आपकी इस लेखमालासे कोहराम मच गया। यदि जैनाचार्योंमे परस्पर मतभेद मान लिया जाय, तो फिर

आपकी वह स्थापना प्रमाणित हो जाती थी कि वीरशासन (जैनधर्म) का प्राप्त रूप एकान्त मौलिक नही है। उसमें बहुत कुछ मिश्रण हुआ है और सशोधनकी आवश्यकता है। इसके विरुद्ध भी उछल-कूद तो बहुत हुई, पर पण्डितजीकी स्थापनाएँ अटल ही रही, कोई उनके विरुद्ध प्रमाण न ला सका।

अखण्ड आत्मविश्वास—

१९२० मे आपकी कविताओका सकलन 'वीरपुष्पांजलि' के नामसे छपा। तव आप समाजके घोर विरोधका मुकावला कर रहे थे, पर अपनी स्थापनाओकी अकाटचता और विरोधियोकी हारमे आपका कितना अभग विश्वास था, यह आपकी निम्न ४ पक्तियोसे स्पष्ट है, जो 'वीर-पुष्पाजलि' के मुखपृष्ठपर छपी थी—

"सत्य समान कठोर, न्यायसम पक्ष-विहीन,
हूँगा मैं परिहास-रहित, कूटोक्ति क्षीण।
नहीं करूँगा क्षमा, इंचभर नहीं टलूँगा,
तो भी हूँगा मान्य ग्राह्य, श्रद्धेय बनूँगा।"

पहली तीन पक्तियोमे उन्होने अपने स्वभावका फोटो दे दिया है और आखिरीमे अपने आत्मविश्वासका—अक्षरश. यथार्थ !

फिर सम्पादक—

अक्टूबर १९१९ मे श्री नाथूराम 'प्रेमी' ने आग्रह करके उन्हे जैन-हितैषीका सम्पादक बनाया और अपने 'प्रारम्भिक वक्तव्य' मे कहा—

"वावू जुगलकिशोरजी जैनसमाजके सुपरिचित लेखक हैं, × × × 'जैनहितैषी' में भी पिछले कई वर्षोसे आप बराबर लिखते रहे हैं। इस कारण हमारे पाठक आपकी योग्यतासे भली भाँति परिचित हैं। आप बड़े ही विचारशील लेखक हैं। आपकी कलमसे कोई कच्ची बात नहीं निकलती। जो लिखते हैं वह सप्रमाण और सुनिश्चित। आपका अध्ययन और अध्यवसाय बहुत वढा है। × × × 'जैन-हितैषी' का सौभाग्य है कि वह ऐसे सुयोग्य सम्पादकके हाथमें जा रहा है।"

पं० जुगलकिशोरजीने भी 'जैन-हितैषीका सम्पादन' शीर्षकसे इस अंकमें एक टिप्पणी लिखी, जिसमें आरम्भमें प्रेमीजीके आग्रहपर उन्हें कैसे यह सम्पादनभार ग्रहण करना पड़ा, यह वतानेके बाद अपनी नीतिके सम्बन्धमें लिखा है—"मैं कहाँ तक इस भारको उठा सकूंगा और कहाँ तक जैन-हितैषीकी चिरपालित कीर्तिको सुरक्षित रख सकूंगा, इस विषयमें मै अभी एक शब्द भी कहनेके लिए तैयार नही हूँ और न कुछ कह ही सकता हूँ। यह सब मेरे स्वास्थ्य और विज्ञ पाठकोंकी सहायता, सहकारिता और उत्साहवृद्धि आदिपर अवलम्बित है, परन्तु बहुत नम्रताके साथ, इतना जरूर कहूँगा कि मै अपनी शक्ति और योग्यतानुसार, अपने पाठको की सेवा करने और जैन-हितैषीको उन्नत तथा सार्थक बनानेमे कोई बात उठा नही रक्खूँगा।"

'जैन-हितैषी'का सम्पादन आपने १९२१ तक दो वर्ष किया।

महान् कार्य–

१९२८में 'ग्रन्थपरीक्षा' का तीसरा भाग प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिकामे श्री नाथूराम प्रेमीने लिखा है—"मुख्तार साहबने इन लेखोको, विशेषकर सोमसेन त्रिवर्णाचारकी परीक्षाको, कितने परिश्रमसे लिखा है और यह उनकी कितनी बड़ी तपस्याका फल है, यह वुद्धिमान् पाठक इसके कुछ ही पृष्ठ पढ़कर जान लेगे। **मैं नहीं जानता हूँ कि पिछले कई सौ वर्षोंसे किसी भी जैन विद्वान्ने कोई इस प्रकारका समालोचक ग्रन्थ इतने परिश्रमसे लिखा होगा और यह बात तो बिना किसी हिचकिचाहट के कही जा सकती है कि इस प्रकारके परीक्षालेख जैनसाहित्यमें सबसे पहले हैं।'**

"××× ग्रन्थपरीक्षाके लेखक महोदयने एक अलब्धपूर्व कसौटी प्राप्त की है, जिसकी पहलेके लेखकोंको कल्पना भी नही थी और वह यह कि उन्होंने हिन्दुओके स्मृतिग्रन्थो और दूसरे कर्मकाण्डीय ग्रन्थोंके सैकड़ों श्लोकोंको सामने उपस्थित करके बतला दिया है कि उक्त ग्रन्थोंमें-से चुरा-चुराकर और उन्हें तोड़-मरोडकर सोमसेन आदिने अपने-अपने

'भानमतीके कुनबे' तैयार किया है। जाँच करनेका यह ढंग विल्कुल नया है और इसने जैनधर्मका तुलनात्मक पद्धतिसे अध्ययन करनेवालोके लिए एक नया मार्ग खोल दिया है।

"ये परीक्षालेख इतनी सावधानीसे और इतने अकाटच प्रमाणोके आधारसे लिखे गये है कि अभी तक उन लोगोंकी ओरसे जो कि त्रिवर्णाचारादि भट्टारकी साहित्यके परम पुरस्कर्ता और प्रचारक है (१२ वर्षका समय मिलनेपर भी) इनकी एक पंक्तिका खण्डन नही कर सके है और न अब आशा ही है। X X X गरज यह कि यह लेखमाला प्रतिवादियोके लिए लोहेके चने है।"

इन लोहेके चनोका निर्माण कितनी लगनसे हुआ है, उसका कुछ अनुमान इससे हो सकता है कि इन लेखोके लिखनेमें आप इतने तल्लीन थे कि आपको उन्निद्र हो गया और १।। मास तक आपको नीद नही आई। एक दिन ही नीद न आये, तो दिमाग भिन्ना जाता है, पर आपके लिए यह निर्माण इतना रसपूर्ण था, आप उसमें इस कदर डूबे हुए थे कि आपको जरा भी कमजोरी महसूस नही हुई और आप वरावर काममें जुटे रहे।

भारतमाताके चरणोंमें–

पण्डितजीके कार्यका क्षेत्र जैनसाहित्य, इतिहास और समाज रहा, इतना ही जानकर यह सोचना कि वे एक साम्प्रदायिक पुरुष है, सत्यका उतना ही वडा सहार है, जितना राष्ट्रनिर्माता श्रद्धानन्दको साम्प्रदायिक नेता मानना। साम्प्रदायिक विषयोमें आप कभी नही पड़े और आपका दृष्टिकोण सदैव राष्ट्रिय रहा। १९२०से आप वरावर खादी पहनते है और गाँधीजीकी पहली गिरफ्तारीपर आपने यह व्रत लिया था कि जव तक वे न छूटें, आप विना चर्खा चलाये, कभी भोजन न करेंगे।

अपनी कविताओमें, सामाजिक समुत्थानकी वात कहते समय भी आपकी निगाह वरावर राष्ट्रपर ही रही है। 'मेरी भावना' के अन्तमें आपने कहा है–

बनकर सब 'युगवीर' हृदयसे, देशोन्नति रत रहा करें।
वस्तुस्वरूप विचार खुशीसे, सब दुख संकट सहा करें।

'धनिक-संबोधन' कवितामें आपने धनिकोंको देशाभिमुख रहने-की ही प्रेरणा दी है—

चक्करमें विलासप्रियताके, फँस, मत भूलो अपना देश !

× × ×

कला कारखाने खुलवाकर, मेटो सब भारतके क्लेश ।
करें देश-उत्थान सभी मिल, फिर स्वराज्य मिलना क्या दूर ?
पैदा हों 'युगवीर' देशमें, फिर क्यों दशा रहे दुख-पूर ?

समाज उनके लिए राष्ट्रका ही अंग है । 'समाज-संबोधन' करते हुए जब वे कहते हैं—

सर्वस्व यों खोकर हुआ, तू दीन-हीन अनाथ है !
कैसा पतन तेरा हुआ, तू रूढ़ियोंका दास है !!

तब उनके मनमें भारतराष्ट्रका ही ध्यान व्याप्त होता है । यह निश्चय है कि यदि वे खोजके इस कार्यमें न पड़े होते, तो उनकी यह ६७-वी वर्षगाँठ सम्भवतः देशकी किसी जेलमे ही मनाई जाती !

जीवनभरका कार्य—

उनकी जीवनव्यापी साहित्य-साधनाका मूल्याकन करनेके लिए विस्तृत स्थानकी आवश्यकता है, फिर भी सक्षेपमें यहाँ उसका उल्लेख आवश्यक है—

जैनसमाजमें पात्रकेसरी और विद्यानन्दको एक समझा जा रहा था । मुख्तार साहबने अपनी खोजके आधारपर दृढ़ रूपसे यह स्पष्ट कर दिया कि पात्रकेसरी विद्यानन्दसे ही नही, किन्तु अकलंकसे भी पहले हुए हैं।

इसी तरह पंचाध्यायी ग्रन्थके सम्बन्धमे किसीको यह ठीक मालूम नही था कि उसका कर्ता कौन है । नये उपलब्ध हुए पुष्ट प्रमाणोके आधार पर, मुख्तार साहबने यह स्पष्ट करके बतलाया कि इस ग्रन्थके कर्ता वे ही कवि राजमल्ल है जो 'लाटीसंहिता' आदि ग्रंथोके कर्ता हैं ।

महान् आचार्य स्वामी समन्तभद्रका इतिहास अँधेरेमें पड़ा था और उसकी खोजके आधार भी प्रायः अप्राप्य थे । मुख्तार साहबने आधारो-

की खोज करके दो वर्षके परिश्रमसे एक प्रामाणिक विस्तृत इतिहास तैयार किया जिसकी अनेक ऐतिहासिक विद्वानोने मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है।

समन्तभद्रके समय-सम्वन्धमें जब डा० के० वी० पाठकने कुछ विरुद्ध लिखा तो आपने एक वर्ष तक वौद्ध-साहित्य आदिका खास तौरसे अध्ययन करके उसके उत्तरमें 'समन्तभद्रका समय और डा० के० वी० पाठक' नामका एक गवेषणापूर्ण निवन्ध लिखा, जो हिन्दी और अग्रेजी दोनोमें प्रकाशित हुआ है और विद्वानोको वहुत रुचिकर प्रतीत हुआ है।

सम्मान-समारोहमें दिये अपने भापणमे प० राजेन्द्रकुमारजीने कहा था कि--"मुख्तार साहव यह काम न करते तो दिगम्वर-परम्परा ही अस्तव्यस्त हो जाती। इस कार्यके कारण मै उन्हें दिगम्वर परम्पराका सरक्षक मानता हूँ।"

जैनसाहित्यके कितने ही ग्रन्थ ऐसे है, जिनका दूसरे ग्रन्थोमें उल्लेख तो है, पर वे मूल रूपमें अप्राप्य है। मुख्तार साहवने विशाल जैन-साहित्य में लिखे उल्लेखोके आधारपर ऐसे वहुतसे अप्राप्य ग्रन्थोकी एक सूची तैयार की और उनकी खोजके लिए पुरस्कारोकी घोषणा की। उनमेंसे कुछ ग्रन्थ मिले है और शेषके लिए पुस्तक-भडारोकी खोज हो रही है।

अन्तर्जातीय विवाहके समर्थनमें आपने एक पुस्तक लिखी---'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण'। समाजमें हल्ला हुआ। एक विद्वान्ने उसका विरोध लिखा। वस फिर क्या था, ३ मास तक रात-दिन साहित्य और इतिहासका अध्ययन कर आपने 'विवाह क्षेत्रप्रकाश' नामकी पुस्तक लिखी, जिसका फिर कोई विरोध न कर सका।

दस्सा-पूजाके आन्दोलनमें आपने 'जिन पूजाधिकार मीमांसा' लिखी और कोर्टमे गवाही भी दी। इसपर आपको जातिच्युत घोषित किया गया, पर यह घोषणा कभी व्यवहारमें नही आई।

जैन-साहित्यके श्रेष्ठतम रत्न धवल और जयधवलका नाम ही लोगोने सुना था। ये ग्रन्थ केवल मूडविद्रीके ग्रन्थ-भडारमें विराजमान थे। इनकी २-३ प्रतियाँ होकर जब इधर आई तो इन ग्रन्थरत्नोका पूरा

परिचय प्राप्त करनेके लिए मुख्तार साहब लालायित हो उठे, आपने आरा-जैन-सिद्धान्तभवनमे जाकर, ३॥ महीने रात-दिन परिश्रम कर के १००० पृष्ठोपर उनके नोट्स लिखे, जिनमें दोनों ग्रन्थोका सार संगृहीत हैं।

महावीर भगवान्के समय आदिके सम्बन्धमे जो मतभेद एवं उलझनें उपस्थित थी, उनका अत्यन्त गम्भीर अध्ययन करके आपने सर्वमान्य समन्वय किया और वीर-शासन-जयन्ती (भगवान् महावीरकी प्रथम धर्म-प्रवर्तन-तिथि) की खोज तो आपके जीवनका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है। श्रावण बदि प्रतिपदाको अब देशके अनेक भागोमें वीर-शासन-जयन्तीका आयोजन होने लगा है।

'अनेकान्तका' आरम्भ–

२१ अप्रैल १९२९ में आपने देहलीमें समन्तभद्राश्रमकी स्थापना की और नवम्बरमें मासिक 'अनेकान्त' का प्रकाशन आरम्भ किया। 'अनेकान्त'के प्रथमांकमें ही पाँच पेजोका सम्पादकीय है, जिसमे ३ पेज मे समन्तभद्राश्रमका परिचय और दो पेजमें पत्रकी नीतिपर प्रकाश डाला गया है।

'जैन गजट' मे आपने केवल मंगलाचरण किया था और जैनहितैषीमें सम्पादन स्वीकार करनेकी परिस्थिति बताकर 'शक्ति और योग्यता अनुसार' पत्रको सफल बनानेकी सूचना दी थी, पर अनेकान्तमे 'पत्रका अवतार, रीति-नीति और सम्पादन' तथा 'जैनी नीति' के नामसे दो टिप्पणियाँ लिखी हैं। पहली टिप्पणीमें वही सम्पादन ग्रहण करनेकी विवशताओंका उल्लेख करके लिखा है—

(आश्रमकी व्यवस्थाका भार होनेके कारण)—"इस स्थितिमे यद्यपि पत्रका सम्पादन जैसा चाहिए वैसा नही हो सकेगा तो भी मै इतना विश्वास अवश्य दिलाता हूँ कि जहाँ तक मुझसे बन सकेगा मै अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार पाठकोकी सेवा करने और इस पत्रको उन्नत तथा सार्थक बनानेमे कोई बात उठा नही रक्खूगा।"

असलमें जनरुचि नही, जनहित ही आपकी सम्पादननीति रही है।

आलोचनापद्धतिका मोटो—

'अनेकान्त' का आरम्भ ५ दोहोसे होता है, जिनमें अन्तिम इस प्रकार है—

शोधन-मथन विरोधका, हुआ करे अविराम।
प्रेम पगे रलमिल सभी, करें कर्म निष्काम॥

वास्तवमें यह आपकी आलोचना-पद्धतिका 'मोटो' है। शोधन-मथनका काम निरन्तर हो, प्रेमके साथ हो, रलमिलकर हो, इसमें परस्पर वैर-विरोधकी तो कही गुँजायश ही नही है! इसी अकमें आपने 'प्रार्थ-नाएँ' शीर्षकसे ४ बातें कही है। उनमें तीसरी इस प्रकार है—"यदि कोई लेख अथवा लेखका कोई अश ठीक मालूम न हो, अथवा विरुद्ध दिखाई दे, तो महज उसकी वजहसे किसीको लेखक या सम्पादकसे द्वेषभाव न धारण करना चाहिए, किन्तु अनेकान्त नीति और उदारतासे काम लेना चाहिए और हो सके तो युक्तिपुरस्सर संयतभाषामे लेखकको उसकी भूल सुझानी चाहिए।" पण्डितजीकी इसी नीतिका यह फल है कि आरम्भमें उनका विरोध करनेवाले भी अन्तमें उनके मित्र बन जाते है।

एक वर्ष बाद, समन्तभद्राश्रमका स्थान सरसावा बदल दिया गया और उसीने इस प्रकार वीरसेवामन्दिरका रूप धारण किया और पण्डित-जीका जन्मक्षेत्र ही अब उनका साधनाक्षेत्र हो गया है।

यह पण्डितजीकी जीवनसामग्रीका बहुत अधूरा संकलन है। इसकी उपमा उस आइनेसे दी जा सकती है, जिसकी कलई बहुत कुछ उड़ी हुई है, फिर भी सावधानीसे झाँकनेपर जिसमें कामचलाऊ सूरत दिखाई दे जाती है।

संक्षेपमें स्वस्थ हो तो अपनी गद्दीपर और बीमार हो तो अपनी शय्यापर पड़े-पड़े भी, एक ही धुन, एक ही लगन, एक ही विचार और एक ही कार्य-शोध-खोज एवं निर्माण, यह प० जुगलकिशोर मुख़्तारका सम्पूर्ण परिचय है। उनके भीतर महान् जैनसाहित्यका आकुल दर्शन है

और वाहर उसे प्रकाशमें लानेकी आकुलता है। यह दर्शन ही उनका पथ है, यह आकुलता ही उनका सम्वल है। इसके सहारे उन्होंने अपने जीवनके पिछले ३६ वर्ष जैन-साहित्यके अँधेरे कोणोकी खोजमें लगाये है और इसीकी धुनमें उन्होंने अपनी चलती हुई मुख्तारगीरीका परित्याग-किया है। उनकी खोजपद्धतिमे भारतकी श्रद्धा है, यूरोपकी विवेचना है और वास्तविक बात यह है कि उस खोजका वास्तविक मूल्य हम नही, हमारे बादकी पीढी ही ठीक-ठीक आँक सकेगी।

—अनेकान्त, सरसावा, जनवरी १९४४
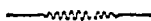
यह तपस्वी

गोयलीय

अच्छा, तो ये हैं मुख्तार साहब ! भई खूब ऊँची दूकान और फीका पकवान ! पाँवमें चमरौधा जूता, तंग मोहरी का पायजामा, गर्दमें अटा पट्टूका कोट बीसो जगह किसारीसे खाया हुआ, सरपर काली गोल टोपी, जो शायद स्कूली लाइफमें खरीदी गई थी, और कोट जो शायद आपके पिताजीने अपनी शादीमें बनवाया था, उसीको एहितियातसे पहने हुए थे।

यह धजा देखी तो मुँहसे बेसाख्ता उपर्युक्त वाक्य निकल पड़ा और मनमें सोचा—यह तो स्वयं पुरातत्त्व हैं। सम्भवतः १९२५ की बात है। भाई पन्नालालजी अग्रवालने बताया कि मुख्तार साहब दिल्ली आये हुए हैं और राजवैद्य शीतलप्रसादजीके यहाँ ठहरे हुए हैं, वहीपर रात्रिको ८ से ९ तक विवाह क्षेत्र प्रकाशका प्रवचन करेंगे।

मैं मुख्तार साहबका नाम बचपनसे ही सुनता आया था, और सुधारक-प्रवृत्ति होनेके कारण उनके प्रति आदरके भाव रखता था। समस्त कार्य्य छोड़कर प्रवचनमें पहुँचा। देखकर तबियत बाग-बाग हो गई, अच्छा तो ये हैं, मुख्तार साहब, समाजको सर्वस्व अर्पण करनेवाले त्यागी, मूर्तिमान तपस्वी !

श्रद्धापूर्वक नतमस्तक होकर एक ओर बैठ गया। मैंने तभी सामाजिक क्षेत्रमें पाँव रखा था। पहिलेका परिचय कुछ भी नही था, फिर भी काफी स्नेहपूर्वक मुझे बिठाया और कुशल-क्षेम पूछी।

उसी रोज पं० जिनेश्वरदासजी[१] 'माइल' के परिचयमें आनका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

जैनियोमें विवाह अत्यन्त संकुचित दायरेमें होते थे। थोड़ी-सी जनसंख्यावाले समाजमें सैकड़ों जातियाँ-उपजातियाँ उनमें भी कई-कई गोत्रोंके बन्धनोंके कारण विवाह-योग्य लड़के-लड़कियाँ बिनब्याहे रह जाते थे।

इसी समस्याका हल मुख्तार साहबने एक छोटेसे ट्रैक्टमें किया था, किन्तु पोगापन्थियों और रूढ़िवादियोमें इतनी सहनशक्ति कहाँ कि वे इसपर विवेकपूर्वक विचार-विमर्श करते। तत्काल एक किरायेके पण्डितसे ऊट-पटाँग जवाव लिखवा दिया गया।

मुख्तार साहब मुख्तारी कर चुके थे। वादी-प्रतिवादियोंके घात-

१—'माईल' साहब उर्दूके बहुत अच्छे शायर और गद्य-लेखक थे। जैन-धर्मके अच्छे मर्मज्ञ थे। दिल्ली-शास्त्र-सभाके तो प्राण थे। आपने 'हुस्नेअव्वल' आदि कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें उर्दूमें लिखी हैं, जो कुमार देवेन्द्रप्रसाद आरा और जैनमित्र-मण्डल देहली-द्वारा प्रकाशित हो चुकी हैं। आपने जैनधर्मके पारिभाषिक शब्दोंके फ़ारसी-अरबी पर्यायवाची शब्द इतने सही और मौज़ूँ निर्माण किये हैं और जैनधर्मपर इतनी सूक्ष्म दृष्टिसे विवेचन किया है कि दाद देनेको हमारे पास शब्द नहीं हैं। जैनकुलमें उत्पन्न होनेका हक़ अदा कर दिया है। वे थियेट्रिकल कम्पनियोंमें ड्रामानवीस थे। देहलीके मशहूर शायर थे। मेरी प्रबल अभिलाषा थी कि उनका परिचय शेर-ओ-सुख़नमें दूँ, किन्तु खेद है कि उनके ड्रामे और दीवान प्राप्त नहीं हो सके। १९३०-३१ में उनका निस्सन्तान देहान्त हो गया। मुझसे काफ़ी स्नेह रखते थे। लेकिन तब यह ख़याल ही कहाँ था कि वे इतना शीघ्र चले जायेंगे? यदि किन्हीं सज्जनके पास उनका प्रकाशित-अप्रकाशित क़लाम पड़ा हो तो उसे भिजवानेकी कृपा करें।

प्रतिघातोसे खूब वाकिफ थे। वे इस तरहकी चोटे सहनेके आदी और उनके काट करनेके अभ्यस्त थे।

उन्होने जैनागमोके अध्ययनमें एक गहरी डुबकी फिर लगाई, और वहाँसे खोजकर जो लाये उसकी चकाचौधसे लोग हतप्रभ हो गये। मुख़्तार साहबके पुरातत्त्व सम्बन्धी लेख कभी-कभी 'जैनहितैषी' में देखे थे, किन्तु उन दिनो पुरातत्त्व सम्बन्धी लेख समझनेका शऊर ही नही था। अत मुख़्तार साहबकी विद्वत्ताका नही, उनकी सुधारक-प्रियताके प्रति मेरा आदर भाव था। जैनधर्मके वे इतने गहरे पण्डित है, यह विवाहक्षेत्र-प्रकाशके प्रवचनसे ही पहली वार विदित हुआ।

अधिक परिचयमे आनेका सौभाग्य मुझे अगस्त १९२९ में हुआ। मुख़्तार साहबने समन्तभद्राश्रमकी २-३ माह पूर्व स्थापना की थी, उन्हे करौलबागमें डा० गुप्ताकी कोठीके पास ला० मक्खनलाल जैन ठेकेदारने अपना एक बृहत् मकान एक वर्षके लिए नि शुल्क दे दिया था। मुख़्तार साहबकी अनेक लोकोपयोगी योजनामे एक योजना अनेकान्त प्रकाशन की थी। लेकिन उसकी रूपरेखा और व्यवस्था कुछ ठीक-ठीक जम नही पा रही थी। मै उन दिनो (१२ फरवरी १९२८ से) नजीबाबाद रह रहा था। सन् २९ में देशमे इनकलाबी लहर फैली तो मै भी उसमे कूद पडनेको अगस्त १९२९ में दिल्ली चला आया। लेकिन दो रोजमे ही इष्ट-मित्रोने प्रश्नोकी बौछारोसे नाकमें दम कर दिया। "क्यो चले आये, यहाँ क्या काम करनेका इरादा है?" हर-एककी जबानपर यही प्रश्न था। मै क्या करूँगा, यह किसीको कैसे बताता? अतः शंकित दृष्टिसे बचनेके लिए समन्तभद्राश्रममे रहना उचित समझा और मुख़्तार साहबने मुझे देखते ही आश्रमकी और अनेकान्तकी व्यवस्था मेरे निर्बल कन्धोंपर डाल दी।

मै पूरे मनोयोगसे कार्यमे जुट गया और नवम्बर मासमे अनेकान्त प्रकाशित हो गया। ८-१० घण्टे सोने और आवश्यक नित्य कर्मके अतिरिक्त मै हर वक्त अनेकान्तमें जुटा रहता, परन्तु मै देखता कि मुझसे

अधिक मुख्तार साहब जमते हैं : मुझे अपनी युवकोचित अहम्मन्यता एवं महत्त्वाकांक्षाको चुनौती-सी मालूम होती।

मैं रातको विलम्बसे सोता और जल्दी-से-जल्दी उठनेका प्रयत्न करता। दिनमें सोने या इधर-उधर जानेका तो खयाल भी न आता, फिर भी मुख्तार साहबको आगे ही पाता। मुझसे पहले उठते और बादमें नही तो रातको मुझसे पहले भी नही सोते।

मेरी उन दिनों प्रथम ऐतिहासिक पुस्तक—"जैन-वीरोका इतिहास" प्रेसमें थी। उसीके सम्बन्धमें एक रोज मैं बा० उमरावसिहजी टाँक बी० ए० एल्-एल० बी० से विचारविमर्श करने गया तो रात्रिको २ बजेके क़रीब आश्रम लौटा। मैं मनमें सोच रहा था कि आश्रमका दर्वाजा कौन खोलेगा और मुख्तार साहब न जाने अपने मनमे क्या सोचेंगे? लेकिन जाकर देखता हूँ तो आश्रमका दर्वाजा खुला हुआ है और मुख्तार साहब मस्तकपर हाथ धरे लिखनेका उपक्रम कर रहे है। उन्हे बैठे पाया तो मेरी जानमें जान आई और मैं भी चुपचाप लिखने बैठ गया।

बैठ तो गया, मगर लिखनेको जी नही चाह रहा था, ऐतिहासिक नोट्स लेने और ३-४ मील पैंदल चलनेके कारण जिस्म निढाल हो रहा था। लेकिन मुख्तार साहबसे पहिले सोना तो बुढ़ापेसे जवानीको पिटवाना था? आख़िर मुख्तार साहब ही बोले—"गोयलीय, न जाने आज क्यों सरमे दर्द हो रहा है? कुछ भी नही लिखा जा रहा है" मैंने इस अवसरको ग़नीमत जानकर अर्ज किया—"चलो सोएँ, सुबह ताजा दम होकर लिखियेगा।"

मुख्तार साहबको दो बजेका आभास भी नही था, वे तो दस बजेका खयाल करके ही सो गये। मै इस सुख-स्वप्नमे कि आज तो ठाठसे देर तक सोयेंगे, निद्रादेवीकी गोदमे लेटा ही था कि नीद उचाट हो गई। सुनता हूँ तो अत्यन्त मधुर और आर्त स्वरमें जिनवाणी माताको टेर रहे हैं। घड़ी देखी तो चार बजे थे। मैंने मन ही मनमें इस जिनवाणीभक्तको प्रणाम किया और अपनेको धिक्कारता हुआ-सा बोला—"मूर्ख, जिन-

वाणीका वरदान तुझ अकर्मण्यको मिलेगा या इस वृद्ध तपस्वीको ? २५ वर्षका धीग होकर इस बुड्ढेसे भी गया-बीता निकला।'

अक्सर कई पत्र-सम्पादकोको देखा है, वे ख्यातिप्राप्त लेखकोके निबन्धोको बग़ैर पढ़े ही प्रेसमें दे देते है, और नये लेखकोंके लेखोको पढ़ने की जहमत गवारा किये बग़ैर ही रद्दीकी टोकरीके हवाले कर देते है। सम्पादकीय जिम्मेदारीका बहुत ही अहसास हुआ तो लेखोमें दो-चार कलम लगा देते हैं। लेकिन मैंने मुख्तार साहबका आलम ही और देखा है। कोई भी लेखक उनके संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्द्धनसे नही बच सकता। यहॉ तक कि एक माह पूर्व अपना लिखा हुआ लेख भी प्रेसमें दिये जानेसे पूर्व एक बार आद्योपान्त अवश्य पढते थे और सशोधन परि-वर्द्धन भी अवश्य करते थे। सर्वसाधारणकी तो बात ही क्या, ख्याति-प्राप्त लेखक श्री प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी, प० बेचरदासजी, पं० नाथू-रामजी प्रेमी जैसोके लेख भी आद्योपान्त पढते थे, उनका सशोधन करते थे और उनपर यथास्थान सम्पादकीय फुटनोट भी लगाते थे और आव-श्यक हुआ तो लेखके अन्तमें सम्पादकीय नोट भी देते थे। यहॉ तक कि उपन्यासकलाके विशेषज्ञ श्री जैनेन्द्रकी कहानी भी मुख्तार साहबकी क़लमसे अछूती नही रह सकती थी।

प्रत्येक लेखमे सशोधन, परिवर्द्धन तो करते ही थे, यदि उसमे उल्लिखित श्लोकों, सूत्रो या शिलालेखोमे तनिक भी सशय होता तो उसका अपने यहॉकी मूल प्रतिसे अवश्य मिलान करते थे, और सचमुच उनका सशय प्राय. शत-प्रतिशत ठीक निकलता था और कहा करते—"बताओ, जब ऐसे लेखक इतनी असावधानी और प्रमाद करते है, तब किसके लेखो पर विश्वास किया जाय।"

मैंने एक-एक लेखपर उनको आठ-आठ, दस-दस रोज परिश्रम करते देखा है। एक बार एक ख्यातिप्राप्त जैन विद्वान् आश्रममे ४-५ रोज रहे। उनको लेख लिखनेके लिए पहले आवश्यक भूमिका बाँध दी, फिर रेफरेन्सके लिए जरूरी नोट्स लिखा दिये, उपयोगी सभी साहित्य

दे दिया। तब ४-५ रोजमें उन्होंने वह लेख तैयार किया। उनके चले जानेके बाद स्वय मुख्तार साहबने उनके लेखके सशोधनमे ४-५ रोज लगाये। तब कही अनेकान्तमे छपा। प्रकाशित होते ही धूम मच गई, यहाँ तक कि उस विद्वान्का लेख हर-एक अंकमे प्रकाशित करनेका आदेश भी बीसों पाठकोने दिया। और तारीफ यह कि उस विद्वान्की जैन-सिद्धान्तकी योग्यता तब भी और आज भी मुख्तार साहबसे बहुत ऊँची कूती जाती है। हालाँ कि वह विद्वान् अपनेको मुख्तार साहबके समक्ष एक तुच्छ विद्यार्थी समझता था।

मुख्तार साहब सम्पादकीय नैतिक जिम्मेदारीको न तो किसी कीमत-मे बेचनेको तैयार किये जा सकते है, न किसी बडे-से-बड़े नेता या इष्ट-मित्रके दबावमे आ सकते हैं। जो लेख उन्हे अनेकान्तकी रीति-नीति के अनुकूल नही जँचेगा, उसे वे कतई नही छापेगे, चाहे उसकी वजहसे कितने ही गहरे हितैषी या स्नेहीका कोप-भाजन बनना पड़े। मुझे स्मरण है कि उन्होंने ब० सीतलप्रसादजी और बैरिस्टर चम्पतरायजीके लेख भी बेझिझक रोक लिये थे, जिससे बैरिस्टर साहबको काफी नागवार खातिर गुजरा था, और उन्होंने अपनी यह अप्रसन्नता पत्रोमे भी प्रकट कर दी थी।

ध्यान रहे उक्त दोनो महानुभाव मुख्तार साहबके अनन्य हितैषी-स्नेही बन्धुओंमेसे थे, और मुख्तार साहब उन्हे स्थायी रूपसे आश्रममें रहनेको कई बार प्रेरणा कर चुके थे।

अनेकान्तका चार वर्षके प्रकाशनका भार मेरे ऊपर रहा है। इन चार वर्षोमे मैने कई लेख ऐसे भी देखे है, जिनकी प्रत्येक पंक्ति काटकर मुख्तार साहबने उन पंक्तियोंके ऊपर अपने कलमसे नया लेख लेखकके नाम पर लिख दिया है। इस तरहके कटे-फटे लेख मिलनेपर मुझे कई बार तो मजबूरन मुख्तार साहबको यह लिखना पडा कि—"अच्छा होता आप कटी हुई पक्तियोपर न लिखकर दूसरे स्वच्छ कागजपर लिखकर भेजते ताकि कम्पोजिग और प्रूफ-सशोधनमे असुविधा न होती।" लेकिन

मुख़्तार साहबका भी क्या दोष ? लेख सशोधित करते समय उन्हे यह आभास ही कैसे हो सकता है कि समूचा लेख कटता जायगा, और नया बनता जायगा, और जब सशोधनमे इतना श्रम पड गया, तब उसकी प्रतिलिपि करके भेजनेको कहना तो सचमुच मुख़्तार साहबके प्रति जुल्म है।

मुख़्तार साहब लेखोके सम्पादनमे कितना श्रम करते है, वगैर पास रहे अनुमान लगाया ही नही जा सकता। लेखक कोई प्रमाण देना भूल गया है, या मुख़्तार साहबको उस सम्बन्धमे नई बात मालूम हुई है या लेखके किसी स्थलसे उनका भिन्न दृष्टिकोण है, तो उसका उल्लेख फुटनोटमे अवश्य करते है। इस नीतिके कारण उनके कई अच्छे-अच्छे स्नेही लेखक रुष्ट भी हो गये है लेकिन वे अपनी नीतिपर सदा अडिग रहे है। कुछ नमूने देना अप्रासगिक नही होगे।

१. श्री बी० शान्तिराज शास्त्रीके 'महाकवि रन्न' लेखपर फुटनोटमें लिखा है—

यहाँ पर उन अजैन विद्वान् तथा उनके लेखादिका नाम भी दे दिया जाता तो और भी अच्छा रहता।

—अनेकान्त वर्ष १ किरण १

इसी तीन पृष्ठके लेखके अन्तमे एक पृष्ठका सम्पादकीय नोट भी लगा हुआ है।

वर्ष एक, किरण दोमे श्री नाथूराम सिघईका देवगढपर तीन पृष्ठका लेख है, तो आपका भी उसपर तीन पृष्ठका सम्पादकीय नोट मौजूद है।

इसी किरणमे श्री भोलानाथ दरख्शॉके सवा दो पृष्ठके लेखपर पौने तीन पृष्ठका सम्पादकीय नोट लगा हुआ है।

किरण ३-४ मे श्री नाथूरामजी प्रेमीके "भगवती आराधना और उसकी टीकाएँ" लेखपर १२ सम्पादकीय फुटनोट भी जडे हुए है।

किरण चारमे प्रसिद्ध विद्वान् प० सुखलालजीका गन्धहस्तीपर ३॥ पृष्ठका लेख हे, जिसपर फुटनोटोके अतिरिक्त आधे पृष्ठका सम्पादकीय नोट भी है।

इसी किरणमें खारवेलपर श्री कामताप्रसादजीका एक पृष्ठका लेख है तो सम्पादकीय नोट भी एक पृष्ठका मौजूद है।

किरण पाँचमे पं० सुखलालजीके "जैनोंकी प्रमाणमीमांसा पद्धति का विकासक्रम" लेखपर फ़ुटनोट लगाते हुए मुख्तार साहबने लिखा है—

लेखक महोदयका यह निर्णय कुछ ठीक मालूम नहीं होता......?

श्री छोटेलालजीका किरण ५ मे खारवेल लेख ४ पृष्ठका है, उसपर ८ सम्पादकीय नोट देखे जा सकते हैं। इसी किरणमे कामताप्रसादजी के ५ पृष्ठके लेखपर ७ सम्पादकीय फ़ुटनोट और डेढ़ पृष्ठका सम्पादकीय नोट है, जिसके अन्तमें लिखा है—

इस लेखकी विचारसरणी यद्यपि बहुत कुछ स्खलित ज्ञान पड़ती है, सत्यकी अपेक्षा साम्प्रदायिकताकी रक्षाकी ओर वह अधिक झुकी हुई है......आदि।

किरण ६-७ में प्रो० बनारसीदासका ३ पृष्ठका लेख है। जिसपर ९ सम्पादकीय फुटनोट लगे हुए है। एक नोटमे लिखा है—**इसके होनेसे जो नतीजा लेखक महाशय निकालना चाहते हैं, वह नहीं निकाला जा सकता।**

इन फुटनोटों और सम्पादकीय टिप्पणियोंके कारण कुछ लेखक क्षुब्ध भी हुए, उसीका स्पष्टीकरण करते हुए किरण ६-७ मे 'एक आक्षेप' शीर्षकसे मुख्तार साहबको ४ पृष्ठका लेख भी लिखना पड़ा। लिखते है—

"लेखोंका सम्पादन करते समय जिस लेखमें मुझे बात स्पष्ट-विरुद्ध, भ्रामक, त्रुटिपूर्ण, ग़लतफ़हमीको लिये हुए अथवा स्पष्टी-करणके योग्य प्रतिभासित होती है और मैं उसपर उसी समय प्रकाश डालना उचित समझता हूँ तो उसपर यथाशक्ति संयत भाषामें अपना (सम्पादकीय) नोट लगा देता हूँ। इससे पाठकोंको सत्यके निर्णयमें बहुत बड़ी सहा-यता मिलती है, भ्रम तथा ग़लतियाँ फैलने नहीं पातीं, त्रुटियोंका कितना ही निरसन हो जाता है और साथ ही पाठकोंकी शक्ति तथा समयका बहुत-सा दुरुपयोग होनेसे बच जाता है। सत्यका ही एक

लक्ष्य रहनेसे इन नोटोंमें किसीकी कोई रू-रियायत अथवा अनुचित पक्षा-पक्षी नहीं की जाती, और इसलिए मुझे अपने श्रद्धेय मित्रों––पं० नाथूरामजी प्रेमी, पं० सुखलालजी–जैसे विद्वानोंके लेखोंपर भी नोट लगाने पड़े हैं, मुनि पुण्यविजय और मुनि कल्याणविजयजी–जैसे विचारकोंके लेख भी अछूते नहीं रहे हैं, परन्तु किसीने भी बुरा नहीं माना, बल्कि ऐतिहासिक विद्वानोंके योग्य और सत्यप्रेमियोंको शोभा देनेवाली प्रसन्नता ही प्रकट की है। और भी दूसरे विचारक तथा निष्पक्ष विद्वान् मेरी इस विचार-पद्धतिका अभिनन्दन कर रहे हैं।······इसी विचार-पद्धतिके अनुसार अनेकान्तकी चौथी और पाँचवीं किरणमें प्रकाशित ··················के[1] दो लेखों पर भी कुछ नोट लगाये थे। पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि उन परसे बाबू साहब रुष्ट हो गये हैं और उन्होंने अपना रोष प्रतिवादात्मक लेख द्वारा 'दिगम्बर जैन' अंक ७ में प्रकट किया है। (आगे लेखकके आक्षेपोंका उत्तर है)।

किरण ११-१२ मे बा० कामताप्रसादजीके ११ पृष्ठके लेखपर १६ सम्पादकीय फ़ुटनोट और ७ पृष्ठकी सम्पादकीय टिप्पणी है। और कामताप्रसादजीके उक्त लेखकी हिमायत करनेके कारण बैरिस्टर चम्पतरायजीकी ११ पृष्ठोंमें खबर ली है।

मुझे मालूम था कि इन नोटोंसे कटुता बढ़ती है और सहयोग कम होता जाता है। ७-८ वर्षके बाद अनेकान्तको पुनः निकालनेकी ज़िम्मेदारी जब मुझे सौंपी गई तो मैंने इस नीतिके बारेमें स्पष्टीकरण करते हुए प्रार्थना की कि जिन लेखोंके सम्बन्धमें आपको विरोध हो, उनपर विरोधात्मक टिप्पणी देनेके बजाय, उन्हे प्रकाशित न करना अधिक उपयुक्त होगा। अथवा टिप्पणीमे लेखककी बात काटनेके बजाय, केवल अपना मत दे देना पर्याप्त होगा। लेकिन मुख्तार साहबको मेरी सम्मति अनुकूल नही जँची।

---

१ नाम हमने देना उचित नहीं समझा। ––गोयलीय

अनेकान्त वर्ष दो, किरण एकमें 'गोत्रकर्माश्रित ऊँच-नीचता' शीर्षक लेख श्री सूरजभान वकीलका प्रकाशित हुआ। इसके पक्ष-विपक्ष-में लेख भेजनेके लिए निमंत्रण देते हुए मुख्तार साहबने लिखा--

"विद्वानोंको इसपर अपना अभिमत प्रकट करना चाहिए, जिससे यह विषय भले प्रकार स्पष्ट होकर रोशनीमें आ जाय।"

इस निमंत्रणपर पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने एक लेख भेजा। वह लेख अनेकान्तमें प्रकाशित करते हुए मुख्तार साहबने उसके विपक्षमे लगभग दो पृष्ठका नोट लगाते हुए लिखा--

"मुझे खेद है कि शास्त्रीजीने बा० सूरजभानजीके फलितार्थको यों ही कदर्थित करनेकी धुनमें दो-तीन उदाहरणों द्वारा अपने खण्डनकी भूमिका बाँधी है, उसमें सत्यसे काम न लेकर छलसे काम लिया है। ....जान-बूझकर पाठकोंको भुलावे तथा भ्रममें डाला गया है...... वह उनको शोभा नहीं देता।" और फिर किरण चारमे विषयको स्पष्ट करनेके लिए १२ पृष्ठका लेख भी लिखा। परिणाम इसका यह हुआ कि शास्त्रीजीने भी अनेकान्तमें लेख भेजने बन्द कर दिये। इन्ही टिप्पणियोसे खीझकर पं० सुखलालजी और प्रो० जगदीशचन्दजीने भी असहयोग कर लिया।

इन फुटनोटोसे किसीने बुरा माना या भला, किन्तु मुख्तार साहब-को जो उचित और सत्य मालूम दिया, उसके स्पष्टीकरणसे वे कभी नही चूके। फुटनोटों और टिप्पणियोंके अतिरिक्त लेखकोंका परिचय भी मुक्तहृदयसे लिखते थे।

अनेकान्तका सम्पादन करनेके अतिरिक्त उसके हर प्रूफको भी स्वयं देखना आवश्यक समझते थे और संस्कृतबहुल तथा अपने लेख तो हर हालतमें कई-कई बार देखते थे। यहाँ तक कि दूसरे-तीसरे वर्षका अनेकान्त दिल्लीसे प्रकाशित हुआ और आप सरसावे रहते थे। अनेकान्त प्रत्येक माहकी २८ ता० को डिस्पैच कर देनेकी मेरी प्रतिज्ञा थी, फिर भी २२-२४ ता० को भेजे गये अपने लेखका प्रूफ़ सरसावे ही मँगवाते थे।

और शुद्धिका इतना खयाल रखते थे कि कभी आप प्रेसमें पहुँच जाते थे तो प्रेसवालोके हाथ-पाँव फूल जाते थे। क्योकि छपते हुए फार्ममें एक दो त्रुटियाँ निकाल देना, तथा कुछ न कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन करना मुख्तार साहबके लिए अदनी-सी बात है।

मितव्ययी आवश्यकतासे अधिक। उनको सौंप देनेके बाद एक पैसा भी समाजका व्यर्थ नष्ट नहीं हो सकता। समाजके पैसेसे आत्मविज्ञापन करना, वाहवाही लूटना तो दरकिनार, उन्होंने जो अपने पसीनेकी समस्त कमाई आश्रमके नाम कर दी है, उसमेंसे अपने शरीरको रखनेमें भी जो थोड़ा-सा लेते है, उसमें भी महान् कष्टका अनुभव करते है। उनका बस चले तो हवा-पानीपर निर्भर रहना अधिक पसन्द करें। आश्रमके ग्रन्थागार और सामान आदि की ही नही, रसोई-भण्डारकी ताली भी स्वयं अपने पास रखते है। एक तोला नमक भी व्यर्थमें कोई नष्ट नही कर सकता[1]। समाजकी धरोहर उनके पास अक्षुण्ण रहेगी। नौकर एक-

---

१—एक घटना भाई कौशलप्रसादकी ज़बानी सुनिए—

"सम्मान-समारोह उत्सवसे पहले 'मुख्तार साहब और उनका कार्य' निबन्धके नोट्स लेनेके लिए मैं और 'प्रभाकर'जी वीरसेवामन्दिर गये थे। वहाँ पर उनसे बातचीत करने और साहित्य देखनेके बाद हमें यह आवश्यकता महसूस हुई कि यहाँसे कुछ पत्रोंकी फाइलें और पुस्तकें सहारनपुर जानी चाहिएँ जिससे वहाँ ठीक अध्ययन हो सके। उन पत्रों-की फाइलोंमें 'जैन गज़ट' के पहिले वर्ष अर्थात् १८९५ सन् की एक फ़ाइल भी थी। मुख्तार साहबने उसे देनेसे इन्कार कर दिया और हमारे बहुत अधिक आवश्यकता बताने तथा पं० दरबारीलालजी कोठियाके यह कहने पर भी कि 'क्या ये लोग फ़ाइल खा जाएँगे' उन्होंने यह कहा कि या तो यहीं देख लो और यदि सहारनपुर ही ले जाना आवश्यक है तो चलो मैं साथ चलता हूँ। परिणाम-स्वरूप अगले दिन स्वयं ही उसे साथ लेकर आये और शामको वापिस जाते समय उसे साथ ले गये।…"

रुपयेका घी भी लाये तो उसे तोले वगैर नही रहेंगे। कभी-कभी यह मितव्ययिता और सतर्कता अनुपयोगी होती हुई भी देखी गई है।

दिल्ली-स्थित आश्रमका भारी-सा बोर्ड गलीके बीचमे लगा हुआ था। आँधीसे उखड़नेपर पुनः लगवाईकी मजदूरी लुहार तीन आने माँगता था, मुख्तार साहव दो आनेसे ज्यादा देना नही चाहते थे। अतः एक माह साइनवोर्ड नही लग सका और आश्रममें नये आने-जानेवालोंको साइनवोर्डके वगैर काफ़ी भटकना पड़ा। आख़िर जव कोई साइनवोर्ड दो आनेमें लगानेको प्रस्तुत नही हुआ तो आपने एक क्लर्कको वैद्य शीतल-प्रसादजीकी टमटम लाने भेजा। वैद्यजी यह कहकर कि—अभी तो हम मरीजोंको देखने जा रहे है, वापिसीपर १२ वजे टमटम भेज देंगे—चले गये। मुख्तार साहवने क्लर्ककी जबानी यह किस्सा सुना तो ६ फर्लांग पैदल और फिर एक आना ट्राममें देकर स्वयं उनके पास पहुँचे। अव वैद्यजीकी क्या ताक़त थी जो गाड़ी देनेसे मना करते, स्वयं किरायेके ताँगे-मे गये, मगर मुख्तार साहवको टमटम दे दी। मुख्तार साहवने वह टम-टम गलीके बीचमें खड़ी की, उसकी छतपर चारपाई और चारपाईपर कुर्सी रखी गई। उसपर चढ़कर दो आदमियोने साइनबोर्ड पकड़ा और गलीके दोनों सिरोंपर खड़े होकर दो आदमियोने राम-राम करके साइन-वोर्ड वाँधा। साइनवोर्ड लगवाकर खुशी-खुशी आश्रममें आये और सरल स्वभावसे बोले—

"देख लो गोयलीय, तुम कहते थे, तीन आनेसे कममें साइन बोर्ड नहीं लग सकता। यह बिना पैसेके लगा हुआ देख लो।"

मैने कहा—"आपके नाम मैने तीनों मुलाजिमोकी आजकी तन-ख्वाह लिख दी है; क्योंकि उन्होंने आज साइनबोर्ड लगानेके सिवा कोई दूसरा कार्य नहीं किया है, और वैद्यजीके ताँगेमे ख़र्च हुए पैसो और आपके श्रमकी कोई क़ीमत आँकी नही जा सकती।"

आप सरपर हाथ फेरते हुए भोलेपनसे बोले—"तुमने पहले इस

परिणामकी ओर संकेत क्यो नही किया, अतः नौकरोंकी आधी तनख्वाह तुम अपने नाम भी लिखो।"

सरलता और सादगीका यह हाल है कि हजार बार देखने और जाननेपर भी यह विश्वास नही होता कि यही मेरी भावनाके अमर कवि है। इन्हीकी लोहलेखनीसे त्रिवर्णाचार-जैसे पाखण्डी ग्रन्थोकी आलोचनाएँ प्रसूत हुई है और इन्हीने सैकडो विलुप्त ग्रन्थोको प्रकाशमे लानेकी कृपा की है।

मुख्तार साहब भारतीमाताका मन्दिर अपनी अमूल्य कलाकृतियो-से चिरकाल तक अलंकृत करते रहे, यही हमारी भावना है!

—डालमियानगर,
८ अक्टूबर १९५१

स्वयं सम्पादक पं० जुगलकिशोर द्वारा लिखे गये खास लेख

१—श्री कुन्दकुन्द और यतिवृषभमे पूर्ववर्ती कौन? २—सेवाधर्म दिग्दर्शन, ३—भगवती-आराधनाकी दूसरी प्राचीन टीका-टिप्पणियाँ, ४—ऊँचगोत्रका व्यवहार कहाँ?, ५—आर्य और म्लेच्छ, ६—सकाम धर्मसाधन, ७—अन्तरद्वीपज मनुष्य, ८—श्री पूज्यपाद और उनकी रचनाएँ, ९—हेमचन्द्राचार्य-जैनज्ञानमन्दिर, १०—योनिप्राभृत और जगत्सुन्दरी योगमाला, ११—स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द, १२—जगत्सुन्दरी-प्रयोगमालाकी पूर्णता, १३—तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी एक सटिप्पण प्रति, १४—धवलादिश्रुतपरिचय, १५—'तत्त्वार्थ-भाष्य और अकलक'पर सम्पादकीय विचारणा, १६—होलीका त्योहार, १७—प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र, १८—प्रो० जगदीशचन्द्र और उनकी समीक्षा, १९—(क) स्वपर वैरी कौन? (ख) वीतरागकी पूजा क्यो? (ग) पुण्य-पाप-व्यवस्था, २०—'सिद्ध प्राभृत' पर सम्पादकीय नोट, २१—भक्तियोग-रहस्य, २२—कवि राजमल्ल और राजा भारमल्ल, २३—वीरनिर्वाण संवत्की समालोचनापर विचार, २४—परिग्रहका प्रायश्चित्त, २५—श्वेताम्बर तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यकी जॉच, २६—सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव।
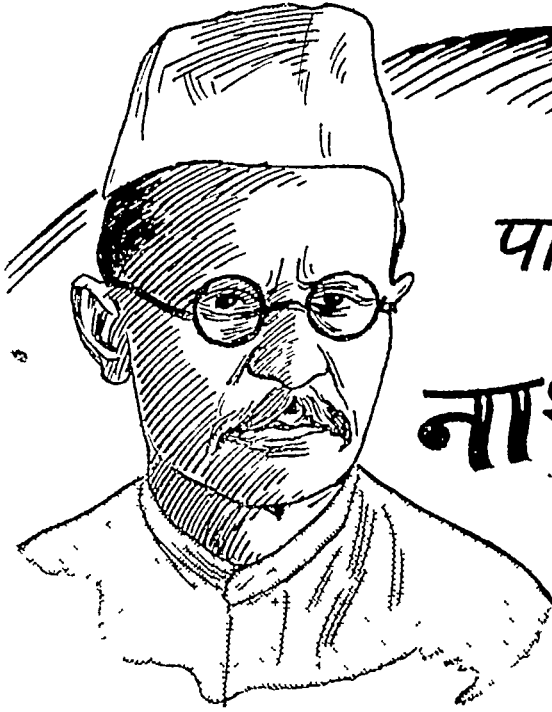
जन्म— देवरी वि० सं० १९३८

वर्तमान आयु— ६९ वर्ष वि० स० २००८

मेरा सद्भाग्य

श्री जैनेन्द्रकुमार

प्रेमीजीका नाम बहुत छुटपनमें पुस्तकोंपर देखा था। उसी आधारपर सन् '२९ में अपनी 'परख' उनके पास भेजनेका साहस कर बैठा। साहसको समझना मुश्किल है। मै लेखक न था और इस कल्पनासे ही जी सहम जाता था कि किताब छप सकती है। किताबोपर छपे लेखकोंके नाम अलौकिक लगते थे और प्रकाशकोके बारेमे तरह-तरहकी कथाएँ सुनी थी। तो भी प्रेमीजीके नामपर मनमें साहस बाँधकर मैंने लिखे काग़जोंका पुलिन्दा बम्बई भेज दिया।

जानता था कि कुछ न होगा। किताब तो छपेगी ही नही, उत्तर भी न आयेगा। एक नये प्रकाशकके पास यही काग़ज़ छः महीने पड़े रहे थे। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' तो उन्हे पूछेगा ही क्यों? पर चौथे रोज़ पाण्डुलिपिकी पहुँच आ गई। पत्र खुद प्रेमीजीके हाथका था। लिखा था कि जल्दी पुस्तक देखकर लिखूंगा। चार-पॉच रोज बीतते-न-बीतते दूसरा पत्र आ गया कि पुस्तकको छापनेको तैयार है और अमुक महीनेमें प्रेसमें दे सकेंगे। बात उतनी ही लिखी गई, जितनी की गई और समयका अक्षरशः पालन हुआ।

इस अनुभवने मुझे बड़ा सहारा दिया। मै जगत्को अविश्वाससे देख रहा था। धारणा थी कि अपरिचितके लिए दुनिया एक बाजार है, जहाँ छल और सौदा है। अपने-अपने लाभकी सबको पड़ी है और एक-का ख्याल दूसरेको नही है। लेखक और प्रकाशकके बीचमे तो उस बाजार के सिवा कुछ है ही नही। लेकिन प्रेमीजीके प्रथम सम्पर्कने मुझे इस नास्तिकतासे उबार लिया। उनकी प्रामाणिकतासे मैंने अपने जीवनमें यह गम्भीर लाभ प्राप्त किया।

इसके बादसे तो मैं उनका हो रहा। यह कभी नही सोचा कि अपनी किताब किसी औरको भी जा सकती है। अपना लिखा उन्हें सौंपकर खुद मैं निश्चिन्त रहा। लिखी सामग्री कब छपती है, कैसे बिकती है और क्या लाभ लाती है, इधर मैंने ध्यान ही नही दिया। कभी इसमें शंका नही हुई कि उनके हाथो मेरा हित उससे अधिक सुरक्षित है कि जितना मैं खुद रख सकता हूँ।

लोग है जो बाजारमें नही है और नीतिनिष्ठ हे। लेकिन दुकान लेकर यह अत्यन्त दुर्लभ है कि सामनेकी अज्ञानताका लाभ लेनेसे चूका जाय। व्यवसायमें यह अन्याय नही है और कुशलता है। व्यवसाय किया ही द्रव्योपार्जनके लिए जाता है। कर्म-कौशलके तारतम्यसे ही उसमे लाभ-हानि होती है। हानिवाला अपनेको ही दोष दे सकता है और लाभ जो जितना कर लेता है, वह उसकी चतुराई है। व्यवसायमें इस तरह मानो एक अटूट 'कर्मसिद्धान्त' व्याप्त है। जो जितनी ऊँची कमाई करता है, कर्मकी दृष्टिसे वह उतना ही पात्र है। उसे अपने शुभ कर्मोका ही इस रूपमे फल-भोग मिलता है।

उसी बाज़ारमें दूसरेके हितका यथोचित मान करनेवाली प्रामाणिकता एक तरह अकुशलता भी है। पर देखते है कि प्रेमीजीने मानो उस अकुशलताको स्वेच्छासे स्वीकार किया है।

पहली पुस्तक 'परख' सन् '३० मे छप गई। म तब जेलमें था। वहाँ प्रेमीजीकी ओरसे तरह-तरहकी पुस्तकें मुझे भेजी जाती रही। परोक्षके परिचयमेंसे ही इस भाँति उनका वात्सल्य और स्नेह प्रत्यक्ष होकर मुझे मिलने लगा। जेलके बाद कराँची कॉग्रेससे उसी स्नेहमे खिचा मैं बम्बई जा पहुँचा। मेरे जेल रहते प्रेमीजी खुद मेरे घर हो आये थे। लेकिन मेरे लिए बम्बईमे उनका यह प्रथम दर्शन था। पर साक्षात्के पहले ही रोजसे उनके यहाँ तो मैंने अपनेको घरमें पाया। क्षणको भी न अनुभव किया कि महमान हूँ या पराया हूँ।

वहाँ उनके काम करनेका ढग देखा। एक शब्दमें अथसे इति तक

वह प्रामाणिक है। मालिकसे अधिक वह श्रमिक है। पूरा-पूरा लाभ मालिकको आता है। इसलिए अचरज नही कि मालिक भी श्रम पूरा-पूरा करे। लेकिन नही, प्रेमीजीकी बात और है। श्रम उनके स्वभावमें है। मालिकोकी अक्सर नीति होती है काम लेना। बड़े व्यवसायी और उद्योगपति इस करनेकी जगह काम लेनेकी नीतिसे बड़े बनते है। वे श्रम करते नही, कराते है। और सबके श्रमके फ़ायदेका अधिक भाग अपने लिए रखते है। व्यवस्थापक इस तरह अधिकांश श्रमिक नही होते, चतुर होते है। प्रेमीजीकी त्रुटि कहिए कि विशेषता कहिए, वे बड़े व्यवसायी नही है और नहीं हो पाये। कारण, वे स्वयं औरोंसे अधिक श्रम करनेके आदी और अभ्यासी है।

पुस्तक उनके हाथों आकर सदोष नही रह सकती। भाषा देखेंगे, भाव देखेंगे, पंक्चुएशन देखेंगे और छपते समय भी छपाई और गैटप आदिका पूरा ध्यान रक्खेंगे। कही किसी ओर प्रमाद नहीं रह पायगा। अपनी पुस्तकके सम्बन्धमे इतनी सावधानी और सयत्नता रखनेवाला प्रकाशक दूसरा मेरे देखनेमे नही आया।

बस, उनके लिए घर और दुकान। दुकानसे शामको घर और घरसे सवेरे दुकान। इस स्वधर्मकी मर्यादासे कोई तृष्णा उन्हे बाहर नही ला सकी। यही सद्गृहस्थका आदर्श है। बेशक वह आदर्श आजकी परिस्थितिकी माँगमे कुछ ओछा पड़ता जा रहा है; लेकिन अपनी जगह उसमे स्थिर मूल्य है और प्रेमीजी उसपर अत्यन्त संयत और अडिग भावसे क़ायम रहे हैं। घर-गृहस्थीमें अपनेको बाँटकर रहना, शेषके प्रति सद्भाव रखना और न्यायोपार्जित द्रव्यके उपभोगका ही अपनेको अधिकारी मानना, सद्गृहस्थकी यह मर्यादा है। प्रेमीजीका गुण-स्थान वही है और भावनासे यद्यपि वे ऊँचे पहुँचते रहे, व्यवहारमे ठीक वही रहे। उससे नीचे मेरे अनुमानमे कभी नही उतरे।

उनका आरम्भ जैन-जिज्ञासुके रूपसे हुआ; लेकिन साम्प्रदायिकताने उन्हे नही छुआ। जैनत्वसे आत्मिक और मानसिकके अलावा ऐहिक

लाभ लेनेकी उन्होंने नही सोची। धर्मसे ऐहिक लाभ उठानेकी भावना-से व्यक्ति साम्प्रदायिक बनता है। वह वृत्ति उनमे नही हुई, फलतः हर प्रकारका प्रकाश वह स्वीकार करते गये। उनकी जिज्ञासा बन्द नही हुई, इससे विकास मन्द नही हुआ। सहानुभूति फैलती गई और साहित्य-की पहचान उनकी सहज और सूक्ष्म होती चली गई।

उनकी यही आन्तरिक वृत्ति कारण थी कि बिना कही पढे अपने व्यवसायमें रहते-सहते विविध विषयोका गम्भीर ज्ञान वह प्राप्त कर सके और निस्सन्देह एकसे अधिक विषयोके ऊँची-से-ऊँची कोटिके विद्वानोंके समकक्ष गिने जाने लगे। वह ज्ञान उनमें संचित न रहा, उन्हें सिद्ध हो गया। उसे उन्हें स्मरण न रखना पड़ा, वह आप ही समुपस्थित रहा। इसीमें उनके स्वभावकी प्रामाणिकता आ मिली तो उनकी सम्मति विद्वानो-के लिए लगभग निर्णीत तथ्यका मूल्य रखने लगी। कारण, इनके कथन-में पक्ष न होता, न आवेश, न अतिरंजन, न अत्युक्ति।

एक बातका मुझपर गहरा प्रभाव पड़ा है। अपनेको साधारणसे भिन्न समझकर मैंने उन्हें कभी नही देखा। कभी उन्होने अपनेमें कोई विशि-ष्टता अनुभव नही की। इस सहज निरभिमानताको मै अत्यन्त दुर्लभ और महान् गुण मानता हूँ। मेरे मन तो यही ज्ञानीका लक्षण है। जो अपनेको महत्त्व नही देता, वही इस अवस्थामे होता है कि शेष सबको महत्त्व दे सके। इस दृष्टिसे प्रेमीजीको जब मैंने देखा है, विस्मित रह गया हूँ। उनकी इस खुली निरीह साधारणताके समक्ष मैंने सदा ही भीतरसे अपनेको नतमस्तक माना है और ऐसा मानकर एक कृतार्थता भी अनुभव की है। ऐसा अनुभव इस दुनियामें अधिक नही मिलता कि जहाँ सब अपने-अपनेको गिननेके आदी और बाकी दूसरोको पार कर जानेके आकाक्षी है।

उनकी सहज धर्म-भीरुताके उदाहरण यत्र-तत्र अनेक मिलेंगे। एक सज्जनने हिसाबमें भूलसे एक हजारकी रकम ज्यादा भेज दी। वह जमा हो गई और हिसाब साल-पर-साल आगे आता गया। तीन-चार

साल हो गये। दोनों तरफ़ खाता बेबाक समझा जाता था। एक अर्से बाद पाया गया कि कहीसे एक हज़ारकी रक़म बढ़ती है। खोज-पड़ताल की गई। बहुत देखनेपर पता चला कि अमुकके हिसाबमे वह रक़म ज्यादा आ गई है। तुरन्त उन सज्जनको लिखा गया कि वह कृपया अपना हिसाब देखें। साधारणतः उन सज्जनने लिख दिया कि हिसाब तो साफ है और बेबाक़ है; लेकिन प्रेमीजीकी ओरसे उन्हें सुझाया गया कि तीन-चार वर्ष पहलेकी हिसाब-बही देखें, हमारे पास एक हजारकी रकम ज्यादा आ गई है। इस तरह अपनी ओरसे बढ़ी रकमको पूरे प्रयत्नसे जाननेके बाद कि वह यथार्थमें किसकी है और मालूम होनेपर तत्काल उसे उन्हीको लौटाये बिना प्रेमीजीने चैन नही लिया। यह अप्रमत्त ईमानदारी साधना-से हाथ आती है। पर प्रेमीजीका वह स्वभाव हो गई है।

उनका जीवन अन्दरसे धार्मिक है। इसीसे ऊपरसे उतना धार्मिक नही भी दीखे। यह धर्म उनका श्वास है, स्वत्व नहीं। प्राप्त कर्तव्यमें दत्तचित्त होकर बाहरी तृष्णाओं और विपदाओसे अकुण्ठित रहे है। पत्नी गई, भर-उमरमें पुत्र गया। प्रेमीजी जैसे संवेदनशील व्यक्तिके लिए यह वियोग किसीसे कम दुस्सह नही था। इस विछोहकी वेदनाके नीचे उन्हें बीमारी भी भुगतनी पड़ी। लेकिन सदा ही अपने काममेंसे वह धैर्य प्राप्त करते रहे। प्राप्तमेंसे जीको हटाकर अप्राप्त अथवा विगतपर उन्होने अपनेको विशेष नही भरमाया। अन्ततक काममे जुटे रहे और भागनेकी चेष्टा नहीं की। मैंने उन्हें अभी इन्ही दिनो काममे व्यस्त देखा है कि मानो श्रम उनका धर्म हो और धर्म उनका श्रम।

ऐसे श्रमशील और सत्परिणामी पुरुषके सम्पर्कको अपने जीवनमें अनुपम सद्भाग्य गिनता हूँ।

—प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ

१९४६

मेरे दादा

स्व० हेमचन्द्र मोदी

बम्बईका 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' हिन्दीमें एक ऐसी प्रकाशन-संस्था रही है, जिसने लोगोंका बहुत-कुछ ध्यान आकर्षित किया है। इसके बारेमे ज्यादा जाननेके लिए लोग उत्सुक भी रहे है, पर इस विज्ञापनबाजीके जमानेमें न जाने क्यो इसके संचालक हमेशा आत्म-विज्ञापनकी ओर इस तरह उपेक्षा दिखलाते रहे है कि लोगो-की उत्सुकता खुराकके अभावमे अभिज्ञताके रूपमे नही पलट पाई। कोशिश करनेपर लोग इसके बारेमे इसके नामके अलावा इतना ही जान पाये है कि इसके मालिक श्री नाथूराम प्रेमी नामक कोई व्यक्ति-विशेष है। हॉ, कोई आठ-दस साल पहले व्यक्तिगत चिट्ठियोंमे सवाल-पर-सवाल पूछकर पूज्य प० बनारसीदासजी चतुर्वेदी कुछ जानकारी पा गये थे, जिसे उन्होने 'विशाल भारत' मे छाप दिया था। पर इसके द्वारा लोगोकी उत्सुकता बढी थी, घटी नही थी।

मै पिताजीको न जाने कबसे 'दादा' कहता आया हूँ और मेरी देखादेखी निकट परिचयमे आनेवाले हिन्दीके बहुतसे लेखक भी उन्हें 'दादा' कहने और पत्रोमें लिखने लगे हैं। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'के साथ वे इस तरह सश्लिष्ट है कि जो लोग थोडे भी परिचयमें आये है, वे दोनोमें भेद नही कर पाते। इतना ही नही, मेरा कई सालका अनुभव है कि वे स्वयं भी अपने आपको चेष्टा करनेपर भी 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'-से अलग नही कर पाते। अपने कार्यसे इतना अधिक एकात्म्य दुनियामें बहुत कम लोग अनुभव करते है। यह एकात्म्य यहाँ तक रहा है कि कभी-

कभी मुझे यह भासने लगता है कि जिस पितृ-स्नेहका मैं हकदार था, उसका एक बहुत बड़ा हिस्सा इसने चुरा लिया है और मुझे याद है कि मेरी स्वर्गीया माँ भी अनेक बार इसमें अपनी सौतका दर्शन करती रही है; परन्तु मेरे निकट 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' कोई चीज नही है। मेरे निकट तो बस मेरे दादा है। मै यहाँ अपने दादाका ही परिचय दूंगा; क्योंकि मेरे लिए वे ही सब कुछ है। मेरे निकट 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' है तो केवल उनके एक प्रतीकके रूपमें। मुझे विश्वास है कि पाठक भी जड़ 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' की अपेक्षा चेतन 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' को ही जाननेके लिए ज्यादा उत्सुक होंगे।

पर इसका मतलब यह नही है कि दादा मुझे चाहते नही है या मेरी माताके प्रति उनका व्यवहार उचित नही था। सच पूछो तो दादा मेरी माँको चाहते नही थे, उनकी भक्ति करते थे। जब वे किसी चीजके लिए कहती थीं, तब वह माँग उन्हें इतनी तुच्छ प्रतीत होती थी कि उनके ख्याल-से उन-जैसी देवीको शोभा न देती थी। उन्होने इस बातका ख्याल नही किया कि एक देवीके शरीरमें भी मनुष्यका हृदय रह सकता है। उनकी मृत्युके आठ साल बाद आज भी जब वे उनका स्मरण करते है, तब उनका हृदय दुखसे भर उठता है। आप कहेगे, "यह तुमने अच्छा झगड़ा लगाया। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'से तुम्हारी माँका क्या सम्बन्ध ?" पर मेरा विश्वास है कि दादाने जो भी कुछ किया, 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'को आप जैसा कुछ देखते हैं, उसमे अगर यह कहा जाय कि दादाकी अपेक्षा मेरी माँका अधिक हिस्सा है तो शायद कुछ ज्यादा अतिशयोक्ति न होगी। पुरुष कितना ही त्याग-वृत्तिका हो, सेवा-परायण और कर्तव्यनिष्ठ हो, पर अगर स्त्री अपने पतिके व्रतको अपना व्रत नही बना लेती तो अवश्य ही उस पुरुषका पतन होता है। कार्लमार्क्स कितने ही सिद्धान्तवादी होते पर उनकी पत्नी लोभी, विलासेच्छु होती तो वे कभीके पूंजीवादियोके मायाजालमे फँस जाते। बड़े-बड़े होनहार देशभक्तों, त्यागियों और महापुरुषोंका पतन उनकी पत्नीके अपातिव्रत्यके कारण ही हुआ है। अपने पतिके

व्रतको वे अपना व्रत न मान सकी ।

जब कभी हम लोग फ़ुर्सतके वक्त दादाके पास बैठते है, तब वे अपने जीवनकी स्मरणीय घटनाओं और बातोको कहते है। उनको सुनने और उनपर विचार करनेपर हमे मालूम होता है कि उनके चरित्र और स्वभावके किन गुणोने उन्हे आगे बढाया और उस कार्यके करनेके लिए प्रेरित किया और किन परिस्थितियोने उसमे मदद पहुँचाई।

दादाकी बातोमे सबसे पहली बात जो ऊपर तैर आती है वह अत्यन्त दरिद्रताकी है। दादाके पिता अर्थात् मेरे आजेका नाम था टूँडे मोदी। हम लोग देवरी जिला सागर (मध्यप्रान्त) के रहनेवाले परवार बनिये है। परवार लोग अपने मूलमे मेवाड़के रहनेवाले थे। पहले हथियार बाँधते थे, पर बादमे और बहुत-सी क्षत्रिय जातियोकी तरह व्यापार करने लगे और वैश्य कहलाने लगे। पुराने शिलालेखोमे इस जातिका नाम 'पौरपट' मिलता है और ये मेवाडके पुर या पौर कसबेके रहनेवाले है और सारे बुन्देलखंडमे बहुतायतसे फैले हुए है। मगर हमारे आजे टूँडे मोदी महाजनोमे अपवाद-रूप थे। अपनी हार्दिक उदारताके सबब वे अपने आसामियोसे कर्ज दिया हुआ रुपया कभी वसूल न कर सकते थे और किसीको कष्टमें देखते थे तो पास रुपया रखकर देनेसे इन्कार न कर सकते थे। इस कारण वे अत्यन्त दरिद्रताके शिकार हो गये। देखनेको हजारो रुपयेकी दस्तावेजे थी, पर घरमे खानेको अन्नका दाना नही था। दादा सुनाते है कि बहुत दिनो तक घरका यह हाल था कि वे जब घोड़ेपर नमक, गुड वगैरह सामान लेकर देहातमे बेचने जाते थे और दिन भर मेहनत करके चार पैसे लाते थे, तब कही जाकर दूसरे दिनके भोजनका इन्तजाम होता था। वे कर्जदार भी हो गये थे। एक बारकी बात है कि घरमे चूल्हेपर दाल-चावल पककर तैयार हुए थे और सब खानेको बैठने ही वाले थे कि साहूकार कुडकी लेकर आया। उसने वसूलीमे चूल्हेपरका पीतलका बर्तन भी माँग लिया। उससे कहा कि भाई, थोडी देर ठहर। हमे खाना खा लेने दे। फिर बर्तन ले जाना। पर उसने कुछ न सुना।

वर्तन वहीं राखमें उँडेल दिये। खाना सब नीचे राखमे मिल गया और वह वर्तन लेकर चलता बना। सारे कुटुम्बको उस दिन फ़ाका करना पड़ा।

ऐसी ग़रीबीमें गॉवके मदरसेमें दादा पढे, ट्रेनिगकी परीक्षा पास की और मास्टरीकी नौकरी कर ली। वे कई देहाती स्कूलोमे मास्टर रहे। मास्टर होनेके पहले कुछ दिन उन्होंने डेढ रुपया महीनेकी मानी-टरीकी नौकरी की। मास्टरीमें उन्हें छ रुपया महीना मिलता था। बादमें सात रुपया महीना मिलने लगा था। इसमेसे वे अपना खर्च तीन रुपयेमें चलाते थे और चार रुपया महीना घर भेजते थे। इन दिनों जो कम-खर्चीकी आदत पड़ गई, वह दादासे अभीतक नही छूटती। एक तरफ तो उनमें इतनी उदारता है कि दूसरोके लिए हज़ारों रुपये दे देते है, पर अपने खर्चके लिए वे एक पैसा भी मुश्किलसे निकाल पाते है। अन्य गुणो के साथ मिलकर इस आदतका असर 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के संचालन-पर भी गहरा पडा है। किताबोंकी बिक्रीका जो भी कुछ पैसा आता रहा, वह कुछ व्यक्तिगत खर्च निकालकर नये प्रकाशनोंमें ही लगता गया। वम्बईके जीवनका वहुत बडा हिस्सा उन्होने दस-बारह रुपये महीना किरायेके मकानोमें ही निकाल दिया है, जब कि उनकी हालत ऐसी थी कि खुशीसे पचास रुपया महीना किराया खर्च कर सकते थे। इस आदत के कारण ही उन्हें कभी किसी अच्छे ग्रन्थको छपानेके लिए, जिसकी कि वे आवश्यकता समझते हों, रुपयोका टोटा नहीं पड़ा और न कभी आज तक क़र्जमें किसीका पैसा लेकर धन्धेमे लगाया। कभी किसी प्रेसवालेका या कागजवालेका एक पैसा भी उधार नही रक्खा। यही आदत उन्हे सभी क़िस्मके व्यसनोसे और लोभसे भी बचाये रही। सट्टेबाज मार-वाड़ियोके बीच रहकर भी हमेशा वे सट्टेके प्रलोभनसे बचे रहे। उन्होने कभी किसी ऐसी पुस्तकको नही छापा, जिसका उद्देश्य केवल पैसा कमाना हो, और न लोभमे पड़कर कभी कोई ऐसा कार्य किया, जो नीतिकी दृष्टिसे गिरा हुआ हो। कभी ऐसा मौका आता है तो वे कह देते है, "जरूरत

पडनेपर फिर मैं एक बार छः रुपये महीनेमे गुजारा कर लूँगा, पर कमाई-के लिए यह पुस्तक न छापूँगा ।"

यहाँ मुझे यह भी कहना चाहिए कि अल्पसन्तोषितासे एक बुराई भी पैदा हो गई है। वह यह कि अन्य पुस्तक-प्रकाशक अपनी पुस्तक वेचनेके लिए जितनी कोशिश कर पाते है और कभी-कभी जितनी ज्यादा वेच लेते है, उतनी हम नही कर पाते। बिक्रीकी दौड़में 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' सदा पीछे ही रहा है, पर इनमे बहुतसे अतिप्रयत्नशील प्रकाशक चार दिन चमककर अस्त हो गये, पर 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' अपनी कछुए की चालसे चला ही जा रहा है।

करीव दो साल दादा मास्टरी करते रहे। इसी जमानेमे देवरीमे स्वर्गीय अमीरअली 'मीर' के ससर्गसे दादाको कविता करनेका शौक हुआ और उन्होने 'प्रेमी' के उपनामसे वहुत-सी कविताएँ लिखी, जो उस ज़मानेमे समस्यापूर्तिके 'रसिक मित्र', 'काव्य-सुधाकर' आदि पत्रोमे छपा करती थी। पढनेका भी शौक़ हुआ और आसपास जो भी पुस्तकें हिन्दी की मिलती थी, सभी पढी। कोई दो साल मास्टरीकी नौकरी करनेके बाद सरकारने उन्हे नागपुर कृषि-कालेजमे पढने भेज दिया। उन दिनों उस कालेजमे हिन्दीमे पढानेका प्रवन्ध किया गया था। पर नागपुरमें वे अधिक दिन स्वस्थ न रह सके। बीमार पड गये और घर लौट जाना पड़ा। अपने विद्यार्थी-जीवनकी सवसे अधिक स्मरणीय बात वे उस स्वावलम्वनकी शिक्षाको समझते है, जो उस समय उन्हें मिली। उस जमानेमे कालेजोके साथ आजकलकी तरह वोर्डिग नही थे। सब विद्यार्थियोको अपने हाथसे ही रोटी वनानी पडती थी। दादाको रोटी वनानेमे आधा घंटा लगता था। दादा वोर्डिगोकी प्रथाको वहुत वुरी प्रथा समझते है, जिससे उनमे विलासिता घर कर जाती है।

'मीर' साहवके ससर्गमें जो उन्हे काव्य-साहित्यका शौक़ हुआ सो हमेशा ही वना रहा। साथ ही ज्ञानकी पिपासा जाग्रत हो गई। खुद सुन्दर

कविता करने लगे, पर इससे अधिक अपने अन्य कवियोंकी कविताओंका उत्तम संशोधन करनेका बहुत अच्छा अभ्यास हो गया। आगे चलकर इस अभ्यासकी ऐसी वृद्धि हुई कि कई अच्छे कवि अपनी कविताका संशोधन करानेमें प्रसन्नताका अनुभव करते थे। दादाका कहना है कि उनको कविता प्रयत्नपूर्वक बनानी पड़ती है। वे स्वभावतः कवि नही है। इसलिए उन्होंने बादमे कविता लिखना बन्द कर दिया। वे 'प्रेमी' उपनामसे कविता करते थे और इसी नामसे वे प्रसिद्ध हो गये। पर कविताके संशोधन और दोष-दर्शनमें जितनी कुशलता उन्हे हासिल है, उतनी कुछ इने-गिने लोगोको होगी। कहीं कोई शब्द बदलना हो, कही कोई काफिया ठीक न बैठता हो तो वे तुरन्त नया शब्द सुझा देते हैं और काफियेको ठीक कर देते है।

इसी समय एक अखबारमें विज्ञापन निकला कि 'बम्बई-प्रान्तिक-दिगम्बर-जैन-सभा' को एक क्लार्ककी जरूरत है। दादाने अपना आवेदन-पत्र इस जगहके लिए भेज दिया। उनका आवेदन मंजूर हुआ और बम्बई आनेके लिए सूचना आ गई। पर आप जानते है कि उनका आवेदन मजूर होनेका मुख्य कारण क्या था? आवेदन-पत्र तो बहुतोने भेजे थे, पर उनका आवेदन मंजूर होनेका मुख्य कारण उनकी हस्त-लिपिकी सुन्दरता थी। आजकल लोग हस्त-लेखको सुन्दर बनानेपर बहुत कम ध्यान देते है। दादाके मोती सरीखे जमे हुए अक्षर आज भी बहुतोंका मन-हरण कर लेते हैं। दादाके अक्षर सुन्दर न होते तो उनका बम्बई आना न होता और न 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' का उनके हाथो जन्म ही होता। बचपनमें उन्होंने अपनी हस्तलिपिकी सुन्दरताके लिए काफ़ी प्रयत्न किया था और कस्बेके सरकारी स्कूलके सारे तख्ते उन्हींके हाथके लिखे थे। अक्सर देखा जाता है कि जिन लड़कोंके अक्षर अच्छे होते है, वे पढनेमें पिछड़े होते हैं, पर दादा अपनी कक्षामे हमेशा पहले दो लड़कोंमे रहे।

बम्बईमें आकर उन्हें अपनी शक्तियोके विकासका भरपूर अवसर मिला। यहाँ आते ही उन्होंने संस्कृत, बँगला, मराठी और गुजराती

सीखना शुरू कर दिया। छ:-सात घंटे आफिसका काम करके बचतके समयमे वे इन भाषाओंका अभ्यास करते थे। दफ़्तरमे एकमेवाद्वितीय थे। चिट्ठी-पत्री लिखना, रोकड सम्हालना और 'जैनमित्र'नामक मासिक पत्रके सम्पादनसे लेकर पत्रोको लिफाफ़ोमे बन्द करना, टिकट चिपकाना, डाकख़ानेमे जाकर डाल आने तकका काम उनका था और मिलता था उनको इसके बदलेमे सिर्फ पच्चीस रुपया माहवार। जिस कामको उन्होने अकेले किया, उसीके लिए बादमें कई आदमी रखने पडे।

अपने नौकरीके जीवनकी सबसे स्मरणीय बात जो दादा सुनाते हैं, वह यह कि जब कभी जितनी भी तनख्वाह उन्हे मिली, हमेशा उससे उन्हे बेहद सन्तोष रहा। उन्होने हमेशा यही समझा कि मुझे अपनी लियाकतसे बहुत ज्यादा मिल रहा है। कभी तनख्वाह बढानेके लिए कोई कोशिश नही की और न कभी किसीसे इसकी शिकायत की, पर साथ ही अपनी योग्यता बढानेकी सतत कोशिश करते रहे। एक सामाजिक नौकरी करते हुए भी कभी किसी सेठ-साहूकारकी ख़ुशामद नही की और हमेशा अपने स्वाभिमानकी रक्षा करते रहे। स्वाभिमानपर चोट पहुँचते ही उन्होने नौकरी छोड दी। जिन सेठ साहबकी देख-रेखमें दादा काम करते थे, उनके कुछ लोगोने कान भरे कि दादा रोकडके रुपयोमेंसे कुछ रुपये अपने व्यक्तिगत काममें लाते हैं। एक दिन सेठ साहब अचानक दफ्तरमे आ धमके और बोले कि तिजोरी खोलकर बताओ कि कितने रुपये हैं। दादाने तिजोरी खोलकर रुपये-आने-पाईका पूरा-पूरा हिसाब तुरन्त दे दिया और फिर तिजोरीकी चाबी उन्हीको देकर बाहर चले गये और कह गये कि आपको मेरा विश्वास नही रहा। इसलिए अब मैं यह नौकरी न करूँगा। आप दूसरा आदमी रख लीजिए। बहुत आग्रह करनेपर भी दादाने नौकरी तो न की, पर 'जैनमित्र' की सम्पादकीका काम करते रहे।

उस समय बम्बईके जैनियोमे पं० पन्नालालजी बाकलीवाल नामक एक त्यागी व्यक्ति थे। उन्होने आजन्म समाज-सेवाका, विशेष करके

जैन-साहित्यकी सेवाका, व्रत लिया था और आजन्म अविवाहित रहनेकी प्रतिज्ञा की थी। वे लोगोमें 'गुरुजी' के नामसे प्रसिद्ध थे और अपने जमानेमें जैन-समाजके इने-गिने विद्वानोंमे-से थे। वे बहुत वर्ष बंगालके दुर्गापुर (रंगपुर) नामक स्थानमें अपने भाईकी दुकानपर रहे थे और दादाने उनसे बंगाली भाषा सीख ली थी। दादापर उनके चरित्रका, उनकी निःस्पृहताका और समाज-सेवाकी भावनाका भी बड़ा गहरा असर हुआ और उनसे उनका सम्बन्ध प्रगाढ़ होता गया। उन्होने जैनियोंमे शिक्षाके प्रसारके लिए और जैन-ग्रन्थोके प्रकाशनके लिए 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' नामक एक प्रकाशन-संस्थाकी स्थापना की थी। इससे 'जैन-हितैषी' नामका एक मासिक पत्र प्रकाशित होता था और बहुत-सी जैन पुस्तकें प्रकाशित हुई थी। दादाने भी धीरे-धीरे उनके इस काममे हाथ बटाना शुरू किया। दादाकी योग्यता और परिश्रमका गुरुजीपर बडा प्रभाव पड़ा और थोड़े ही समय बाद वे सारा काम दादाको सौंपकर चले गये। पहले दादाको अपने परिश्रमके बदलेमें किताबोंकी बिक्रीपर कुछ कमीशन मिलता था। कुछ दिनों बाद 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' में दादाका आधा हिस्सा कर दिया गया। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय'में किताबोंकी शक्लमे जो पूँजी थी, वह अधिकांश क़र्जकी थी, जिसका ब्याज देना पडता था, पर जिनकी वह पूँजी थी, वे ऐसे व्यक्ति नही थे, जो एकाएक कभी आकर अपने रुपये तलब करने लगें। बादमें दादाने और छगनमलजीने यह सारा रुपया कमाकर चुकाया।

कुछ दिन बाद गुरुजीने अपनी जगहपर अपने भतीजे श्री छगनमलजी बाकलीवालको रख दिया। दादा और छगनमलजी दोनो मिलकर जैन-ग्रन्थोंके प्रकाशनमे जुट गये। दुकानका प्रबन्ध-सम्बन्धी सारा काम छगनमलजी सम्हालते थे और ग्रन्थोका सम्पादन, सशोधन और 'जैन-हितैषी'के सम्पादनका काम दादा सम्हालते थे। इस समय करीब साठ-पैंसठ जैन-धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित किये। 'जैन-हितैषी'ने समाजमें सबसे

ज्यादा प्रतिष्ठा प्राप्त की। उसका सम्पादन इतना अच्छा होता था कि उस जमानेकी 'सरस्वती' से ही उसका मुक़ाविला किया जा सकता था। कोई भी जातीय पत्र उसका मुकाबिला न कर सकता था। गुरुजीका सारा क़र्ज धीरे-धीरे अदा कर दिया गया और थोडा-सा खर्च किया जाकर जो वचने लगा सो प्रकाशनमे ही लगने लगा।

इस जमानेकी सबसे ज्यादा स्मरणीय बात है स्वर्गीय सेठ माणिक-चन्द्र पानाचन्द्रकी सहायता। दिगम्बर-जैन-समाजका जितना अधिक उपकार सेठ माणिकचन्द्रजी कर गये, उतना शायद ही किसी एक व्यक्ति-ने किया हो। यह उपकार उन्होने कोई धर्मादा सस्थाओको बहुत-सा रुपया देकर किया हो, सो बात नही। उन्होने जितनी संस्थाएँ कायम की, उनका वहुत सुन्दर प्रबन्ध करके ही उन्होने वह कार्य किया। जितना काम उन्होने एक रुपयेके खर्चसे किया, उतना दूसरे धनवान् व्यक्ति सौ रुपया ख़र्च करके भी न कर पाये। इस सफलताका रहस्य, उनमे कार्य-कर्ताओके चुनावकी जो जबरदस्त शक्ति थी, उसमें निहित है। साथ ही और लोग जहाँ दानमें अपनी सारी सम्पत्तिका एक छोटा हिस्सा ही देते हैं, वहाँ वे अपनी लगभग सारी सम्पत्ति दानमे दे गये। वम्बईका हीराबाग, जिसमे कि शुरूसे आज तक 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' का दफ्तर रहा है, उनके दिये दानकी एक ऐसी ही सस्था है।

जैन-ग्रन्थोके प्रकाशनमे वे इस रूपमे सहायता देते थे कि जो भी कोई उत्तम ग्रन्थ कहीसे प्रकाशित होता था, उसकी दो-तीन सौ प्रतियाँ एक साथ तीन-चौथाई कीमतमे खरीद लेते थे। प्रत्येक प्रकाशकके लिए यह बहुत काफी सहायता थी, जिसमे छपाईका क़रीब सारा खर्च निकल आता था। दादाको भी इस तरह काफी सहायता मिली। पुस्तक-प्रकाशनमे सहायताका यह ढग इतना सुन्दर है कि दादाका कहना है कि अगर हिन्दीमे उत्तम पुस्तकोके प्रकाशनको प्रोत्साहन देनेके लिए यह ढग अख्तियार किया जाय तो हिन्दी-साहित्यकी बहुत कुछ कमी बात-की-वातमें दूर हो सकती है। इसमे लेखक और प्रकाशक दोनोंको उत्साह

मिलता है। सिर्फ लेखकोंको पुरस्कार देनेकी अथवा प्रकाशनके लिए नई प्रकाशन-संस्थाएँ खोलनेकी जो रीति है, उसमे खर्चके अनुपातसे लाभ नहीं होता। हिन्दीमें अधिकारी लेखकोंका अभाव नही है, पर प्रकाशकोका जरूर अभाव है। जबतक बिकनेकी आशा न हो तबतक प्रकाशक अच्छी पुस्तक निकालते सकुचाते है। पुस्तक अच्छी होगी तो लेखक जरूर पुरस्कार प्राप्त करेगा, पर प्रकाशकको उससे क्या लाभ होगा? यूरोप की तरह यहाँ तो पुरस्कारकी बात सुनकर उस लेखककी पुस्तक लेनेको तो दौड़ेंगे नही। ऐसी परिस्थितिमें या तो लेखकको स्वय ही प्रकाशक बनकर पुस्तक छपानी पड़ती है और यह वह तभी करता है जब कि उसे पुरस्कार प्राप्त करनेका निश्चय होता है और या किसी प्रकाशकको किसी तरह राजी कर पाता है। पर प्रकाशक इस तरह राज़ी नही होते। वे हमेशा कुछ टेढ़े तरीकेसे लाभ उठानेकी बात सोचते हैं और प्रायः इस तरह कालेजोंके प्रोफेसरोंकी और टेक्स्ट-बुक-कमेटीके मेम्बरों की ही किताबे छप जाती हैं। अन्य योग्य लेखक यो ही रह जाता है। नई सार्वजनिक प्रकाशन-संस्थाएँ खोलनेपर प्रकाशन तो पीछे शुरू होता है, पर आफ़िस आदिका खर्च पहले ही होने लगता है और जितना खर्च वास्तविक कार्यके पीछे होना चाहिए, उससे ज़्यादा खर्च ऊपरके आफिस आदिके ऊपर होता है और कही उसने पत्र निकाला और प्रेस किया तो समझिये कि वह बिना मौत ही मर गई। पुरानी प्रकाशन-संस्थाओके होते हुए नई प्रकाशन संस्थाएँ पैदा करना दोनोंको भूखा मारनेके बराबर होता है और असगठित रूपसे नये-नये प्रकाशक रोज होनेसे न उनकी पुस्तकोंकी बिक्रीका ठीक संगठन ही होता है और न पढ़नेवालोंको पुस्तकें मिल पाती हैं।

स्वर्गीय सेठ माणिकचन्द्रजीके प्रति दादाका जो कृतज्ञताका भाव था, उससे प्रेरित होकर उनके स्वर्गवासके बाद उन्होंने 'माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन-ग्रन्थ-माला' नामकी संस्था खड़ी की, जिसका कार्य सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओंके लुप्तप्राय प्राचीन जैन-ग्रन्थ सुसम्पादित रूपमें प्रकाशित करना है। इस समय तक इसमें सिर्फ़ बीस हज़ारका चन्दा

हुआ है और चालीस ग्रन्थ निकल चुके हैं। दादा इस मालाके प्रारम्भसे ही अवैतनिक मन्त्री रहे हैं और उसका कार्य इस बातका उदाहरण रूप रहा है कि किस प्रकार कम-से-कम रुपयेमे अधिक-से-अधिक और अच्छे-से-अच्छा काम किया जा सकता है; क्योकि ग्रन्थोकी क़ीमत लागत-मात्र रक्खी जानेके कारण और एकमुश्त सौ रुपया देनेवालोको सारे ग्रन्थ मुफ्त दिये जानेके कारण बिक्रीके रूपमे मूल रकम वसूल करनेकी आशा ही नही की जा सकती। बहुतसे ग्रन्थोका सम्पादन दादाने खुद ही किया है और बहुतोका दूसरोके साथ और शेष-का अच्छे आदमियोको चुनकर करवाया है। पहले तो इस कार्यके योग्य विद्वानोका ही अभाव था। बादमे जब विद्वान् मिलने लगे तब रुपयोंका अभाव हो गया। यहाँ इतना कहना जरूरी है कि अपने प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशित करनेकी ओर दिगम्बर-जैन-समाजका बहुत ही दुर्लक्ष्य है। बडी मुश्किलसे उसके लिए रुपया मिलता है। प्राचीन जैन-इतिहासका अध्ययन और इन ग्रन्थोंके सम्पादनमे दिलचस्पीके कारण दादाको संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओका इतना काफी ज्ञान हो गया है कि इन भाषाओके बड़े-बड़े विद्वान् उनकी धाक मानते हैं। ब्रज-भाषाका सुन्दर ज्ञान तो दादाको अपने कवि-जीवनसे ही है।

'जैन-हितैषी' का सम्पादन करते हुए और जैन-पुस्तकोंका प्रकाशन करते हुए दादा हमेशा बँगला, मराठी, गुजराती और हिन्दीकी बाहरी पुस्तके बहुत-कुछ पढ़ा करते थे। इन सबके साहित्यको पढकर उन्हें यह बात बहुत खटकती थी कि हिन्दीमें अच्छे ग्रन्थोंका अभाव है और ये भाषाएँ बराबर आगे बढ़ रही है। उस समय उनके पढनेमे पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी द्वारा अनुवादित जॉन स्टुआर्ट मिलका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लिबर्टी' आया, जो 'स्वाधीनता' के नामसे स्वर्गीय पं० माधवराय सप्रेकी 'हिन्दी-ग्रन्थ-प्रकाशन-मंडली' से प्रकाशित हुआ था। उसे पढकर दादाकी इच्छा हुई कि इनकी सौ-दो सौ प्रतियाँ लेकर जैनियोंमे प्रचार करे, ताकि उनकी कट्टरता कम हो और वे विचार-स्वातन्त्र्यका महत्त्व समझें। पर तलाश

करनेपर मालूम हुआ कि वह ग्रन्थ अप्राप्य है। तब इसके लिए उन्होंने द्विवेदीजीको लिखा। उस समय तक दादाको गुमान भी नही था कि वे किसी दिन हिन्दीके भी प्रकाशक बनेंगे। उन्होंने तो अपने कार्यक्षेत्रको जैन-ग्रन्थोके प्रकाशन और जैन-समाजकी सेवा तक ही सीमित रख छोड़ा था। द्विवेदीजीने बताया कि गवर्नमेण्ट देशी भाषाओमे इस तरहका साहित्य छापना इष्टकर नही समझती। इसलिए इसके प्रकाशनमे जोखम है। पर दादा राजनैतिक साहित्य खूब पढ़ते थे और उन्हे बड़ा जोश था। उन्होंने उसे छापनेका बीड़ा उठा लिया। प्रेस-सम्बन्धी कठिनाइयाँ आईं, पर वे हल हो गईं और द्विवेदीजीके आशीर्वाद और उनकी 'स्वाधीनता'-के प्रकाशनसे ता० २४ सितम्बर १९१२ को 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-ग्रन्थ-माला' का जन्म हुआ।

'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' सबसे पहली ग्रन्थमाला थी, जो हिन्दीमें प्रकाशित हुई। मराठी वग़ैरह भाषाओमे उस समय कई ग्रन्थमालाएँ निकल रही थी। उन्हीके अनुकरणमे इन्होंने भी स्थायी ग्राहककी फ़ीस आठ आना रक्खी, जो पोस्टेज बढ जानेके कारण बादमें एक रुपया कर दी गई। यह ग्रन्थ-माला हिन्दीमें सब तरहका साहित्य देनेके उद्देश्यसे निकाली गई थी। उस समय लोगोंमें यह भावना थी कि हिन्दीमे जो भी नवीन साहित्य छपे, सब खरीदा जाय, क्योकि उस समय हिन्दीमे नवीन साहित्य था ही कितना! उस समय लोगोमें साहित्यको अवलम्बन देनेका भाव भी था। इसलिए धीरे-धीरे मालाके डेढ दो हजार ग्राहक आसानीसे हो गये और हरेक पुस्तकका पहला सस्करण दो हजारका निकलने लगा। लगभग डेढ़ हजार तो पुस्तक निकलते ही चली जाती थी, बाकी धीरे-धीरे बिकती रहती थी। समालोचनाका उन दिनो यह असर था कि 'सरस्वती'-में एक अच्छी समालोचना निकलते ही पुस्तककी सौ-डेढ़-सौ प्रतियाँ तुरन्त ही बिक जाती थी और विज्ञापनका भी तत्काल असर होता था। महायुद्धके ज़मानेमें बारह आने पौडका काग़ज खरीदकर भी ग्रन्थमाला बराबर चालू रक्खी गई। पर इस ज़मानेका लाभ दादा बहुत समय तक

और पूरा न ले सके। कई सख्त और लम्बी बीमारियाँ उन्हे झेलनी पड़ी। साथ ही उन्हे जैन-समाजकी और साहित्यकी सेवा करनेकी धुन ज्यादा थी। ज्यादा वक्त ऐतिहासिक लेख लिखने और 'जैन-हितैपी' के सम्पादनमें खर्च होता था। जितना परिश्रम और खर्च उन्होने 'जैन-हितैपी'के सम्पादनमे किया, उससे आधे परिश्रममे हिन्दीका अच्छे-से-अच्छा मासिक पत्र चलाया जा सकता था और सम्पादक और लेखकके तौरपर बड़ा यश कमाया जा सकता था। सिवाय इसके विज्ञापनका एक वहुत सुन्दर साधन भी वन सकता था।

पर इस सव समाजके लिए की गई मेहनतका परिणाम क्या हुआ है ? दादा तव उग्र और स्वतन्त्र मिजाजके व्यक्ति थे। किसीसे भी दवना उनके स्वभावके खिलाफ था और ऐसी व्यग और कटाक्ष भरी लेखनी थी कि जिसके खिलाफ लिखते थे उसकी शामत आ जाती थी। इसके सिवाय सेठ लोगोके वे हमेशा खिलाफ लिखते थे। पहले 'जैन-हितैपी'-की ग्राहक-सख्या खूब वढी। इतनी वढ़ी कि जैन-समाजमे किसी भी सामाजिक पत्रकी कभी उतनी नही हुई। दादाके विचार अत्यन्त सुधारक थे और छापेका प्रचार, विजातीय विवाह वगैरहके कई आन्दोलन उसमे शुरू किये, पर जव उन्होने विधवा-विवाहके प्रचारका आन्दोलन उसमे शुरू किया तो उसका चारो ओरसे वहिष्कार प्रारम्भ हुआ। उसके विरुद्ध प्रचार करनेके लिए कई उपदेशक रक्खे गये। इन सामाजिक लेखोके अलावा उसमे ऐतिहासिक लेख वहुत होते थे, जिनकी कीमत उस समय नही ऑकी गई, पर उनके लिए आज उसके पुराने अकोके लिए सैकड़ो देशी और विलायती सस्थाएँ दस गुनी कीमत देनेको राजी है, लेकिन आज वे विलकुल ही अप्राप्य है। विधवा-विवाहके प्रचारके लेख ही दादाने नही लिखे, वल्कि अनेक विधवा-विवाहोंमे वे शामिल हुए और अपने भाईका भी विधवा-विवाह उन्होने कराया। परिणाम यह हुआ कि उन्हे कई जगह जातिसे वहिष्कृत होना पड़ा तथा समाजमे उनका सम्मान विलकुल ही कम हो गया, पर इससे वे जरा भी विचलित नहीं हुए।

आखिर समाजको ही उनसे हार माननी पड़ी। पर हाँ, बीमारी और घाटेके सबब उस समय पत्र बन्द कर देना पड़ा। सब मिलाकर वह पत्र ग्यारह वर्ष चला। उसका सारा ख़र्च और घाटा 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' खुद ही बर्दाश्त करता रहा। किसीसे एक पैसेकी सहायता नही ली।

स्थायी ग्राहक बननेका सिलसिला तभी तक रहा, जबतक कि डाक-व्ययकी दर कम रही। पहले एक-दो रुपये तककी वीपियोको रजिस्टर करानेकी जरूरत नही होती थी और इसलिए जहाँ भी किसी एकाध रुपयेकी पुस्तकका भी विज्ञापन ग्राहक देखता था या समालोचना पढ़ता था कि तुरन्त कार्ड लिखकर आर्डर दे देता था और बहुत कम ख़र्चमे उसे घर बैठे पुस्तक मिल जाती थी। उस जमानेमें इतने आर्डर आते थे कि उनकी पूर्ति करना मुश्किल था और छगनमलजी अन्य प्रकाशकोकी पुस्तकें बेचनेके लिए रखते नही थे। फिर भी सालमें करीब पॉच-छः हजार वीपियॉ जाती थी। यह बात 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के पुराने रजिस्टरों से बखूबी सिद्ध की जा सकती है कि जिस अनुपातमे डाक-व्ययकी दर बढ़ती गई, ठीक उसी अनुपातमें जानेवाली वीपियोकी संख्या घटती गई। दादाका ख्याल है कि अगर हमे देशमें स्थायी साक्षरता और संस्कृतिका विस्तार करना है तो सबसे पहले पुस्तकोके लिए पोस्टेजकी दर कम करानेका आन्दोलन करना चाहिए। कांग्रेसका ध्यान भी इस तरफ पूरी तरहसे नही खीचा गया है। चिट्ठियो और कार्डोपर डाक-महसूलकी दर भले ही कम न हो, पर किताबोपर जरूर कम हो जानी चाहिए। अगर यह नही होगा तो कोई भी आन्दोलन सफल नही हो सकता। चाहे समाजवाद हो, चाहे राष्ट्रवाद हो और चाहे गांधीवाद, जबतक उसका साहित्य सस्ते पोस्टेजके द्वारा घर-घर न पहुँच सकेगा तबतक किसीमे सफलता न होगी। किताबोंकी क़ीमत सस्ती रखकर कुछ दूरी तक साहित्यके प्रचारमे सहायता पहुँचाई जा सकती है, पर वह अधिक नही। एक रुपयेकी पुस्तक मँगानेपर अगर आठ-दस आने पोस्टेजमें ही लग जावे तो पुस्तकके सस्तेपन-

से उसकी पूर्ति कैसे की जा सकती है ? ऐसी परिस्थितिमें तो सभी यह सोचेंगे कि पुस्तक फिर कभी मँगा ली जायगी और फिर कभीका समय नही आता। हालमें ही 'मॉडर्न-रिव्यू' में जब रामानन्द बाबूका पोस्टेज-के बारेमे अमेरिकाके प्रेसीडेण्ट रूजवेल्टकी डिक्रीपर नोट पढा तब मुझे इसका ख्याल हुआ कि अमेरिका-जैसे धनवान् देशमे किताबोके लिए डाकखानेने पोस्टेजका रेट फी पौण्ड तीन पैसा (२ सेंट) रख छोडा है तब हिन्दुस्तानका चार आने फ़ी पौण्डसे ऊपरका रट कितना ज्यादा है। मेरे ख़्यालसे इसके लिए अगर एक बार सत्याग्रह-आन्दोलन भी छेडा जाय तो भी उचित ही है।

पोस्टेजके रेट बढनेपर धीरे-धीरे हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीजके और उसके अनुकरणमे निकलनेवाली अन्य मालाओके ग्राहक टूट गये। बादको सबने बहुत कोशिश की, नियमोमे बहुत-सी ढील डाली गई, पर कोई स्थायी लाभ नही हुआ। इस तरह पुस्तक-बिक्रीका पुराना संगठन नष्ट हो गया और नया पैदा भी नही होने पाया। साहित्यिक पुस्तकोकी बिक्रीके लिए बडे-बडे शहरोमे भी अबतक कोई उचित प्रबन्ध नही हो सका है और होना बड़ा मुश्किल है, क्योकि साहित्यिक पुस्तकोकी इतनी बिक्री अभी बहुत कम जगह है कि उससे किसी स्थानीय पुस्तक-विक्रेता का पेट भर सके। फिर कमीशनकी नियमितताने इसकी जो कुछ सम्भावना थी उसे भी नष्ट कर दिया है। स्कूली पुस्तकें बेचनेवाले विक्रेता सब जगह है, धार्मिक और बाजारू पुस्तके बेचनेवाले भी है, पर वे साहित्यिक पुस्तके रखना पसन्द नही करते।

ख़ैर, पोस्टेजकी कमीके सबबसे 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' को अपनी उन्नतिमें जो सहारा मिला, उसे तो हम निमित्त कारण कह सकते है, भले ही वह निमित्त-कारण कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यो न हो! उसकी उन्नतिके प्रमुख कारण दूसरे ही है। मेरी समझमे नीचे लिखे कारण उसमे मुख्य है—

(१) ग्रन्थोंका चुनाव—दादा अपने यहाँसे प्रकाशित होनेवाले

ग्रन्थोंका चुनाव बड़ी मेहनतसे करते है। प्रकाशनार्थ जितने ग्रन्थ हमारे यहाँ आते हैं, उनमेसे सौ मेसे पिचानवे तो वापिस लौटा दिये जाते है। फिर भी लोग बहुत ज्यादा अपनी पुस्तके दादाके पास भेजते है। हिन्दी-में अन्य प्रकाशकोके यहाँसे प्रकाशित हो जानेवाली अनेक पुस्तके ऐसी होती है, जो हमारे यहाँसे वापिस कर दी गई होती है। चुनावके वक़्त दादा तीन बातोंपर ध्यान देते है—

(अ) प्रथम श्रेणीकी पुस्तक हो, चाहे उसके बिकनेकी आशा हो, चाहे न हो।

(आ) पुस्तक मध्यम श्रेणीकी हो, मगर ज्यादा विकनेकी आशा हो।

(इ) लेखक प्रतिभाशाली हो तो उसे उत्साह देनेके लिए।

अधम श्रेणीकी किताबको, चाहे उसके कितने ही बिकनेकी आशा हो, वे कभी नही प्रकाशित करते। अनुचित प्रलोभन देकर जो लोग अपनी पुस्तक प्रकाशित करवाना चाहते है, उनकी पुस्तक वे कभी नही छापते। एक दफ़ेकी बात मुझे याद है कि एक महाशयने, जिनका हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके परीक्षा-विभागसे सम्बन्ध था, दादाको पत्र लिखा कि मै अपना अमुक उपन्यास और कहानी-संग्रह आपको भेज रहा हूँ। इसे आप अपने यहाँसे प्रकाशित कर दीजिए। मै भी आपके लिए काफ़ी कोशिश कर रहा हूँ। आपकी तीन पुस्तकें मै मध्यमाके पाठ्यक्रममे लगा रहा हूँ। कहना न होगा कि दादाने उनका उपन्यास और कहानी-संग्रह बैरंग ही वापिस भेज दिया। सम्मेलनका पाठ्यक्रम छपते-छपते उसमेसे भी पाठ्यक्रममें लगी पुस्तकोके नाम ग़ायब हो गये। बादमें कभी भी दादा की कोई पुस्तक नही ली।

(२) उत्तम संशोधन और सम्पादन—हिन्दीके बहुतसे प्रसिद्ध लेखक अबतक भी शुद्ध भाषा नही लिखते। कुछ दिन हुए एक पुराने लेखकने हमारे यहाँ एक पोथी छपने भेजी थी, जिसमें हिन्दीकी प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकोंमें की व्याकरण और रचना-सम्बन्धी हजारों

गलतियाँ संगृहीत की गई थीं, पर उस पोथीको दादाने छापा नही। जो भी पुस्तकें 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'से प्रकाशित होती है, उनका संशोधन बड़े परिश्रमपूर्वक किया जाता है और अन्तिम प्रूफ लेखककी सम्मतिके लिए उसके पास भेज दिया जाता है। संशोधनमे इस बातका ध्यान रक्खा जाता है कि उससे लेखककी लेखन-शैलीमे फर्क न होने पावे। संशोधनमें दादाने स्वर्गीय पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदीके ढंगको बुरी तरह अपना लिया है। जान स्टुअर्ट मिलको द्विवेदीजीने जिस तरह संशोधित किया था, उसे दादाने अपने मानस-पटलपर रख छोडा है। अनुवाद-ग्रन्थोके प्रकाशित करनेके पहले मूलसे अक्षर-अक्षर दादा अपने हाथ से मिलाते है या मुझसे मिलवाते है। हिन्दीके प्रसिद्ध अनुवादक भी ऐसी भद्दी गलतियाँ करते है कि क्या कहा जाय। एक ही अनुवादककी 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'-से निकली पुस्तकमे और अन्यत्रसे निकली पुस्तकमे बहुत बार बडा अन्तर दीख पड़ेगा। यह सब मेहनत करके भी सम्पादक या संशोधकके रूपमें अपना नाम देनेका दादाको शौक़ नही है।

(३) **छपाई-सफ़ाई**—किताबोकी छपाई-सफाई अच्छी हो, इसपर दादाका बड़ा ध्यान रहता है। उनका कहना है कि बम्बईमें वे इसलिए पडे रहे है कि यहाँ वे अपने मनकी छपाई-सफाई करवा सकते है। एक दफे उन्होने घरका प्रेस करनेका विचार किया था और विलायतको मशीनरीका आर्डर भी दे दिया। पर उसी समय दो ऐसी घटनाएँ हो गई, जिन्होने उनके मनपर बड़ा असर किया और तुरन्त ही उन्होंने घाटा देकर प्रेसकी मशीने बिकवा दी। उस समय मराठीमे स्वर्गीय श्री काशीनाथ रघुनाथ मित्रका मासिक पत्र 'मनोरजन' बड़ा लोकप्रिय था और करीब पाँच छ. हजार खपता था। उसे वे पहले 'निर्णय-सागर' प्रेसमें और बादमें 'कर्नाटक-प्रेस' मे छपवाते थे। प्रेसमे कामकी अधिकताके कारण कभी-कभी उनका पत्र लेट हो जाता था। कर्नाटक प्रेसके मालिक स्वर्गीय श्री गणपति राव कुलकर्णीने ख़ास उनके कामके लिए कर्ज लेकर एक बहुत बड़ी कीमतकी मशीन मँगाई। इसी बीचमे मित्र महाशयको खुद ही अपना

प्रेस करनेकी सूझी और उन्होंने प्रेस कर लिया। प्रेस कर लेनेके बाद बाहरके कामके लोभके कारण और प्रेसपर ध्यान बट जानेके कारण 'मनोरंजन' जहाँ पहले एकाध महीना लेट निकलता था, वहाँ अब दो-दो महीने लेट निकलने लगा और कार्याधिक्य और चिन्ताके कारण उनकी मृत्यु हो गई। यहाँ कर्नाटक प्रेसकी वह मशीन बेकार पड़ी रही और क़र्जेकी चिन्ताके मारे गणपति रावकी मृत्यु हो गई। इन घटनाओंने दादापर बड़ा प्रभाव डाला। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अपनी जिन्दगीमें मै कभी प्रेस नही करूँगा। घरका प्रेस होनेपर उसमे चाहे छपाई अच्छी हो या बुरी, अपनी पुस्तकें छापनी ही पड़ती है। दूसरे उसपर ध्यान बट जानेपर अपना संशोधन वग़ैरहका कार्य ढीला पड़ जाता है। तीसरे प्रेसको हमेशा काम देते रहनेकी चिन्ताके कारण अच्छी-बुरी सभी तरहकी पुस्तकें प्रकाशित करनी पड़ती हैं और इस तरह यशमें धब्बा लगता है। नियमित काम देनेपर जो रेट किसी भी प्रेससे पाये जा सकते है, वे हमेशा उससे कम होते है, जो रकमका ब्याज बाद देनेपर घरू प्रेस करनेपर घरमे पड सकते है।

(४) **सद्व्यवहार**—दादाका व्यवहार अपने लेखको, अपने सहयोगी प्रकाशकों और मित्रोसे अच्छा रहा है। इस व्यवहारकी कुञ्जी रही है गम खाना। पर वे कभी किसीसे दवे नही है, न कभी किसीकी चापलूसी ही उन्होंने की है। प्रकाशकोंको उन्होने अपना प्रतिस्पर्धी नही समझा। अनेक बार ऐसा हुआ है कि कोई नई पुस्तक प्रकाशनके लिए आई है और उसी वक़्त कोई प्रकाशक-मित्र उनके पास आये है। उन्होने कहा है कि यह पुस्तक तो प्रकाशनके लिए मुझे दे दीजिए और उसी वक़्त ख़ुशी-ख़ुशी दादाने वह पुस्तक उन्हे दे दी। कभी कोई पुस्तक ख़ुद न छपा सके तो दूसरे प्रकाशकोसे प्रवन्ध कर दिया। इसी तरह सब शर्तें तै हो जानेपर लेखकका हक़ न रह जानेपर भी अगर कभी लेखकने कोई उचित माँग की है तो उन्होंने उसे तुरन्त पूरा किया है। किसी भी लेखककी कोई पुस्तक उन्होंने दबाकर नही रक्खी। पढ़कर उसे तुरन्त वापिस कर

दिया है। हमेशा उन्होने सवसे निर्लोभिता और उदारताका व्यवहार रक्खा है।

अन्तमें अव मै 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'की कुछ विशेषताओंका दिग्दर्शन कराना उचित समझता हूँ।

'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'मे हिन्दीके अधिकाश लेखकोकी पहली चीजें निकली है। स्वर्गीय प्रेमचन्द्रजीकी सवसे पहली रचनाएँ 'नवनिधि' और 'सप्तसरोज' करीव-करीव एक साथ या कुछ आगे-पीछे निकली थी। जैनेन्द्रजी, चतुरसेनजी शास्त्री, सुदर्शनजी वगैरहकी पहली रचनाएँ 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'से ही निकली। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'के नामकी इतनी प्रतिष्ठा है कि हमे अपनी पुस्तक वेचनेके लिए न आलोचकोकी खुशामद करनी पडती है और न विशेष विज्ञापन ही करना पड़ता है। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर'का नाम ही उसके लिए उत्तम चीजका प्रत्यय होता है। लेखककी पहलेसे विशेष प्रसिद्धि हो, इसकी भी जरूरत नही होती। हमारे यहाँ आकर लेखक अपने आप प्रसिद्ध हो जाता है। आलोचनार्थ पुस्तके भी हमारे यहाँसे वहुत कम भेजी जाती है। हिन्दीके वहुतसे वड़े आदमी अपना हक समझते है कि आलोचनाके वहाने उन्हे मुफ़्त मे किताव मिला करे। ऐसे लोगोसे दादाको वडी चिढ है। उन्हे वे शायद ही कभी किताव भेजते है। पत्रोके पास भी आलोचनाके लिए कितावें कम ही भेजी जाती है। पहले जव आलोचनाओका प्रभाव था और ईमानदार समालोचक थे, तब जरूर दादा उनकी वड़ी फिक्र करते थे और आलोचनाओंकी कतरन रखते थे और सूचीपत्रमे उनका उपयोग भी करते थे। अव केवल खास-ख़ास व्यक्तियोको, जिनपर दादाकी श्रद्धा है, आलोचनाके लिए कितावें भेजी जाती है। इसकी जरूरत नही समझी जाती कि वह आलोचना किसी पत्रमे छपे। उनका हस्तलिखित पत्र ही इसके लिए काफी होता है और जरूरत पडनेपर उसका विज्ञापनमे उपयोग कर लिया जाता है।

—प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ

स्मरणाध्याय

आचार्य पं० सुखलाल संघवी

मेरे स्मरणग्रन्थमें प्रेमीजीका स्मरण एक अध्याय है, जो अति विस्तृत तो नहीं है; पर मेरे जीवनकी दृष्टिसे महत्त्वका और सुखद अवश्य है। इस सारे अध्यायका नवनीत तीन बातोंमें है, जो प्रेमीजीके इतने लम्बे परिचयमें मैंने देखी है और जिनका प्रभाव मेरे मानसपर गहरा पड़ा है। वे ये है—

(१) अथक विद्याव्यासङ्ग।

(२) सरलता

(३) सर्वथा असाम्प्रदायिक और एकमात्र सत्यगवेषी दृष्टि।

प्रेमीजीका परिचय उनके 'जैनहितैषी'के लेखोके द्वारा शुरू हुआ। मै अपने मित्रों और विद्यार्थियोके साथ आगरेमें रहता था। तब सायं-प्रातःकी प्रार्थनामें उनका निम्नलिखित पद्य रोज पढे जानेका क्रम था, जिसने हम सबको बहुत आकृष्ट किया था :—

दयामय ऐसी मति हो जाय।
त्रिभुवनकी कल्याण-कामना, दिन-दिन बढ़ती जाय॥
औरोंके सुखको सुख समझूँ, सुखका करूँ उपाय।
अपने दुख सब सहूँ किन्तु, परदुख नहिं देखा जाय॥
अधम अज्ञ अस्पृश्य अधर्मी, दुखी और असहाय।
सबके अवगाहन हित मम उर, सुरसरि सम बन जाय॥
भूला भटका उलटी मतिका, जो है जन-समुदाय।
उसे सुझाऊँ सच्चा सत्पथ, निज सर्वस्व लगाय॥
सत्य धर्म हो सत्य कर्म हो, सत्य ध्येय बन जाय।
सत्यान्वेषणमें ही प्रेमी, जीवन यह लग जाय॥

प्रेमीजीके लेखोंने मुझको इतना आकृष्ट किया था कि मैं जहाँ-कही रहता, 'जैन-हितैषी' मिलनेका आयोजन कर लेता और उसका प्रचार भी करता। मेरी ऐतिहासिक दृष्टिकी पुष्टिमे प्रेमीजीके लेखोका थोड़ा हिस्सा अवश्य है। प्रेमीजीके नामके साथ 'पण्डित' विशेषण छपा देखकर उस जमानेमें मुझे आश्चर्य होता था कि एक तो ये पण्डित है और दूसरे जैन-परम्पराके। फिर इनके लेखोमें इतनी तटस्थता और निर्भयता कहाँ से ? क्योकि तबतक जितने भी मेरे परिचित जैन-मित्र और पण्डित रहे, जिनकी संख्या कम न थी, उनमेंसे एक-आध अपवाद छोड़कर किसीको भी मैंने वैसा असाम्प्रदायिक और निर्भय नही पाया था। इसलिए मेरी धारणा बन गई थी कि जैन पण्डित भी हो और निर्भय असाम्प्रदायिक हो, यह दुःसम्भव है। प्रेमीजीके लेखोने मेरी धारणाको क्रमशः गलत साबित किया। यही उनके प्रति आकर्षणका प्रथम कारण था।

१९१८ में मैं पूनामे था। रातको अचानक प्रेमीजी सकुटुम्ब मुनि श्री जिनविजयजीके वासस्थानपर आये। मैंने उक्त पद्यकी अन्तिम कड़ी बोलकर उनका स्वागत किया। उन्हें कहाँ मालूम था कि मेरे पद्यको कोई प्रार्थनामें भी पढता होगा। इस प्रसंगने परिचयकी परोक्षताको प्रत्यक्ष रूपमें बदल दिया और यही सूत्रपात दृढ़ भूमि बनता गया। उनके लेखोसे उनकी बहुश्रुतता और असाम्प्रदायिकताकी छाप तो मनपर पड़ी ही थी, इस प्रत्यक्ष परिचयने मुझे उनकी अकृत्रिम सरलताकी ओर आकृष्ट किया। इसीसे मैं थोड़े ही दिनों बाद जब बम्बई आया तो उनसे मिलने गया। वे चन्दावाड़ीमें एक कमरा लेकर रहते थे। विविध चर्चामें इतना डूबा कि आखिरको अपने डेरेपर जाकर जीमनेका समय न देखकर प्रेमीजीसे मैंने कहा कि मैं और मेरे मित्र रमणिकलाल मोदी यही जीमेंगे। उन्होने हमें उतनी ही सरलता और अकृत्रिमतासे जिमाया और परिचयसूत्र पक्का हुआ। फिर तो मेरे लिए बम्बईमें आनेका एक अर्थ यह भी हो गया कि प्रेमीजीसे अवश्य मिलना और नई जानकारी पाना।

बम्बईमें मेरे चिरपरिचित और निकट मित्र सेठ हरगोविन्ददास

रामजी रहते हैं। प्रेमीजीके भी वे गाढ़ सखा बन गये थे। यहाँ तक कि उन दोनोंका वासस्थान एक था या समीप-समीप। घाटकोपर, मुलुन्द जैसे उपनगरोंमें भी वे निकट रहते थे। अतएव मुझे प्रेमीजीकी परिचय-वृद्धिका बड़ा सुयोग मिला। मैं उनके घरका अंग-सा बन गया। उनकी पत्नी रमा बहन और उनका इकलौता प्राणप्रिय पुत्र हेमचन्द्र दोनोके सम्पूर्ण विश्वासका भागी मैं बन गया। घाटकोपरकी टेकरियोमें घूमने जाता तो प्रेमीजीका कुटुम्ब प्रायः साथ हो जाता। आहार सम्बन्धी मेरे प्रयोगोंका कुछ असर उनके कुटुम्बपर पड़ा तो तरुण हेमचन्द्रके नव प्रयोग-में कभी मैं भी सम्मिलित हुआ। लहसुन डालकर उबला दूध पीनेसे पेटपर अच्छा असर होता है। इस अनुभवसिद्ध आग्रहपूर्ण हेमचन्द्र-की उक्तिको मानकर मैंने भी उनके तैयार भेजे गये दुग्धपानको आज़-माया। कभी मैं घाटकोपरसे शान्ताक्रूज जुहू तट तक पैदल चलकर जाता तो अन्य मित्रोके साथ हेमचन्द्र और चम्पा दोनो भी साथ चलते। दोनोकी निर्दोपता और मुक्तहृदयता मुझे यह माननेको रोकती थी कि ये दोनों पति-पत्नी हैं। जब कभी प्रेमीजी शरीक हों तब तो हमारी गोष्ठी-में दो दल अवश्य हो जाते और मेरा झुकाव नियमसे प्रेमीजीके विरुद्ध हेमचन्द्रकी ओर रहता। धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि विषयोमें प्रेमीजीका (जो कभी, स्कूल-कॉलेजमें नही गये) दृष्टिबिन्दु मैंने कभी गतानुगतिक नही देखा, जिसका कि विशेष विकास हेमचन्द्रने अपनेमे किया था। आगरा, अहमदाबाद, काशी आदि जहाँ कहीसे मै बम्बई आता तो प्रेमीजीसे मिलना और पारस्परिक साहित्यिक एव ऐतिहासिक चर्चाएँ खुल करके करना मानो मेरा एक स्वभाव ही हो गया था। आगरेसे प्रका-शित हुए मेरे हिन्दी ग्रन्थ तो उन्होने देखे ही थे; पर अहमदाबादसे प्रकाशित जब मेरा 'सन्मतितर्क' का संस्करण प्रेमीजीने देखा तो वे मुझे न्यायकुमुद-चन्द्रका वैसा ही संस्करण निकालनेका आग्रह करने लगे और तदर्थ उसकी एक पुरानी लिखित प्रति भी मुझे भेज दी, जो बहुत वर्षो तक मेरे पास रही और जिसका उपयोग 'सन्मतितर्क'के संस्करणमें किया गया

है। सम्पादनमें सहकारी रूपसे पण्डितकी हमें आवश्यकता होती थी तो प्रेमीजी वार-वार मुझे कहते थे कि आप किसी होनहार दिगम्बर पण्डित-को रखिए, जो काम सीखकर आगे वैसा ही दिगम्बर-साहित्य प्रकाशित करे। यह सूचना प० दरवारीलाल 'सत्यभक्त', जो उस समय इन्दौरमें थे, उनके साथ पत्र-व्यवहारमें परिणत हुई। प्रेमीजी माणिकचन्द जैन-ग्रन्थमालाका योग्यतापूर्वक सम्पादन करते ही थे, पर उनकी इच्छा यह थी कि न्यायकुमुदचन्द्र आदि जसे ग्रन्थ 'सन्मतितर्क' के ढंगपर सम्पादित हो। उनकी लगन प्रवल थी; पर समय-परिपाक न हुआ था। वीचमे वर्ष वीते, पर निकटता नही वीती। अतएव हम दोनो एक-दूसरे-की सम्प्रदाय विपयक धारणाको ठीक-ठीक समझ पाये थे और हम दोनों-के वीच कोई पन्थ-ग्रन्थि या सम्प्रदाय-ग्रन्थि फटकती न थी।

एक वार प्रेमीजीने कहा, "हमारी परम्परामें पण्डित वहुत है और उनमें कुछ अच्छे भी अवश्य हे; पर मै चाहता हूँ कि उनमेंसे किसीकी भी पन्थ-ग्रन्थि ढीली हो।" मैने कहा कि यही वात मै श्वेताम्वर साधुओके वारेमें भी चाहता हूँ। श्रीयुत जुगलकिशोरजी मुख्तार एक पुराने लेखक और इतिहास-रसिक है। प्रेमीजीका उनसे खास परिचय था। प्रेमीजी-की इच्छा थी कि श्री मुख्तारजी कभी सशोधन और इतिहासके उदात्त वातावरणमें रहें। आन्तरिक इच्छा सूचित करके प्रेमीजीने श्रीयुत मुख्तार जीको अहमदावाद भेजा। वे हमारे पास ठहरे और एक नया परिचय प्रारम्भ हुआ। गुजरात-विद्यापीठके और खासकर तदन्तर्गत पुरातत्त्व-मन्दिरके वातावरण और कार्यकर्ताओका श्रीयुत मुख्तारजीके ऊपर अच्छा प्रभाव पड़ा, ऐसी मुझे उनके परिचयसे प्रतीति हुई थी, जो कभी मैने प्रेमीजीसे प्रकट भी की थी। प्रेमीजी मुझसे कहते थे कि मुख्तार साहव-की ग्रन्थि-शिथिलताका जवाव समय ही देगा। पर प्रेमीजीके कारण मुझको श्रीयुत मुख्तारजीका ही नही, वल्कि दूसरे अनेक विद्वानो एवं सज्जनोका सुभग परिचय हुआ है, जो अविस्मरणीय है। प्रेमीजीके घर या दूकानपर वैठना मानो अनेक हिन्दी, मराठी, गुजराती और विशिष्ट विद्वानोका

परिचय साधना था। पं० दरबारीलालजी 'सत्यभक्त'की मेरी मैत्री इसी गोष्ठीका अन्यतम फल है। मेरी मैत्री उन लोगोंसे कभी स्थायी नही बनी, जो साम्प्रदायिक और निविड़-ग्रन्थि हों।

१९३१ के वर्षाकालमें पर्यूषण व्याख्यानमालाके प्रसंगपर हमने प्रेमीजी और पं० दरवारीलालजी 'सत्यभक्त' को सकुटुम्ब अहमदावाद बुलाया। उन्होने असाम्प्रदायिक और सामयिक विविध विषयोंपर विद्वानो-के व्याख्यान सुने, खुद भी व्याख्यान दिये। साथ ही उनकी इच्छा जाग्रत हुई कि ऐसा आयोजन वम्वईमें भी हो। वम्वईके युवकोंने अगले साल-से पर्यूषण व्याख्यानमालाका आयोजन भी किया। प्रेमीजीका सक्रिय सहयोग रहा। मेरे कहनेपर उन्होंने पुराने सुधारक वयोवृद्ध बाबू सूरज-भानुजी वकीलको वम्बईमें बुलाया, जिनके लेख मै वर्षो पहले पढ़ चुका था और जिनसे मिलनेकी चिराभिलाषा भी थी। उक्त बाबूजी १९३२ में बम्बई पधारे और व्याख्यान भी दिया। मेरी यह अभिलाषा एकमात्र प्रेमीजीके ही कारण सफल हुई।

उधर हेमचन्द्रकी उम्र बढ़ती जाती थी और प्रेमीजीकी चिन्ता भी वढ़ती जाती थी कि यह अनेक विषयोंका धुनी प्रयोगवीर जोगी कारोबार कैसे सँभालेगा। पर मेरा निश्चय विश्वास था कि हेमचन्द्र विरज विभूति है। प्रेमीजी है तो जन्मसे सी० पी० के और देहाती संकीर्ण संस्कारकी परम्पराके, पर उनकी सामाजिक मान्यताएँ धार्मिक मान्यताओंकी तरह वन्धनमुक्त वन गई थी। अतएव उनके घरमे लाज-परदेका कोई बन्धन न था और आज भी नही है। हेमचन्द्रकी पत्नी, जो उस समय किशोरी और तरुणी थी, वह उतनी ही स्वतन्त्रतासे सवके साथ पेश आती, जितनी स्वतन्त्रतासे रमा बहन, हेमचन्द्र और प्रेमीजी खुद। प्रेमीजी पूरे सुधारक है। इसीसें उन्होंने अपने भाईकी पुनः शादी विधवासे कराई और रूढ़िवादियोके खफा होनेकी परवाह नही की। प्रेमीजीके साथ चम्पाका व्यवहार देखकर कोई भी अनजान आदमी नही कह सकता कि यह उनकी पुत्रवधू है। उसे आभास यही होगा कि वह उनकी इकलौती

और लाड़िली पुत्री है। जब कभी जाओ, प्रेमीजीके निकट मुक्त वातावरण पाओगे। रूढ़िचुस्त और सुधारक दोनो इस बातमें सहमत होंगे कि प्रेमीजी खुद अजातशत्रु है।

प्रेमीजी गरीबीकी हालत और मामूली नौकरीसे ऊँचे उठकर इतना व्यापक और ऊँचा स्थान पाये हुए है कि आज उनको सारा हिन्दी-ससार सम्मानकी दृष्टिसे देखता है। इसकी कुञ्जी उनकी सच्चाई, कार्यनिष्ठा और बहुश्रुततामें है। यद्यपि वे अपने इकलौते सत्यहृदय युवक पुत्रके वियोगसे दु.खित रहते है, पर मैंने देखा है कि उनका आश्वासन एकमात्र विविध विषयक वाचन और कार्यप्रवणता है। वे कैसे ही बीमार क्यो न हों, वैद्य, डॉक्टर, और मित्र कितनी ही मनाई क्यो न करें, पर उनके बिस्तरे और सिरहानेके इर्द-गिर्द वाचनकी कुछ-न-कुछ नई सामग्री मैंने अवश्य देखी है। प्रेमीजीके चाहनेवालोमें मामूली-से-मामूली आदमी भी रहता है और विशिष्ट-से-विशिष्ट विद्वान्‌का भी समावेश होता है। अभी-अभी मै हरकिसनदास हॉस्पिटलमें देखता था कि उनकी खटियाके इर्द-गिर्द उनके आरोग्यके इच्छुकोका दल हर वक्त जमा है।

प्रेमीजी परिमितव्ययी और सादगीजीवी है, पर वे मेहमानो और स्नेहियोके लिए उतने ही उदार है। इसीसे उनके यहाँ जानेमें किसीको संकोच नही होता।

उनकी उत्कट अभिलाषाएँ कम-से-कम तीन है। एक तो वे अन्य सात्त्विक विद्वानोकी तरह अपनी परम्पराके पण्डितोका धरातल इतना ऊँचा देखना चाहते है कि जिससे पण्डितगण सार्वजनिक प्रतिष्ठा लाभ कर सकें। दूसरी कामना उनकी सदा यह रहती है कि जैन-भण्डारोके—कम-से-कम दिगम्बर-भण्डारोंके—उद्धार और रक्षणका कार्य सर्वथा नवयुगानुसारी हो और पण्डितो एवं धनिकोंकी शक्तिका सुमेल इस कार्यको सिद्ध करे। उनकी तीसरी अदम्य आकांक्षा यह देखी है कि फिरकोकी और खासकर जाति-पाँतिकी संकुचितता और चौकाबन्धी खत्म हो एवं स्त्रियोंकी खासकर विधवाओकी स्थिति सुधरे। मैंने देखा है कि

प्रेमीजीने अपनी ओरसे उक्त इच्छाओकी पूर्तिके लिए स्वयं अथक प्रयत्न किया है और दूसरोंको भी प्रेरित किया है। आज जो दिगम्बर परम्परा-मे नवयुगानुसारी कुछ प्रवृत्तियाँ देखी जाती है उनमें साक्षात् या परम्परा-से प्रेमीजीका थोडा-वहुत असर अवश्य है। पुराने विचारके जो लोग प्रेमीजीके विचारसे सहमत नहीं, वे भी प्रेमीजीके सद्गुणोके प्रशंसक अवश्य रहे है। यही उनकी जीवनगत असाधारण विशेषता है।

प्रेमीजीमें असाम्प्रदायिक सत्यगवेषी दृष्टि न होती तो वे अन्य वातोंके होते हुए भी जैन-जैनेतर जगत्मे ऐसा सम्मान्य स्थान कभी नही पाते। मैंने तत्त्वार्थ और उमास्वातिके वारेमें ऐतिहासिक दृष्टिसे जो कुछ लिखा है, प्रेमीजीकी निर्भय गवेषक दृष्टिने उसका केवल समर्थन ही नही किया, बल्कि साम्प्रदायिक विरोधोकी परवाह विना किये मेरी खोजको और भी आगे वढ़ाया, जिसका फल सिंघी स्मृति अंक भारतीय विद्यामे विस्तृत लेखरूपसे उन्होंने अभी प्रकट किया है। आजकल प्रेमीजी मेरा ध्यान एक विशिष्ट कार्यकी ओर साग्रह खीच रहे है कि 'उपलब्ध जैन-आगमिक साहित्यका ऐतिहासिक दृष्टिसे मूल्याकन तथा भारतीय संस्कृति और वाङ्मयमे उसका स्थान' इस विपयपर साधिकार लिखना आवश्यक है। वे मुझे बार-बार कहते है कि अल्पश्रुत और साम्प्रदायिक लोगोकी गलत धारणाओको सुधारना नितान्त आवश्यक है।

कोई भी ऐतिहासिक बहुश्रुत विद्वान् हो, प्रेमीजी उससे फ़ायदा उठानेसे नही चूकते। आचार्य श्री जिनविजयजीके साथ उनका चिर परिचय है। मै देखता आया हूँ कि वे उनके साथ विविध विषयोकी ऐति-हासिक चर्चा करनेका मौक़ा कभी जाने नही देते।

अन्तमें मुझे इतना ही कहना है कि प्रेमीजीकी सतयुगीन वृत्तियोने साम्प्रदायिक कलियुगी वृत्तियोंपर सरलतासे थोड़ी-बहुत विजय अवश्य पाई है।

—प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ

जन्म— नकुड़ वि० सं० १९२५

स्वर्गवास— १६ सितम्बर १९४५ ई०

पूजनीय बाबूजी

श्री नाथूराम प्रेमी

जैन समाजकी वर्तमान पीढ़ीमे बहुत ही कम लोग ऐसे है, जो इस महान् प्रचारक और लेखककी बहुमूल्य सेवाओंसे अच्छी तरह परिचित हों। एक तो उन्होने कभी अपनी प्रसिद्धि चाही नही, दूसरे लोकरंजनकी वृत्तिका उनमें सर्वथा अभाव रहा, और तीसरे उन्होंने कभी न तो अपना कोई दल बनाया, न ऐसे अनुयायी ही तैयार किये जो उनकी कीर्तिध्वजाको फहराते फिरते।

जहाँ तक मैं जानता हूँ, दिगम्बर जैन-समाजमे वे एक ही पुरुष है, जिन्होंने लगातार पचास-पचपन वर्ष तक अपनी वाणी और लेखनीसें सर्वथा निःस्वार्थ-भावसे समाजकी सेवा की है और जिनके उपकारोसे हम कभी उऋण नही हो सकते।

दिगम्बर जैन-समाजकी जागृतिका पिछला पचास वर्षका इतिहास बाबूजीकी जीवनीके साथ इस प्रकार सश्लिष्ट है, उसके प्रत्येक आन्दोलन, प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य और प्रत्येक उल्लेखयोग्य घटनाके साथ वे इस तरह ओतप्रोत है कि यदि केवल उन्हीकी विस्तृत जीवन-कथा लिख दी जाय, तो वही उक्त इतिहासकी आवश्यकताओंको पूरा कर सकती है।

लगभग १२ वर्ष पहले मैने पूज्य बाबूजीको आग्रह करके बम्बईकी पर्युषण-व्याख्यानमालामे व्याख्यान देनेके लिए बुलाया था और उस समय उनके समीप बैठकर, उनकी जीवनी लिखनेकी आकांक्षासे लगभग ५० पेजके नोट्स ले लिये थे, परन्तु दुर्भाग्यसे मै अब तक अपनी उस इच्छाको पूरा न कर सका और अब तो मै बिल्कुल असमर्थ-सा हो गया हूँ।

इस लेखमे बावूजीकी सम्पूर्ण जीवनी सक्षेपमें भी देनेकी गुजाइश नही है; परन्तु उनके साहित्यक जीवनको स्पष्ट करनेके लिए और उनकी रचनाओकी पृष्ठभूमिको समझनेके लिए उसकी थोड़ी-सी रूपरेखा दी जाती है।

यहाँ यह लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि बाबू सूरजभानुजी शुद्ध साहित्यिक नहीं है। वे समाज-सुधारक, धर्मप्रचारक और सशोधक पहले है और साहित्यिक उसके बाद। उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह मुख्यतया अपने उक्त उद्देश्योकी पूर्तिके लिए लिखा है और इसलिए एक तरहसे उनका आधेसे अधिक साहित्य 'प्रोपैगण्डा साहित्य' कहा जा सकता है, यद्यपि उसका मूल्य बहुत है और अब भी वह 'आउट आफ डेट' नही हुआ है—उसकी जरूरत बनी हुई है।

बावूजीका जन्म नकुड़ जिला सहारनपुरमे वि० स० १९२५ (ई० स० १८७०) मे हुआ था। इस मार्गशीर्षमे वे पूरे ७५ वर्षके हो गये है। आपके पितामह लाला नागरमलजी तहसीलदार थे और पिता लाला खुशवख्तरायजी नहरके जिलेदार।

सात वर्षकी उम्रके बाद जब तक आप पढते रहे, प्राय. अपने चाचा लाला अमृतरायजीके साथ ही रहे। चाचा पैमायश और नक्शाकसीके मास्टर रहे, पहले होशियारपुरमे और फिर लाहौरमे। होशियारपुरमें आपने मिडिल पास किया और लाहौरमे सन् १८८५ मे मैट्रिक। इसके बाद आप कालेजमे भरती हुए, परन्तु इसी समय पिताजीका देहान्त हो जानेसे आपको नकुड चले आना पडा।

नकुडमे घरपर ही रहकर सन् १८८७ मे आपने लोअर सब-आर्डिनेट प्लीडर परीक्षाकी तैयारी की और उसमें आप पास भी हो गये। उन दिनो यह परीक्षा इलाहाबाद हाईकोर्टकी तरफसे ली जाती थी।

प्लीडर हो जानेपर पहले एक साल तक तो आपने सहारनपुरमे वकालत की और उसके बाद आप देवबन्द चले गये, जहाँ सन् १९१४ तक वकालत करते रहे।

वकालतका पेशा आपको पसन्द न था, परन्तु परिस्थितियोंने कुछ ऐसा मजबूर किया कि आपको वही करना पड़ा। फिर भी मनमे खटक वनी रही। तीन-चार वर्षके बाद एक दिन तो आपको ऐसा उद्वेग हुआ कि छोड़ देनेका ही निश्चय कर डाला और अपने बाबासे पूछा, परन्तु उन्होंने इस कारण कोई जवाब नही दिया कि यह तार्किक आदमी है, मैं न छोड़नेकी दलीलें दूँगा तो इसे जिद चढ़ जायगी। बाबासे जवाब न पानेपर आपने अपनी पत्नीसे सलाह ली। पत्नीने कहा, इसे छोड़ो तो नही; परन्तु यह निश्चय कर लो कि सच्चे मुकदमे ही लिया करूँगा। आमदनी थोड़ी होगी तो मै थोड़े ही मे गुजर कर लूंगी। पत्नीकी यह बात जँच गई और तब इसी निश्चयके अनुसार वकालत जारी रक्खी। थोड़े ही समयमे आपकी सचाईकी काफी शोहरत हो गई और उसका हाकिमोपर गहरा प्रभाव पड़ा।

आपका व्याह सन् १८८२ मे ११ वर्षकी उम्रमे ही हो गया था, परन्तु सन् १८८९ के लगभग पत्नीका देहान्त हो गया, और तब सन् १८९० मे दूसरा व्याह हुआ। इस पत्नीसे आपके इस समय दो पुत्र है—एक बाबू कुलवन्तरायजी इंजीनियर और दूसरे बाबू सुखवन्तरायजी।

आपका सारा खानदान उर्दू-फारसी-दॉ था, धर्मसे किसीको कोई विशेष रुचि नही थी; साथ ही अरुचि भी नही थी। उन दिनो तिथि-त्योहारो पर ही लोग मन्दिर जाते थे और उर्दू लिपिमे णमोकार मंत्र, पद विनती आदि लिख-पढ़ लिया करते थे, पर स्त्रियॉ हर रोज मन्दिर जाती थी।

सबसे पहिले होशियारपुरमे जब आपकी उम्र कोई बारह वर्षकी थी, आपने प्रसिद्ध श्वेताम्बर मुनि आत्मारामजीके व्याख्यान सुने, जो वहॉ चातुर्मासमें आकर रहे थे और उन्हीसे आपको जैनधर्मका कुछ परिचय प्राप्त हुआ।

लाहौरमें आपके चाचाका मकान जैन-मन्दिरके पास ही था। यह मन्दिर दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंका संयुक्त था। आप

प्रतिदिन दर्शन करने जाते थे और शास्त्र भी सुना करते थे, इससे वह परिचय और भी बढा और आपकी जिज्ञासा बढने लगी।

इन्ही दिनो फर्रूखनगरसे चौधरी जियालालजीने 'जैन प्रकाश' नामका मासिक पत्र निकाला। वह इतना अच्छा मालूम हुआ कि आपने लाहौरमे घर-घर घूमकर उसके ग्राहक बनाये और प्राय सभी दिगम्बरी घरोमे वह आने लगा। जैन-समाजका हिन्दीका यह शायद सबसे पहला पत्र था। दक्षिणके जैन-समाजको जाग्रत करनेवाले स्व० सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजीका 'जैन-बोधक' भी शायद उस समय निकलने लगा था।

सन् १८८४-८५ के लगभग मुरादाबादके मुन्शी मुकुन्दरायजी और प० चुन्नीलालजीने निश्चय किया कि जैन-समाजकी उन्नतिके लिए कुछ प्रयत्न किया जाय। मुशीजी सस्कृतके सिवा फारसी-अरबीके भी पण्डित थे और प० चुन्नीलालजी सस्कृतज्ञ। मुंशीजीकी जमीदारी थी और प० चुन्नीलालजी आढतका काम करते थे।

जैन-समाजको जाग्रत करनेके लिए उन्होने जगह-जगह भ्रमण करके जैन-सभाएँ तथा जैन-पाठशालाएँ स्थापित करना शुरू किया। लीथोमें एक मासिकपत्र भी निकाला जिसका नाम शायद "जैन पत्रिका" था। उसमें मुख्यत: उनके दौरोका विवरण रहता था और वह सब जगह मुफ्त भेजी जाती थी। मुशी मुकुन्दराय बडे सभा-चतुर थे। अपने भ्रमणमे उन्होने दो बड़े कार्य किये--एक तो मथुरामे जैन महासभाकी स्थापना की, जिसका सभापति राजा लक्ष्मणदासजी सी० आई० ई० को बनाया और दूसरे अलीगढमें पं० छेदालालजीकी अधीनतामे एक बड़ी पाठशाला कायम की, जिससे जैनधर्मके विद्वान् तैयार हो सके।

उक्त दोनों विद्वानोका बाबूजीपर बहुत प्रभाव पड़ा। बाबूजीने उन्हे अपना गुरु माना और उनके ही पदचिह्नोपर चलनेका निश्चय कर लिया। इसके बाद बाबूजीने शास्त्रस्वाध्यायमे मन लगाकर धीरे-धीरे जैनधर्मकी जानकारी प्राप्त कर ली।

देववन्दमें वकालत करते हुए सन् १८९२ या ९३ में वावूजीने 'जैन हितोपदेशक' नामक मासिक पत्र (उर्दू) जारी किया। इस पत्रमें उपदेशक फ़ण्ड क़ायम करनेकी अपील की गई और वह क़ायम भी हो गया। उसके मन्त्री मुन्शी चम्पतरायजी (डिपुटी मजिस्ट्रेट) बनाये गये और चौधरी जियालालजी (ज्योतिषरत्न) ने सबसे पहले उक्त फण्डकी ओरसे दौरा किया।

दिवालीकी छुट्टियोंमें सरसावाके हकीम उग्रसेनजीके साथ बावूजी ने भी इसकी तरफ़से एक लम्बा दौरा किया। इस दौरेमे मुरादावाद पहुँचनेपर मालूम हुआ कि मथुरामें जो जैन महासभा स्थापित की गई थी, वह पं० प्यारेलालजीकी कृपासे सो चुकी है। शोलापुरके स्व० सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजीने महासभाके एक जल्सेमें आकर प्रस्ताव किया था कि जैन-ग्रन्थ छपने चाहिएँ। पं० प्यारेलालजीने सोचा कि यदि महासभा रही तो ऐसे-ऐसे न जाने और क्या वखेड़े खड़े होंगे, इसलिए इसे सुला देना ही बुद्धिमानी है।

यह सब जानकर वावूजीने महासभाको फिरसे जगानेका निश्चय किया, जिसका पं० चुन्नीलालजीने अनुमोदन किया और इटावे जाकर आपने मुन्शी चम्पतरायजीकी भी अनुमति ले ली। आखिर मथुराके मेलेमें महासभा पुनरुज्जीवित की गई। वावू चम्पतरायजी महामंत्री बनाये गये और सभाकी ओरसे एक साप्ताहिक पत्र निकालनेका निश्चय किया गया, जिसका नाम 'जैन गजट' पसन्द किया गया।

जैन गजटके सबसे पहले सम्पादक बाबू सूरजभानुजी ही नियत किये गये। यह शायद सन् १८९५-९६ की बात है। यद्यपि लगभग डेढ वर्ष तक ही वावूजी जैन गजटके सम्पादक रह सके, परन्तु इतने समयमें ही वह बहुत लोकप्रिय हो गया और उसके लगभग ५०० ग्राहक बन गये। जैन गजटके जीवनकी यह वात सबसे अधिक उल्लेखनीय रहेगी कि वावूजी-ने पहले ही साल उसे दस दिनोंके लिए 'दैनिक' कर दिया और ऐसा प्रवन्ध किया कि ग्राहकोको दशलक्षण पर्वके दस दिनोंमें प्रतिदिन जैन गज़ट

स्वाध्याय करनेके लिए मिलता रहे।

जैन-ग्रन्थोके छपनेका प्रारम्भ हो रहा था। मुंशी अमनसिहजी, सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजी आदिने दो-चार छोटे-मोटे ग्रन्थ छपा भी दिये थे, गतानुगतिक लोगोमें बड़ी सनसनी फैली थी। छापेका विरोध उग्र-से-उग्रतर होता जा रहा था और चूंकि बाबूजी छपानेके पुरस्कर्ता थे, इसलिए मुशी चपतरायजीकी सम्मतिसे उन्होने जैन गज़टसे इस्तीफा दे दिया, पर 'जैन हितोपदेशक'को बराबर जारी रक्खा।

सहारनपुरके लाला उग्रसेनजी रईस बाबूजीको बहुत चाहते थे। उन्होने ही बाबूजीको अपने यहाँकी जैन-सभाका मन्त्री बनाया था, परन्तु जब महासभाके मेलेपर छापेका सगठित विरोध हुआ, तब बोले कि "सहारनपुर जिलेका जिम्मा तो मै लेता हूँ कि वहाँ शास्त्र नही छपने पायँगे। इसी तरह यदि दूसरे प्रतिष्ठित लोग भी अपने-अपने आसपासका जिम्मा ले लें तो यह काम रुक जायगा।" यह बात बाबूजीको बहुत बुरी लगी और उन्होने ललकारकर कह दिया कि अब यह काम तो सबसे पहले सहारनपुर ज़िलेमे ही होगा। देखें कौन रोकता है?

इसके बाद ही नकुडके रईस लाला निहालचन्दजीकी सम्मतिसे बाबूजीने जैनग्रन्थ छपाने और उनका प्रचार करनेके लिए एक संस्था स्थापित की और लगभग एक हज़ार रुपया एकत्र करके ग्रन्थ छपानेका काम शुरू कर दिया। सबसे पहले 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' (वचनिका) प्रकाशित किया गया। इस संस्थामें बाबू ज्ञानचन्दजी जैनी भी शामिल थे, जो कि नकुड़के ही रहनेवाले थे। आगे उन्होने लाहौरसे मोक्षमार्ग-प्रकाश, आत्मानुशासन, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण आदि अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ प्रकाशित किये।

रत्नकरण्डके छपनेपर बड़ा भारी तूफान उठा, जगह-जगह विरोध किया गया, छपानेवाले ही नही, सहानुभूति रखनेवाले भी जातिसे ख़ारिज किये गये। शास्त्रार्थ भी हुए, परन्तु 'मर्ज बढता ही गया ज्यों-ज्यो दवा की!'

'जैन-हितोपदेशक' (उर्दू) लगभग दो वर्ष तक और चलकर बन्द हो गया। उसके बाद हिन्दीभाषियोके लिए बाबूजीने 'ज्ञानप्रकाशक' नामका पत्र निकाला। इसमे तत्त्वार्थसूत्र (छोटी टीका), यति नयन-सुखजीके पद आदि छोटे-छोटे ग्रन्थ और विविध विषयोंके लेख, समाचार आदि प्रकाशित होते थे। कुछ वर्षोके बाद कलकत्तेमें जैन महासभाका जल्सा हुआ और उसमे बाबूजी शामिल हुए। उन दिनों जैन गज़टकी बड़ी दुर्दशा हो रही थी, उसके लिए योग्य सम्पादककी जरूरत थी। बाबूजी ने यह काम अपने सहयोगी पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके सुपुर्द कराया और जैन गजट देवबन्दसे प्रकाशित होने लगा।

आगरेके 'आर्यमित्र'में उन दिनो जैनधर्मके विरुद्ध लेख निकल रहे थे, उनके प्रतिवाद स्वरूप बाबूजीने जैन गजटमें 'आर्यमत-लीला' नामकी लेखमाला शुरू की, जो २८ अंकोमें समाप्त हुई। आर्योका तत्त्वज्ञान, आर्योकी मुक्ति, ऋग्वेदके बनानेवाले ऋषि आदि लेख भी शायद उसी समय लिखे गये।

देवबन्दमें आकर जैन गजट खूब चमका और उसके १५०० ग्राहक हो गये। पं० जुगलकिशोरजीने तीन वर्ष तक उसका सम्पादन किया और उसमें बाबूजीका पूरा सहयोग रहा।

इन्ही दिनो पं० अर्जुनलालजी सेठीने महाविद्यालय छोड़कर जयपुर-में जैन-शिक्षाप्रचारक समितिकी स्थापना की और मेरठमें भारत-जैन महामण्डलका जो जल्सा हुआ, उसमें निश्चय हुआ कि 'जैन-प्रकाशक' नामका पत्र निकाला जाय और उसका आधा खर्च समिति दे और आधा महामण्डल दे। बाबूजी उसके सम्पादक बनाये गये। इसकी तीन हज़ार कापियाँ छपाई जाती थी और जैनधर्मके तीनो सम्प्रदायोमे भ्रातृभाव और मतसहिष्णुता बढ़ाना इसका उद्देश्य था। लगभग डेढ़ वर्ष चलकर यह भी बन्द हो गया।

१२ फ़रवरी सन् १९१४ को बाबूजीने अपनी चलती हुई वकालत छोड़ दी और समाजसेवाके लिए अपना जीवन अर्पण कर दिया।

आपपर पारिवारिक खर्चका बोझा था और किफायतसारीका आपको अभ्यास नही था, अतएव आप कुछ संग्रह न कर सके थे, फिर भी आपने परवा न की।

उस समय आपकी उम्र लगभग ४५ वर्षकी थी और आप काफ़ी कार्यक्षम थे, वकालत भी खूब चलती थी, पर समाजसेवाकी लगनने आपको मजबूर कर दिया, और तबसे अबतक आपने धनोपार्जनके लिए कोई काम नही किया। साथ ही समाजसे कभी एक पाई भी न ली। मुझे मालूम है कि बाबूजी अनेक बार आग्रहपूर्ण आमंत्रण पानेपर भी समाजके जल्सोमें इस कारण नही पहुँच सके है कि गाँठसे सफर-खर्च करनेकी गुंजाइश नही रही और समाजसे खर्च लेना उचित नही समझा।

वकालत छोड़नेके बादकी जीवनीके नोट्स इस समय मेरे पास नही है। आगे आप अपना सारा समय जैनसमाजकी सेवामें ही देने लगे। उसके प्रत्येक आन्दोलन और प्रत्येक रचनात्मक कार्यमे आपका दृश्य या अदृश्य हाथ रहा और जब तक वृद्धावस्थाने आपको बिल्कुल लाचार न कर दिया तबतक आप कुछ न कुछ करते ही रहे।

आप हमेशा प्रगतिशील रहे। आपके विचार और आपकी कलम सदा ही अपने समयसे आगे रही। इसीलिए आप कभी लोकप्रिय न हुए और अपनी सेवाओके बदलेमें आपको वही पुरस्कार मिला जो सभी सुधारकोको अबतक मिलता रहा है।

आप स्वार्थत्यागी तो है ही, साथ ही स्वमान और स्वकीर्तिके भी त्यागी है और यह स्वार्थत्यागसे भी कठिन कार्य है। यशोलिप्साको आपने कभी पासमें नही फटकने दिया। 'नेकी कर और कुएँमें डाल' के सूत्रपर ही आप सदा चलते रहे है।

पुस्तक-प्रकाशक होनेके कारण मैं अबतक पचासों लेखकोके परिचयमें आया हूँ। लेखकोका अपनी रचनाओके प्रति बहुत मोह होता है। परन्तु उसका भी आपमें अभाव है। आपका सम्बन्ध उनसे तभी तक रहता है, जबतक कि वे पूरी नही हो जाती।

जीवन-निर्वाह, जननी और शिशु, विधवा कर्तव्य और ब्याही वहू, आपकी ये चार पुस्तकें मैंने प्रकाशित की है । चारों ही उत्तम कोटि-की पुस्तकें हैं। पिछली दो पुस्तकें तो कई बार छप चुकी है, परन्तु आजतक आपने इनके विषयमें कभी कोई पूछताछ नही की । मानो आपका इनसे कोई सम्वन्ध ही नहीं है ।

आपकी एक पुस्तक मेरे पास २० वर्षसे पड़ी है—तीर्थंकर-चरित्र, वेहद परिश्रमसे लिखी गई है । विविध पुराणो और कथाग्रन्थोमे तीर्थंकरो के चरित्रोमें जो अनेकता है, परस्पर अन्तर है, वह इसमें आलोचनात्मक दृष्टिसे संग्रह किया गया है । मै चाहता था कि इसमें श्वेताम्बर कथा-ग्रन्थोंकी विविधताको भी और शामिल कर दिया जाय और तव उसे प्रकाशित किया जाय, परन्तु यह कार्य मुझसे अब तक न हो सका ।

किन्तु वावूजीने आजतक कभी यह न पूछा कि मेरी उस रचनाका क्या किया ? एक बार स्वयं ही मैंने लज्जावनत होकर उसका जिक्र किया तो कहा कि भाई, मैं तो अपना कार्य कर चुका और करनेमें जो आनन्द है उसका उपभोग भी कर चुका, अब तुम जानो । अपनी रचनाके प्रति इतना निःस्पृह और अनासक्त भाव मैंने तो अपने जीवनमें किसी लेखकमें नही देखा ।

'जैनहितैषी' में आपके मैंने वीसो लेख प्रकाशित किये है । उन्हें मैंने काटा-छाँटा है, सँवारा है और कभी-कभी बहुत विलम्ब भी किया है, परन्तु कभी एक शव्द भी नहीं लिखा कि यह तुमने क्या किया ?

आपके अनेक लेखोसे जैन-समाजमें तहलका मच गया है, उनका विरोध किया गया है और वड़े-वड़े प्रतिवाद निकले है, परन्तु आपने कभी उनका उत्तर नही दिया । आपका सदा ही यह सिद्धान्त रहा है कि अपनी वात कह देना और चुप हो जाना । उसका असर पडे विना नही रहता ।

जिन दिनों आपकी पुराणोंकी आलोचनाएँ निकल रही थी और उनका प्रतिवाद करनेके लिए प्रतिगामी दल ऊँचा-नीचा हो रहा था, स्व० बाबा भागीरथजीने एक प्रसिद्ध पण्डितसे कहा, "तुम लोग हो किस

मर्जकी दवा, जो सूरजभानका मुकाबला करोगे ? मै अभी देखकर आया हूँ, वह पुस्तकोके ढेरपर बैठा हुआ, शामसे सुबह कर दिया करता है और उसकी कलम विराम नही लेती। पर तुमसे सिवाय गाली-गलौज करनेके और कुछ नही बन पड़ता।"

आपकी भाषा बहुत ही सरल होती है। उसमे न तो सजावट रहती है और न दुरूहता। साधारण पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष उसे अनायास ही समझ लेते है। जैसा कि मै पहले लिख चुका हूँ, आपकी अधिकाश रचनाएँ प्रचार-दृष्टिसे लिखी गई है और प्रचार ऐसी ही भाषासे हुआ करता है।

साहित्यशास्त्रका शायद आपने कभी अध्ययन नही किया। उनके मिशनके लिए शायद इसकी जरूरत भी नही थी। इसीलिए आपने जो कथा-साहित्य लिखा है, उसका अधिकाश साहित्यकी कसौटीपर शायद ही मूल्यवान ठहरे, परन्तु वह बड़ा प्रभावशाली है और अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिए काफी समर्थ है।

आपकी एक दो सौ पेजकी पुस्तक 'मनमोहिनी नाटक' है जो सन् १९०६ मे प्रकाशित हुई थी। वह वास्तवमे एक शिक्षाप्रद उपन्यास है परन्तु नाम है नाटक। उसमे पात्रोके कथनोपकथन अधिक है, इसीलिए शायद आपने उसे नाटक सज्ञा दे दी ! मेरे पास उसकी जो प्रति है, उसकी पुश्तपर स्व० गुरुजी प० पन्नालालजी बाकलीवालके हाथका लिखा हुआ रिमार्क है—"यह नाटक नही, किन्तु एक गार्हस्थ्य उपन्यास है। रोचक खूब है, शुरू किये पीछे उत्तरोत्तर पढ़ने ही को जी चाहता है।"

रामदुलारी, लज्जावतीका किस्सा, गृहदेवी, मंगलादेवी, सती सतवन्ती, तारादेवी, असली और नकली धर्मात्मा आदि ऐसे ही ढगकी पुस्तकें है, जो तरह-तरहके वहमो-मिथ्याविश्वासोसे मुक्ति दिलानेवाली है।

लेख तो आपने अगणित लिखे है, जो विविध जैन-पत्रोमें समय-समयपर प्रकाशित होते रहे है। जैनहितैषी (भाग १३ और १४) में वर्ण और जाति विचार, ब्राह्मणोकी उत्पत्ति, आदिपुराणका अवलोकन, अलकारोसे देवी-देवताओकी उत्पत्ति, वेश्याओका सत्कार, मद्यपान आदि

लेख बड़े परिश्रमसे लिखे गये थे जो स्थायी साहित्यकी चीजें है। अभी दो-तीन वर्ष पहले अनेकान्तमें भी आपके कई मार्केके लेख निकले है।

द्रव्यसंग्रह, षट्पाहुड, परमात्मप्रकाश, पुरुषार्थसिद्धयुपाय और वसुनन्दि श्रावकाचारके हिन्दी अनुवाद भी आपके किये हुए है और उनमें द्रव्यसंग्रहकी टीका तो आपकी बहुत ही अच्छी है और अब भी उसका खासा प्रचार है।

आदिपुराण-समीक्षा, हरिवंशपुराण-समीक्षा और पद्मपुराण-समीक्षा ये तीन परीक्षा ग्रन्थ उस समय लिखे गये थे, जब लोग आचार्योंके कथा-ग्रन्थ लिखनेके अभिप्रायको अर्थात् कथाके छलसे बालबुद्धि जीवोको हितोपदेश देनेके उद्देश्यको न समझते थे और प्रत्येक कथाको केवलीकी वाणी मानते थे। इसीलिए इनके प्रकाशित होनेपर कुछ लोग बुरी तरह बौखला उठे थे। उनमें बाबूजीने जो कुछ लिखा है, उससे मतभेद हो सकता हैं, परन्तु उनके सदुद्देश्यमें शंका करनेको कोई स्थान नही है। जैन-समाजमें किसी तरहके मिथ्या विश्वास बने रहे, इसे वे सहन नही कर सकते।

ज्ञान सूर्योदय (दो भाग), कर्त्ता खण्डन, कर्म फिलासफी, जैनधर्म-प्रवेशिका, श्राविका धर्म-दर्पण, भाग्य और पुरुषार्थ, युवकोंकी दुर्दशा, जैनियोंकी अवनतिके कारण आदि और भी अनेक पुस्तके और निबन्ध आपके लिखे हुए है।

मेरा प्रस्ताव है कि बाबूजीके तमाम साहित्यको संग्रह किया जाय और उसका बारीक़ीसे अध्ययन करके वे सब चीजें जो 'आउट आफ़ डेट' नही हुई है, दो-तीन जिल्दोंमें प्रकाशित की जायें। वे ७५ वर्षके हो चुके है। उनके जीतेजी ही यह काम हो जाय तो कितना अच्छा हो[1]।

—दिगम्बर जैन

दिसम्बर १९४३

१—खेद है कि बाबूजीका १९४५ में स्वर्गवास हो गया।

जैन-जागरणके दादा भाई

श्री कन्हैयालाल मिश्र, प्रभाकर

हमारे चिर अतीतमें, जीवनकी एक विषम उलझनमें फँसे, संस्कृतके कविने दुखी होकर कहा था—

"जानामि धर्मं, न च मे प्रवृत्तिः !
जानाम्यधर्मं, न च मे निवृत्तिः !"

धर्मको मै जानता तो हूँ, पर उसमे मेरी प्रवृत्ति नही है ! अधर्मको भी मै जानता हूँ, पर हाय, उससे मै बच नही पाता !

जीवनकी यह स्थिति बडी विकट है। अचानक गिरना सरल है, जानकर गिरना कठिन, जानकर और फिर रुकनेकी इच्छा रहते ! भूलसे गिरनेमें शरीरकी क्षति है, जानकर गिरनेमें आत्माका हनन है। हमारा समाज आज इसी आत्म-हननकी स्थितिमे जी रहा है। कौन नही जानता कि स्त्रियोको पर्देमें रखना, अपनी वशावलिपर हल्का तेजाब छिड़कना है। विवाहकी आजकी प्रथा किसे सुखकर है ? और सक्षेपमे हमारा आजका जीवन किसे पसन्द है ? हम आज जिस चक्रमे उलझे घूम रहे है, उसे तोडना चाहते है, पर तोड नही पाते।

परम्पराके पक्षमें एक बहुत बडी दलील है, उसकी गति। परम्परा बुरी है या भली, चलती रही है, उसके लिए किसी उद्योगकी जरूरत नही

है। कौन उससे लड़कर उद्योग करे, नया झगड़ा मोल ले। फिर हम समाज-जीवी हैं। जब सारा समाज एक परम्परामें चल रहा है, तो वह अकेला कौन है, जो सबसे पहिले विद्रोहका झण्डा खड़ा करे, नक्कू बने ?

अच्छा, कोई हिम्मत करे, नक्कू बननेको भी तैयार हो चले, तो उसके भीतर एक हड़कम्प उठ आता है—लोग क्या कहेंगे ? और ये लोग ? जिन्हें सहीको गलत कहनेकी मास्टरी हासिल है और जो नारदके खानदानी एवं मन्थराके भाई-बहन हैं, ऐसा बवण्डर खड़ा करेंगे, सत्यके विरुद्ध ऐसा मोर्चा बाँधेंगे कि यही प्रलयका नजारा दिखाई देगा।

चलो, इस मोर्चेसे भी लड़ेंगे ! असत्यका मोर्चा, सत्यके सिपाही को लड़ना ही चाहिए, पर चारों ओरके ये समझदार साथी जो घेर बैठे—"हाँ हाँ, बात तुम्हारी ही ठीक है, पर तुम्ही क्यों अगुवा बनते हो। अकेला चना भाड़को नही फोड़ सकता ! इन सब बुराइयोको तो समय ही ठीक करेगा। याद नही, रामूने सिर उठाया, बिरादरीके पंचोने उसे कुचल दिया। फिर तुम्ही तो सारे समाजके ठेकेदार नही हो। बड़ोसे जो बात चली आ रही है, उसमें जरूर कुछ सार है। तुम्ही कुछ अक्लके पुतले नही हो—समाजमे और भी विद्वान् हैं। चलो अपना काम देखो, किस झगड़ेमें पड़े जी !"

विचारका दीपक भीतर जल रहा है, धुंधला-सा, नन्हा-सा, टिमटिमाता। तेल उसमें कोई नही डालता, उसे बुझानेको हरेककी फूंक बेचैन है। दीपकमें गरमी है, वह जीवनके लिए संघर्ष करता है, उसकी लौ टिमटिमाती है, ठहर जाती है, पर अन्तमे निराशाका झोका आता है, वह बुझ जाता है। पता नही, हमारे समाजमें रोज तरुण-हृदयोमें विचारोके दीपक कितने जलते है और यों ही बुझ जाते है। काश, वे सब जलते रह पाते, तो आज हमारा समाज दीपमालिकाकी तरह जगमग-जगमग दिखाई देता।

सुना है, हाँ, देखा भी है, दीपक हवाके झोकेसे बुझ जाता है, हवा नही चाहती कि प्रदीप जले, दोनोंमें शत्रुता है; पर वनमें ज्वाला जलती

है, तो आँधी ही उसे चारो ओर फैलाकर कृतार्थ होती है, दोनोमें अभिन्न मित्रता है। बा० सूरजभान एक ज्वालाकी तरह, अपनी तरुणाईकी मदभरी अँगड़ाइयोंमें, समाजके अँधेरे आँगनमें उभरे। विरोधकी आँधियाँ उठी, घहराई, पर वे दीपक न थे कि बुझ जाते, अज्ञानके दारुण दर्पको दहते, चारो ओर फैल गये। भारी लक्कडके बोझसे दब, छोटी चिनगारी बुझ जाती है, पर होलीकी लपट, इन्ही लक्कडोकी सीढियोपरसे चढ आसमानके गले लगती है। पता नही, जब बाबूजी जन्मे, किस ज्योतिषी-ने उनकी भावीका लेख पढ़ा और उस सुकुमार शिशुको यह जलता नाम दिया—सूर्यकी तरह वे अँधेरेमें उगे और उसे छिन्न-भिन्न कर आसमानमें आ चमके! इन सब परिस्थितियोका हम अध्ययन न करे, अपने मनमें विरोधकी आँधियोके झकोरोका बल न तोल पायें, तो देवताकी तरह हम बाबू सूरजभानकी मूर्तिपूजा भले ही कर लें, उनके कार्योका महत्त्व नही समझ सकते। तब उनके कार्य हमारे उत्सव-गीतोंमें स्वर भले ही भरें, हमारे अँधेरे अन्तरका आलोक और टूटे घुटनोका बल नही हो पाते! ऐसा हम कब चाहेंगे?

तब आजकी तरह हरेक दफ्तरपर 'नो वैकेंसी' की पाटी नही टँगी थी, वे चाहते तो आसानीसे डिप्टी कलक्टर हो सकते थे, पर नौकरी उन्हें अभीष्ट न थी, वे वकील बने और थोड़े ही दिनोमें देवबन्दके सीनियर वकील हो गये। वकीलकी पूंजी है वाचालता और सफलताकी कसौटी है झूठ-पर सचकी सुनहरी पालिश करनेकी क्षमता। और बाबू सूरजभान एक सफल वकील, मूक साधना जिनकी रुचि और सत्य जिनकी आत्माका सम्बल! काबेमें कुफ्र हो, न हो, यहाँ मयखानेसे एक पैगम्बर जरूर निकला।

बाबू सूरजभान वकील, अपने मुवक्कलोके मुकदमे तो उन्होने थोड़े ही दिन लडे—वे कचहरियाँ उनके लायक ही न थी—पर वकील वे जीवन भर रहे, आज ७५ वर्षके बुढापेमें भी वे वकील है और रात-दिन मुकदमे लड़ते है; न्यायकी अदालतमें, खोजकी हाईकोर्टमें, असत्यके विरुद्ध सत्यके मुकदमे। संस्कृतिकी सम्पदापर कुरीतियोके क़ब्जेके

विरुद्ध वे बरावर जिरह और वहस करते रहे है और सच यह है कि इन मुकदमोकी कहानी ही, इस नररत्नका जीवनचरित्र है।

प्रेसका तव आविष्कार न हुआ था और पुस्तके आजकी तरह सुलभ न थी। वड़े यत्नसे लोग पुस्तके लिखवाते और वड़े प्रयत्नसे उन्हे रखते थे। साम्प्रदायिक वातावरणकी कशमकशने इस प्रयत्नमें एक रहस्यभरी निगूढ़ताकी सृष्टि कर दी थी और इस प्रकार पुस्तकें दर्शनीय न होकर, पूजनीय हो चली थी। रत्नोंकी तरह वे छिपाकर रखने और कभी पर्व-त्यौहारोंपर समारोहके साथ दिखानेकी चीज वन गई थी। आज हम भले ही इसपर एक क़ह-कहाका मारें, उस युगमे पुस्तकोके प्रति यह आत्मीय श्रद्धा न होती, तो हमारे इतिहासकी तरह, हमारा साहित्य भी आज अप्राप्य होता! युग-युग तक लोगोने युद्धके रहस्योकी तरह पुस्तकोको अपने प्राणोंमें सँजोकर रक्खा है।

समयके प्रवाहकी सीढ़ियोपरसे उतरते-उतरते संस्कृत, हिन्दी वन गई, तो इसमें क्या आश्चर्य कि प्रयत्नकी इस घनताने अन्धश्रद्धाका रूप धारण कर लिया! समयने करवट बदली, प्रेमकी सृष्टि हुई, युगने उन पुस्तकोंके प्रचार-प्रकाशनकी माँग की, पर युगकी माँग हरेक सुन ले, तो महापुरुषोंकी पूजाका अवसर जातियोको कहाँ मिले? जैन-समाजमे प्रायः सवसे पहले वावू सूरजभानने युगकी यह माँग सुनी और जैन शास्त्रों के छपानेकी आवाज उठाई! युगने अपने इस तेजस्वी पुत्रकी ओर चावसे देखा, पर अन्धश्रद्धाने उनके कार्यको धर्मद्रोह घोषित किया, शास्त्रोंकी निगूढ़ताके पक्षमें युग-युगसे संचित समाजकी कोमल भावनापर एक हथौड़ा-सा पड़ा और युद्धके लिए समाजको उभारकर वह सामने ले आई। धर्मका सैनिक, शैतानका अग्रदूत घोषित किया गया, पर लांछनोसे लचा, तो सुधारक क्या? उन्हें मार डालनेकी धमकियाँ दी गईं, वे मुस्कराये। उनके प्रेसमे वम रक्खा गया, तो वे हँसे। धर्मके पुजारी क्रोधकी घृणा से उन्मत्त हो रहे थे और 'अधर्म'का सिपहसालार था शान्त, प्रसन्न, प्रेम-पूर्ण! पृथ्वीपर युगदेवता और आकाशमे भगवान् हँस रहे थे। ज्ञान

विजयी रहा, अन्धश्रद्धा पराजित हुई—आज उन विरोधियोके वंशधर छपे हुए "शास्तरजी" का पाठ कर कृतार्थ हो रहे है।

एक वाक्यमें बाबू सूरजभानका स्केच है—अँधेरा देखते ही दिया जलानेको तैयार! उन्होने अँधेरा देखा और दीपक सँजोने चले। अँधेरा, अज्ञानका, अन्यायका और दीपक ज्ञानका, सुधारका। उन्होंने व्याख्यान दिये, लेख लिखे, पुस्तकें तैयार कीं और संस्थाएँ खोलीं, पर सबका उद्देश्य एक है, अँधेरेके विरुद्ध युद्ध! वे अनथक योद्धा है। न थकना ही-जैसे उनका 'मोटो' हो। इस बुढापेमें भी वीर-सेवा-मन्दिर (सरसावा, सहारनपुर) में जाकर रहे, दो घण्टे कन्या पाठशालाके अध्यापक, दो घण्टे शास्त्र-स्वाध्यायके पण्डितजी, और ४-६ घण्टे गम्भीर अध्ययन और अपनी खोजों पर लेख, यह एक ७२ वर्षके वृद्धकी वहाँ दिनचर्या थी।

भारतकी नवीन राजनीतिमे दादाभाई नौरोजी और हिन्दी गद्यके नवविकासमें प्रेमचन्द्रका जो स्थान है, जैन-समाजकी नवचेतनाके इतिहास में वही स्थान बाबू सूरजभानका है। जैन-समाजके वे ईश्वरचन्द्र हैं, इसमें सन्देह नही, पर अजैन समाजकी कौन कहे, जैनसमाजमें ही लोग उन्हें ठीक-ठीक नही जान पाये। क्यो? उन्होने जान-बूझकर, अपनेको प्रसिद्धिसे बचाया। जैन-संस्थाओके वे आदिसस्थापक, पर सस्था बन गई, चल गई और दूसरोको सौप दी। किसी संस्थाके साथ उन्होने अपनेको नही बाँधा। हमारे देशमें धर्मसुधारक आगे चलकर एक नये धर्मके संस्थापक हो जाते है। बाबू सूरजभानने अपनेको इस महन्ताईसे, नेतागिरीसे सदा बचाया और महिमाके माधुर्यसे निन्दाका नमकीन ही सदा उन्हें रुचिकर रहा। हम मरनेके बाद भी जीनेके लिए पत्थरोपर नाम खुदानेको बेचैन है, उन्होने जीतेजी ही अपनेको बेनाम रहकर जैसे अमरत्वका रस लिया।

यह अपरिग्रह, यह अलगाव, अपना श्रेय दूसरोको बाँटनेकी यह वृत्ति ही बाबू सूरजभान है। वे महान् है और सदैव इतिहासके एक पृष्ठ

की तरह महान् रहेंगे, पर जैनसमाज संगठित रूपसे उनकी अब हीरक जयन्ती मनाए, इसीमें उसकी शोभा है। यह उत्सव उनकी जीवनी-शक्ति का प्रमाण हो और बाबू सूरजभानके बोये और अपने रक्तसे सीचे सुधार-बीजोंकी प्रदर्शनी भी, यह आजके युगकी माँग है। क्या हम इसे सुनेंगे!

—अनेकान्त, १९४४
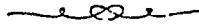
जन्म— गढ़ीअब्दुल्लाखाँ, वि० स० १९४५

स्वर्गवास— अक्टूबर १९१९ ई०।

मुश्किलका साथी

महात्मा भगवानदीन

सन् १९१० से पहले समाज-सुधारके लिए और धर्म-शिक्षाके फैलावके लिए कई लोग बड़ी कोशिशमें थे और उन्हें कुछ सफलता भी मिली थी, पर आज जो धर्म-शिक्षाका प्रचार जगह-जगह फैला हुआ है, वह इतना फैला हुआ न मिलता, अगर समाजने बाबू दयाचन्द्र गोयलीय-जैसा जवान न पाया होता।

मुजफ्फरनगर जिलेके एक छोटे-से गाँव गढ़ी अब्दुल्लाखाँमें उनका जन्म हुआ और उनकी बचपनकी तालीम भी वहीं आस-पास मुज़फ़्फ़रनगर और मेरठमें हुई, बी० ए० उन्होने जयपुर कालेजसे किया। यह जानकर तो लोगोको अचरज ही होगा कि हिन्दीकी उन्होने कही तालीम ही न पाई थी, उसे अपने आप ही सीखा था वह भी तब, जब वह समाज-सेवाके मैदानमें आये थे। समाज-सेवाका काम उन्होंने उस वक़्त शुरू किया, जब वह कालेजमें दाखिल हुए। बी० ए० में उन्होने फ़ारसी ले रखी थी। यह सब हम इसलिए लिख रहे है कि उर्दू-फारसी पढ़े किसी हिन्दूको हिन्दी सीखनेमें बेहद आसानी होती है और जल्दी भी सीख ली जाती है और बहुत जल्दी ही ऐसा आदमी हिन्दीके साहित्यकारोमें अपनी जगह बना लेता है, इसकी वजह यह है कि हिन्दूका धर्म हिन्दीमे होनेसे धर्म सम्बन्धी खास-खास शब्द उसे पहले ही से आते होते है और पुराणकी कथाएँ उसे अपनी नानी, दादी और बुआ-बहनोंसे हिन्दीके शब्दोमे सुननेको मिलती रहती है; इस तरह हिन्दूको उर्दू-फारसी रूँगेमें आ जाती है। हाँ, तो बाबू दयाचन्द्रजीने हिन्दीका अभ्यास जयपुरमे बढ़ाया और श्री अर्जुनलालजी सेठीकी जैन-शिक्षा-प्रचारक समितिमे काम करनेसे धर्म-ज्ञानमें ऊँचे दर्जे-

की जानकारी हासिल कर ली और कुछ दिनोमें ही वहाँके परीक्षाबोर्डके मेम्बर बन गये और जल्दी ही रजिस्ट्रार हो गये।

हम पूरे छः महीने जयपुरमें उनके साथ रहे है, जब भी हमें उनकी याद आती है तो उनकी पढाईके ढगकी और पढाईके साथ-साथ उनके काम करनेकी पूरी तस्वीर हमारी आँखोके सामने आ जाती है। बी० ए० के इम्तिहानके तीन माह रह गये, पर वह परीक्षाबोर्डकी बैठकोमें जानेसे कभी नही चूकते, इम्तिहानके पर्चे तैयार करनेमें उन्हें कोई अड़चन नही होती। परीक्षाबोर्डके रजिस्ट्रारके नाते उन्हें जगह-जगह पर्चे भेजनेमें कभी देर नही होती, पर्चे भेजनेका काम कितना नाजुक होता है और किस होशियारीसे करना पड़ता है, इसका अन्दाजा वे ही लोग लगा सकते है, जो कभी रजिस्ट्रार रहे है। फिर वे किसी सरकारी परीक्षा यूनिवर्सिटीके रजिस्ट्रार तो थे नही, वह तो एक समाजी घरेलू यूनिवर्सिटीके रजिस्ट्रार थे। न उन्हे कोई चपरासी मिला हुआ था और न कोई पूरे वक्तवाला लिखारी (लेखक)। लिखारीका बहुत-सा काम व चपरासीका सारा वह, ख़ुद ही करते थे। बी० ए० के इम्तिहानके अब दो महीने रह गये है, पर वह पढ़ाईके कामके साथ-साथ समाजी और कामोमें कम-से-कम दो घण्टे जरूर जुटते है। कालिजकी ग़ैरहाज़िरी कभी नही करते, यहाँ तक कि कल बी० ए० का इम्तिहान शुरू होनेवाला है और उनके कामके तरीक़ेमें कोई अन्तर नही पड़ता। यह सब होनेपर भी बी० ए० में अच्छे नम्बरोसे और अच्छे डिवीजनमे पास होते। यह थी सच्ची लगन और इस लगनका यह नतीजा होना ही था।

होता, कि ऐसा जवान ज्यादा दिन जीता अगर ऐसा होता तो न जाने समाजको कितना फ़ायदा पहुँचा होता। बी० ए० करनेके बाद कुछ दिन ललितपुरमें मास्टरी की, वहींसे विवाह किया और एक दुधमुहाँ बच्चा और विधवा छोड़कर इस दुनियासे जल्दीसे जल्दी ही चलते बने। क्या मास्टरीकी हालतमे, क्या बीमारीके पलंगपर, हर वक़्त और हर जगह उनका कलम चलता ही रहा और उनकी विचार-धारा उसी वेगसे बहती

रही। लखनऊमें जब वह मौतके बिस्तरपर लेटे हुए थे, तब हम उनसे मिले थे। मौतका बिस्तर तो हम कह रहे हैं; उन्होंने एक क्षणके लिए भी अपने आपको मौतके बिस्तरपर नहीं माना, न ही समझा और न ही वैसा करने दिया। हमसे उन्होंने एक मिनिट भी न अपनी बीमारीकी बात की न और कोई कमजोरीकी बात की। जो चर्चा रही वह इस बातकी रही कि हम उस दिन लखनऊकी आमसभामें क्या बोलनेवाले हैं। हमें तो यही अचरज है कि ऐसे शख़्सको मौतने अपने पंजेमे फँसानेके लिए कौन-सा वक़्त निकाला होगा। हमारा अपना विश्वास है कि मौत उसके पास आते हुए डरती है जो मौतसे नही घबराते और जो मौतकी बात कभी नही सोचते। कुछ भी हो यह सच ही है कि मौत उन्हें ले गई, कैसे ले गई कौन जाने।

उम्रके इस छोटेसे हिस्सेमें न जाने उन्होंने क्या कर डाला। दो सौ-ढाई सौ सफ़ेकी 'मितव्ययिता' एक किताब लिख डाली। धर्मकी तीन छोटी पुस्तकें लिख डाली, जाति-प्रबोधक नामका एक पर्चा सफलतापूर्वक चलाकर दिखा दिया। जगह-जगह जाकर प्रचार किया, क्योंकि लिखनेके साथ-साथ बोलनेका कमाल भी उनमें था। जवान थे. जोशीला तो बोलते ही थे, पर मनोहर भी बोलते थे।

और सुनिए, वह ऐसे घरानेमें पैदा नही हुए थे, जो पढ़ाईका खर्चा बर्दाश्त कर सके और शायद इसी वास्ते वह मामूलसे ज्यादा बुद्धिमान् थे। एकसे ज़्यादा बार उन्होंने अच्छे दरजेमें पास होकर वजीफ़ा यानी छात्रवृत्ति पाई। जैन-अनाथालयके संस्थापक चिरंजीलालजीने भी इस मामलेमें उनकी थोड़ी-बहुत मदद की, रायबहादुर मोतीसागरजीके बहनोई भाई मोतीलालजी भी दो साल तक या शायद कुछ ज्यादा उनको छात्रवृत्ति देते रहे। यहाँ यह बात जानना जरूरी है कि छात्रवृत्ति उन्हें दानके रूपमें नही दी गई थी, उधार थी। चुकानेके लिए काग़ज लिखा हुआ था, मगर शर्त यह थी कि वह छात्रवृत्ति सिर्फ उस वक़्त चुकाई जायगी, जब बाबू दयाचन्द्रजी कमाने लगेंगे और वह भी १०० रु० पीछे १० रु०

के हिसाबसे चुकाई जायगी, यानी उनकी तनख्वाह १०० रु० होगी तो १० रु० माहवार चुकाना पड़ेगा, यहाँ कोई यह न समझे कि भाई मोतीलाल वसूल करनेमें वड़े कड़े आदमी थे। भाई मोतीलालजीके आगे-पीछे कोई नही था। वह अपना रुपया ऐसे ही कामोमें खर्च किया करते थे। वह इस तरह दी हुई छात्रवृत्तिको उगाहकर कुछ अपने काममें थोड़े ही लाते थे, फिर किसी दूसरेको देनी शुरू कर देते थे। इस तरह उनकी सख्ती चुकानेवालेको भले ही थोडी अखरती हो, पर और किसीको नही अखरती थी और न हमारे पढ़नेवालोको अखरेगी। इतनी लम्बी-चौड़ी बात हमने योंही नही कही। हमारे कहनेकी यह वजह है कि बाबू दयाचन्द्रजी-के साथ उन्होने काफी सख़्ती की थी और उनकी सख़्त चिट्ठी हमने अपनी आँखो देखी थी, और उसको पढा भी था। बा० दयाचन्द्रजीने नौकर होनेके कुछ ही दिन वाद शादी कर ली थी। वस, शादी करनेके कुछ ही दिनो बाद शायद जबतक वहूकी मेंहदी फीकी भी न पड़ी होगी कि यह चिट्ठी दयाचन्द्रजीके नाम ललितपुरमे आ धमकी। पूरी चिट्ठी तो हमें याद नही रही, पर वे लफ्ज हमारे दिलपर ज्यो-के-त्यों अंकित है "वजीफेकी (छात्रवृत्तिकी) रकम अदा किये बगैर आपको शादी करनेका कोई हक नही था" यह चिट्ठी उर्दूमें थी। भाई मोतीलालजी उर्दूमे ही सख़्त चिट्ठी लिखा करते, पढ़नेवालोपर जरूर यह असर पड़ेगा कि भाई मोतीलालजी बडे सख़्त थे और हमपर भी उस वक़्त ऐसा ही असर पड़ा था, पर बाबू दयाचन्द्रजीने अपना मन जरा भी मैला नही किया और हमसे बोले कि उनकी शिकायत ठीक है, सचमुच मुझे विना रुपया अदा किये ऐसा नही करना चाहिए था। यह मुझे ठीक याद नही कि उन्होंने कोई चीज गिरवी रखकर या यों ही मामूली काग़जपर लिखकर उसी वक्त किसीसे रुपये उधार लिये और जितने महीने उन्हें नौकर हुए बीत चुके थे १० रु० फी महीनेके हिसावसे मनीआर्डर करके भेज दिया। ये थे बाबू दयाचन्द्र। त्याग, पैसेका त्याग नही होता, असली त्याग तो है हृदयकी मलिनताका और वही सच्चा त्याग है, इसलिए बा० दयाचन्द्रजी नौकरी करते और गृहस्थ

होते हुए भी सच्चे त्यागी थे।

हमारी उनसे बहुत ही एकमेकता थी, जयपुरमे हम दोनो एक ही कमरेमें रहते थे। हम वहाँ छात्रालयके सुपरिण्टेण्डेण्ट थे और बाबू दयाचन्द्र छात्रालयमें रहनेके नाते एक छात्र भी थे और हमारे मित्र भी थे। हमे वहाँ खुजली हो गई थी, एक अंग्रेज़ी सफ़ेद जहरीली दवा गोलेके तेलमें घोलकर हमारे बदनपर मलनेके लिए डाक्टरने दी और उसके लिए डाक्टर-की यह ख़ास हिदायत थी कि इस दवाको जो कोई लगायेगा, अगर उसका एक कण भी मुँहके रास्ते पेटमें पहुँच गया तो लगानेवालेके खुजली हो जानेका डर है। यो तो छात्रालयके सभी छात्र हमसें बेहद मुहब्बत करते थे, पर श्रीचन्द्र नामी एक छात्र तो बहुत ही मुहब्बत रखता था। छात्रोंमेंसे कई दवा लगानेके लिए तैयार हुए और वह हमारे मना करनेपर मान गये, पर श्रीचन्द्र तो हद कर बैठा, और वह हमारा सबसे ज़्यादा आज्ञा-कारी था, पर इस मामलेमें उसने हमारी एक न मानी। दवा गोलेके तेलमें घोल ही तो डाली, हाथ भिगो लिये। इतनेमें पण्डित अर्जुनलालजी सेठी आ गये। उन्होने जब फटकारा, तब श्रीचन्द्रके होशियारीसे हाथ धुलवाये गये और न मालूम और क्या-क्या किया गया। यह किस्सा चल ही रहा था कि बाबू दयाचन्द्रजी आ पहुँचे। सेठीजीने बहुतेरा रोका, हमने भी पूरा ज़ोर लगाया पर उनके कानपर जूँ न रेंगी। उन्होंने न कुछ जवाब दिया और न बोले, बस पकड़ हमारा हाथ और लगे दवा मलने। दवा मल चुकनेके बाद बहुत होशियारीसे उन्होंने अपने हाथ धोए, जिसे अगर और कोई देखता तो यही कह बैठता कि जब तुम दवासे इतना डरते हो तो लगानेका शौक क्यों चढ़ आया था, पर पाठक यह खूब समझ लें, ये हाथ दवासे डरकर नहीं धोये जा रहे थे। ये इसलिए धोये जा रहे थे कि दवा लगानेके बाद मुझे खाना खिलानेका काम भी तो उनको उन्ही हाथोसे करना था, और यह सब कुछ मेरे ख्यालसे किया जा रहा था। यह था बाबू दयाचन्द्रजीका वैयावृत्त। ये सब बातें धर्म-प्रेमके बिना नही आ सकतीं और धर्म-प्रेमीको सीखनी नहीं पड़तीं।

२२ जनवरी १९१० को हम गुरुकुल खोलनेका व्रत ले चुके थे और अपना जीवन उस कामके लिए सौप चुके थे, पर अर्जुनलालजी सेठी उस वक्त समाजमे गुरुकुल नामसे एक नई संस्था खोले जानेकी जरूरत नही समझते थे, इसलिए वह नही चाहते थे कि उनकी शिक्षासमिति हमारी सेवाओंसे वंचित हो जाय। इसलिए उनकी तजवीज यह थी कि जयपुरमें ही कही किसी नसियामे इस तरह हमारा व्रत पूरा कर दिया जाय, जिस तरह लार्ड कर्जनने उदयपुर महाराणाकी दिल्ली फतह करनेकी प्रतिज्ञा, मिट्टीकी दिल्ली बनाकर फ़तह करनेसे पूरी हो जानेकी बात सुझाई थी। मईसे नवम्बर तक हमको सेठीजी इसी तरहसे टालते रहे। १० नवम्बर १९१० को बाबू दयाचन्द्रजीने हमे दरवाजा बन्द करके एक घण्टे सारी ऊँच-नीच समझाई और इतना सीधा, खरा और जोशसे भरा उपदेश दिया कि दूसरे दिन यानी ११ नवम्बरको हम जयपुरसे निकल पड़े और फिर १९११ की अक्षय तीजको यानी छः महीने बाद गुरुकुलकी स्थापना हो गई।

बाबू दयाचन्द्रजी हमारे बडे दोस्त थे और अब तकके हालसे पढनेवालोने समझ ही लिया होगा कि हमारे साथ उनका कितना अपनापन था, फिर भी वह अपने गहरे-से-गहरे मित्रके साथ खरी बात कहनेमें नही चूकते थे और सच्ची बात कितनी ही कडुवी क्यों न हो, उसे कहते नही रुकते थे। कोई यह न समझ बैठे कि उनका उपगूहन अग कच्चा था, और वे दूसरोंकी बुराई छिपाकर नही रख सकते थे। क्योकि हर धर्मात्माका यह फर्ज है कि वह दूसरेकी बुराइयाँ छिपाये, वह किसीकी बुराई किसीसे नही करते थे। वह उसकी बुराई उसीसे कहते थे और वह आदत न सुधारे तो उससे अपना सम्बन्ध तोड़ लेते थे, पर उसकी बुराइयोका कभी गीत नही गाते फिरते थे। वह कानके कच्चे थे, इसे यो भी कहा जा सकता है कि वह किसीको झूठा ही न समझते थे और इसलिए दिलके खरे थे। जो दिलका खरा होता है, वह अगर कानका कच्चा हो तो किसीको उससे डरनेकी जरूरत नही।

अब सुनिए एक सही बात—उनका ग्रामभाई श्री दीपचन्द्र, जो आजकल कही किसी मिलमें मैनेजर है, सन् १९१२ में हमारे गुरुकुलका ब्रह्मचारी था और लाला गेदनलालजीका लड़का श्री पीतचन्द्र, उन दिनों हमारे गुरुकुलका ब्रह्मचारी था। होनहारकी बात कि एक दिन दीपचन्द्र-के पिता गुरुकुल ऋषभब्रह्मचर्याश्रम देखने आये। रातके ९ बजेका वक़्त था। जाड़ेके दिन थे। सब ब्रह्मचारी लिहाफ़ ओढ़े सो रहे थे। दीपचन्द्रका लिहाफ़ कुछ हलका था और ऐसा ही था, जैसा और बीसियों ब्रह्मचारियों का था। पर पीतचन्द्रका लिहाफ़ बहुत भारी था, और लिहाफ़ोसे खूब-सूरत भी था। यह सब देखकर दीपचन्द्रजीके पिताने हमसे तो कुछ नहीं कहा, पर बा० दयाचन्द्रको ख़बर दी और कुछ ही दिनों बाद बा० दया-चन्द्रजीकी बड़ी लम्बी-चौड़ी चिट्ठी बेहद कड़ुवी दसियों फटकारोंसे भरी हमारे नाम हस्तिनागपुर आ धमकी। धमकियोके साथ सम्बन्ध तोड़नेकी भी धमकी थी, यह सुनकर तो पाठक हैरान रह जायँगे कि उसका कोई जवाब नही माँगा गया था। बस यह समझिये कि वह हाईकोर्टका आखिरी फैसला था, पर हमने फिर भी जवाब देकर उनकी तसल्ली कर दी, और उनसे यह भी चाहा कि वहाँ खुद आकर हमारी बातकी जाँच कर लें और देख ले कि हम जो कुछ कह रहे हैं ठीक है या नही। लौटती डाकसे हमें जवाब मिला कि मै आपकी बातको बिल्कुल ठीक समझता हूँ, पर आपने यह क्यों लिखा कि मै खुद आकर वहाँ उसकी जाँच करूँ। क्या आपको अपनेपर विश्वास नही? ये थे बा० दयाचन्द्र। कितने खुले दिल, कितने खरे और कितनी मन्द कषायवाले। अब ऐसे साथी कहाँ नसीब हैं।

बा० दयाचन्द्रजी सिरसे पैरतक धर्मात्मा थे और इसलिए सच्चे सुधारक थे, उन्होंने आर्यसमाजी लड़कीसे शादी की और बहुतसे बेकार रस्म-रिवाजोंको किसी तरह अपनानेके लिए तैयार नही हुए, हाँ एक बार अपनी धर्मपत्नीके कहनेसे अपने बच्चेके सख्त बीमार होनेपर झाड़-फूँककी सिर्फ़ इजाजत ही नही दी थी, किन्तु खुद वह झाड़-फूँक करनेवाले-

को बुलाकर लाये थे। पढनेवाले ये न समझें कि वह झाड़-फूंकमें विश्वास रखते थे। उन्होने यह काम सिर्फ अपनी धर्मपत्नीके विचारोमें आडे न आनेके लिए किया था। वह पढे-लिखे आदमी थे, मनोविज्ञानसे ख़ूब वाकिफ थे। वह ख़ूब समझते थे कि माँकी कमजोरीका दुधमुँहे बच्चेपर असर पड़े बिना न रहेगा। इसलिए उनका झाड़-फूंककी इजाजत देना विश्वास-की कमजोरी नही, मजबूतीका सबूत है। अगर वह उस वक़्त हठ कर जाते तो धर्मपत्नी मान तो जाती पर दुःख जरूर मानती, वह तो हिंसा होती। विधवा-विवाहकी आवाज उनसे पहले उठी तो थी, पर उसमे दम न था। बाबू दयाचन्द्रजीने इस आवाजको फिर अपने ढंगसे उठाया और वह कुछ उम्र पाते तो इस तरफ भी कुछ जरूर करके दिखा जाते।

हम राजकारनके मैदानमे कूद चुके थे और उन दिनो ऐसा करना अपने रिश्तेदारो और अपने दोस्तोकी नजरोमे गिरना था, और तो और भाई अजितप्रसादजीको जो हमारे मारशल्लाके इल्जामके मुकदमेमें हमारे वकील थे, करनालमे इसी वजहसे ठहरनेके लिए जगह मिलना मुश्किल हो गया था। आख़िर एक वकीलने बड़ी हिम्मत करके उन्हे अपने घरपर ठहराया था। बा० दयाचन्द्रजी राजकारनके मैदानमे नही आये, पर उन दिनों राजकारनमे कूदना भले ही कुछ बडा काम हो, पर राजकारन मे कूदनेवालोसे दोस्ती बनाये रखना और खुले दिल खुल्लमखुल्ला अपने घरमे उनका स्वागत करना यह और भी कही बडा काम था और इस विचारसे हम यह कहेगे कि बा० दयाचन्द्रजी राजकारनके मैदानमे न कूद-कर भी राजकारनमें कूदे-जैसे ही थे। हमसे मिलनेमें वह कभी नही झिझके। हमारी बातोको ध्यानसे और शौकसे सुना और हमें सलाह दी। जो सलाह दी वह हमें अपने रास्तेसे अलहदा करनेवाली नही थी। रास्तेपर मजबूतीसे डटा रखनेवाली थी।

मामूली घरानेका जवान, पूरा गृहस्थी और फिर इतना निर्भीक और निडर; धर्म, समाज और देशप्रेममें भीगा और उसके लिए ज्यादा-से-

ज़्यादा वक़्त निकालकर हर तरहके कामके लिए तैयार विरला ही कोई होता है ।

सचमुच बा० दयाचन्द्रकी जिन्दगी ऐसी है, जिसका अनुसरण आजकलके जवान करें तो समाज, धर्म और देशके लिए बडे उपयोगी बन सकते हैं ।

—ज्ञानोदय काशी, मई १९५१

मूक साधक

श्री माईदयाल जैन

बाबू दयाचन्द्रजी गोयलीयका जन्म मौजे गढी अवदुल्ला खॉ जिला मुजफ्फ़रनगरके एक मध्यम श्रेणीके अग्रवाल लाला ज्ञानचन्द्रके यहाँ मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमा सवत् १९४५ को हुआ था।

आपने देहरादूनसे सन् १९०७ में प्रथम श्रेणीमे एन्ट्रेन्स, क्वीन्स कॉलेज वनारससे एफ० ए० और महाराजा कॉलेज जयपुरसे वी० ए० की परीक्षाएँ अच्छे नम्बरोसे पास की थी।

विद्यार्थी अवस्थामे देहरादूनमें ही सभा-सोसाइटियोंको देखकर आपमे समाजसेवाके भाव पैदा हो गये ओर आपने भी स्कूलके छात्रोकी एक जैन-सभा स्थापित की। इन्ही दिनोमे आप देहरादूनके ला० चिरजीलालजी सस्थापक जैन अनाथाश्रमके सम्पर्कमे आ गये और उर्दू 'जैन प्रचारक' में लेख लिखने लगे। चूँकि वनारसमे स्याद्वाद पाठशाला (अब महाविद्यालय) के छात्रावासमे और जयपुरमे जैन-शिक्षा-प्रचारकसमिति के वर्द्धमान जैन-वोर्डिंग हाउसमे रहते थे, वहाँके वातावरणसे आपको जैनधर्मके अध्ययनकी रुचि हो गई और समाजसेवाके भावोमें दृढता आ गई।

पहिले आपने ललितपुरमे वतौर सेकिण्ड मास्टरके काम किया, और वहाँकी अभिनन्दन-जैन-पाठशालाके मंत्रीपदको ग्रहण करके उसकी खूब उन्नति की। ये दिन आपके अर्थकष्टके थे और आपने अध्यापकी छोड़कर वकालत करनेका विचार किया, किन्तु प० नाथूरामजी प्रेमी आदि मित्रोंके निपेध करनेपर आपने वकालत करनेके विचारका छोड़ दिया। साहित्य-सेवाके लिए यह वड़ा भारी स्वार्थत्याग था। फिर आप लखनऊके कालीचरण हाईस्कूलमे आ गये और आपका अर्थसंकट दूर हो गया।

आप ऋषभ-ब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुरकी प्रवन्धकारिणी कमेटीके सभासद् थे और आप ही उसके वार्षिक उत्सवोपर चन्देके लिए अपील किया करते थे। भारत-जैन-महामण्डलके जीवदया विभागके आप मंत्री थे और आपने वहुत-से जीवदया-उपयोगी ट्रैक्ट लिखे तथा प्रकाशित किये।

आपकी जैन-साहित्य तथा हिन्दी-साहित्य सम्बन्धी ठोस सेवाएँ कभी न भूली जाएँगी और उनसे आपका नाम अमर रहेगा। आपने 'जाति-प्रवोधक' मासिक पत्र द्वारा तीन वर्ष तक जैन-समाजमे खलवली मचा दी। आप 'जैन-हितैषी' में जैनधर्म सम्बन्धी अँगरेजी लेखोका हिन्दी-अनुवाद किया करते थे।

आपने जीवदया सम्बन्धी, जैनधर्म सम्बन्धी तथा सर्वसाधारण उपयोगी हिन्दी पुस्तकें तथा ट्रैक्ट ४६ से अधिक लिखे हैं, जिनमे वाल-बोध जैन धर्म (४ भाग) जैन पाठशालाओमें अवतक पाठ्य पुस्तकोके रूपमें पढ़ाये जाते हैं। आपकी हिन्दी पुस्तकोंसे नवयुवकोंमे सादगी, प्रगति, सदाचार, चरित्रगठन, देशसेवा तथा मितव्ययिताके भाव पैदा होते है।

आप जैसा निर्भीक लेखक, जोशीला वक्ता, सुयोग्य शिक्षक और निःस्वार्थ समाजसेवक जैन-समाजमे होना कठिन है। आपने जैनसमाज तथा हिन्दी-साहित्यकी जो सेवा की है, वह अमर रहेगी।

खेद है कि आपका अक्टूवर सन १९१९ मे युद्धज्वरमे स्वर्गवास हो गया, जव कि आपकी आयु केवल ३० वर्षकी थी। इतनी कम आयुमें इतना महान् कार्य करनेके लिए महान् साधना, दृढ़ निश्चय, अपार मनोवल और वेहद परिश्रमकी आवश्यकता है। उसके मालिक साधारण मनुष्य नहीं हो सकते, महापुरुष ही हो सकते है।

—दिगम्बर जैन, १९४२

जन्म— आरा, १८८८ ई०

मृत्यु— कलकत्ता, १९२७ ई०

श्रद्धाञ्जलि

श्री गुलाबराय एम० ए० एल-एल० बी०

मनुष्य-जीवनमे आकस्मिकताके लिए वहुत स्थान रहता है। इसी आकस्मिकताने देवेन्द्रजीसे मेरा परिचय कराकर मुझे हिन्दीका सेवक बना दिया। यद्यपि यह सम्भव था कि बिना देवेन्द्र बावू-से साक्षात्कार हुए भी मै लेखक वन जाता, तथापि वास्तविक वात यह है कि उनके द्वारा प्रकाशित की हुई मुद्रण-कलाकी आदर्शरूप पुस्तकोंके प्रलोभनने एवं उनके निजी प्रोत्साहनने मुझे ग्रथ-लेखनके पथमे अग्रसर किया।

देवेन्द्रजीसे मेरा प्रथम साक्षात्कार वैश्य-बोर्डिंग-हाउस, आगरा में हुआ था। उससे पूर्व उनके एक पत्र द्वारा जो कि उन्होने मेरे स्नेही मित्र (Chum) श्रीयुत यमुनाप्रसादजीको (यह सज्जन आजकल मथुरामें वकालत करते है) लिखा था, मेरा चित्त उनकी ओर आकर्पित हो गया था। यद्यपि मै उस कलाका विशेषज्ञ नही हूँ, जिसके द्वारा लोग लेखन-शैलीसे मनुष्यका चरित्र जान लेते है, तथापि उस पत्रने मुझे उनके प्रेम-पूर्ण हृदय, उनकी सहृदयता, कार्य-कुशलता तथा कर्तव्य-परायणता का परिचय दे दिया। जब वह यमुनाप्रसादजीके यहाँ आकर ठहरे, मैंने जो कुछ अनुमान किया था, अक्षरशः सत्य पाया। उनकी सौम्य मूर्तिमें विश्व-प्रेम, आशा और उत्साहके पवित्र भावोंकी दीप्ति झलक रही थी। वह वहुश्रुत एवं अनुभवी थे, तथापि उनको वहाँपर बड़ी दीनता और छात्र-भावसे वार्तालाप करते देखा। प्रसन्नताने उनके चेहरेपर साम्राज्य-सा स्थापित कर लिया था। उन्होंने स्वप्रकाशित 'सेवा-धर्म' दिखलाया; उसको देखते ही मुझे 'शान्ति-धर्म' लिखनेका विचार हुआ। मैंने उनसे 'शान्ति-धर्म' लिखनेका विचार पत्रद्वारा प्रकट किया था। पत्रका

उत्तर ऐसा सानुरोध आया कि उसके आगे आलस्य, अयोग्यता-जन्य नैराश्य नही ठहर सकता था। पुस्तक लिखकर भेज दी; थोड़े ही दिनोंमे एकदम बिलकुल नई रीतिकी छपाई, नये डिजाइनके आवरण-पत्रसे विभूषित, सुन्दर सजीली पुस्तक मुझे मिल गई। मेरे घरके लोग, इष्ट-मित्र उसे देखकर आश्चर्यान्वित-से हो गये। उन दिनों इतनी पुस्तकमालाओंका जन्म नही हुआ था। जो लोग मुझसे कछ परिचय रखते है, वह यह जानते हैं कि मेरी सभी चीजोमे अस्तव्यस्तता दिखाई पडती है, इस कारण मेरी पुस्तक मेरी नही मालूम होती थी। पुस्तककी समालोचना भी अच्छी निकली; फिर क्या था, मुझमे भी उत्साहकी बाढ़-सी आ गई! उसी उत्साहकी बाढ़मे 'फिर निराशा क्यो लिखी'। वह भी देवेन्द्रजी द्वारा प्रकाशित हुई।

देवेन्द्रजी कार्यको स्थगित करना नही जानते थे। उनके हाथमें पुस्तक देकर बाट जोहनेकी आवश्यकता नही रहती थी। इसीकारण 'फिर निराशा क्यो' के एक ही दो मास पश्चात् 'मैत्रीधर्म' भी प्रकाशित हो गया। वे 'नवरस' को विशेष सज-धजके साथ निकालना चाहते थे, किन्तु खेद है कि उस ग्रन्थके विषयमे जो उनकी आशाएँ-अभिलाषाएँ थी, वह उनके साथ ही चली गईं। मुझको प्रकाशक और भी मिले, किन्तु किसी प्रकाशकने मेरी पुस्तकोमे इतना परिश्रम नही किया, जितना कि देवेन्द्रजीने किया था। प्रेस-कॉपी मुझे नही तैयार करनी पड़ती थी। वह स्वय ही प्रेस-कापी तैयार कर लेते थे, और यदि मैं उसमे भी रद्दोबदल करके उसको खराब कर डालता, तो भी वह एक और प्रेस-कॉपी तैयार करानेको प्रस्तुत रहते थे। जब ऐसा प्रकाशक मिले, तब मूढ भी लेखक बन सकता है। उनका यह सिद्धान्त था कि पुस्तक की सफलताके हेतु विषय और भाषाकी भाँति उसकी छपाईकी उत्तमता परमावश्यक है। चित्तको पहली बार आकर्षण करनेके निमित्त शरीरका सौंदर्य आवश्यक है, फिर तो उस व्यक्तिके गुण हृदयमें स्थान जमा लेते हैं। यही हाल पुस्तक का है। यदि हिन्दीमें प्रकाशन-कलाका इतिहास लिखा जाय, तो उनको

बहुत ऊँचा स्थान मिलेगा। प्रकाशन-कार्यमें वह हानि-लाभका विचार नहीं रखते थे। ग्रन्थकी उत्तम छपाई ही उनका मुख्य ध्येय था।

प्रकाशन उनका व्यवसाय न था, वरन् व्यसन था। जब आप एफ० ए० की परीक्षा देने जाते, तो अन्य विद्यार्थियोंकी भाँति पाठ्य-ग्रन्थोंका बस्ता बाँधकर नहीं ले जाते थे, न वह इस खोज-बीनमें रहते थे कि आज क्या पर्चेमें आवेगा। वह अपने साथ अपनी प्रकाशित पुस्तकोंके प्रूफ ले जाते थे, जिनका कि वे परीक्षाकी घंटी बजने तक संशोधन करते रहते थे। उन्होंने हिन्दी-पुस्तकोंके प्रकाशन ही मे सफलता नही दिखाई थी, वरन् अँगरेजी-पुस्तकोंके प्रकाशनमे भी हिन्दी-पुस्तकोंके समान ही सफलता प्राप्त की।

उनकी क्रियाके क्षेत्र संकुचित न थे। वह 'सेवा-धर्म' के केवल प्रकाशक ही नहीं, किन्तु उसके सच्चे अनुयायी थे। ज़रा-सी बातपर उनका हृदय द्रवित हो जाता था; और उत्साह उनमें इतना था कि वह अपने परिश्रमके बलपर पर्वतको भी हटा देनेका साहस कर सकते थे। वह केवल साहस ही नही रखते थे, जिस कार्यमे लग जाते, उसमें न शारीरिक स्वास्थ्यकी परवा करते, न आर्थिक लाभ या हानिकी। परवा तो इसी बातकी रहती थी कि उनका ध्येय किसी-न-किसी प्रकार पूर्ण हो जाय।

पूर्ण रूपसे वह धार्मिक थे, किन्तु उनके धर्मने उनके विचारोंको संकुचित नही बनाया था। वह प्रत्येक धर्मके मनुष्योंसे भ्रातृ-भावसे मिलते थे। घृणा एवं द्वेषकी उनमे गन्ध तक न थी, इसीलिए वह समाजमें सर्व-प्रिय बन सके। भारतवर्षमें थोड़े ही ऐसे विद्वान् होंगे, जिनका कि उनसे निजी परिचय न हो। विदेशके भी बहुत-से विद्वानोंसे उनका परिचय एवं पत्र-व्यवहार था। जैन-धर्मके साहित्यको जितनी अँगरेजी भाषा-भाषियोसे परिचय करानेमें देवेन्द्रजीने सहायता दी है, उतनी थोडे ही लोगोंने दी होगी। यदि वे जीवित रहते, तो देश-देशान्तरोंमे अपने धर्म-का गौरव-स्थापन करनेमें बहुत कुछ योग देते।

कालकी गति बहुत कुटिल है और कर्मोका विपाक एक दुर्भेद्य रहस्य है। ज्ञात नही कि ऐसे समाज-सेवकको संसारसे इतने शीघ्र क्यो उठा लिया गया। जो महाशय उनसे उपकृत हुए है, उनका परम धर्म है कि उनकी स्मृतिको जीवित रखनेका उद्योग करे। यद्यपि किसी महान् व्यक्तिके व्यक्तित्वका शब्दो द्वारा वर्णन करना प्राय: दुस्साध्य कार्य है, तथापि ऐसे गुणग्राही समाज-सेवक सज्जनके प्रति मूक रहना कृतघ्नता है; इस भावसे थोड़ी-सी पक्तियाँ मै अपनी सेवाञ्जलि-स्वरूप उनकी पुण्य-स्मृतिको भेट कर रहा हूँ। आशा है, इस प्रेमकी भेटको प्रेम-पुजारी की आत्मा स्वीकार करेगी।

—देवेन्द्रचरित, मई १९३१

परिचय

श्री अजितप्रसाद एम० ए०, एल-एल० बी०

क्षत्रिय-कुलोत्पन्न, राजा अग्रके वंशज, बाँसलगोत्रीय, श्री सुपार्श्व-दासजी आराके उच्च कोटिके सद्‌गृहस्थ थे। विद्याध्ययनके लिए पटनामें छात्र-जीवन व्यतीत करते थे। एक दिन पूर्ण यौवनावस्थामे गंगा-स्नान करते हुए वह एकाकी जल-समाधिस्थ हो गये। इधर तो श्रीयुत सुपार्श्वदासजीका शरीर गंगागर्भमे समाया, और उधर उनके हाईकोर्टकी वकालत परीक्षामे उत्तीर्ण होनेका समाचार आया। जो खबर हर्षको विस्तार करती, वही दुखको बढानेवाली हो गई। पतिदेवके आकस्मिक वियोगसे संसार-भोगोंसे उदासीन होकर देवेन्द्रकी माताजी वैधव्य-दीक्षा लेकर अपने भाई श्रीयुत नन्हूलालजीके घर आरा-नगरमें रहने लगी। उस समय देवेन्द्रको जन्म लिये हुए केवल दो महीने हुए थे। पुत्रकी मूर्तिमें पतिदेव-का प्रतिविम्व देखती हुई देवेन्द्रकी माताका सारा संसार पुत्र-प्रेम और धर्मानुरागमें संकुचित था। रसायनकी तरह संकुचित प्रेमका आवेग माता-के दूध द्वारा देवेन्द्रकी नस-नसमें ऐसा प्रसारित हुआ कि उसका जीवन विश्व-प्रेम और धर्मानुराग-रूप हो गया।

शैशव अवस्था और बालकपनसे ही प्रेम-रसने अपना प्रभाव देवेन्द्र-के स्वच्छ हृदय-पटपर जमा लिया। घरके और आस-पासके बालकोंसे खेल-क्रीड़ामे वह द्वेष और ईर्ष्या-भाव न करके सदा प्रेमसे व्यवहार करते थे। स्कूलमे सहपाठियोंकी सहायता करना, अध्यापकोंकी विनय, बडोंसे नम्र-भाव देवेन्द्रका स्वभाव था। यह सबके प्यारे, और सब इनके प्यारे थे। ......

श्रीयुत बाबू देवकुमारजीकी महान् आत्माका देवेन्द्रके हृदयपर गहरा प्रभाव पड़ा। जिस कामको श्री बा० देवकुमारजी पूरा न कर

सके, उसको सम्पूर्ण सम्पन्न करना देवेन्द्रने अपना ध्येय और कर्तव्य बनाया, और उसके लिए यथाशक्ति यथेष्ट और अथक परिश्रम करते रहे।

जैन-सिद्धान्तके मर्मज्ञ, अनुरागी, कषाय-हीन, अलोभी और परोपकारी समाज-सेवक तैयार करनेके उद्देश्यसे श्री बा० देवकुमारजीने श्रीस्याद्वाद-महाविद्यालयकी स्थापना १२ अप्रैल १९०५ को जैन-धर्म-भूषण ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी, बाबा भागीरथजी वर्णी और बाल ब्रह्मचारी प० पन्नालाल आदि महानुभावोकी उपस्थितिमें दानवीर जैन-कुलभूषण श्रीमान् सेठ माणिकचन्दजी जस्टिस-आव-दी पीस द्वारा कराई। प्रथम विद्यार्थी श्री गणेशप्रसादजीने जो अब न्यायाचार्य-पदसे विभूषित जैन-धर्मके एक दिग्गज विद्वान् है, प्रारम्भ मुहूर्तके समय श्री प्रमेयकमल-मार्तण्डसे पाठ पढा था।

स्याद्वादविद्यालयके प्रथम मत्री इसके सस्थापक और सरक्षक श्री बा० देवकुमारजी ही नियत हुए; और उनके स्वर्गारोहणपर यह उत्तरदायित्व-पूर्ण पद सुविख्यात जैन-कवि, गद्य-लेखक और जैन-जातिके नि स्वार्थ सेवक श्रीयुत जैनेन्द्रकिशोरजी आरा-निवासीको सौपा गया।

श्री जैनेन्द्रकिशोरजी १९०८-९ में विषम रोगसे पीडित रहे; किन्तु जबसे उनके परम भक्त श्रद्धालु शिष्य देवेन्द्र बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी-कॉलेजमें प्रविष्ट हुए, तबसे वे अपना समय अधिकतर स्याद्वादकी सेवामें ही लगाने लगे। रात-दिन वह स्याद्वादके ही प्रबन्धमें दत्तचित्त रहते थे, जैन-धर्मकी उपासना और जैन-जातिकी सेवाको उन्होने अपना जीवनोद्देश्य बना रक्खा था; स्याद्वादकी सेवा भी उस विशाल उद्देश्यमें गर्भित थी। देवेन्द्र विद्याध्ययन-जैसे परम कर्तव्यको भी स्वार्थ समझकर स्याद्वादकी सेवाके सामने गौण कर देते थे। अनेक अवसरोपर स्याद्वादके कार्यसे अवकाश न मिलनेके कारण कॉलेजमें उनकी अनुपस्थिति हो जाया करती थी।

स्याद्वादका प्रबन्ध कितना दुस्तर और दुस्साध्य था, यह श्री जैनेन्द्र-किशोरजीके एक पत्र नं० ७५७ से विदित होता है, जो उन्होंने देवेन्द्रके

नाम २० फरवरीको बाँकीपुरसे, जहाँ वह इलाज कराने गये थे, लिखा था--

"......Of course, the work of the Institution is not methodical. It may be remedied if you try in your own way. Please send me a plan by which the institution may proceed systematically. I shall sanction it after perusal and necessary modifications ...You know that the boys of the Patshala have been obstinate, wicked and quarrelsome for a long time. They often raise their head against Patshala Staff in combination. All the previous superintendents have suffered, and been removed for their sake. They always try to live and work independently. I am dead against such combinations by boys in their scholastic career."

"इस संस्थाका काम बेशक नियम रूपसे नही होता है। यदि तुम अपने ढंगपर कार्य करोगे, तो सब ठीक हो जायगा। मुझे एक कार्य-क्रम लिखकर भेज दो, जिससे इस संस्थाका काम सुचारु रीतिसे चल सके। मैं उसको पढ़कर, और उसमें आवश्यक सुधार करके अपनी स्वीकारिता भेज दूँगा। तुम जानते हो कि पाठशालाके लड़के हठी, कुत्सित विचार-वाले और झगड़ालू दीर्घकालसे हो रहे है। वह अक्सर पाठशालाके कार्यकर्ताओंके मुक़ाबिलेमें सिर उठाया करते हैं। पहलेके सुपरिण्टेण्डेण्ट इन्हीके कारण दुखी होकर अलग हो गये। यह सदैव निरंकुशतया रहने और काम करनेका प्रयत्न किया करते है। विद्यार्थी अवस्थामें लड़कोंके इस प्रकार जत्था बनानेसे मुझको कड़ा विरोध रहा है।"

यह सव कुछ होते हुए भी उन्होंने लिखा था—

"Of course, I feel my responsibility even on my sick bed, but what can I do."

"निस्संदेह मैं अपने उत्तरदायित्वका अनुभव रोग-शय्यापर भी कर रहा हूँ, किन्तु मैं क्या करूँ।"

१५ मई, १९०९ को श्री जैनेन्द्रकिशोरका स्वर्गारोहण हुआ, और स्वर्गीय सेठ माणिकचन्दजीके आग्रहसे स्याद्वादका मंत्रित्व पद देवेन्द्रको अपनी विद्यार्थी अवस्थामें ही स्वीकार करना पड़ा।

देवेन्द्रके अथक परिश्रम करनेपर भी इस संस्थाकी परिस्थिति कैसी विकट रही, इसका कुछ अनुमान उस पत्रसे हो सकता है, जो २४ मार्च १९११ को श्री जैन-सिद्धान्त-भवनके सस्थापक मंत्री और श्री स्याद्वाद-महाविद्यालयके संस्थापक-सदस्य स्वर्गीय श्रीयुत किरोड़ीचन्दजी-ने आरासे देवेन्द्रको इस भाँति लिखा था—

" . सव हालात श्रीमान् नेमीसागरजीसे भी मालूम हुए. . . पाठशालाके विद्यार्थियोके भी हालात मालूम हुए . .यदि हम लोग ऐसे मूर्ख वालकोसे डर जायेगे, तो कदापि समाजका सुधार नही हो सकता . . हमारे तीर्थंकरोपर भी लोगोने वहुत उपसर्ग किया . .हम लोगोको सव काम शान्तचित्तसे, पूरे तौरसे समझ-वूझकर धर्म्मोन्नति और जात्युन्नति का करना चाहिए; यदि हम कोई काम मान, बडाई, कीना, वुग्ज रखकर करेंगे, तो अवश्य दुर्गतिके पात्र होगे; और यदि शुद्ध अन्तःकरणसे समाजके कल्याणके वास्ते अपना कर्तव्य समझकर नियमका पालन करते सते, यदि दुष्ट लोग अपकीर्ति करेंगे तो उसका फल वही भोगेंगे. . .। इस पाठशाला-के प्रारम्भ ही से लड़ाई-झगडेकी उत्पत्ति है। यदि यह कहा जाय कि लडाई-झगड़े ही से इस पाठशालाकी उत्पत्ति है, तो भी सत्य है। यदि हम लोग अपकीर्तिसे डरकर छोड़ देते, तो आज पाठशालाका काशीमे नाम-निशान भी वाकी न रहता, परन्तु नही, हम लोग हमेशा अपना धर्म समझकर गिरी हुई जैन-जातिके सुधारनेके खयालसे अपने काममे मुस्तैद

रहे. . । इन्ही बातोंको, आशा है, आप लोग भी करेंगे । इस साल महासभामें भी जरूर महाविद्यालयके पृथक् करनेकी कोशिश होगी, यदि ऐसा हुआ, तो हम लोगोंका सफल मनोरथ होगा, क्योकि जिस काममे वहुसम्पत्ति व मान-बड़ाईवाले लोग होते है, उस संस्थाकी यही दशा होती है और इसी वजहसे हम पाठशालाके विद्यालयमे मिलानेके बिल्कुल विरुद्ध थे, परन्तु सेठ (माणिकचन्द)) जी व सीतलप्रसादने जोर देकर यह काम कराया । खैर, गुजरी बातोंका खयाल नही करना, आप पूरे तौरसे मुस्तैदीके साथ नियमोका पालन करना, और जो विद्यार्थी आज्ञाभंग करे, उसको समझाना; यदि वह न माने, तो उसको उचित दड देना—आप कदापि समाजका भय न करना । विद्यालयके अलग ही होनेमें खैरियत है । हम लोगोंको इसमें कुछ कहनेकी जरूरत नही है; वह लोग अपने ही मान-वडाईके वास्ते, जहाँ चाहे ले जावे, क्योकि हम पहले ही से खूब समझे हुए है कि विद्यालयके पेटमे ४०००० तोले वजनका वायगोला है, वह जब तक नष्ट नहीं होगा, तव तक इस विद्यालयको इस भारतभूमिमें कदापि स्थिरता व शान्ति नही होगी . आप लोग कदापि किसीका भय न करना, हमेशा आनन्दचित्तसे अपने कर्तव्यको पालन करना, चाहे कोई खुश हो, या नाखुश । हम लोग किसीके नौकर नही, धर्मका पैसा खाना नही, फिर किसका डर है । हम लोग केवल धर्म समझकर इस कार्यको करते है. . .अब आप ही लोगोसे कल्याणकी आशा है" ।

२ ऐप्रिल १९१२ को श्री प० पन्नालाल बाकलीवालने एक पत्रमे देवेन्द्रको लिखा था—

"कल ज्ञात हुआ कि आपका विचार यहाँ रहनेका नही है. . .महाविद्यालयकी, या यों कहिये, जैन-समाजकी रक्षा करनेवाला कोई नही है. . .महाविद्यालय उठ गया समझिये ।"

ऐसे दुःसाध्य पब्लिक कार्यका भार एक कॉलेजमे पढनेवाला युवक अपने ऊपर कैसे ले सकता था, इसमें पाठकोको आश्चर्य होगा । निस्सदेह यह असामान्य बात है, किन्तु देवेन्द्रका जीवन ही असामान्य था । कॉलेज-

की पुस्तको और उपाधियोसे देवेन्द्रको इतना प्रेम नही था, जितना जैन-जाति और जैन-धर्मसे। कॉलेजकी पढाई जैन-धर्म और जैन-जातिकी सेवाके वास्ते एक निमित्त-मात्र थी। यही कारण है कि वह वरसो कॉलेज में पढे, किन्तु न तो कभी परीक्षामें वैठे, और न उत्तीर्ण हो पाये।

देवेन्द्रने परम प्रेम और शुद्ध भक्तिके आवेशमे उस मोक्ष-साधक स्थानका नाम, जहाँ विद्यालय स्थापित किया गया था, निर्वाणकुञ्ज रक्खा था, और जब तक वह स्याद्वादके मत्री रहे, सव पत्र-व्यवहार इसी उत्साहोत्पादक नामसे होता रहा। गगा-तटपर जो विशाल घाट—इस स्थान-को श्री बाबू निर्मलकुमारजीके पितामहने बनवाया था, और जिसकी मरम्मतमे १०-१२ बरस हुए १०-१२ हजार रुपया लग गया, उसका वास्तविक नाम प्रभूघाट देवेन्द्रने प्रचलित करा दिया था, किन्तु अव तो प्रभूघाट और निर्वाणकुञ्जको लोग भदैनीघाटके नामसे ही जानते है।

काशी स्याद्वाद-महाविद्यालयका नवम वार्षिकोत्सव स्याद्वादके इतिहासमे क्या, जैन-समाजके इतिहासमे चिरस्मरणीय रहेगा, ऐसा जैन-महोत्सव न पहले कभी हुआ, और न भविष्यमे होनेकी आशा व सम्भा-वना ही है। इसके महत्त्वका अनुभव तो उन्हीको है, जो इस महोत्सवमे सम्मिलित हुए थे। इसका कुछ वृत्तान्त जनवरी १९१४ के अँगरेजी जैन-गजटमे प्रकाशित हुआ है। सहृदय पाठक उसको पढ़कर कुछ अनुभव कर सकते है।

जिस परिश्रमका परिणाम यह था कि सभ्य-संसारके जगद्विख्यात विद्वानोका ऐसा सम्मेलन जैन-जातिके इतिहासमे कभी नही हुआ था। २३ दिसम्वर १९१३ को रथोत्सव, २५ को प्रातः नगरकीर्तन और शामको काशीके टाउनहालमे मिसेज एनीबेसेण्टके सभापतित्वमे प्रथम पब्लिक सभा हुई।

हिन्दू, मुसलमान, पारसी, क्रिश्चियन, थियोसोफिस्ट, योरपियन, जरमन, अमेरिकन सब ही थे। मगलाचरणके पश्चात् स्वर्गीय श्री जगमदरलाल M. A., Barrister-at-law ने अभ्यागत-सघका

स्वागत किया, और अपने अनुपम तथा संक्षिप्त व्याख्यानमें जो जागृति समाजमे भारत जैन-महामण्डलके द्वारा हुई, उसका दिग्दर्शन कराया। इसी सभामें "जैन-महिलारत्न" की पदवी स्वर्गीया श्रीमती मगनवाईजी-को दी गई थी। २६ को स्याद्वादवारिधि, वादिगजकेसरी, न्याय-वाचस्पति श्रीमान् पंडित गोपालदासजीके सभापतित्वमें ब्रह्मचारी महात्मा भगवान-दीनजी और पंडित अर्जुनलाल सेठीके धर्म-व्याख्यान हुए। रात्रिको वावू सूरजभान वकीलके सभापतित्वमें वावू प्रभूरामजी रावलपिण्डी-निवासी-का व्याख्यान 'शान्तिधर्म' और पण्डित गोपालदासजीका 'जैनधर्म' पर हुआ।

२७ को दिनमे डॉक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणके सभापतित्वमें स्वर्गीय श्रीयुत जिनेश्वरदास माइलने प्रभावशाली कविता पढ़ी; डॉक्टर हरमन जेकोवी, जरमनीकी वान युनिवर्सिटीके प्रोफ़ेसरको, "जैनदर्शन-दिवाकर" की उपाधि प्रदान की गई, और पं० गोपालदासजीका धर्म-व्याख्यान हुआ।

२८ को गंगा-तटका दृश्य देखते हुए नौका द्वारा हमारे माननीय अतिथि जरमनीके डॉक्टर स्ट्राउस और जेकोबी और अमेरिकाके प्रोफ़ेसर जेम्सप्रेंट प्रभूघाटपर उतरे, और जूते निकालकर विनयपूर्वक जिनबिंव के दर्शन किये और जिन-पूजाका दृश्य देखा। स्याद्वादके हालमे डॉक्टर जेकोवीने विद्यार्थियोंको संस्कृत-भाषामे उपदेश दिया। दिनमे डॉक्टर जेकोवीकी अध्यक्षतामें सभा हुई। उन्होंने श्री वावू देवकुमारजीके विशाल चित्रका पर्दा हटाकर जनताको उस जैनधर्म-प्रचारक और जात्युद्धारक महान् आत्माका अनुकरण करनेके लिए उत्तेजित किया—"जैन-सिद्धान्त-महोदधि" की उपाधि डॉक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणको प्रदान की गई, और 'जैनधर्म-भूषण' का पद ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीको दिया गया, श्री मन्नीलाल उदानी एम. ए., राजकोट-निवासीका भी धर्म-व्याख्यान हुआ। जो प्रशंसा-पत्र और उपाधि प्रमाण तैयार किये गये थे, वह ऐसे सुसज्जित और प्रभावोत्पादक थे कि अव वैसी वस्तुके देखनेकी आशा

करना भ्रम है। २९ को जैन-सिद्धान्त-भवन, आराके अनुपम धार्मिक चित्रों, ताड़-पत्र-लिपि, प्राचीन ग्रन्थों, ताम्र-पत्रो आदिकी प्रदर्शनी की गई।

पूर्वोल्लिखित महानुभावोंके अतिरिक्त बनारसके लार्ड विशप (लाट पादरी), प्रोफेसर उनवाला, श्री बाबू भगवानदास एम. ए., कुमार सत्यानन्दप्रसाद, जर्मनीके मि० फिसकोन, नरसिहपुरके श्री माणिकलाल कोचर, काठियावाड़के श्री सेठ हुकुमचन्द खुशालचन्द, इन्दौरके श्री सुखन्त-कर, राजा मोतीचन्द, रानी साहवा औसानगज, मूडबिद्रीके साधु गुम्मनजी और श्वेताम्बर साधु महाराज कर्पूरविजय, क्षमामुनि, विनयमुनि, प्रताप-मुनि आदिके नाम वर्णनीय है, जो इस महोत्सवमे पधारे थे।

जुलाई १९१४ मे श्रीमान् सेठ माणिकचन्द जे. पी. का स्वर्गवास हुआ। इन्हीके आग्रहसे देवेन्द्रने स्याद्वादके मंत्रित्व-पदका भार ग्रहण किया था; अतएव उसी साल उन्होंने इस पदको त्याग दिया।...

वंगीय सार्वधर्म-परिषद्–

जैनधर्मका प्रचार देवेन्द्रके जीवनका सार था। "अखिल जगत्के उद्धारके वास्ते जैनधर्मका श्रद्धान, ज्ञान और आचरण एक अद्वितीय साधन है", यह उसका दृढ विश्वास था और इस विश्वाससे प्रेरित होकर उस विश्वप्रेमीके मनमे इस भावनाका सदैव संचार रहता था कि जैनधर्म जगत्-व्यापी हो, सार्वधर्म हो। इसी विचारके आवेगमें उसने ३१ दिसम्बर १९११ को स्याद्वाद-विद्यालयमें एक सभा एकत्र की। उस सभाने देवेन्द्र-को ही सभापति निर्वाचित किया। सर्वसम्मतिसे वगीय सार्वधर्म-परिषद्-की स्थापना हुई; और देवेन्द्र ही इसके मंत्री और कोषाध्यक्ष रहे। इसके सस्थापक सदस्य प० पन्नालाल वाकलीवाल, पं० लालाराम, प० गजाधर-लाल, पं० तुलसीराम, देवेन्द्र और १५ अन्य विद्वान् थे।

इस परिषद्को क़रीव १०००) मिला, और इसने क़रीव एक साल काम किया। निम्नलिखित पुस्तकोंका बगाली भाषामे अनुवाद कराके हजारों प्रतियाँ बिना मूल्य वितरण की गई।

नाम	सम्पादक
१. सार्वधर्म	श्रीयुत गुरुवर्य प० गोपालदासजी
२. जैनधर्म	लोकमान्य श्रीयुत बाल गगाधर तिलक
३. जैन-तत्त्वज्ञान तथा चारित्र	जर्मन विद्वान् प्रोफेसर हरमन जैकोबी
४. जिनेन्द्र-मतदर्पण	ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी
५. जैनधर्मकी प्राचीनता	श्रीयुत बाबू बनारसीदासजी एम० ए०
६. शान्तिपाठ	आचार्य पद्मनन्दि

यद्यपि कार्यकर्ताओके असहयोग, और रुपयेकी कमीके कारण यह संस्था एक बरससे अधिक न चल सकी, किन्तु इस थोड़े-से कामने ही वग-वासियोंमे जैनधर्मके अध्ययनकी रुचि उत्पन्न कर दी, और अब अनेक बंगाली जैनधर्मके न्याय, साहित्य और सिद्धान्तको पढते और उसपर विचार करते, लेख और पुस्तकें लिखते हैं।

वंगीय सार्वधर्म-परिषद्की रचनाके महत्त्वका एक प्रबल उदाहरण यह है कि जहाँ तक अजैनोंका सम्बन्ध है, जैनधर्मके सिद्धान्तको समझने-मे सबसे अधिक निष्ठा और उसके प्रचारमें सबसे अधिक परिश्रम बंगालियो-ने किया है—Sacred Books of the Jainas Series नामकी सिद्धान्त शास्त्रोंकी ग्रन्थमालाके स्थापन करने और चलानेमे श्रीयुत शरच्चन्द्र घोषाल एम. ए., बी. एल. काव्यतीर्थ, विद्याभूषण भारती, Professor of English and Philosophy सरस्वती, वेदान्त-परिभाषा, प्रमाण-मीमासा आदि ग्रन्थोंके सम्पादक ही अग्रसर हुए। उन्होने एक पत्रमें मुझे लिखा है।

There was a time when I decided to devote my life to the Propagation of Jainism, and Devendra was going to start a chair of Jainism in the Benares Hindu University, and he requested

me to accept the same. I expressed my assent. Devendra also had a project to start a special College for the Jainas with a Jaina Boarding which would be affiliated to a recognised Indian University. He made me promise that I would accept the Principalship of the proposed College. He had a great desire to publish in Bengali, Hindi, and English the great works of the Jainas.........There was a talk that on some future date I would write some Bengali works on Jainism. All the projects however collapsed with the death of Devendra. Otherwise by this date at least twenty volumes of the Sacred Books of the Jainas would have been published, and I would have been working elsewhere for the propagation of Jainism......His mind was always full of schemes for the advancement of Jainism. With him departed all my opportunities to utilise the knowledge of Jainism which I acquired by long and deep study of manuscripts and printed books and which I continue even up to the present . Had there been such a spirit as Devendra living at the present day, even now I am willing to resign my post and work for Jainism till the end of my life.

"एक समय था, जब मैंने यह निश्चय किया था कि अपना जीवन जैनधर्मके प्रचारमें लगा दूंगा। बनारस हिन्दू-युनिवर्सिटीमें देवेन्द्रका विचार एक जैनधर्मशिक्षकके नियत करनेका था, और उसने उस पदके वास्ते मेरी स्वीकृति ले ली थी। देवेन्द्रका विचार जैनियोंके वास्ते विशेप करके एक जैन-कॉलेज खोलनेका था, जिसके साथ जैन-बोर्डिंग भी होता और जो किसी प्रतिष्ठित युनिवर्सिटीसे सम्बन्धित होता, और उस कॉलेज-के प्रिंसिपल पदकी स्वीकृति भी मुझसे ले ली थी। देवेन्द्रकी उत्कट मनो-कामना थी कि जैनधर्मके महान् ग्रन्थ बंगाली, अँगरेजी और हिन्दीमे प्रकाशित करे. . .यह भी बातचीत थी कि भविष्यमें जैनधर्मपर कुछ पुस्तके मैं बंगाली भाषामें सम्पादन करूँगा, किन्तु यह सब विचार देवेन्द्रके शरीरान्त से ढह गये, नहीं तो इस समय तक "जैनियोंकी पवित्र पुस्तकमाला" के कम-से-कम २० ग्रन्थ तो छप चुके होते, और मै कही और ही जैन-धर्म-प्रचारका काम करता होता. . .देवेन्द्रके मनमे जैनधर्मकी प्रभावनाके विचार सदैव भरे रहते थे। उनके साथ मेरे सब मनसूबे भी भरे रहते थे। उसके साथ मेरे सब मनसूबे भी चल बसे, जो मैंने जैनधर्मके ज्ञान को, जिसे मैंने मुद्दत तक हस्त-लिखित और मुद्रित शास्त्रोंके गहरे अध्ययन-से प्राप्त किया था, काममें लानेके वास्ते बाँध रक्खे थे। यदि देवेन्द्र जैसा कोई जीवात्मा इस समय होता, तो मैं अब भी अपने पदको त्यागने और आजन्म जैनधर्मकी सेवा करनेको तैयार हूँ।"

श्रीयुत हरिसत्य भट्टाचार्य, एम. ए. बी. एल. ने श्री वादिदेवके प्रमाणनयतत्त्व-लोकालंकारका रत्नप्रभा तिलक समेत अँगरेजीमे सम्पादन किया है; और "A compendium of Jaina Philosophy" "Divinity in Jainism" नामकी दो पुस्तके जैनधर्मपर अँगरेजीमें लिखी हैं। वह अपने एक पत्रमें लिखते है—

"........The book that I received from Devendra was entitled 'Jaina Dharma' and 'written in Bengali......That I am known

as a Jaina scholar now-a-days is all due to him......

About a year after Devendra's death I met Sir Ashutosh Mukherji. He was very much grieved to hear about the death of Devendra and it was then that I learnt that Devendra so young and so simple as he was, was held in great esteem by that lion of men, who told me that Jainism suffered an irreparable loss in the untimely death of Devendra."

"‥ देवेन्द्रसे मुझे 'जैनधर्म' नामकी पुस्तक बंगाली भाषामें मिली ‥। यह देवेन्द्र ही का अनुग्रह था कि जिसके कारण आजकल मैं जैन-धर्मका जानकार समझा जाता हूँ‥। 'देवेन्द्रके देहान्तके करीब एक साल पीछे एक अवसरपर मेरा मिलना सर आशुतोष मुखर्जीसे हुआ, उनको देवेन्द्रके देहान्तका समाचार सुनकर अत्यन्त दुःख हुआ और उस समय मुझे मालूम हुआ कि उस नर-केसरीके हृदयमें देवेन्द्र-जैसे सीधे-सादे नवयुवकका कितना आदर था, उन्होंने कहा कि देवेन्द्रके कायोत्सर्गसे जैन-धर्मको ऐसी हानि पहुँची है कि उसकी पूर्ति असम्भव है।"

श्रीयुत हरिसत्य भट्टाचार्यके लेख अब भी अँगरेजी जैन गजटमें रहते हैं।

इलाहाबादमें सुमेरचन्द-जैन-होस्टलके स्थापित कराने, इसकी उन्नति करने और इसको इलाहाबाद युनिवर्सिटीसे सम्बद्ध करानेका श्रेय अधिक अंशोंमें देवेन्द्रको ही प्राप्त है। इसके स्थापित होनेके कुछ समय पश्चात् २१ सितम्बर १९१३ को इस छात्रालयके अन्तर्गत एक "जैन-भ्रातृसभा" की स्थापना की गई और देवेन्द्र उसके सभापति नियत होकर यावज्जीवन इस पदपर सुशोभित रहे।

देवेन्द्रकी मनःकामना थी कि यह होस्टल एक अद्वितीय संस्था हो; और जैन कॉलेजका रूप ग्रहण करके, जैन युनिवर्सिटीका बीज बन जावे, जहाँ जैन-प्रेससे जैनागम प्रकाशित होकर अजैन ससारमे जैन-धर्मका प्रचार और प्रकाश करे।

देवेन्द्र कहा करते थे कि वह एक बड़ा झंडा लेकर जैनागमके मार्मिक ज्ञाताओका सघ बनाकर धर्म-प्रचारार्थ संसारके सब देश-प्रदेशोंमे विहार करेंगे।

सन् १९१३ मे शिमला पहाड़पर जैन-मन्दिरकी प्रतिष्ठा हुई थी। इस प्रतिष्ठाके अवसरपर जो रथोत्सव हुआ, उसको महोत्सव बनानेका श्रेय विशेष करके देवेन्द्रको ही प्राप्त है। उन्होने ८००रु० के अपने छपाये हुए जैन-धर्मके ग्रन्थ उस अवसरपर बिना दाम बाँटे थे।

सेन्ट्रल जैन-कॉलेज—

जैन-कॉलेजका विचार १८९० में, पहले-पहल मुरादाबाद-निवासी पण्डित चुन्नीलाल और मुशी मुकुन्दलालने प्रकट किया था। जून १९०२ के जैन-गजटमें उसकी आवश्यकता दिखलाई गई थी। दिसम्बर १९०४ में अम्बाला-महासभाके अधिवेशनपर एक डेपुटेशन जैन-कॉलेजके वास्ते द्रव्य एकत्र करनेके लिए निर्वाचित हुआ। इस प्रतिष्ठित मण्डलमे मुरादाबादके पण्डित चुन्नीलाल और मुशी बाबूलाल वकील, नजीबाबाद-के रायबहादुर साहु जुगमन्दरदास, दिल्लीके भाई मोतीलाल और लाला जिनेश्वरदास मायल, पं० अर्जुनलाल सेठी, पं० रघुनाथदास सरनौ, ब्र० सीतलप्रसादजी आदि थे। इन महानुभावोने संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त और राजपूतानामें दौरा करके ३०-४० हजार रुपया एकत्र किया।

कार्यकर्ताओंमें मतभेदके कारण जैन-कॉलेजकी स्थापना न हो सकी और संचित द्रव्य महाविद्यालयके ध्रौव्य फ़ण्डकी मदमे पड़ा रह गया।

जैन-कॉलेजकी आवश्यकताका जितना प्रभाव देवेन्द्रके हृदयपर था, शायद ही किसी दूसरेपर पड़ा हो। यह अतिशयोक्ति नही, बल्कि अक्षरशः सत्य है कि वह सेंट्रल जैन-कॉलेजकी जाप जपा करते थे।

कागजके दस्ते-के-दस्ते उन्होने "सेंट्रल जैन-कॉलेज" शब्द लिख-लिखकर भरे है, और यदि वह जीवित रहते, तो सेट्रल जैन-कॉलेज स्थापित हो गया होता।

श्री जैन-वीर बाला-विश्राम–

जब देवेन्द्र जैन-सिद्धान्तभवन, आराका काम करते थे, उसीके साथ-साथ कन्या-पाठशालाकी भी, जो श्रीशान्तिनाथ जिनालयमे स्थापित थी, देख-भाल रखते और समस्त प्रबन्ध करते रहते थे। इसी पाठशालाको बढाकर महिला महाविद्यालय कर देना देवेन्द्रका अभीष्ट था, और इस विषयमें कई दफा उन्होने मुझसे वार्तालाप किया है। खेद है कि देवेन्द्रका अभीष्ट तो नही पूरा हो सका, किन्तु उसका सकुचित रूप श्रीजैनबाला-विश्राम है, जो आरा नगरसे बाहर ३ मीलपर धनुपुरामें स्थापित है।

स्वर्गारोहण–

मार्च १९२१ मे कुछ पुस्तकोके छपवानेके प्रबन्धार्थ देवेन्द्र कलकत्ते गये। वहाँ प्रेसके झझटके कारण अधिक ठहरना पडा। सहसा शीतला रोगने आ दबाया। श्रीमान् बाबू छोटेलालजीने, जिनके यहाँ वह ठहरे हुए थे, चिकित्सा और परिचर्यामे तन-मन-धनसे पूर्ण प्रयत्न किया, किन्तु विकराल कालके आगे कुछ न चली, और रविवार, फाल्गुन शुक्ल १०, स० १९७७, अर्थात् १७ मार्च, १९२१ को वृद्धा माता, १५ वर्षकी अर्द्धांगिनी, कुटुम्बी जनों और सैकड़ो मित्रोको बिलखता छोड़, अपने मित्रगण और प्रेमियोसे सैकड़ों कोस दूर, अत्यन्त शारीरिक वेदना समता भावसे सहकर, जैन-जातिके उद्धार और जैन-धर्मके प्रचारका ध्यान करते हुए देवेन्द्र सुरलोकमे सुरेन्द्र हो गये।

१८८८,	अक्टूबर	२७ . .	जन्म
१९०५,	एप्रिल	१२ . .	श्री स्याद्वाद-महाविद्यालय की स्थापना
१९०७	जुलाई	. . .	श्री देवकुमारजीका स्वर्गवास

१९०८,	जुलाई		... सेंट्रल हिन्दू-कॉलेज बनारस में प्रवेश
१९०९,	मई	२५	... श्री जैनेन्द्रकिशोरका स्वर्गवास
१९११,	जून	३	... श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-की स्थापना
१९११,	जून	५	... अणुव्रत ग्रहण
१९११,	दिसम्बर	३१	... वंगीय सार्वधर्म-परिषद्की स्थापना
१९१३,			... शिमला जैन-मन्दिरकी स्थापना
१९१३,	दिसम्बर		... श्री स्याद्वाद-महोत्सव सप्ताह काशी
१९१४,	जुलाई		... श्री दानवीर सेठ माणिकचंद जे. पी. का स्वर्गवास
१९१५,	नवम्बर		... कलकत्तेमें श्री जैन-सिद्धान्त-भवनकी प्रदर्शनी
१९१६,	नवम्बर	२२	... श्री बाबू किरोड़ीचन्दका स्वर्गवास
१९२१,	मार्च	१७	.. स्वर्गारोहण

लेखककी देवेन्द्रचरित्र नामक १०२ पृष्ठकी पुस्तकसे उक्त अंश संकलित किया गया है।

बैरिस्टर
जुगमन्दिरलाल
जैनी
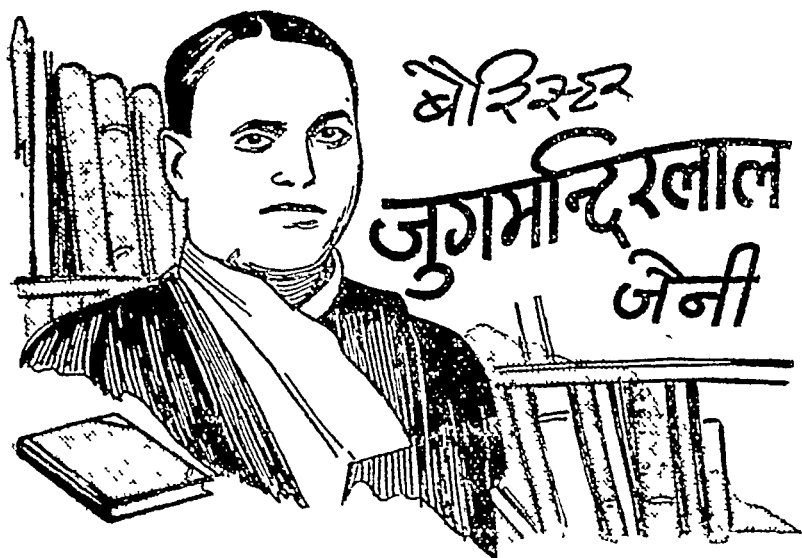
जिनवाणीभक्त

श्री अजितप्रसाद जैन एम० ए० एल-एल० बी०

ब्रह्मचारीजीकी साहित्यसेवामे श्रीयुत जुगमंदरलालजी जैनी ने पर्याप्त सहयोग दिया। जैनीजी पूर्वजन्म-सस्कारसे प्रखर वुद्धिमान् थे। मैट्रिक्यूलेशन, इण्टरमीडियेट परीक्षाओंमे बरावर सरकारी छात्रवृत्ति पाते रहे। एम. ए. मे प्रथम श्रेणीमे उत्तीर्ण होते ही वह तुरन्त इलाहाबाद यूनिवर्सिटीमें अंग्रेजी भाषाके अध्यापक और छात्रालयोके प्रबन्धक नियत किये गये। तीन बरस अध्यापकी करके १९०६ मे एक-जेटर कॉलिज ओक्सफोर्ड मे दाखिल हुए और १९१० में बैरिस्टर होकर स्वदेश लौट आये। वम्बईसे सेठ माणिकचन्द पानाचन्दजी, श्रीमती मगनबाई आदिके साथ श्रवणबेलगोलाके महामस्तकाभिषेक उत्सवमें सम्मिलित होकर पुण्य प्राप्त किया। रोमन लॉ और जैनधर्मकी रूपरेखा जैनीजीने लंदनमें छपवाई।

वैरिस्टरीमें उनको पर्याप्त सफलता हुई और १९१३ मे एक प्रीवी काउन्सिलके मुकदमेमें उनको लंदन भेजा गया।

१९१४ से १९२० तक और १९२२ से देहोत्सर्ग १३-७-१९२७ तक जैनीजी इन्दौर राज्यके न्यायाधीश और व्यवस्था-विधि-विधायिनी सभाके अध्यक्ष रहे, वीचके १९२० से १९२२ तक वह निःशुल्क सरकारी काम, असिस्टेण्ट कलक्टरी और अमन सभाके संस्थापक मंत्रित्वका कार्य करते रहे और रायवहादुरकी उपाधि प्राप्त की।

वह सब बैरिस्टरी, राजकीय सेवा और निःशुल्क सरकारी कार्य करते हुए भी अपने अवकाशका समय वह बरावर साहित्यसेवामे लगाते

रहे। ब्रह्मचारीजीके साथ बैठकर, उनको चातुर्मासमे अपने पास ठहराकर जैनीजीने अंग्रेजी भाषामे वृहद् स्पष्ट व्याख्या और मौलिक प्रस्तावना सहित तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, आत्मानुशासन, पंचास्तिकायसार, समय-सार, गोम्मटसार, जीव-कर्मकाण्डका अनुवाद किया। कभी-कभी तो वह रातके दो वजे तक इस कार्यमे व्यस्त रहते थे। जैन पारिभाषिक शब्दो का कोष तैयार किया और इन सब पुस्तकोको अपने स्वोपार्जित द्रव्यसे छपवाया और प्रकाशित किया।

जैनीजीने १९०४ से अंग्रेजी "जैनगजट" के सम्पादनका कार्य अपने हाथमे लिया। अब वह चालीसवें बरसमे अजिताश्रम लखनऊसे प्रकाशित हो रहा है। भारत जैन महामण्डलमे जैनीजीने जान डाली और उसको बराबर प्रोत्साहन देते रहे। साम्प्रदायिकता उनके पास नही फटकती थी।

वात्सल्य भाव उनके हृदयसे छलका पड़ता था। जैन-जातिका उद्धार और जैनधर्मका प्रचार उनके जीवनका ध्येय था।

देहावसानसे एक वर्ष पहिले १४ अगस्त १९२६ को जैनीजीने एक वसीयतनामा लिख दिया था कि उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति जनहितार्थ जैनधर्मकी रक्षा तथा प्रचारमे काम आवे। वह धर्मनिधि क़रीव एक लाखके है और श्री सेठ लालचन्दजी सेठी उसके प्रवन्धक है। इस निधि की आमदनीसे सेण्ट्रल जैन पवलिशिंग हाउस, अजिताश्रम लखनऊ, ऋषभ जैन लाइब्रेरी लंदन, अंग्रेजी जैनगजट, जैन साहित्य मडल लंदनको निरन्तर सहायता मिलती रहती है। तथा अंग्रेज़ीके साथ धार्मिक अध्ययन करने-वाले विद्यार्थियोको छात्रवृत्ति दी जाती है। जैनीजी वास्तविक दानवीर और साहित्यसेवक थे।

अब मैं अपनी रामकहानी क्या कहूँ ? मुझे तो जो कुछ साहित्यिक लाभ हुआ, इन्ही दोनों महापुरुषोंके दिये हुए ज्ञानदान और प्रोत्साहनका प्रभाव है। इन दोनोंका सत्सग मुझे १९०४ से मिला। ब्रह्मचारीजीको

मुझसे धर्मचर्चा करते-करते कभी-कभी अधिक रात् बीत जाती थी और रातको वह मेरे यहाँ रह जाते थे। जैनीजी भी इलाहाबादसे आकर मेरे यहाँ ठहरते थे; और मैं भी इलाहाबादमें ठहरता था।

तभीसे मैंने शान्तिपाठ, आचार्य अमितगति प्रणीत सामायिक पाठ, क्षमायाचना पाठका अंग्रेजीमे अनुवाद किया। १९१३ से मैं जैनगजटके सम्पादनका काम कर रहा हूँ।

—दिगम्बर जैन, दिसम्बर १९४२
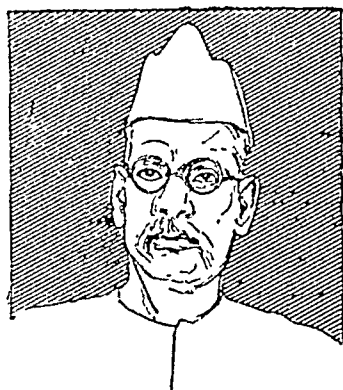
जन्म—	जयपुर ९ सितम्बर १८८० ई०
शिक्षा—	वी० ए० १९०२ ई०
स्वर्गवास—	अजमेर २२ दिसम्बर १९४१ ई०

एक मीठी याद

—— गोयलीय ——

चौरासी (मथुरा) पर स्थित महासभाके विद्यालयमें अध्ययनके निमित्त मैं १९१४ ई० में गया था। वहाँ मेरी ननिहाल (कोसी-मथुरा) के चार विद्यार्थी पहलेसे पढ़ते थे। ये चारों विद्यार्थी पहले सेठीजीके विद्यालयमें पठनार्थ गये थे, किन्तु उनके वन्दी किये जाने पर चौरासी आ गये थे। कुछ तो तब सेठीजीके नामकी भनक कानमें पड़ी और फिर लोकमान्य तिलकका जुलूस मथुरामें निकला, उस समय भी न जाने कैसे सेठीजीकी प्रशस्ति सुननेमें आई।

उन दिनों अंग्रेज़-जर्मन-युद्ध चल रहा था। न मालूम क्यों अंग्रेज़ोंकी हार और जर्मनोंकी जीतके समाचार पढ़-सुनकर आह्लाद और सन्तोष होता था। फिर धीरे-धीरे—स्वराज्य, परतन्त्रता, भारतमाता, वन्देमातरम् आदि शब्द कानोंकी राह हृदयमें उतरते गये, और उनका अर्थ भी उजागर होता गया। तभी समझमें आया कि भारतमाताके वन्धनोंको काटनेमें जो सेनानी संलग्न थे, उन्हींमें एक सेठीजी भी थे। उनका अस्तित्व अंग्रेजी राज्यके लिए अमंगल था, इसीलिए उन्हें जेलमें डाल दिया गया है। उन्हें मुक्त करानेके लिए लोकमान्य तिलक, ऐनी बीसेण्ट-जैसे प्रमुख नेताओंने भरसक प्रयत्न किये, भारतीय पत्रोंने अग्रलेखपर अग्रलेख लिखे, किन्तु अंग्रेजी सरकार टस-से-मस न हुई। जैन-समाजमें ब्र० सीतलप्रसादजी, श्री वाडीलाल मोतीलाल शाह और वा० अजितप्रसादजी वकीलने सेठीजीके छुटकारेके लिए अनथक परिश्रम

किया। व्याख्यानो-लेखो द्वारा करुण पुकार सरकारके कानो तक पहुँचाई। गाँव-गाँव और शहर-शहरसे तार दिलवाये, परन्तु सरकारके कानपर जूँ तक न रेंगी। श्री नाथूरामजी प्रेमी द्वारा सम्पादित और प्रकाशित जैनहितैषीने भी बहुत मनोयोगसे हाथ बटाया।

सेठीजीके सम्बन्धमें अधिक-से-अधिक जाननेकी प्रबल आकाक्षा मेरे बालहृदयमें उत्तरोत्तर बढ़ती गई। जैन-जैनेतर पत्रोमें खोज-खोजकर सेठीजी सम्बन्धी लेख-समाचारादि पढता।

तभी यह भी पढा कि सेठीजी जिन-दर्शन किये बगैर भोजन नही करते थे। जेलमें जिनदर्शनकी सुविधा न होनेके कारण, उन्होने भोजन का त्याग कर दिया और उसपर वे इतने दृढ रहे कि ७० रोजतक निराहार रहे। अन्तमें सरकारको झुकना पड़ा और महात्मा भगवानदीनजीने जेलमें जिन-प्रतिबिम्ब विराजमान कराई, तब उनका उपवास समाप्त हुआ। भारतके राजनीतिक बन्दियोमें सेठीजीका यह प्रथम उदाहरण था, इसलिए भारतीय नेताओने 'भारतका जिन्दा मेक्स्वनी' कहकर उनका अभिनन्दन किया था।

ई० सन् १९१६ या १७ में अम्बालेमें जैनवेदी-प्रतिष्ठा थी। मुझे भी वहाँ जानेका अवसर प्राप्त हुआ। बा० अजितप्रसादजी लखनऊवालोको पहले-पहल मैने वही देखा। वे सेठीजीके छुटकारेके लिए प्रयत्न कर रहे थे। वहाँ लोकमत जागरित करने और आर्थिक सहायता प्राप्त करनेके लिए वे आये हुए थे। पण्डालमें उनका अत्यन्त प्रभावशाली भाषण हुआ और आर्थिक सहायतार्थ उन्होने सेठीजीके छपे हुए चित्र बेचे। एक-एक चित्रकी लागत एक-एक पैसेसे अधिक नही होगी, लेकिन जनताने अपनी शक्ति-अनुसार, मूल्य देकर खरीदा। मुझे भी जेब-खर्चको जो चार आने मिले थे, उसका चित्र ले लिया और वह जबतक (१९२५ ई० में) सेठीजीके साक्षात् दर्शन नही हो गये मेरे पास बना रहा।

१९१८ या १९ ई० में विद्यार्थी सभाकी ओरसे 'ज्ञानवर्द्धक' अर्द्ध-

साप्ताहिक पत्र हस्तलिखित निकलता था। इसका मैं और श्री मथुरादास[1] सम्पादन करते थे और श्री सुन्दरलाल[2] अपने सुवाच्य अक्षरोंमें लिखते थे।

जब सेठीजीको मुक्त करो आन्दोलन प्रबल हो उठा तो कुछ शर्तो-के साथ भारत सरकार उन्हें छोड़नेको उद्यत हुई, किन्तु सेठीजीने पाबन्दी-के साथ रिहा होना ठुकरा दिया। हमने 'ज्ञानवर्द्धक'मे सरकारकी कड़ी भर्त्सना करते हुए सेठीजीके इस दृढ़ निश्चयकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। हमारे इस साहसपूर्ण वक्तव्य और सुरुचिकी सभी अध्यापकवर्गने दाद दी, किन्तु पं० इन्द्रलालजी[3] शास्त्री जो जन्मतः रूढ़िवादी हैं और देशसेवा के नामसे कानपर हाथ रखते थे, थोड़ा भिन्नाये, किन्तु कुछ कर नही सकते थे। क्योंकि विद्यार्थियोंका परस्पर बहुत अच्छा संगठन था, और वे अपनी नम्रता, अध्ययन-शीलता और विकासोन्मुखी कार्योंकी ओर अग्रसर रहनेके कारण सभी अधिकारीवर्ग और अध्यापकोके कृपापात्र थे।

यही अंकुर धीरे-धीरे हृदयमें फूटते रहे। १९१९ मे रौलट-एक्ट-के विरोधमे भारतव्यापी हडताल हुई तो हम सब विद्यार्थियोंने भी हड़ताल की और उपवास रक्खा। सभा करके गरमागरम भाषण दिये, प्रस्ताव पास किया और मथुराकी बृहत् सभामे लाइन बनाकर भाषण सुनने गये।

ग्रीष्मावकाशकी छुट्टियोमें घर गया तो वापिस विद्यालय न जाकर १९२० मे दिल्ली चला गया और गली-गली, कूचे-कूचे मे घूमकर खद्दर बेचने लगा। फिर १९२४ मे जैनसगठन सभा की स्थापना की।

एक रोज मालूम हुआ कि ला० हनुमन्तसहाय[4] के यहाँ सेठीजी आये

१—श्री मथुरादासजी पद्मावतीपुरवाल हैं। यह बी० ए० और न्यायाचार्य होनेके बाद गुजरानवाला गुरुकुलमें अध्यापक हो गये थे। फिर दिल्लीमें भारत बैंकमें काम करने लगे थे।

२—श्री सुन्दरलाल परवार जैन हैं और वैद्यक-परीक्षा पास करके सी. पी. के किसी स्थानमें वैद्यकका स्वतंत्र व्यवसाय कर रहे हैं।

३—ये उन दिनों विद्यालयमें व्याकरणके अध्यापक थे।

४—दिल्लीके प्रसिद्ध देशभक्त।

हुए हैं। चरणस्पर्शको तुरन्त वहाँ पहुँचा। वे कही जानेकी शीघ्रतामें थे, इसलिए जी भरकर उन्हें देख भी न सका। मुझे वे जानते भी न थे। मै उन्हें कैसे वताऊँ कि १० वर्षसे परवाना वना हुआ, जिस ज्योतिके लिए तडप रहा था, वह आज दिखाई भी दी तो विजलीकी तरह। न एकटक निहार ही सका, न क़दमोपर सर ही धुन सका।

मुझे जिनके दीदकी आस थी, वोह मिले तो राहमें यूँ मिले।
मैं नज़र उठाके तड़प गया, वोह नज़र झुकाके निकल गये॥

—महमूद अयाज़ बंगलोरी

१९२६ में उनसे मिलनेमें मै जयपुर पहुँचा। तव वे मेरे नामसे परिचित हो चुके थे। दो रोज ३-३ घण्टे अत्यन्त स्नेह और प्यारसे राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक चर्चाएँ की। चर्चा करते हुए वे इतने गहरेमे उतर जाते थे कि मेरी मोटी वुद्धि थककर वैठ जाती थी। मेरी वहुत प्रवल अभिलाषा थी कि सेठीजी पुन. जैन-जागरणका कार्य्य हाथमे लें। देशसेवाका व्रत लेने और जो भी अर्थ हाथमे आये, उसे देशसेवामे ही न्योछावर कर देनेके कारण सेठीजी स्वयं तो दारिद्रयव्रती थे ही, उनके परिवारको भी यह सव सहना पडता था। परिवारके निमित्त मैंने कई रईसोसे कुछ भिजवानेका प्रयत्न किया भी तो सब व्यर्थ हुआ, क्योकि सेठीजीके यज्ञमे पडकर सव स्वाहा हो जाता था।

अत: मेरी प्रवल इच्छा थी कि सेठीज़ीको किसी ऐसे कार्य्यमें लगा दिया जाय, जो उनकी प्रतिष्ठा, रुचिके अनुकूल हो। जिसमें रहकर वे अधिक-से-अधिक देश-सेवा कर सके और गार्हस्थिक चिन्ताओंसे मुक्त रह सके। मैंने एक-दो धनिकोंको एक अच्छे स्टैण्डर्डका साप्ताहिक पत्र निकालनेके लिए राजी कर लिया था, और इच्छा थी कि सेठीजी अपनी रुचि और नीतिके अनुसार उसका सचालन करे, किन्तु सेठीजी वन्धनोमे फँसनेवाले जीव नही थे। वह राजपूतानेका केसरी घुल-घुलकर तो मर गया, पर किसीके भी कटघरेमें नही फँसा। हालाँ कि जयपुर सरकारकी तरफ़से जयपुर राज्यमे प्रवेश न करनेकी सख्त पावन्दी लगी हुई थी,

फिर भी वे कई माहसे सपरिवार किसी तरकीबसे जयपुरमे रह रहे थे और सपरिवार ही नहीं रह रहे थे, काकोरी षड्यन्त्रके ख्यातिप्राप्त श्री अशफ़ाक़ुल्लाको भी फ़रारी हालतमें अपने यहाँ छद्मवेशमें छिपा रखा था।

मेरी उन दिनों आन्तरिक इच्छा थी कि वे मुझे भी अपने क्रान्तिकारी कार्योमे दीक्षित कर लें, किन्तु वे सदैव टालते रहे। धीरे-धीरे सम्वन्ध वढ़ते गये और मुझपर वे पूर्ण विश्वास करने लगे। सन् २८ में दिल्ली आये तो मुझे अपने साथ शौक़त[1] उस्मानीके यहाँ भी ले गये।

उस्मानी साहब उन दिनों भारत-सरकारसे पोशीदा रहकर सदर-बाज़ारके एक कमरेमे रह रहे थे। सैकडो राजकी वाते सुनी। सेठीजीने मुझे वहाँ कभी-कभी जाते-आते रहनेको कह दिया था। ४-५ रोज़के वाद जाकर देखता हूँ तो जीनेके दर्वाजेका ताला लगा हुआ था। मैं किसीसे पूछूँ कि एक मुसलमान (जो शायद मकान-मालिकका नौकर होगा) स्वयं ही बोला—"कहिये हजरत किसकी तलाशमे हैं आप ?"

"यहाँ एक साहब रहते हैं, उन्हींसे मिलना है।"

"यहाँ तो कोई साहब नही रहते, मुद्दतोंसे ताला बन्द है। आप उनसे कव मिले थे ?"

मैं इसका जवाव न देकर जीनेसे उतर आया और समझ गया कि

१—शौक़त उस्मानी भारतके उन सपूतोंमें हैं, जो हिजरतके बहाने भारतसे चले गये थे। इनकी रूसयात्रा (जहाँ तक मुझे स्मरण है) प्रताप, कानपुरसे प्रकाशित हुई थी जिससे इनके साहसी, विकट जीवन और उत्कट देशभक्तिका परिचय मिलता है। भारतसे क़ाबुल आदि अनेक देशोंमें होते हुए रूस पहुँचे। क़ाबुल राज्यने नज़रबन्द किया तो किसी राज्यने तोपके मुहानों पर रखा, किसीने गधोंके अस्तबलमें बाँधकर डाल दिया। कभी बर्फ़के पहाड़ पर रात काटनेको मजबूर हुए, कभी सरहदी लुटेरोंका मुक़ाबिला करना पड़ा। अन्तमें रूस पहुँचे तो वहाँ लेनिनने इनका शानदार स्वागत किया और जुलूस निकाला।

पुलिसको उनकी गन्ध मिल गई है, शायद इसलिए उडछन्नू हो गये हैं और यह नौकर मुझे सी० आई० डी० समझकर चकमा दे रहा है। फिर एक-दो माहके बाद पत्रोमें पढा कि देशमे भिन्न-भिन्न भागोंसे कम्युनिस्ट पकड़कर मेरठ जेलमें रखे गये है, और मेरठ षड्यन्त्र केसके नामसे उनपर मुकदमा चल रहा है। उन्ही अभियुक्तोमे शौकत उस्मानी भी थे।

जब मैं नजीबाबादसे दिल्ली चला आया और समन्तभद्राश्रममे रहने लगा तो तकरीबन ७-८ रोज वहाँ मेरी वजहसे रहे। साथ ही खाना खाते, साथ ही घूमने जाते और हम एक ही कमरेमे सोते। उन्हे बमुश्किल २-१ घण्टे नीद आती थी। दिनभर तो बाते करते ही थे, रातको भी बाते करते! एक तो बात सुननेका चस्का, दूसरे अदब इजाजत नही देता था कि वे बातें करते रहे और मै खर्राटे भरने लगूँ। लिहाजा नीद आने लगती तो बैठकर सुनने लगता।

तत्त्व-चर्चा चलती तो मुझे ऐसा मालूम होने लगता कि समुद्र उमडा आ रहा है, मै उसमे कभी डूब रहा हूँ, कभी उबर रहा हूँ, परन्तु किनारा नही पा रहा हूँ। राजनीतिके दाव-पेच, घात-प्रतिघात सुनाने लगते तो मालूम होता, यह अर्जुन नही, महाभारतका योगी कृष्ण है, जो अपनी किसी योग-भ्रष्टताके कारण इस युगमें जन्म लेनेको बाध्य हुआ है और अर्जुन-जैसा शिष्य न मिलनेके कारण छटपटा रहा है। कई बार तो डर लगने लगता। शायरीका भी अच्छा शौक रखते थे। बीच-बीचमे मुँहका जायका बदलने और वातावरणको नीरस न होने देनेके लिए—गालिब-ओ-जौकके प्रसगानुसार शेर भी फर्मा देते थे। एक दिन जो मौजमे आये तो बोले—

"बेटा, हम भी तुकबन्दी कर लेते है।"

"तुकबन्दी कैसी, आप तो अच्छी-खासी कविता कह लेते है। मैंने बचपनमे आपकी बनाई कई कविताएँ पढी है। **'कब आयगा वोह दिन कि बनूँ साधु बिहारी'** मुझे खास तौरसे पसन्द थी।"

वे हँसकर बोले—"अच्छा तो बदमाश तू बचपनसे मेरा आशिक रहा है।"

"यह तो आपकी महती कृपा है, जो आप इस सम्बोधनसे मुझे कृत-कृत्य कर रहे हैं। हाँ, एक अकिंचन भक्त मैं आपका अवश्य रहा हूँ।"

"अच्छा तो बच्चू यह बात है जो दौड़-दौड़कर तुम जयपुर और अजमेर जाते रहे हो, और हजार ठिकाने छोडकर मैं तुम्हारे पास ठहरने को मजबूर हुआ हूँ।"

"जी, आप शायद अपना कोई ताजा कलाम सुनाना चाह रहे थे!"

"ताजा तो नही है, ५-६ वर्ष पूर्व कही गई, एक तुकबन्दी है। कुछ दोस्तोंने इस समस्याकी–'देखें कहाँ-कहाँ पै हथेली लगायेंगे' पूर्ति करनेको मजबूर कर दिया। १०-५ मिनिट तबीयत पै जोर दिया तो ये पंक्तियाँ मुँहसे निकल पडी—

मन्दिरमें क़ैद करते हैं ताले ठुका दिये,
मस्जिदमें उस हबीबके परदे लगा दिये,
पूछा सबब तो ऐंठके पोथे दिखा दिये,
वाइज़ने चीख़-चीख़ सिपारे सुना दिये।
महफ़िलमें बेहिजाब हम आँखें लड़ायेंगे।
देखें कहाँ-कहाँ पै हथेली लगायेंगे[1]॥

वाइज़से जाके पूछा कि मय है हराम क्यों,
बोला कि "मेरे सामने लेते हो नाम क्यों",
जन्नतकी तलाशमें है बूढा इमाम क्यों,
खुल जाये राजेमक़्फ़ी पीले न जाम क्यों?
मयख़्वार, उस ख़ुदाको भी एकशा पिलायेंगे।
देखें कहाँ-कहाँ पै हथेली लगायेंगे[2]।

१–मेरे प्यारेको किसीने तालेमें बन्द कर दिया है तो किसीने उसे परदोंमें छिपा दिया है। कारण पूछनेपर धर्मशास्त्रोंके पोथे दिखा दिये कि इनके वारण्टपर इन्हें बन्दी बनाया है, किन्तु इन मूर्खोंने यह नहीं समझा कि उसका हुस्न हज़ार पर्दोंमें भी नहीं छिप सकता। न जाने दें मुझे मन्दिरों और मस्जिदोंमें। मैं तो खुले आकाशके नीचे खड़ा होकर उसको निहारूँगा, देखूँ कहाँ-कहाँपर ये लोग बन्दिशें लगायेंगे?

उक्त कविता न हिन्दी है न उर्दू, न इसे कोई शायराना अहमियत ही दी जा सकती है। सचमुच तुकवन्दी है। मगर यह तुकवन्दी किस वातावरणमें कही गई और क्यों कही गई, यह पसेमज़र मुझे मालूम था। उसका तसव्वुर मस्तिष्कमे था ही, वस कुछ न पूछिये—एक-एक पक्तिपर तड़प-तडप गया।

वात यह थी कि सेठीजीके एक शिष्य मोतीचन्द जैनको फाँसी दे दी गई थी। वह महाराष्ट्रीय जैन था। सेठीजीको उससे वहुत स्नेह था। अपने वफादार और जॉवाज शिष्यकी मौतपर उन्हे वहुत सदमा पहुँचा! मगर कर भी क्या सकते थे?

हाय वह मजवूरियाँ, महरूमियाँ, नाकामियाँ

५-६ वर्ष वाद जव वे जेलसे मुक्त होकर आये तो मोतीचन्दकी पवित्र स्मृतिमें सेठीजीने अपनी कन्याका विवाह महाराष्ट्रके एक युवकसे इस पवित्र भावनासे कर दिया कि मैंने जिस प्रान्त और जिस समाजका सपूत देशको वलि चढाया है, उस प्रान्तको अपनी कन्या अर्पण कर दूँ। सम्भव है उससे भी कोई मोती-जैसा पुत्ररत्न उत्पन्न होकर देशपर न्योछावर हो सके।

यह सम्वन्ध उक्त पवित्र भावनाके साथ-साथ अन्तर्जातीय और अन्तर्प्रान्तीय भी था। जैनोमें यह नया उदाहरण था। और हर नये कार्य्यसे रूढ़िवादियोको चिढ़ होती है। अतः सेठीजी जातिसे वहिष्कृत भी किये गये और मन्दिर-प्रवेशपर भी रोक लगा दी गई!

इसी वातावरणके आस-पास कुछ मनचलोंने तत्काल उक्त मजा-

२—देव-दर्शन और शास्त्र-श्रवणका अधिकार मानवमात्रको क्यों नहीं? क्यों चन्द आदमी इस अमृत-सुराके ठेकेदार बने हुए हैं। अध्यात्म-सुरा पीकर तू-मैं का भेद भूल जानेका सभीको अधिकार है। यह सुधा पीते ही आत्मा और परमात्माके बीचका व्यवधान मिट जायगा। हम तो स्वयं भी पीएँगे, अपने प्यारेको भी पिलायेंगे और एकाकार हो जायेंगे। ओ, धर्मके ठेकेदारो, तुम कहाँ कहाँ पर अपनी टाँग अडाते फिरोगे?

किया समस्या-पूर्ति करनेको मजबूर कर दिया। हृदयके भावोको जो आग्रहकी हवा लगी तो भड़क उठे और उक्त पंक्तियाँ मुँहसे बेसाख्ता निकल पडी। उक्त वातावरणके प्रकाशमे जब इस तुकबन्दीको कोई पढे या सुने तो सिवाय सर धुननेके और चारा ही क्या है?

ज़मीरे पाकतीनत आह कितना बे मुरव्वत है?
सितमगर हर मसर्रतको गुनहगारी बताता है॥

—अकबर हैदरी देहलवी

सेठीजीमें एक बहुत बड़ा नुक़्स था, हाँ मेरे-जैसे जाहिल इसे नुक़्स ही कहेगे? वे जमानेकी रफ़्तारसे तेज चलना चाहते थे। परिणाम इसका यह होता था कि फिसड्डी लोग उनके पाँव पकड़कर उन्हे भी अपने साथ रखना चाहते थे, और जब वे पकड़ाईमें न आकर आगे बढकर अपने फिसड्डी साथियोको भी आगे बढ़नेको ललकारते थे तो साथी खिसियाकर अनाप-शनाप बकने लगते थे। इस स्वभाव-दोषके कारण सेठीजीको जमानेकी न तो कभी वाहवाही प्राप्त हुई न क्षणभरको शान्ति मिली।

सेठीजी प्रखर देशभक्त तो थे ही, उग्र सुधारक भी थे। केवल व्याख्यान देकर और लेख लिखकर उनकी पिपासा शान्त नही होती थी। वे तो अमली जीवनके आदी थे।

हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिल भारतीय संसद्ने १९५० में पास किया, तब कही जाकर जैन-परिषद्को भी उसका समर्थन करनेका साहस हो सका। लेकिन सेठीजी तो दिव्यद्रष्टा थे, कब पृथ्वी करवट लेगी, कब भूचाल और जलज़ले आएँगे, यह सब उन्हें वर्षो पहले दीख जाता था—

जो है पर्देमें पिन्हाँ[1], चश्मे बीना[2] देख लेती है।
ज़मानेकी तबियतका तक़ाज़ा देख लेती है॥

—इक़बाल

और इसी दिव्य ज्ञानके बलपर वे जनताको चेतावनी दे देते थे। यह और बात है कि हम उनके दिव्य ज्ञानकी उपेक्षा करते रहे। आज

१ छिपा हुआ। २ दिव्य दृष्टि।

सर्वधर्म-समभावका नग्मा चारों ओर सुनाई देता है। स्याद्वाद और अनेकान्तका अर्थ ही सर्वधर्म समभाव किया जाता है और आज इस तथ्य-को सर्वसम्मतिसे स्वीकृत कर लिया गया है कि एक सम्यक्ज्ञानी और सत्यशोधकके लिए समस्त धर्मग्रन्थो, दर्शनो आदिका ज्ञान अत्यावश्यक है, किन्तु सेठीजीने जेलसे छूटते ही आजसे ३१ वर्ष पूर्व गीताके अध्ययन करनेकी सलाह जैनियोको दी तो लोग आपेसे वाहर हो गये थे। उस वक्तके उग्र सुधारकोका भी साहस नही हुआ कि वे सेठीजीका समर्थन कर सके। उन्होने यह लिखकर कि "सेठीजी जेलमे घोर यत्रणाएँ पाने-के वाद मालूम होता है—विक्षिप्त हो गये है, अतः वे क्रोधके नही, दयाके पात्र है।" अपनी स्थिति सुरक्षित कर ली।

उस वक्त तो उक्त सफाई समझमे नही आई थी, क्योकि मै स्वय भी कठमुल्ला था। पर आज सोचता हूँ तो मालूम होता है कि सेठीजी सचमुच विक्षिप्त हो गये होगे। आपेमे हुए होते तो वे इन झझटोमे क्यों पड़े होते? अन्य पण्डितोकी तरह वे भी कीर्ति और पैसा प्राप्त कर सकते थे। वे जिन्दगी भर तिल-तिल करके क्यो घुलते?

मेरे ग़मख़्वार ! मेरे दोस्त !! तुम्हें क्या मालूम ?
ज़िन्दगी मौतकी मानिन्द गुज़ारी उसने ॥

—क़तील

हाँ, तो मै भी कहाँ-से-कहाँ वहक गया। वात तो सिर्फ इतनी थी कि सेठीजीने मौजमें आकर उस रातको अपनी उक्त कविता भी सुनाई! फिर उस रोज कोई वात न चल सकी, उक्त कविता सुननेके वाद मै कई वार अपनी विचारसरितामें डूवने और उवरने लगा। इसी आलममें नींद आ गई। सुवह उठा तो सेठीजीको चारपाईसे नदारद पाया। पहले तो खयाल हुआ इधर-उधर गये होगे। लेकिन जव वे कई घण्टो तक वापिस नही आये तो चिन्ता वढी और काफ़ी परेशान हुआ! तीन-चार रोजके वाद देखता हूँ तो सेठीजी सामने खड़े थे।

मैंने तावमे भरकर कहा—"सेठीजी आप भी ख़ूव है। कोई मरे या

ज़िये आपकी बलासे ?"

वे हँसकर बोले—"पगले, पहले बात भी सुनेगा, या अनाप-शनाप बकवास किये जायेगा।"

तब उन्होंने बताया कि—"सुबह बाहर जाकर जो अखबार पढ़ा तो मेरे हाथोके तोते उड़ गये ! तुमने भी चन्द्रशेखर आजादका अजमेरमे गिरफ़्तार होनेका संवाद पढ़ा होगा। संवाद क्या था, मेरे लिए तो मृत्यु-सन्देश था ! आजादको मैंने ही एक गुप्त स्थानपर ठहराया हुआ था। उसका मेरे यहाँसे गिरफ़्तार हो जानेका अर्थ मेरी नैतिक मृत्यु थी, मेरी सारी तपस्या निष्फल हो जाती ! दुनिया क्या कहती कि सेठी भी उसकी सुरक्षाका यथोचित प्रबन्ध न कर सका।

"बस इसी न्यूजको पढ़कर मैं आपेको भूल गया और तुमको बग़ैर सूचित किये ही छद्मरूपमें वास्तविक बात जाँचनेको अजमेर पहुँचा। शुक्र है कि उसको सही-सलामत पाया। पुलिसने उसके धोखेमे किसी और-को मेरे यहाँसे पकड़ लिया था ! अब उसको स्थानान्तर करके आया हूँ।"

जाबके स्थानकवासी जैनियोने मुनि धनीरामजीकी प्रेरणासे पंचकूलेमें एक गुरुकुलकी स्थापना की थी। उसके संचालकोंकी इच्छा थी कि उस कुलगुरुका भार सेठीजी ले लें। किसी तरह उन्हें राज़ी भी कर लिया: गुरुकुलवाले तो सेठीजीसे स्वीकृति लेकर निश्चिन्त हो गये और गुरुकुलकी उन्नतिका सुख-स्वप्न देखने लगे। उधर सेठीजीका आशय ही और था। वे चाहते थे कि पंचकूलाको क्रान्तिकारी कार्योका केन्द्र बनाया जाय और फ़रार देशभक्तोंको उसके पहाड़ी इलाक़ोंमें छिपानेका प्रबन्ध किया जाय। उन्होंने अपनी यह योजना मुझपर प्रकट की और अपने साथ ले चलनेकी इच्छा भी ज़ाहिर की; किन्तु मेरा अजीब आलम था—

आपके अहदेकरमका भी तसव्वुर है गिरां।
उन मुक़ामात पै अब आपका सौदाई है॥
—अर्शी भोपाली

जब मैं दौड़-दौड़कर सेठीजीके पास जयपुर और अजमेर जाकर दीक्षित कर लेनेको गिडगिड़ाया तो वे टस-से-मस न हुए और बराबर यही कहते रहे कि अभी तुममें पात्रता नही। और जब उन्होने स्वयं आह्वान किया तो मैं स्वयं आपेमे न था।

यह इत्तफ़ाक़ तो देखो बहार जब आई।
हमारे जोशे जुनूँका वही ज़माना था॥

—असर लखनवी

मै महात्मा गाधीके असहयोग-आन्दोलनमे पूर्णरूपेण कूद पड़नेका निश्चय कर चुका था; और आये दिन विश्वस्त-से-विश्वस्त क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओंको मुख़बिर होते देख मन इस ओरसे कतई फिर गया था।

मै घर-बार छोडकर १९३० के असहयोग-आन्दोलनमे कूद पड़ा था और दिल्लीके प्रथम ५ सत्याग्रहियोके साथ नमक-कानून तोड रहा था! तभी एक रोज सेठीजी आये और एकान्तमे ले जाकर बोले—

"मै मुनि धनीरामजी और उनके शिष्य कृष्णचन्द्रजीको गुरुकुलसे ले आया हूँ, और इस वक्त उन्हे जीतगढपर छोड़ आया हूँ, तुम जैनियोका एक बड़ा जल्सा करके उनकी मुँहपत्ती उतरवा दो। उन्हे लोक-सेवाके लिए इस सकुचित क्षेत्र और वेषसे बाहर निकाल दो।"

मै तो सुनकर सिहर गया। मै दिगम्बर-कुलमे उत्पन्न हुआ हूँ, साधु स्थानकवासी है। मेरे इस कार्यसे जनतामे जो क्षोभ और भ्रम फैलता, वह मस्तिष्कमें घूम गया। मै इस सुधारके लिए प्रस्तुत न हुआ और मैं उनकी परीक्षामें इस बार भी अनुत्तीर्ण ही रहा, परन्तु सेठीजी फौलादके बने थे, उन्हे लचकना और मुडना आता ही नही था। उन्होने चुपचाप दोनों साधुओंकी मुँहपत्ती उतार दी, और रात्रिको होनेवाली काँग्रेसकी व्याख्यानसभामे इसकी घोषणा भी कर दी। जनताने इस सुधारकी ख़ूब सराहना की। लेकिन इस सुधारका परिणाम यह हुआ कि सेठीजीका पंचकूला गुरुकुलसे भी सम्बन्ध-विच्छेद हो गया।

माना कि हर बहारमें पर टूटते रहे।
फिर भी तवाफ़े[1] सहने गुलिस्ताँ किये गये ॥

—ख़ुरशीद फरीदाबादी

मै सन् ३२ में कारागारसे मुक्त होनेके बाद सेठीजीकी चरण-रज लेने अजमेर पहुँचा। वहाँ जाकर जो उनकी स्थिति देखी, उससे कई घण्टे सुवक-सुवककर रोता रहा। सर्वस्व होम देनेके बाद, जिन्दगीभर स्वय भी देश-सेवामे जूझते रहनेके कारण घरेलू स्थिति भयावह हो उठी! आर्थिक स्रोत सब सूखे हुए और ८-१० प्राणियोके भरण-पोषणकी समस्या। मौतके सामने भी घुटने न टेकनेवाला सेठी स्वय तो न झुका, पर उसकी कमर झुक गई। उसमें वह तनाव और बाँकपन देखनेमे न आया। घरका वातावरण मुझसे ओझल नही रह सका। तभी बरफ बेचनेवालेने रवड़ी मलाईकी बरफकी चटख़ारेदार आवाज दी तो बच्चोंके मुँहमे पानी भर आया, और सेठीजीसे बरफ दिलवानेकी जिद करने लगे। मगर चीलके घोंसलेमें माँस कहाँ? वे चुपचाप थोड़ी देर तो बच्चोका रोना-बिलखना देखते-सुनते रहे। जब न रहा गया तो मुझसे बोले—"गोयलीय! तुम बहुत अच्छा व्याख्यान दे लेते हो, आज इन बच्चोको बरफकी अनुपयोगितापर एक स्पीच दो!"

मैंने कहा—"सेठीजी, कही बच्चे भी इस तरहकी सीख मानते है। ख़ासकर, बरफ़, चूरन और मिठाईके सम्बन्धमे।"

सेठीजीके अब तेवर बदल चुके थे! बोले—"तो इन्हे यह समझाओ कि तुम्हारे नालायक़ पिता कुछ कमाते-धमाते नही है, और जो तुम्हारे बाबा छोड़ गये थे, उसे भी ये स्वाहा कर चुके है।"

मै सहमकर बोला—"सेठीजी, अभी इनमे इतनी समझ ही कहाँ है, जो समझानेसे मान सकें।"

बोले—"नालायक़, यह भी नही समझेंगे, वह भी नही समझेंगे, तो फिर

1—बग़ीचेकी प्रदक्षिणा।

मै क्या करूँ ? सरकारी नौकरको २० वर्षमे पेंशन मिल जाती है, और वह अपने बच्चोंका निश्चिन्त होकर भरण-पोषण करता है। मैंने अपनी एक-एक हड्डी गलाकर रख दी तब भी क्या मुझे इनके भरण-पोषणकी चिन्तासे मुक्ति नही मिलेगी ?"

मै क्या जवाब देता। हिचकी बँध गई—

यह दीवारोंके छींटे ख़ूँके यह ज़ंजीरके टुकड़े।
क़िज़ा ज़िन्दाकी शाहिद है कि दीवाने पै क्या गुज़री।

—सबा अकबराबादी

मुझे रोता देखकर बोले—"गधे, मेरी हालतेजारसे कुछ नसीहत ले। अन्धोकी तरह कुएँमें मत कूद। वर्ना जिन्दगीभर रोता रहेगा। मेरा क्या है मै तो मिट चुका—

दिलको बरबाद करके बैठा हूँ।
कुछ ख़ुशी भी है, कुछ मलाल भी है॥

—जिगर मुरादाबादी

मेरे बच्चोपर जो गुजरेगी, उससे मै वाक़िफ हूँ, उनकी आँखोके आँसू पोछनेका भी किसीको अहसास न होगा।

लेकिन मै नही चाहता कि तू इस तरहकी गलतियाँ दोहराये। देश और समाजकी सेवा जितनी बन पड़े, उतनी कर, मगर सेवा करते-करते एक दिन निरा सेवक बनकर न रह जाना पड़े इसके लिए सदैव सावधान रहना।"

स्वयं तो मिटे, मगर मुझे मिटनेसे बचा दिया, उनके इस अमोघ मंत्रको ताबीजकी तरह बाँध लिया।

१९३७-४० मे जनपरिषद्का ऑफिस सँभालना पड़ा तो मेरे आग्रहपर सेठीजी भी कार्य करनेको अग्रसर हुए। इस अर्सेमे वे राजनैतिक घात-प्रतिघातोमे इतने क्षत-विक्षत हो चुके थे कि सचमुच मानसिक सन्तुलन खो बैठे थे। राजनैतिक क्षेत्रमें महात्मा गाधीके अन्ध-भक्त नही थे। उनके हर आन्दोलनमें जेल जाते थे, कांग्रेसका कार्य करते थे। राजस्थानप्रान्तीय कॉग्रेसके अध्यक्ष थे। फिर भी उनके

सभी विचारों एवं सिद्धान्तोंके क़ायल नही थे। अतः काँग्रेसका हाई-कमाण्ड नही चाहता था कि राजपूतानेकी बागडोर सेठीजीके हाथमे रहे। कॉग्रेस-चुनावमे खद्दरके कपड़े कुली-कबाड़ियोंको पहनाकर सेठीजीके प्रतिद्वन्द्वीको वोट दिलवाये गये, फिर भी सेठीजी विजयी हुए। जब वे बन्दी बनाकर रेल द्वारा ले जाये जाने लगे तो जनता एंजिनके आगे लेट गई। महात्मा गांधी अजमेर आये तो सेठीजी उनके यहाँ नही गये; महात्माजीको उनके घरपर जाना पड़ा। इतनी दृढ़ स्थितिको हाई-कमाण्ड कैसे बर्दाश्त कर सकता था। सेठीजीका राजनैतिक जीवन समाप्त करनेके लिए कई लाख रुपया व्यय किया गया, अनेक दाव-पेंच खेले गये और इस प्रकार अभिमन्युकी नही, स्वयं अर्जुनकी राजनैतिक हत्या कर डाली। बादमें इसी गुटबन्दीके शिकार सुभाष, नरीमैन आदि-को भी होना पड़ा, किन्तु इस गुटबन्दीकी वेदीपर सेठीजीका बलिदान प्रथम बलिदान था, अतः लोग समझ भी न पाये और वह निरीह घुट-घुटकर समाप्त हो गया। बादमें सुभाष बाबूके अध्यक्ष-चुनावमें तो देशने जान ही लिया कि पदारूढ़ दल किस खूबीसे दलन करता है।

आज काँग्रेस-शासनमें काँग्रेसियोंके भ्रष्टाचार और अन्यायोंके कारण बहुत-से लोगोंने गांधी टोपीका परित्याग कर दिया है, किन्तु सेठीजी-को इस टोपीसे उस समय ही चिढ़ हो चुकी थी।

१९३७ की ईस्टरकी छुट्टियोंमे रीवाँ स्टेटके सतना शहरमें परिषद्-का वार्षिकोत्सव था। मेरे आग्रहपर सेठीजी भी पधारे। मैंने देखा उनके सरपर गाँधी टोपी न होकर अलवर स्टेटके सिपाहियों-जैसी बटन लगी हुई किश्तीनुमा खाकी टोपी है। धवल स्वच्छ गांधी टोपीके आगे वह अच्छी नही लगती थी और जनताको भी यह देखकर अचम्भा-सा होता था कि सेठीजी-जैसे देशभक्तने एक रियासतकी गुलामाना चिह्न वाली टोपी क्यों पहन रक्खी है? तब भारतके सभी राजनैतिक विचार-वाले गांधी टोपी लगाते थे और यह देशभक्तिकी प्रतीक समझी जाती थी। मैं भी चाहता था कि सेठीजी गांधी टोपी पहन लें तो ज़्यादा मुनासिब

हो। लेकन कहनेकी हिम्मत नही होती थी। आखिर एक तरकीव निकाली। शामको खाना खाकर मैं और सेठीजी नगे सर घूमने निकले। इस तरहका वातावरण मैंने जान-वूझकर वनाया था। उनकी टोपी मैंने छुपाकर रख दी और उस स्थानपर अपनी दूसरी गांधी टोपी रख दी। रातको तनिक देरसे घूमकर आये और जल्दीसे टोपी पहनकर जल्सेमें पहुँचना है ऐसी स्थिति पैदा हो गई। सेठीजीको अपनी टोपी नही मिली तो नंगे सर चलनेको प्रस्तुत हो गये।

मैंने कहा—"आपकी टोपी अँधेरेमे नही मिल रही है तो न सही, फिर ढूंढ लेगे। इतने आप यह नई टोपी पहन लीजिये।"

मेरा इतना कहना था कि चराग-पा हो गये—"वेटा, हमको धोखा न दो, कुछ धूपमें सुखाकर सेठीरामने वाल सुफेद नही किये है। हमारे सामने ही गांधी टोपी पहनकर हमारा ख़ून जलाते हो, फिर भी हमने कुछ नही कहा, उलटा हमीको यह टोपी पहननेको मजवूर करते हो? शर्म नही आती तुम्हे अपनी इस हरकतपर?"

मैं किसी तरह उनकी ख़ुशामद करके नंगे सर ही उन्हें जलसेमे ले गया। मेरे आग्रहपर मेरे साथ अलवर, वान्दीकुई, जयपुर, अजमेर, नीमच, मन्दसौर, इन्दौर, वड़वानी, महेश्वर, मण्डलेश्वर, खण्डवा आदि स्थानोंमें १९३७ मे भाषण देने गये थे, और तक़रीवन एक माह इस प्रवासमे मुझे उनके साथ रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कभी अवकाश मिला तो इस प्रवासके कडुवे-मीठे अनुभव लिखनेका प्रयत्न करूँगा।

डालमियानगर,
८ अक्टूबर १९५१

अधूरा परिचय

गोयलीय

सेठीजीका जीवन-परिचय लिख भेजनेके लिए मैंने उनके कई परिचितों और सम्बन्धियोको पत्र लिखे, किन्तु खेद है कि कहींसे भी परिचय प्राप्त न हो सका। भाग्यकी वात अपनी फ़ाइलो को उलटते-पलटते मेरे अधूरे लेखोंमें वहुत ही ख़स्ता हालतमें फुलिस्केप काग़ज़के दो पृष्ठ निकल आये, जिसमें सेठीजीके सम्वन्धमें कुछ संकेतात्मक वाक्य लिखे हुए थे। उन्हीं पृष्ठोके आधारपर थोड़ा-सा परिचय लिखने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

सन् १६२८ से १६३७ तक जितनी वार सेठीजीसे मिलनेका मुझे अवसर मिला मैं बरावर परिचय लिखा देनेका उनसे अनुरोध करता रहा, किन्तु वे कंजूसके धनकी तरह उसे सदैव छिपाये रहे। एक दिन मैंने वहुत अनुनय-विनय करते हुए कहा—"या तो आप अपने सम्बन्धमें सिलसिलेवार कहते जायें, या आप मेरे प्रश्नोंका उत्तर देते जायें, मैं यों सहज ही आपका पीछा छोड़नेवाला जीव नही हूँ।"

पहले तो वे व्यक्तिगत जीवन सम्वन्धी बातें करते ही न थे। राज-नैतिक, सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक चर्चाएँ ही मुख्य रूपसे करते थे। फिर विश्वास होनेपर कभी-कभी कुछ संकेत रूपमें कहते भी तो बेसिलसिले और धुँधला-धुँधला वयान कर जाते। मेरे उक्त निवेदनपर अभी कुछ कहने भी न पाये थे कि वोले—"अच्छा मेरा यह परिचय तुम कब लिखकर छपवाओगे?"

मैं वोला—"आपके निधनके वाद।"

उछलकर बोले—"शाबास वेटा, तब तो वाक़ई तुम्हें कुछ वताया जा सकता है।" लेकिन वताया नहीं, इधर-उधरकी वातें करते रहे।

इस तरह जब भी प्रसंग छिड़ता हवा-सी देकर और-और बातें करने लगते। फिर मैं कितना ही प्रयन्त्न करता, वे आपेमें न आते और मैं हारकर चुप हो जाता।

१९३७ ईस्वीमें मैं और सेठीजी एक माह प्रवासमें रहे। तब कभी कुछ पूछ लेता, कभी कुछ जान लेता। उन सब बातोंको एकान्तमें बैठा हुआ संकेत रूपमें नोट कर रहा था, ताकि स्मृतिपटलसे उतर न जायें और दिल्ली जाते ही विस्तारसे लिख लूँ। लेकिन लिखते हुए उन्होने भाँप लिया, बोले—"अच्छा बच्चू, हमसे भी यह चालाकी!"

पहले तो मैं बहाने करता रहा, मगर जब वे नही माने तो मुझे भी ताव आ गया, बोला—"हाँ लिखता हूँ और जरूर लिखूँगा। आपका क्या है, आज मरे कल दूसरा दिन। इस घुने पिंजरका क्या विश्वास, पर मुझे तो अभी जीना पड़ेगा। आपका जीवन-परिचय मैं नही लिख सका तो आगेकी पीढ़ी मुझे क्या कहेगी? राजपूतानेके गड़े मुर्दे तो मैं उखाड़ता फिरूँ, लेकिन राजपूतानेके जीवित नरकेसरीका इतिहास न लिख पाऊँ, मेरे लिए यह कितने कलककी बात होगी।" फिर मैंने आँखोमें आँसू भरकर कहा—"आपको अपने ऊपर दया नहीं आती तो न सही, आप मेरी स्थितिपर तो तरस खाइये। लोग जब आपके सम्बन्धमें विस्तृत जानकारी मुझसे चाहेंगे, तब मैं क्या जवाब दूँगा।"

सुनकर हँसने लगे। बोले—"बेटा, अच्छा-खासा लेकचर दे लेते हो। थोड़ा-थोड़ा तेरा जादू हमपर भी असर डाल रहा है।" और बस फिर वही रफ़्तार बेढंगी। दुनियाभरकी बातें करना, पर अपने बारेमें कुछ नही कहना। और कहना भी तो बेतरतीब और वह भी लिख लेनेकी मनाई।

पहले खयाल था, इन्हीं बेतरतीब टुकडोको जोड़कर जीवन-परिचय लिख लूंगा। पर इन ११-१२ वर्षोमें कुछ ऐसे झकोले आये कि लिखनेका विचार तक नहीं आया और जब लिखने बैठा हूँ तो स्मृतिपटलसे वे सब बातें विस्मरण हो गई है, बहुतेरा प्रयत्न करता हूँ कि कुछ उनकी राज-

नैतिक जीवन-सम्बन्धी घटनाएँ याद आ जायें, किन्तु याद नहीं आ रही हैं। अतः फाइलमें मिले हुए १३ वर्ष पुराने नोट्सके आधारपर ही कुछ लिखने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

सेठीजीके पितामह श्री भवानीदासजी सेठी दिल्ली (वैद्यबाड़ा) में रहते थे। मुगल सल्तनतके अन्तिम बादशाह बहादुरशाह 'जफ़र' का शासनकाल था। भवानीदासजीके शहज़ादोंके साथ मैत्री-सम्बन्ध थे। उन्हीके साथ अक्सर उठक-बैठक रहती थी। उनका सब कारोबार गुमाश्ते देखते थे। भवानीदासजीका परिचय और प्रभाव इतना था कि वे स्वयं कारोबार नही देखते थे, तब भी उनके नामपर कारोबार अच्छा चलता था। इनकी पत्नी और बच्चेका निधन हो गया था। १८४५ ई० में इनको यकायक स्वप्न दिखाई देने लगे और कोई स्वप्नमे इनसे बार-बार दिल्ली छोड़ देनेका आग्रह करने लगा। पहले तो ख़ास ध्यान नहीं दिया गया, किन्तु बार-बार जब यही वाक्य दुहराया जाने लगा तो इसे आनेवाली आपत्तिका संकेत[1] समझकर ये दिल्ली छोड़कर जयपुर चले गये।

जयपुर निवासस्थान बनानेके बाद श्री भवानीदासजीने अपना द्वितीय विवाह किया और उनकी पत्नीसे जवाहरलाल सेठीका जन्म हुआ।

जवाहरलालजीने मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त की और जयपुर राज्यके चूमूँ ठिकानेके कामदार (दीवान) और कौन्सिलके सेक्रेटरी पदपर नियुक्त हुए।

जवाहरलालजीका पाणिग्रहण जयपुर राज्यके प्रतिष्ठित और सम्मानित श्री मोहनलालजी नाजिमकी सौभाग्यवती पुत्री पाँचोदेवीसे[2]

१—यह १८५७ में होनेवाले ग़दरकी भविष्य वाणी थी।

२—इस वीर-माताके चरण-स्पर्शका सौभाग्य मुझे १९३७ ई० में मिल चुका है। तब वे काफ़ी वृद्ध थीं और जयपुरमें अपने बड़े पुत्रके साथ रहती थीं।

हुआ। जिनकी कूखसे १८८१ ईस्वीमें श्री अर्जुनलालजी सेठीका जन्म हुआ।

सेठीजीने १८६८ ई० में मैट्रिक और १६०२ में बी० ए० पास किया। बी० ए० की परीक्षा देने लखनऊ गये तो वहाँ आपके मनमें समाज-सेवाके अंकुर उत्पन्न हुए। वहाँ यह देखकर कि परीक्षार्थियोमें जैन विद्यार्थियोंको अपने घरपर भोजन करानेकी शुभ भावनासे श्री सीतल-प्रसादजी (बादमें ब्रह्मचारी) खोजते फिर रहे हैं। आपके हृदयपर इस वात्सल्य भावका बहुत प्रभाव हुआ। उन्ही दिनो अपने हमनामकी लाड़ली पुत्री गुलाबदेवीसे सेठीजीका विवाह हुआ। १६०४ मे प्रकाश उत्पन्न हुआ, यह अत्यन्त होनहार प्रतिभाशाली बालक था, किन्तु खेद है कि १६२४ मे केवल २० वर्षकी भरी जवानीमें अचानक स्वर्गवासी हो गया, जिसका सेठीजीकी मन.स्थितिपर बहुत घातक घाव हो गया। नजर-बन्द किये जानेसे पूर्व तीन लड़कियाँ भी थीं। १६२० मे नजरबन्दीसे छूटनेके बाद उन तीनोका विवाह क्रमश: हूमण जैन, खण्डेलवाल जैन और ब्राह्मण वरोसे कर दिया।

जेलसे आनेके काफी अर्से बाद उनके तीन सन्तानें—प्रकाश, जगत, विमला—और हुईं। मैंने तो सन् ३७ मे उनको ११, ५ और ७ वर्षकी अवस्थामें देखा था, जो अब सब युवा हो गये होंगे।

सेठीजीने बी० ए० उन दिनों पास किया था, जब बी० ए० चिराग लेकर ढूंढनेपर बमुश्किल मिलते थे। आपकी जयपुर राज्यमें निजामत (डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट) पदपर नियुक्ति होनेवाली थी कि १६०२ मे पिता-जीकी मृत्यु हो जानेसे चूमूं ठिकानेकी कामदारीका पद सँभालना पडा। अभी पूरी तरहसे वजारतका कलमदान सँभालने भी नही पाये थे कि चूमूं ठिकानेमे ए० जी० जी० का पदार्पण हुआ। स्टेटने औकात से भी ज्यादा उसका पुरतकल्लुफ स्वागत किया, फिर भी उसने कह ही दिया—These are Rusties (ये गँवार है)। सेठीजीके हृदयपर अंग्रेजी राज्य-द्रोहका यह सबसे पहले इंजेक्शन लगा।

सिंघई भूतारामजी १८०२ में महाराजा जयपुरके मुसाहिब थे। उनकी स्वीकृति लिये बग़ैर कोई भी अंग्रेज शहरमें प्रवेश नहीं कर सकता था, और जब तक वे जिये भाद्रपदमें चिड़ियाघरके शेरोंको मांस नही दिया जाता था। इन्ही बातोंको सुनकर सेठीजीके हृदयमे अंग्रेजी राज्यके प्रति विद्रोही, और राष्ट्र-प्रेमकी भावना उत्पन्न हुई। अभी पूरे दो वर्ष कामदार पदपर कार्य करने भी न पाये थे कि राज्यकी ओरसे बेगार प्रथा, किसानों-मजदूरोंके शोषण आदिको देखकर सेठीजीका हृदय काँप उठा और उन्होंने त्यागपत्र देकर खुले आकाशके नीचे खड़े होकर स्वच्छन्द साँस लिया।

यों तो आपमें बाल्यकालसे ही लोकसेवाके चिह्न प्रकट होने लगे थे। घर आया हुआ भिक्षुक खाली हाथ नहीं लौट पाता था, जो हाथ पड़ा चुपचाप उठाकर दे देते थे। बाल्यावस्थासे ही सभाओंमें व्याख्यान देने और नाटकोंमें भाग लेने लगे थे। स्वयं अबोध विद्यार्थी होते हुए भी १३ वर्षकी अवस्थामें एक पाठशाला खोली, जैनप्रदीप[1] पत्र निकाला, विद्या-प्रचारिणी सभा बनाई। श्री जवाहरलालजी जैन वैद्य सेठीजीके बाल्य-सखा थे, हिन्दीकी रुचि उन्हीके संसर्गसे सेठीजीमें उत्पन्न हुई। नेतृत्व-शक्ति बाल्यावस्थासे ही भासित होने लगी थी। साथी बालकोंको अपने अनुशासनमें रखते थे। १३ वर्षकी अवस्थासे आपके हिन्दी जैन-गज़टमें लेख भी छपने लगे थे। देशोद्धारकी उग्रतम भावना आपमें जन्म-जात थी। वह धीरे-धीरे पनपती गई और कामदार होते हुए भी सेठीजीने सात आदमियोंकी एक गुप्त समिति बनाई जिसमें घीसूलालजी गोलेछा (श्वेताम्बर जैन) और दीवान जमनालालजी मुख्य थे। उस समिति

---

१ शायद हस्तलिखित, शायद इसलिए कि मैं नोट करते समय यह पूछना भूल गया था, अब मुझे स्मरण नहीं रहा है कि पत्र छपाते थे या हाथसे लिखते थे। उस आयुमें हाथसे लिखना ही अधिक सम्भव हो सकता है।

में भारत माँ और जैनसमाजकी सेवामे प्राणतक न्योछावर करनेका व्रत लिया गया। फिर तीन संगठित संस्थाएँ बनाई गई, जिनकी अन्तरंग समितिमे सात सदस्य थे।

बी० ए० पास करते ही सेठीजी रावलपिण्डी जैनसमाजके निमन्त्रण-पर १९०४ ई० में गये और वहाँ पहले-पहल जैनसमाजके समक्ष अंग्रेजीमें भाषण दिया[1]।

रावलपिण्डीके आदर-सत्कारके बाद सेठीजीका उत्साह बढ गया और वे पूर्णरूपेण सामाजिक क्षेत्रमे उतर आये। १९०५ ई० मे नजीबा-बादके साहू जुगमन्दरदासके नेतृत्वमे महासभाका डेपुटेशन सी० पी० गया। उसमे पं० चुन्नीलाल मुरादाबादवाले, श्री चन्द्रसेन वैद्य इटावे वाले, प० रघुनाथदास सरनऊवाले, हकीम कल्याणराय अलीगढवाले, पं० जिनेश्वरदास माइल देहलवी, श्री सीतलप्रसाद (ब्रह्मचारी होनेसे पूर्व) लखनऊवाले और सेठीजी थे। डेपुटेशन[2] दो माह सी० पी० में फिरा और केवल दस हजार रुपया मिला जो कि महासभाके फण्डमें

१—सेठीजीने यह संस्मरण सुनाते हुए हँसकर कहा था—मैं तभी स्कूलसे ताज़ा-ताज़ा रंगरूट निकला था। धार्मिक और सामाजिक ज्ञानमें उल्लूका पट्ठा था, फिर भी न जाने क्यों मेरा व्याख्यान पसन्द किया गया और मेरी बड़ी प्रशंसा हुई।

२—इस डेपुटेशनका एक ग्रुप फोटो मैंने नजीबाबादमें साहू जुग-नन्दिरदासजीके पास १९२८ में देखा था। उस पुरानी स्मृतिको वे बहुत सावधानीसे अपने यहाँ रक्खे हुए थे और डेपुटेशनके अनेक मनो-रंजक संस्मरण सुनाया करते थे। परन्तु अफ़सोस, उन्हें लिख लेनेका मुझे तब शऊर ही न था। हाय! ज़िन्दगीमें यह ग़लती मुझसे ऐसी हो गई है कि मेरे इस बेशऊरेपनको भावी पीढ़ी कभी क्षमा नहीं कर सकेगी, अब पछताता हूँ और सर धुनता हूँ। अब कौन है जो इनके जीवन-परिचय लिखवा सकेगा?

जमा कर दिया गया। कानपुर स्टेशनपर डेपुटेशनसे मुलाक़ात करनेके लिए डिप्टी चम्पतराय आये। उन्होंने डेपुटेशनके नेता साहू जुगमन्दर-दाससे कहा कि तुम क्यों अर्जुनलालकी जिन्दगी ख़राब करते हो। इस होनहार युवकको किसी अच्छे काममें लगने दो। लेकिन सेठीजीके हृदय पर उनकी सीखका विपरीत प्रभाव हुआ और उन्होंने मनमें यह दृढ धारणा बना ली कि भविष्यमें जैन समाजके लिए ही जीऊँगा और उसीके लिए मरूँगा।

जयपुर लौटनेके बाद चौरासी मथुरापर महासभा द्वारा स्थापित विद्यालयके सेठीजी मैनेजर नियुक्त हुए। ला० खूबचन्द कण्ट्राक्टरके निमंत्रणपर सहारनपुरमें जैन-महोत्सवके अवसरपर महासभाका वार्षिक अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशनको सफल बनानेमे सेठीजीने कोई क़सर बाक़ी न छोड़ी। जलसा बहुत शानदार और सफल हुआ।

महाविद्यालयकी सेठीजी अधिक सेवा न कर सके। उसके ज्वाइण्ट सेक्रेटरी बा० बनारसीदास मग़रूर स्वभावके और अंग्रेजी शिक्षाके अधिक पक्षपाती थे। लेकिन सेठीजी अंग्रेजीके साथ धार्मिक शिक्षणको अधिक महत्त्व देते थे। सन् १९०४ मे विद्यालय छोड़कर जयपुरमे गुप्त समिति बनाकर कार्य करने लगे। सुधारक प्रवृत्ति होनेसे सुधारका कार्य्य भी हाथमें लिया और घर-घर जाकर सुधारक कार्योको प्रोत्साहन देने लगे। जैन विधिसे विवाह कराये जाने लगे, हाथीपर तोरण मारनेकी प्रथा बन्द कराई। बाबू चिमनलालजीने जयपुरमें मेला कराया तो उसमे होनेवाले नाटकका समाजने काफ़ी विरोध किया, किन्तु सेठीजीने उस विरोधका डटकर मुक़ाबिला किया अन्तमें सफलता प्राप्त की।

इससे आगे लिखे हुए सांकेतिक वाक्य स्वयं मेरी समझमे नही आ रहे हैं और इनसे क्या अभिप्राय था, मुझे स्मरण नही रहा है। मैने तो जल्दी-जल्दी संकेतमात्र लिख लिया था ताकि सेठीजी न देख ले और बादमें यथा-वसर लिख लूँगा। लेकिन आगे न तो सेठीजीके भयसे लिख पाया और न फिर मुझे ही लिख लेनेका समय रहा। और यह नोट फाइलमें दबकर

रह गया। वे संकेत शब्दमें लिखे दे रहा हूँ, शायद कोई जानकार इससे लाभ उठा सके।

पोलिटिकिल एजेण्टको गायकी ज़रूरत थी। डेरीके नवाव फ़ैयाज़ अलीख़ाँका आदमी गाय खोलकर ले गया। सेठीजीकी चिट्ठीका प्रभाव, तलवारका लड़केके घाव और घाव सिये जानेपर लड़केकी वीरता। मथुराका मदन लड़का, घावमें भरे जानेके लिए शिक्षकोंमें मांस देनेकी होड़। सेवाकी ड्यूटी। १९०५ में जैनशिक्षाप्रचारक समिति उसीके अण्डर वर्द्धमान विद्यालय, वर्द्धमान लायब्रेरी जैन बोर्डिंग"।

हाँ, खूब याद आया। १९३७ में जब मैं सेठीजीके साथ एक मास प्रवासमें रहा, तब एक सप्ताह जयपुरमे भी रहना हुआ। वहाँ हम उसी मकानमें रहे, जिसमें कभी सेठीजी रहा करते थे।. उन दिनो उनके वड़े भाईका परिवार उसमें रहता था। सेठीजीकी वीरमाता भी जीवित थी और अपने वडे पुत्रके परिवारके साथ रहती थी। मुझे भी उस दिव्य माताके चरण-स्पर्शका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सेठीजीके कामदारी पदसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेपर उनके वड़े भाईको राज्यने उस पदपर नियुक्त कर दिया था, सन् ३७ में भी वे उसी पदपर आसीन थे।

इसी मकानके नजदीक उस जैन पुस्तकालयको देखना भी नसीव हुआ, जिसमें वैठकर सेठीजीने अपने जाँ-वाज़ साथियोके साथ न जाने कितनी गुप्त मत्रणाएँ की थी।

उन्ही स्थानोका तवाफ करते हुए सेठीजीसे विदित हुआ कि भारतके प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता रासविहारी बोसकी विप्लवी सस्थाकी राजपूताना शाखाके वे मुख्य सूत्रधार थे, और सेठीजीका एक शिष्य प्रताप, रासविहारीके सम्पर्कमें भी रहता था!

१९१२ में दिल्लीके चाँदनी चौकमें लार्ड हार्डिंगपर जो वम फेंका गया, वह रासविहारीके दलकी योजना थी। दिल्ली शाखाके मुख्य कार्यकर्त्ता मास्टर अमीरचन्दजी पुलिस द्वारा हिरासतमें ले लिये गये थे,

और उन्हें जेल न भेजकर उन्हींके मकानमें नज़रवन्द करके छद्मवेषमें पुलिस-ने चारों तरफ घेरा डाल दिया था, ताकि उनके पास आने-जानेवाले दलके अन्य सदस्योंको भी फाँसा जा सके।

पूर्वयोजनाके अनुसार सेठीजी अपने कुछ शिष्योके साथ उनसे मिलने-को दिल्लीके लिए रवाना हो चुके थे। उन्हें इस नज़रवन्दीका इल्म तक नही था। वे अपनी धुनमे मास्टरजीके यहाँ पहुँचते और वाआसानी पुलिस उन्हें दवोच लेती, किन्तु प्लेटफ़ार्मपर ही दलके एक सदस्यने इन्हें सूचना देकर सावधान कर दिया। लेकिन मास्टरजीसे मिलना आवश्यक था। पुलिसके घेरेमे उनसे कैसे मिला जाय, कामकी बाते कैसे की जायें और साफ़ वचकर कैसे वापिस आया जाय। यही सब योजना बनाकर छद्मवेषमें मास्टरजीके दर्वाजेपर जाकर इस तरह आवाज देने लगे, जैसे साहूकार क़र्जदारको आवाज देता है। पुलिसने दर्याफ़्त किया तो बताया "हज़रतपर एक-डेढ़ वर्षसे रुपया पावना है। लेकिन देनेका नाम नहीं लेते और रोजाना कोई-न-कोई घिस्सा देते रहते हैं। मैं भी आज नावाँ वसूल करके ही जाऊँगा।" पुलिसने और भी शह दे दी। बड़ा वदमाश है, जो लिया जा सके, वसूल कर लो। इसे तो फाँसी लगनेवाली है।

मास्टरजीने सेठीजीकी आवाज पहचान ली, वे ऊपरसे ही वोले—"तुम नीचेसे ही शोर क्यों मचा रहे हो, भले आदमियोकी तरह चाहो तो ऊपर आकर वात कर सकते हो!"

दोनों भले आदमियोंने जो विचार-विमर्श करना था कर लिया!

× × ×

जवानीमें उनका कैसा शान्दार व्यक्तित्व रहा होगा, यह उनके जर्जर शरीरसे भी भाँपा जा सकता था।

खण्डहर बता रहे हैं इमारत विशाल थी।

छः फुट लम्बा क़द, चौड़ा चकला सीना, गेहुँआ रंग, किताबी चेहरा, गाल पिचके हुए, सुतवाँनाक, आँखे चमकीली, ऊँचा माथा! चश्मा लगाते थे। खद्दरका ढीला-ढाला कुरता पहनते थे। सरपर गांधी

टोपी लगाते थे। बादमें गाधी टोपी पहनना छोड़ दिया था।

शरीर उनका जर्जर हो चुका था, उसमें घुन लग चुका था। फिर भी आवाजमें वही कड़क, वही दम-खम। चलनेमें भी एक बाँकपन और बातचीतमें भी एक अजीब आकर्षण।

जैनधर्मके उद्‌भट विद्वान्, हिन्दूधर्म, विशेषकर गीताके अधिकारी विद्वान्, इस्लाम धर्मके ऐसे जानकार कि मुसलमान कुरान पढ़ने आते थे। राजनीतिमें इतने पारगत कि अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञ मत्रणा लेने आते थे। व्याख्यान-शैली अत्यन्त प्रभावशाली, जनता घण्टो मत्रमुग्ध बनी सुनती रहती। जहाँ भी जाते वहाँके कार्य्यकर्ता, उनकी व्याख्यान-सभाओका ताँता बाँध देते।

जीवनभर वे दुःखमे डूबे रहे। भरी जवानीमें उनका कमाऊ पुत्र चल बसा। पारिवारिक भरण-पोषणकी चिन्ताओने कभी पिण्ड नही छोडा। अपने ही कहे जानेवालोके षड्यन्त्र और विश्वासघातोने उनकी कमर तोड़ दी। राजनैतिक घात-प्रतिघातोने उनकी जीते-जी हत्या कर दी। यह सब आपदाएँ किसी पर्वतपर भी पडती तो वह भी ज़मीनसे लग जाता! फिर सेठीजी तो आखिर मनुष्य थे। कब तक सीना तानकर खडे रहते? उनका आखिर मानसिक सन्तुलन जाता रहा और वे पूर्वापर विरोधी इस तरहकी बातें करने लगे कि यह दीवानी दुनिया उन्हें दीवाना समझ बैठी!

शऊरमन्दोंसे बहतर था, ऐसा दीवाना।

और जनवरी १९४२ में उनकी पत्नीका पत्र मिला कि "सुना है, सेठीजी इस संसारमें नही रहे है। वे ५-६ माहसे घरसे लापता थे।" उस रोज़ दिनभर गुलजार देहलवीका यह शेर गुनगुनाता रहा—

जहाँ इन्सानियत वहशतके आगे ज़िबह होती है।
वहाँ ज़िल्लत है दम लेना, वहाँ बहतर है मर जाना॥

डालमियानगर, ११ अक्टूबर १९५१

और भी

गोयलीय

छह वर्षोंके बन्दी जीवनके वाद १९२० ई० में जब सेठीजी मुक्त होकर पूना स्टेशन होते हुए वम्वई जा रहे थे, उस समय पूना स्टेशनपर भगवान् तिलक द्वारा उनका अभूतपूर्व स्वागत-समारोह किया गया और वे इतने आनन्दविभोर हुए कि उन्होंने अपने गलेका रेशमी दुपट्टा सेठीजीके गलेमे डाल दिया और अभिनन्दन करते हुए कहा—

"आज महाराष्ट्रवासी सेठीजीको अपने बीच देखकर फूले नहीं समाते। ऐसे महान् त्यागी, देशभक्त और कठोर तपस्वीका स्वागत करते हुए महाराष्ट्र आज अपनेको धन्य समझता है।"

सेठीजी जव नजरवन्द किये गये तो भारतके सभी समाचारपत्रों–अभ्युदय, प्रताप, न्यू इण्डिया, मॉडर्न रिव्यू, लीडर, वंगाली, भारतमित्र, वैंकटेश्वर समाचार, हिन्दू, इण्डियन सोशल रिफार्म, भारतोदय, कलकत्ता समाचार, हिन्दी-समाचार, अमृतवाजार पत्रिका, एडवोकेट—आदिने उनके मुक्त किये जानेका आन्दोलन किया। १९१७ में कांग्रेसके कलकत्ता अधिवेशनमे भी प्रस्ताव पास हुआ और स्वयं एनी वीसेंट वाइसरायसे इस सम्वन्धमें मिली।

सेठीजीने जैन वर्द्धमान विद्यालयकी स्थापना १९०७ मे की थी। यह वह युग था, जव इस तरहके विद्यालयोंकी कल्पना भी किसीके मस्तिष्क में नही थी। न उस समय—गुजरात विद्यापीठ था, न काशी विद्यापीठ था। न मालवीयजीके मस्तिष्कमें हिन्दूविश्वविद्यालयकी योजना थी, न विश्वकवि रवीन्द्रनाथ शान्तिनिकेतनके उद्घाटनका शुभ विचार रखते थे। न लाला लाजपतरायके 'तिलक आफ पॉलिटिक्स' का अस्तित्व था, न देशवन्धुदासका ढाका राष्ट्रिय विद्यालय मौजूद था। इस विद्यालयने

अल्पकालमे ही जो धार्मिक सस्कारोसे ओतप्रोत नि.स्पृही देशभक्त स्नातक तैयार किये, उसकी ख्याति चारो ओर फैल गई। काश, इस विद्यालयको समाजका पूर्ण सहयोग मिला होता और सेठीजीके वन्दी होनेके वाद भी इसे चालू रखा जाता। अन्य छोटे-मोटे स्कूल, विद्यालय रूपी पोखर-तालाव न वनाकर केवल इस सागरकी रक्षा की[1] गई होती, तो उसके प्रखर जलकण सारे ससारमे व्याप्त होकर जिस शानसे वरसते और सुजला, सुफलां भारत मॉको शस्यश्यामला वनाते, कल्पनाके अतिरिक्त अव और कहा भी क्या जा सकता है? हाय!

वसीले हाथ ही आये न क़िस्मत आजमाईके।

१९२० मे नागपुर काग्रेसमे डा० मुजे आदि महाराष्ट्रिय नेता नही चाहते थे कि गॉधीजीका जुलूस निकले। यह सेठीजीके ही महान् व्यक्तित्वका परिणाम था कि वावजूद घोर विरोधके भी महात्माजीका विराट जुलूस नागपुरमे निकल सका। यह जुलूस पुलिस और प्रान्तीय नेताओंके घोर विरोध करनेपर भी निकाला गया। इससे पुलिसकी कितनी वदनामी हुई और वह कितनी चिढ गई, यह इसी घटनासे जाना जा सकता है कि १९३७ मे मेरी अभिलाषानुसार जैनधर्म सम्वन्धी व्याख्यान देनेके लिए सेठीजी भिन्न-भिन्न स्थानोंमे होते हुए इन्दौर आये। मै भी इस एक माहके प्रवासमे उनके साथ था। ग्वालियर राज्यकी तरह यहॉ भी सी० आई० डी० लगी रहती थी। सेठीजीको न जाने क्या सूझा,

---

१—रक्षा होती भी कैसे? सेठीजीने जिन तत्त्वोंसे यह आशियाना बनाया था, वह सैयाद और बर्क़की नज़रोंसे ओझल भी कैसे रहता? बक़ौल इक़बाल—

लाऊँ वोह तिनके कहींसे आशियानेके लिए।
बिजलियॉ बेताव हों, जिनके जलानेके लिए॥
दिलमें कोई इस तरहको आरज़ू पैदा करूँ।
लौट जाये आस्मॉ मेरे मिटानेके लिए॥

मुझसे बग़ैर कहे ही वे सीधे जर्नल पुलिस इन्सपेक्टरके पास पहुँचे, और उससे कहा कि "मेरा अब राजनीतिसे कोई सम्बन्ध नही है। मैं केवल धर्मोपदेशके लिए भ्रमणमें निकला हूँ। अतः सी० आई० डी० अब पीछे रखना व्यर्थ है" यह पुलिस-अफ़सर वही अंग्रेज था, जो १९२० के कांग्रेस अधिवेशनके अवसरपर नागपुरमें पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट था। सेठीजीको तत्काल पहचान लिया और आगबबूला होकर अनाप-शनाप बकने लगा, जिसका लब्बो-लुबाब यह था कि "तुम सात बार मरकर भी क़सम खाओ कि मैंने राजनीतिक क्षेत्रसे संन्यास ले लिया है तो भी विश्वास नही किया जा सकता।" और इन्हे तत्काल बँगलेसे बाहर करा दिया।

जब मुझे इस घटनाका पता चला तो बहुत दुःख हुआ और मैंने झुँझलाकर कहा—"आप वहाँ गये ही क्यों?" सेठीजी बोले—"बेटा, मैं तो हर आदमीके कानमें यह कह देना चाहता हूँ कि मेरा आजके भारतीय आन्दोलनसे कोई सम्बन्ध नही है। कोई भी मुझे कांग्रेस मशीनरीका पुर्जा समझे, इसे मैं अपनी हतक समझता हूँ।" मैंने कहा—"आपके विचार वर्तमान हाईकमाण्डसे नही मिलते है, या वे आपको काम नही करने देना चाहते है तो न सही, आप चुप रहे। मगर इस तरहसे ऐरे-ग़ैरोसे कहना तो आपकी शानके भी खिलाफ़ है और आम जनता तो आपकी देशभक्ति पर भी शको-शुबह करने लगती है। क्योंकि आम धारणा यही है कि जो कांग्रेसी (पदारूढ़ वर्गका अनुयायी) नहीं है, वह देश-द्रोही है। और आप जीवनके अन्तिम दिनोंमें अपने सब किये-करायेपर पानी क्यों फेरते है।" वे बोले—"बेटा, मेरे हृदयमें जो नासूर हो गया है, उसे तुम नही देख सकते। मेरा इस दूषित वातावरणमें दम घुट रहा है, मैं हर एकको अपने अन्तरंगकी आवाज सुना देना चाहता हूँ।"

मैं उस समय तो उनके भाव नही समझा और कहीं मुझसे बोलते हुए बेअदबी न हो जाय, इस वजहसे चुप हो गया। पर उनके मनोभावों-का अर्थ आज स्पष्ट समझने लगा हूँ। जब कि उच्च-से-उच्च नेता कांग्रेस से पृथक् होकर उसका विरोध करना अपना अव्वलीन धर्म समझे हुए

है। और न जाने कितने गाधी टोपी न पहननेकी कसम खा बैठे है। चूंकि जब सेठीजी अकेले थे, न उनका कोई सहयोगी था, न उनकी पब्लिसिटी करनेवाला कोई प्रेस था, अस्तु अपनी अक्लके पैमानेसे ही लोग सेठीजी-को नापते थे।

मुझे स्वयं उनकी बातचीत और व्यवहारसे विश्वास हो गया कि इन्हे भारतकी स्वतन्त्रताकी कोई चाह नही है, और जो इन्होने अभीतक इसके लिए तप-त्याग किये है, उसका इन्हे पछतावा है।

इन विचारोसे मुझे बहुत मानसिक क्लेश पहुँचा। मेरे मनने कहा—सेठीजी अब जल्दी ही मर जाएँ तो अच्छा है ताकि उनके सुयशमे कोई धब्बा न लगने पाये। इसी उधेड़-बुनमे मै २-३ रोज काफी अन्यमनस्क और दु:खी रहा। सेठीजी उड़ती चिड़ियाको भाँपनेवाले थे। मुझ उथले-को भाँपनेमे उन्हे क्या देर लगती ?

बोले—"बेटा, क्या सचमुच भारतको स्वतन्त्र देनेका अभिलाषी है ?"

मै गर्दन नीची किये चुपचाप बैठा रहा।

"तो एक काम कर, अपनी जैन समाजमे दो-चार मिलमालिक है। उनसे कहकर तू १००-२०० जर्मन-जापानी उनके मिलमे नौकर रखवा दे।"

"इससे क्या होगा ?"

मेरा कान पकडते हुए तनिक स्नेह-भरे स्वरमे बोले—"बेवकूफ, अंग्रेज सरकार इसे कभी सहन नही करेगी, वह रोक-टोक जरूर लगायेगी। इससे जर्मन-जापानमे भी असन्तोष फैलेगा और यही असन्तोष महायुद्ध-को खीच लायेगा और जहाँ अग्रेज युद्धमे फँसे, हम उन्हे इतने जोरसे धकेलेगे कि समुद्रमे गोते खाते नजर आयेगे।"

बात जो उन्होंने कही, वह मेरे बल-बूतेकी नही थी। मेरे किसी भी मिल-मालिकसे इस तरहके सम्बन्ध नही थे जो मेरे कहनेपर इतना बड़ा खतरा उठानेको तैयार हो सके। अतः बात आई-गई हुई। मगर मैंने मनमें कहा कि वह अग्रेज़ अफ़सर ठीक ही कहता था कि सेठीका सात

जनम भी विश्वास नही किया जा सकता ?

× × ×

सेठीजी ६ वर्षकी नजरबन्दीसे १९२० में छूटने भी न पाये थे कि असहयोग-आन्दोलनमे कूद पड़े। १९२२ में आप मुक्त हुए तो आपको भेट की हुई गाँधी टोपी नीलाम करनेपर १५०० रु० में बिकी थी।

१९२३ मे साम्प्रदायिक दंगोको रोकनेके लिए आप गली-कूचोंमें फिरते थे, तभी किसी मुस्लिम गुण्डेने उन्हे घायल कर दिया।

इसी वर्ष सेठीजीका इकलौता पुत्र प्रकाश मृत्यु-शय्यापर पड़ा हुआ था! उसे वे देखने जोधपुर जा रहे थे कि पं० सुन्दरलालका तार उन्हें बम्बई तुरन्त पहुँचनेके लिए मिला। कर्तव्यकी पुकारके आगे रुग्ण बच्चेकी चीत्कार धीमी पड़ गई। उसे देखने न जाकर सीधे बम्बई पहुँचे और जब सभामें भाषण देने खड़े हुए तो जवान बेटेकी मृत्युका तार भी किसीने हाथमें थमा दिया। तार पढा, चुपचाप जेबमें रखा और भाषण देने लगे। लोगोंने सुना तो सर धुन लिया। मगर वे विदेह बने भाषण देते रहे। शहरमे खबर पहुँची तो कोहराम मच गया, बाजार बन्द हो गये। जनता समवेदना प्रकट करनेको उमड पड़ी।

वोह घबराकर जनाज़ा देखने बाहर निकल आये।
किसीने कह दिया मय्यत जवाँ मालूम होती है॥

—सीमाब अकबराबादी

१९२५ ई० में कानपुरमे कांग्रेसके अधिवेशनमे सेठीजीके साथ जो नृशंस व्यवहार हुआ, वह कभी भुलाया नही जा सकता। अजमेर भी काग्रेसका एक सूबा समझा जाता था, काग्रेस विधानके अनुसार उसे भी अपने प्रतिनिधि चुनकर अधिवेशनमे भेजनेका अधिकार था। उस चुनावमे सेठीजीके अनुयायियोंका बहुमत हो गया। यह विरोधीपक्षको कैसे सहन होता? उस चुनावको वर्किंग कमेटीने रद्द कर दिया, तो सेठीजीके नेतृत्वमे लोगोंने पण्डालके दर्वाजेपर सत्याग्रह कर दिया। पुलिसकी लाठी खानेवाले कांग्रेसी स्वयंसेवक इस सत्याग्रहको बर्दाश्त न

कर सके और स्वय लाठी खाते-खाते वे इस कलाके इतने अभ्यस्त और आदी हो गये थे कि उन्होने सेठीजीको लाठियोसे बिछा दिया। इस आक्रमणसे सेठीजी अत्यन्त घायल हो गये। उन्हें देखनेको स्वय महात्मा गाँधी, पं० मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, प० जवाहरलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू, मौ० मुहम्मदअली, मौ० शौकतअलीके साथ सेठीजीके निवासस्थानपर पहुँचे और सेठीजीसे कहा—"मुझे आपके चोट लगनेका भारी दुख है, उसके प्रायश्चित्त स्वरूप मैं उपवास करना चाहता हूँ।" सेठीजीके समझानेपर महात्माजीने उपवासके सकल्पका त्याग करते हुए कहा—"आप धर्मशास्त्रके ज्ञानमे मेरे गुरुतुल्य हैं।"

समाचारपत्रोमे जब सेठीजीके घायल होनेके समाचार पढ़े तो दिल्ली आनेपर मैंने सेठीजीसे इस घटनाके सम्बन्धमे पूछा। उन्होने बताया कि इस काण्डसे जनता बहुत क्षुब्ध हो गई थी, और एक युवक तो मेरे पाँव छूकर महात्मा गाँधीकी हत्याको उद्यत हो गया था। बड़ी मुश्किलसे मैंने उसे रोका।

एक समय मिश्र विश्वविद्यालयके एक प्रोफ़ेसर अजमेरमे इस्लाम जगत्के प्रसिद्ध आलिम-फाजिल मौलाना मुईनुद्दीनसे मिलने आये तो मौलाना साहबने उनको सेठीजीसे भी मिलाया। बात करके वे बोले—"ऐसे दिग्गज विद्वान्की मिश्र-विद्यालयको आवश्यकता है।"

बताते है कि १९२० ई० मे देशबन्धु सी० आर० दासने सेठीजीसे कहा था कि आपके जन्मका उपयुक्त स्थान राजस्थान नही था। आप बंगाल में जन्म लेते तो, देखते कि बगाल आपका कितना सम्मान करता है।

बावजूद गहरे मतभेद होनेके ५ जुलाई १९३४ को महात्मा गाँधी स्वय सेठीजीकी कुटियापर मुलाक़ात करने गये, और उन्हे पुनः राजनीतिमे भाग लेनेको विवश किया। ९ सितम्बर १९३४ को वे राजपूताना एव मध्य भारत प्रान्तीय काग्रेसके प्रान्तपति चुने गये, किन्तु प्रतिपक्षी दलने इस चुनावको भी रद्द करा दिया।

राजपूतानेका राजनैतिक वायुमण्डल इतना विषाक्त हो गया कि सेठीजीने भारत छोड़कर १९३५ मे अफ्रीका जानेका निश्चय कर लिया, किन्तु पासपोर्ट लेनेके बाद भी वे न जा सके। मै समझता हूँ आर्थिक कठिनाइयोंके कारण ही ऐसा हुआ होगा।

फिर वे मेरे कहनेसे राजनैतिक क्षेत्रका सर्वथा त्याग करके सामाजिक सेवाके लिए तत्पर हो गये और यत्र-तत्र धार्मिक प्रवचनोको जाने लगे थे। राजनैतिक कार्योसे उनको अत्यन्त अरुचि हो गई और वे सर्वधर्मसमभावी हो गये।

यद्यपि उनका जन्म जैनकुलमें हुआ था और जैनधर्ममे पूर्ण श्रद्धा एवं आस्था रखते थे, साथ ही अन्य धर्मोके प्रति भी आदर रखते थे। उनका सहृदयतापूर्वक बखान करते थे। उनका रोम-रोम अनेकान्त-सुधामे भीगा हुआ था। उन्हें सभी धर्मोमें अच्छाइयाँ नजर आती थी। उनकी अनेकान्त दृष्टिमे राम-रहीम, बुद्ध-महावीरमें कोई अन्तर नही था।

शेख़ हो या बिरहमन मावूद है सबका वही।
एक है दोनोंकी मंज़िल फेर है कुछ राहका॥

—अज्ञात

जैनधर्मपर प्रवचन करते तो मालूम होता, कोई आँखों-देखा समवसरणका वर्णन कर रहा है। गीतापर बोलने लगते तो विदित होने लगता, इसी अर्जुनको योगिराज कृष्णने गीता सुनाई थी, और इस्लामपर जब वाज फर्माते तो अच्छे-अच्छे मौलवियोंको अपनी लाइल्मी और तंगदिलीका अहसास होने लगता। उनके लिए दैर-ओ-हरममे कोई अन्तर नही था।

तुम्हारा ही बुतख़ाना काबा तुम्हारा।
है दोनों घरोंमें उजाला तुम्हारा॥

—आग़ाशाइर देहलवी

वे सकीर्णहृदय धर्मोन्मादी पण्डितों और मजहवी मुल्लोंकी परछाँईसे भी दूर रहते थे। मजहवी दीवानोंको वे मानवताका कलङ्क समझते थे। मेरे साथ प्रवासमें एक माहके करीव रहे। तीर्थोकी भक्तिपूर्वक वन्दना-पूजा भी करते और चलते हुए कोई मन्दिर-मस्जिद रास्तेमे आते तो वहाँ से भी वा-अदव गुजरते।

तेरे ज़िक्रने, तेरी फिक्रने, तेरी यादने वोह मज़ा दिया।
कि जहाँ मिला कोई नक़्शेपा, वहीं हमने सरको झुका दिया॥

—वहज़ाद लखनवी

लेकिन उनके राजनैतिक प्रतिद्वन्द्वी जो ऊपरसे तो देशभक्तिका जामा पहने हुए थे और अन्तरंगमे घोर सम्प्रदायवादी थे, सेठीजी द्वारा राजनैतिक क्षेत्र सर्वथा परित्याग कर देनेपर भी, उनके विरोधी वने रहे और अपनी कलुषित मनोवृत्तिका यहाँ तक परिचय दिया कि—"सेठीजी मुसलमान हो गये।" यह क्रूर और असत्य प्रचार करनेसे भी वाज नही आये।

न हुआ सकूँ मयस्सर उसे वहरे ज़िन्दगीमें।
किसी मौजने डुवोया, किसी मौजने उभारा॥

—अज्ञात

राजनैतिक क्षेत्रसे उन्हें हटाने एव मिटानेमे कैसे-कैसे प्रयत्न किये और कितने लाख रुपये व्यय किये। यह सव भेद—उन मिटानेवालोमें ही फूट पड़ जानेके कारण खुल चुके हैं। सत्ताधारी राजनैतिक लोग—हॉमे हाँ न मिलानेवाले व्यक्तियोको किस वुरी तरह समाप्त कर देते हैं, यह सेठीजीके नैतिक वधके समय तो जनता नही समझ सकी, क्योकि पहली घटना थी।

नया विस्मिल हूँ, मैं वाक़िफ नहीं रस्मे शहादतसे।
वता दे तू ही ऐ ज़ालिम! तड़पनेकी अदा क्या है?

—चकवस्त

लेकिन जब नरीमैन, खरे, सुभाष भी इस नीतिके शिकार बनाये गये, तब लोगोंने सेठीजीकी दयनीय स्थितिको समझा। और आज तो यह आम रिवाज हो गया है कि ३०-३० वर्षके खरे कार्यकर्ता भी कांग्रेस छोड़नेको बाध्य कर दिये जाते हैं। कांग्रेसके प्रमुख पं० जवाहरलालजी भी कब बाहर कर दिये जाये, कहा नही जा सकता।

वोह पलकोंपै आ ही गया बनके आँसू।
ज़बां पर न हम ला सके जो फ़साना॥

—हसरत सहबाई

सेठीजीका आत्मधर्म क्या था, और वे किस श्रेणीमे पहुँच गये थे, यह मुझको लिखे गये १७ अगस्त १६३७ के पत्रसे विदित होगा, जो कि मेरे पास आज भी सुरक्षित है। लिखा है—"**क्या अच्छा हो जो मैं केवल सर्वज्ञोपासक अनेकान्ती नामसे** ही पुकारा जाऊँ, **और** इसी तरह **और ऐसे ही स्थानमें** चढ़ जाऊँ, जहाँ तौहीद ही तौहीद हो, इरतिकाका यथार्थ हो।"

यानी जहाँ पहुँचकर गुण, गुणी, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, ध्यान, ध्याता, ध्येयका अन्तर न रहे। तू और मैंका भेद ही नष्ट हो जाय।

अब मुहब्बत ही मुहब्बत है न हम हैं और न तुम।
जिसके आगे कुछ नहीं है, वह मुक़ाम आ ही गया॥

—आसी लखनवी

सेठीजी राजनैतिक क्षेत्रमें ही पीड़ित नही रहे, वे पारिवारिक भरण-पोषणकी चिन्तामे भी जीवनके अन्तिम श्वास तक गलते रहे। यौवनके पहले ही ज्वारमे देश-सेवामे कूद पड़े। बडोका संचित सब कुछ स्वराज्य के दावपर लगा दिया। बुढ़ापेमे सहायता तो दूर ३० रु० मासिक वेतन पर भी वे मँहगे समझे गये—

वक़्ते पीरी दोस्तोंकी बेरुख़ीका क्या गिला?
बचके चलता है, हरइक गिरती हुई दीवारसे॥

—अज्ञात

उनकी इस दयनीय स्थितिका पता, इस पत्रसे भले प्रकार जाना जा सकता है—

अजमेर

१७ अगस्त १९३७

बन्धुवर,

मैं कल यहाँ आया, जयपुरमें बीमार हो गया था। मेरी तन्दुरुस्ती ख़राब हो ही गई। दर असलमें मैं दिलोदिमाग़ खो ही चुका। यहाँ आपका पत्र रखा हुआ मिला। आपने जो कुछ लिखा है—वाक़ई वह वैसा ही है, जो मैं समझ चुका था। ठीक ही है श्रद्धा और प्रेम-भावना असमर्थ और अशक्तके प्रति कभी किसीकी न रही और न रहेगी। भूल इतनी-सी मेरी है कि मैंने अपनेको ३० रु० का नौकर न समझा।······

गोयलीजी, सच है रुपयेका दासत्व नरकसे बढ़कर है, और रुपया तो दास भी बनाता है।·········

एक व्यक्तिके सहारे रहना न मेरे लिए इष्ट है न उपादेय। नौकरी तो ३० रु० की यहाँ भी मिल ही जायगी मुझे तो एक उद्देश्य सताता है और यह वही है जो शायद शपथ खाकर मैंने आपसे उभय पक्षके वचनोंके साथ जयपुरमें प्रकट किया था। मेरे बच्चे आनासागरमें डुबो दिये जाएँ, कुछ परवाह नहीं। मेरा कतल कर दिया जाय फब्रहा[1]। अन्न कष्ट, जल कष्ट, वायु कष्ट[2],·········आवें·········[3]

······मैं तो जैनधर्म्म और उस राजनीतिका प्रचार करूँगा जो आपसे कई बार स्पष्ट हो चुके है। जो बड़वानीपर[4] ले गये, वे ही आगे का रास्ता खोलेंगे।·········

—अ० सेठी

१—बहुत बहतर।

२-३-इन स्थानोंपर स्वयं सेठीजीने बिन्दु लगाये हैं।

४—बड़वानी-बावनगजा क्षेत्रपर मैंने और सेठीजीने भक्तिभावपूर्वक वन्दना की थी, उसीकी ओर संकेत है।

राजनैतिक और आर्थिक दुश्चिन्ताओके कारण सेठीजीका मानसिक सन्तुलन आखिर खराब हो गया, और जब कही आश्रय नही मिला तो ३० रु० मासिकपर मुस्लिम बच्चोंको पढ़ानेपर मजबूर हो गये। अपने ही लोगोंकी इस बेवफ़ाईका उनके हृदयपर ऐसा आघात लगा कि उन्होने घर आना-जाना भी तर्क कर दिया और २२ दिसम्बर १६४१ को इस स्वार्थी संसारसे प्रयाण कर गये।

जिस असाम्प्रदायिक तपस्वीकी अर्थीपर कबीरकी मैयतकी तरह गाड़ने-फूंकनेके प्रश्नपर हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष होता। वह भी कुछ सम्प्रदायी मुसलमानोंके षड्यन्त्रके कारण न हो सका। उनके परिवारवालोंको भी तीन रोज बाद सेठीजीकी मृत्युका संवाद मिला, और इस तरह वे ग़ालिबके निम्न शेरके मिसदाक़ बने—

वफ़ादारी बशर्तें इस्तवारी अस्ल ईमाँ है।
मरे बुतख़ानेमें तो काबेमें गाड़ो बिरहमनको॥[1]

मिर्जा ग़ालिबकी यह पवित्र भावना केवल कल्पना ही कल्पना थी। किसी भी गैरमुस्लिमको कभी यह सन्मान[2] (?) न कभी प्राप्त हुआ और न होगा। वह तो जिन मज़हबी दीवानोने सेठीजीको दफनाया, उनके मस्तिष्कमे यह विचार था, कि उनकी इस हालतसे हिन्दुओको जलील किया जाय कि तुम्हारा इतना बड़ा नेता हमने दफ़ना दिया।

१—ग़ालिब फ़र्माते हैं—वफ़ादार होना ही सबसे बड़ा ईमान है। जो जीवनभर अपने ईमान टेकपर क़ायम रहे, अगर ऐसा ब्राह्मण मरे तो वह इस प्रतिष्ठाका अधिकारी है कि उसकी समाधि काबेमें बनाई जाय।

२—किसी व्यक्तिको काबेमें समाधि मिले, यह मुसलमानोंमें बहुत अधिक सम्मान समझा जाता है। फिर हिन्दूको, जिसे वे काफ़िर समझते हैं, अगर काबेमें समाधि मिल सके जो कि क़तई असम्भव है, उसके भाग्यपर तो फ़रिश्तोंको भी ईर्ष्या होगी।

काश, हिन्दु-मुस्लिमोंमें यह सच्चा स्नेह होता कि हिन्दू—पवित्र मुसलमान को अपने यहाँ अग्नि संस्कार देकर उसका अभिनन्दन करते और मुसलमान शुद्ध हिन्दूको अपने यहाँ दफ़नाकर उसका अहतराम करते तो यह सम्प्रदायवादके नामपर रक्तकी सरिता ही क्यों बहती ? जो सेठी जीवनभर गुरुडमवाद, पोपडमवाद, सम्प्रदायवादके विरुद्ध लड़ता रहा, मिटता रहा, वही सेठी इन मजहबी दीवानों द्वारा इस तरह समाप्त कर दिया जायगा। विधिके इस लेखको कौन मेट सकता था ? —बकौल जिगर मुरादाबादी—

उसी कश्तीको नहीं तावे तलातुम सद हैफ़ ।
जिसने मुँह फेर दिये थे कभी तूफ़ानोंके ।।

डालमियानगर,
१४ अक्टूबर १९५१

सेठीजीके दो पत्र

[पुराने काग़ज़ात उलटते हुए मुझे स्वर्गीय श्रद्धेय पं० अर्जुनलालजी सेठीका निम्न पत्र फुलिस्कैप आकारके छह पृष्ठोंमें पेंसिलसे लिखा हुआ मिला। यह पत्र जिनको सम्बोधन करके लिखा गया है, उनका नाम और उन सम्बन्धी व्यक्तिगत बातें और कुछ राजनैतिक चर्चाएँ जो अब अप्रासंगिक हो गई हैं— छोड़कर पत्र ज्यों-का-त्यों दिया जा रहा है। पत्रके नीचे उनके दस्तख़त नहीं हैं। हालांकि समूचा पत्र उन्हींके हाथका लिखा हुआ है। मालूम होता है या तो वे स्वयं इस कटे-छटे पत्रको साफ़ करके भेजना चाहते थे या दूसरेसे प्रतिलिपि कराके भेजना चाहते थे, परन्तु जल्दीमें साफ़ न होनेके कारण वहाँ भेज दिया। सम्भवतः जैनसमाजको लक्ष करके लिखा गया उनका यह अन्तिम पत्र है, ध्यान रहे यह पत्र मुझे नहीं लिखा गया था। पत्र मेरी माफ़ंत आया था, इसलिए उन्हें दिखाकर मैंने अपने पास सुरक्षित रख छोड़ा था।—गोयलीय]

अजमेर
१६ जुलाई १६३८

धर्मबन्धु,

ससारके मूल तत्त्वको अर्हत-केवली कथित अनेकान्त स्वरूपसे विचारा जाय और तदनुसार अभ्याससे उसका अनुभव भी प्राप्त हो तो, स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपनी विशेपता रखता है, और वैयक्तिक एव सामूहिक दोनो ही प्रकारके जीवनमें परिवर्तन स्ववश हो चाहे परवश, अवश्यम्भावी होता है। यह परिवर्तन एकान्तसे निर्दोप श्रेयस्कर ही होगा ऐसा नही कहा जा सकता। कई अवस्थाओंमें वैयक्तिक रूपसे और कतिपयमे सामूहिक रूपसे परिवर्तन अर्थात् इन्कलाब हित और कल्याणके विरुद्ध अवाञ्छनीय नही नही—विष-फलदायक भी सावित होता है। मानव जातिका समष्टिगत इतिहास इसका साक्षी है। अत. भारतमे परिवर्तन—इन्कलावका जो शोर चहुँ ओर मच रहा है और जिसकी गूंज कोने-कोनेमें सुनाई दे रही है, उससे जैनसमाज भी बच नही सकता, परन्तु अनेकान्तदृष्टिसे तथा अनेकान्तरूप व्यवहार-में जैनसमाजके लिए उक्त परिवर्तन ध्वनिसे उत्पन्न हुआ वाताकाश किस हद तक लौकिक और पारलौकिक दोनो ही प्रकारका हित-साधक होगा, यह एक गहन विचारणीय विपय है। इसी समस्या और आशयको लेकर मै आपके सम्मुख एक खुली प्रार्थना लेकर उपस्थित होता हूँ और आपका विशेष ध्यान वालसुखसे हटाकर अन्तस्तलकी तरफ ले जानेका प्रयास करता हूँ। मुझे आशा है कि मेरे रक्त-मास रहित शुप्क तन-पिजड़ेके कैदी आत्माकी अन्तर्ध्वनि आपके द्वारा जैनसमाजियोके वहि-रात्मा और अन्तरात्मामें पहुँच जाय जो यथार्थ तत्त्वदर्शनकी प्रगति और मोक्षसिद्धिमें साधक प्रमाणित हो।

आप ही को मै क्यो लिख रहा हूँ, आपसे ही उक्त आशा क्यो होती है, इसका भी कारण है। मेरा जीवनभर जैनसमाज और भारतवर्षके उत्थानमें साधारणतया वाकशूर वा कलमशूरकी तरह नही गुजरा, मैंने

असाधारण आकारके घन-पिण्डमें अपना और अपने हृदय-मन्दिरकी दिव्य तपस्वी-मूर्तियोंका उबलता हुआ रक्त दिया है, जैनों और भारतीयोंके उग्र तपोधन देवोंका प्रत्येक जीवन-मार्गमें स्वपर-भेद जनित वासनाओंको भस्मीभूत करके सार्वहितके लक्षसे प्रगतिका क्रियात्मक संचालन किया और कराया है। भारतवर्षीय जैनशिक्षा-प्रचारक समितिका संगठन स्वर्गीय दयाचन्द्र गोयलीय और उनके वर्गके अन्य सत्यहृदयी कार्यकर्ता—मोती,[१] प्रताप[२], मदन[३], प्रकाश[४] की जैसी राजनैतिक

१—स्वर्गीय वीर-शहीद मोतीचन्द सेठीजीके शिष्य थे। इन्हें आराके महन्तको वध करनेके अभियोगमें (सन् १९१३) में प्राण-दण्ड मिला था। गिरफ़्तारीसे पूर्व पकड़े जानेकी कोई सम्भावना नहीं थी। यदि शिवनारायण द्विवेदी पुलिसकी तलाशी लेनेपर स्वयं ही न वहकता तो पुलिसको लाख सर पटकने पर भी सुराग़ नहीं मिलता। पकड़े जानेसे पूर्व सेठीजी अपने प्रिय शिष्योंके साथ रोज़ानाकी तरह घूमने निकले थे कि मोतीचन्दने प्रश्न किया "यदि जैनोंको प्राणदण्ड मिले तो वे मृत्युका आलिङ्गन किस प्रकार करें?" बालकके मुँहसे ऐसा वीरोचित, किन्तु असामयिक प्रश्न सुनकर पहले तो सेठीजी चौंके, फिर एक साधारण प्रश्न समझकर उत्तर दे दिया। प्रश्नोत्तरके एक घंटे बाद ही पुलिसने घेरा डालकर गिरफ़्तार कर लिया, तब सेठीजी, उनकी मृत्युसे वीरोचित जूझनेकी तैयारीका अभिप्राय समझे। ये मोतीचन्द महाराष्ट्र प्रान्तके थे। इनकी स्मृतिस्वरूप सेठीजीने अपनी एक कन्या महाराष्ट्र प्रान्त-जैसे सुदूर देशमें ब्याही थी। सेठीजीके इन अमर शहीद शिष्योंके सम्बन्धमें प्रसिद्ध विप्लववादी श्री शचीन्द्रनाथ सान्यालने "बन्दी जीवन" द्वितीय भाग पृ० १२७में लिखा है—"जैनधर्मावलम्बी होते हुए भी उन्होंने कर्तव्यकी ख़ातिर देशके मङ्गलके लिए सशस्त्र विप्लवका मार्ग पकड़ा था। महन्तके ख़ूनके अपराधमें वे भी जब फाँसीकी कोठरीमें क़ैद थे, तब उन्होंने भी

आत्मोत्सर्गी चौकड़ियाँ मेरे सामने इस असमर्थ दशामें भी चिर आराध्य पदपर आसीन है; प्रातःस्मरणीय आदर्श पण्डितराज गोपालदासजी बरैया, दानवीर सेठ माणिकचन्द्र और महिला-ज्योति मगन बहन आदिके नेतृत्व-मण्डलका मै अंगीभूत पुजारी अद्यावधि हूँ और पर्देकी ओटमें उन सबकी सत्तावाटिकाका निरन्तर भोगी भी हूँ और योगी भी। कौन किधर कहाँसे, यहाँ क्या और वहाँ क्या इत्यादि प्रत्येक प्रश्नके उत्तरमे मेरे लिए तो उक्त दिव्य महापुरुषोकी आत्माएँ ही अचूक परीक्षा-कसौटीका काम

जीवन-मरणके वैसे ही सन्धिस्थलसे अपने विप्लवके साथियोंके पास जो पत्र भेजा था, उसका सार कुछ ऐसा था—"भाई मरनेसे डरे नहीं, और जीवनकी भी कोई साध नहीं है; भगवान् जब जहाँ जैसी अवस्थामें रक्खेंगे, वैसी ही अवस्थामें सन्तुष्ट रहेंगे।" इन दो युवकोंमेंसे एकका नाम था मोतीचन्द और दूसरेका नाम था माणिकचन्द्र या जयचन्द्र। इन सभी विप्लवियोंके मनके तार ऐसे ऊँचे सुरमें बँधे थे जो प्रायः साधु और फ़क़ीरोंके बीच ही पाया जाता है।"

२—प्रतापसिंह वीर-केसरी ठाकुर केसरीसिंहके सुपुत्र और सेठीजीके प्रिय शिष्य थे। सेठीजीके आदेशसे ये उस समयके सर्वोच्च क्रान्तिकारी नेता स्वर्गीय रासबिहारी बोसके सम्पर्कमें रहते थे। इनके जाँबाज़ कारनामे और आत्मोत्सर्गकी वीरगाथा 'चाँद' वग़ैरहमें प्रकाशित हो चुकी हैं।

३—मदनमोहन मथुरासे पढ़ने गये थे, इनके पिता सर्राफा करते थे। सम्पन्न घरानेके थे। सम्भवतः इनकी मृत्यु अचानक ही हो गई थी। इनके छोटे भाई भगवानुदीन चौरासीमें सन् १४-१५में मेरे साथ पढते रहे हैं, परन्तु मदनमोहनके सम्बन्धमें कोई बात नहीं हुई। बाल्यावस्थाके कारण इस तरहकी बातें करनेका उन दिनों शऊर ही कब था?

४—प्रकाशचन्द सेठीजीके इकलौते पुत्र थे। सेठीजी की नज़रबन्दीके समय यह बालक थे। उनकी अनुपस्थितिमें अपने-परायोंके व्यवहार

देती है, चाहे उस समयमें और अव जीवोके परिणामों और लेश्याओमें ज़मीन-आस्मानका ही अन्तर क्यों न हो गया हो।

सतनामें परिषद्का अधिवेशन पहला मौका था, तब उल्लेखनीय जैनवीर-प्रमुख श्री..........के द्वारा आपसे मेरी भेंट हुई थी। मैं कई वर्षोके उपयुक्त मौनाग्रहव्रतके वाद उक्त अधिवेशनमें शरीक हुआ था। इधर-उधर गत-युक्तके सिंहावलोकनके पश्चात् मैं वहाँ इस नतीजे पर पहुँच चुका था कि आपमे सत्य-हृदयता है और अपने सहधर्मी जन-वन्धुओके प्रति आपका वात्सल्य ऊपरकी झिली नही है, किन्तु रगोरेगे में खौलता हुआ खून है, परन्तु तारीफ यह है कि ठोस काम करता है और वाहर नही छलकता।......

इस तरह मुझे तो दृढ़ प्रतीत होता है कि आपके सामने यदि मैं जैनसमाजके आधुनिक जीवन-सत्त्वके सम्बन्धमें मेरी जिन्दगी भरकी सुलझाई हुई गुत्थियोंको रख दूँ तो आप उनको अमली लिबासमें ज़रूर रख सकेंगे। अपेक्षा—विचारसे यही निश्चयमें आया।

वन्धुवर,

आपने राष्ट्रिय राजनैतिक क्षेत्रके गुटोमे घुल-घुलकर काम किया है, उसकी रग-रगसे आप वाकिफ़ हो चुके है और तजरुवेसे आपको यह स्पष्ट हो चुका है कि हवाका रुख किधरको है। इसीसे परिणाम-स्वरूप आपने निर्णय कर लिया कि जैनेतरोंकी ज्ञात व अज्ञात भक्ष्य-भक्षक प्रतिद्वन्द्विताके मुकाबिलेमे सदियोंके मारे हुए जैनियोके रग-पट्ठोंमें जीवन-संग्राम और मूल संस्कृतिकी रक्षाकी शक्ति पैदा हो सकती है तो केवल

तथा आपदाओंके अनुभव प्राप्त करके युवा हुए। सेठीजी ५-६ वर्षकी नज़रबन्दीसे छूटकर आये ही थे कि उनकी प्रवास-अवस्थामें ही अकस्मात् मृत्यु हो गई। सेठीजीको इससे बहुत आघात पहुँचा। इन्हीं प्रकाशकी स्मृति-स्वरूप इनके बाद जन्म लेने वाले पुत्रका नाम भी उन्होंने प्रकाश ही रक्खा।

उन्ही साधनों और उपायोसे जो दूसरे लोग कर रहे है, अथवा जिनमें बहुत कुछ सफलता जैनोके सहयोगसे मिलती है।......

आपके सामने आधुनिक काल-प्रवाहके भिन्न-भिन्न आन्दोलन-समूह धार्मिक वा सामाजिक, वाञ्छनीय वा अवाञ्छनीय, हेय वा उपादेय, उपेक्षणीय वा अनुपेक्षणीय, आदरणीय वा तिरस्कार्य, व्यवहार्य वा अव्यवहार्य, लाभप्रद वा हानिकर इत्यादि अनेक रूप-रूपान्तरमें मौजूद हैं। उनमेंसे प्रत्येकका तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओंका गृहस्थ तथा त्यागी, श्रावक-श्राविकाओंके दैनिक जीवनपर एवं मन्दिर-तीर्थों अथवा अन्य प्रकारकी नूतन और पुरातन संस्थाओंपर पड़ा है, वह भी आपके सम्मुख है। मैं तो प्राय. सवमें होकर गुज़र चुका हूँ, और उनके कतिपय कड़वे फल भी खूब चाख चुका हूँ और चाख रहा हूँ। अत: आपका और आपके सहकारी कार्यकर्ताओंका विशेप निर्णायक लक्ष इस ओर अनिवार्य-अटल होना चाहिए। नही तो जैन संगठन और जैनत्वकी रक्षाके समीचीन ध्येयमें केवल वाधाएँ ही नही आयेगी, धक्का ही नही लगेंगे, प्रत्युत नामोनिशान मिटा देनेवाली प्रलय भी हो जाय तो मानवजातिके भयावह उथल-पुथलके इतिहासको देखते हुए कोई असम्भव वात नही है। अल्पसंख्यक जातियोको पैर फूंक-फूंककर चलना होता है और बहुसंख्यक जातियोके बहुतसे आन्दोलन जो उन्हीको उपयोगी होते है, अल्पसंख्यकोमें घुस जाते हैं और उनके लिए कारक होनेकी अपेक्षा मारकका काम देते हैं। उनकी वाहरी चमक लुभावनी होती है, कई हालतोमें तो आँखोंमें चकाचौंध पैदा कर देती है, मगर वास्तवमें Old is not gold glitters हरेक चमकदार पदार्थ सोना ही नहीं होता। वहुसंख्यक लोगोंकी तरफसे मखमली खूबसूरत पलंगोंसे ढके हुए खड्डे विचारपूर्वक वा अन्त.स्थित पीढियोके स्वभावज चक्रसे तैयार होते रहते हैं, जिनके प्रलोभन और ललचाहटमें फँसकर अल्पसंख्यक लोग शत्रुको ही मित्र समझने लगते है, यही नही; किन्तु अपने सत्त्व-स्वत्वकी रक्षाका खयाल तक छोड वैठते हैं। किमविकम्, इस स्व-रक्षणकी भावना वासना भी

उनको अहितकर जँचने लगती है। इसके अलावा भावी उदयावलीके बल अथवा यों कहूँ कि कालदोषसे अभागे अल्पसंख्यकोंमेंसे कोई कंस जैसे भी पैदा हो जाते हैं जो अपने घरके नाश करनेपर उतारू हो जाते हैं, गैरों के चिराग़ जलाते हैं और पूर्वजोके घरको अँधेरा नरक बना देते है।

......इस तरह जैन कुलोमे, जैन पञ्चायतोमे, जैन गृहोमे चलती-चलाती ठण्डी पड़ी हुई आम्नायोमें कलह, भीषण क्षोभ और तत्काल-स्वरूप तीव्र कषायोदय और अशुभ बन्धके अनेक निमित्त कारणोसे बचाकर जैनोंका रक्षण, संगठन और उत्थान होगा, तभी इस समयकी लपलपाती हुई अनेकान्त-नाशक जाज्वल्यमान दावाग्निसे जैनधर्म और जैनसंस्कृति स्थिर रहेगी।

[२]

[यह पत्र सेठीजीने मुख्तार साहबको लिखा था, जो कि अनेकान्त वर्ष १ किरण ४ में प्रकाशित हुआ था।]

बन्धुवर,

अनेकान्त-साम्यवादीकी जय

अनेक द्वन्द्वोके मध्य निर्द्वन्द्व 'अनेकान्त'की दो किरणें सेठीके मोह-तिमिराच्छन्न बहिरात्माको भेदकर भीतर प्रवेश करने लगी तो अन्तरात्मा अपने गुणस्थान-द्वन्द्वमेंसे उनके स्वागतके लिए साधन जुटाने लगा। परन्तु प्रत्याख्यानावरणकी तीव्र उदयावलीने अन्तरायके द्वारा रूखा जवाब दे दिया; केवल अपायविचयकी शुभ भावना ही उपस्थित है। आधुनिक भिन्न-भिन्न एकान्ताग्रह-जनित साम्प्रदायिक, सामाजिक एव राजनैतिक विरोध व मिथ्यात्वके निराकरण और मथनके लिए अनेकान्त-तत्त्ववादके उद्योतन एवं व्यवहाररूपमें प्रचार करनेकी अनिवार्य आवश्यकताको मै वर्षोसे महसूस कर रहा हूँ। परन्तु तीव्र मिथ्यात्वोदयके कारण आम्नाय-पथ-वादके रागद्वेषमें फँसे हुए जैन नामाख्य जनसमूहको ही जैनत्व एवं अनेकान्त-तत्त्वका घातक पाता हूँ, और जैनके अगुवा वा समाजके कर्णधारोको ही अनेकान्तके विपरीत प्ररूपक वा अनेकान्ताभासके गर्तमें हठ रूपसे पड़े देखकर मेरी अब तक यही धारणा रही है कि अनेकान्त वा जैनत्व नूतन परिष्कृत शरीर धारण करेगा जरूर, परन्तु उसका क्षेत्र भारत नही, किन्तु और ही कोई अपरिग्रह-वादसे शासित देश होगा।

अस्तु, अनेकान्तके शासनचक्रका उद्देश्य लेकर आपने जो झंडा उठाया है, उसके लिए मै आपको ओर अनेकान्तके जिज्ञासुओको बधाई देता हूँ और प्रार्थनारूप भावना करता हूँ कि आपके द्वारा कोई ऐसा युग-प्रधान प्रकट हो, अथवा आप ही स्वय तद्रूप अन्तर्बाह्य विभूतिसे सुसज्जित हो, जिससे एकान्त हठ-शासनके साम्राज्यकी पराजय हो, लोकोद्धारक विश्व-व्यापी अनेकान्त शासनकी व्यवस्था ऐसी दृढ़तासे स्थापित हो कि

चहुँओर कम-से-कम षष्ठ गुणस्थानी जीवोंका धर्मशासन-काल मानव-जातिके——नहीं-नहीं जीवविकासके इतिहासमें मुख्य आदर्श प्राप्त करे, जिससे प्राणिमात्रका अक्षय्य कल्याण हो।

इसके साथ यह भी निवेदन कर देना उचित समझता हूँ कि अब इस युगमें सांख्य, न्याय, बौद्ध आदि एकान्त दर्शनोंसे अनेकान्तवादका मुकाबिला नहीं है, आज तो साम्राज्यवाद, धनसत्तावाद, सैनिकसत्तावाद, गुरुडमवाद, एकमतवाद, बहुमतवाद, भाववाद, भेषवाद, इत्यादि भिन्न-भिन्न जीवित एकान्तवादसे अनेकान्तका संघर्षण है। इसी संघर्षणके लिए गांधीवाद, लेनिनवाद, मुसोलिनीवाद आदि कतिपय एकान्तपक्षीय नवीन मिथ्यात्व प्रबल वेगसे अपना चक्र चला रहे है।. . . .

अतः इस युगके समन्तभद्र वा उनके अनुयायियोंका कर्तव्यपथ तथा कर्म्म उक्त नव-जात मिथ्यात्वोंको अनेकान्त अर्थात् नयमालामें गूंथकर प्रकट करना होगा, न कि भूतमें गड़े हुए उन मिथ्यादर्शनोको कि जिनके लिए एक जैनाचार्यने कहा था कि "षड्दर्शन पशुग्रामको जैनवाटिकामें चराने ले जा रहा हूँ।" महावीरको आदर्श-अनेकान्त-व्यवहारी अनुभव करनेवालोंका मुख्य कर्तव्य है कि वे कटिबद्ध होकर जीवोंको और प्रथमतः भारतीयोंको माया-महत्त्व-वादसे बचाकर यथार्थ मोक्षवाद तथा स्वराज्य का आग्रह-रहित उपदेश दें। और यह पुण्यकार्य उन्ही जीवोसे सम्पादित होगा, जिनका आत्म-शासन शुद्ध शासनशून्य वीतरागी हो चुका हो।

अन्तमें आपके प्रशस्त उद्योगमें सफलताकी याचना करता हुआ

आपका चिरमुमुक्षु बन्धु
अर्जुनलाल सेठी

अजमेर
२१-१-३०

और अगर मर जाइये तो....

महात्मा भगवानदीन

अर्जुनलाल सेठीको लोगोंने भुला दिया। भुला देना हम वड़ा अच्छा काम समझते है। जो समाज अपने चाँदों, अपने सूर्यो-को भुलाना नही जानता वह जीना नही जानता। पर चाँद और सूरजको भुलानेके लिए वड़ी अक्ल चाहिए, वड़ी हिम्मत चाहिए, वडा त्याग चाहिए और मर मिटनेकी तैयारी चाहिए। तुलसीने हिन्दीमें रामायण लिखकर वाल्मीकिको भुलवा दिया, विनोवाने मराठीमें 'गीताई' नामसे गीताका अनुवाद करके मराठी जानकार जनताके दिलसे संस्कृतकी गीता भुलवा दी, यह कौन नही जानता कि युग-युगमे नये-नये आदमी पैदा होकर पुराने आदमियोको भुलाते जाते है। क्या पं० जवाहरलालने पं० मोती-लाल नेहरूको लोगोंके दिलोंसे नही भुलवा दिया ? पर इस तरह भुलवाने जानेसे वुजुर्गोकी आत्मा नयोको आशीर्वाद देती। पर समाजने अर्जुनलाल सेठीको इस तरहसे कहाँ भुलाया, अगर इस तरहसे भुलाया होता तो अर्जुनलाल सेठीका आत्मा आज हम सवको आशीर्वाद दे रहा होता।

अर्जुनलाल सेठी समाजकी ऐसी देन थे, जिनपर चाहे देशके थोड़े ही आदमियोको अभिमान हो, पर उस अभिमानके साथ इतनी तीव्रता रहती है कि जो उस अभिमानमे नही रहती जो करोड़ो आदमियोंमे विखरा होता है। यह किसको पता है कि कितने ही देशके मशहूर घरानोमें जव अर्जुनलाल सेठीकी चर्चा चल पड़ती है तो सवके मुंहसे यही निकल पडता है कि उस-जैसे वातके पक्के आदमीको दुनिया वहुत कम पैदा करती है, और फिर सवके मुंहसे यूही निकल पडता है कि होता कि हम भी अर्जुनलाल सेठी-जैसे वन सकते।

अर्जुनलाल सेठीको हम आदमी कहें, या देशकी आजादीका दीवाना कहें, हम अर्जुनलाल सेठीको हिन्दुस्तानी कहें, या आजादीके दीपकका परवाना कहें जो अपने २५ वर्षके इकलौते बेटेको मौतके बिस्तरपर छोड़कर पं० सुन्दरलालके एक मामूली तार पर दौड़ा हुआ बम्बई पहुँचता है, और बेटेके मर जानेके बाद भी उसे देशका काम छोड़कर घर लौटनेकी जल्दी नहीं होती। कोई यह न समझे कि उसे घरसे मोह नही था, उसे बेटेसे प्यार नही था। वह इतना प्यारा था, और इतना मुहब्बती था कि उस-जैसे पतिके लिए पत्नियाँ तरस सकती है, उस-जैसे बापके लिए बेटे जानपर खेल सकते हैं, उस-जैसे दोस्तके लिए दोस्त खून-पसीना एक कर सकते हैं, उस-जैसे नेताके लिए अनुयायी सरके बल चल सकते है।

अर्जुनलाल सेठीने त्यागका व्रत नही लिया, त्याग किसीसे सीखा नही, किसी नेताके व्याख्यान सुनकर जोशमे आकर उसने त्यागको नही अपनाया, त्याग तो वह माँके पेटसे लाया था, त्याग तो उसकी जन्मघुट्टीमें मिला था, त्यागको तो उसने माँके स्तनसे पिया था, इसलिए त्याग करते हुए उसे त्यागका गीत नही गाना पड़ता था और त्यागी होते हुए दूसरो पर त्यागके घमण्डका रोब नही जमाना पड़ता था। त्यागीका बाना पहननेकी उसे ज़रूरत ही कहाँ थी? इन पंक्तियोके पढनेवालोमे हो सकता है अनेकों ऐसे निकल आवें जो खुले नही तो मन ही मन यह कहने लगे कि रुपये तो हमसे भी मँगाये थे, पर यह वही बता सकते हैं जो उसके साथ रहे हों कि उसने उन रुपयोंका क्या किया था। अर्जुनलाल सेठीके त्यागकी बातें ऐसी है, जिनको आज भी हम साफ़-साफ़ कहनेके लिए तैयार नही। चूंकि यह अच्छा ही है कि अभी वे कुछ दिनों और अजानकारीके गढ्ढेमे पड़े रहें, पर हम अपने पढ़नेवालोंको किसी दूसरी तरहसे समझाये देते है—

कलकत्ताके मशहूर देशभक्त श्री श्यामसुन्दर चक्रवर्ती जो कि चित्तरंजनदासजीकी टक्करके आदमी थे, उनसे मिलनेके लिए हम प० सुन्दरलालजीके साथ कलकत्ता पहुँचे। श्यामसुन्दर चक्रवर्ती 'सर्वेन्ट' नामका एक अंग्रेजी दैनिक निकालते थे। हम वही उनसे उनके दफ़्तरमें

मिले। वे बडी मुहब्बतसे मिले और ऐसी खातिरदारी की मानो हम उनके माँ-जाये भाई हों। थोड़ी देर वाद वे हमे अपने घर ले गये और १६ वर्ष-की लड़कीको दिखाया जो बीमारीसे काँटा हो गई थी और एकदम पीली पड़ी हुई थी। चक्रवर्ती और लडकीकी माँसे बातों-बातोंमे यह भी पता चला कि उस लड़कीके लिए दवा और दूधका भी ठिकाना नही, तव हमने सोचा कि कुछ रुपये चक्रवर्तीको दे देने चाहिएँ। हम घरसे 'सर्वेण्ट' के दफ़्तर लौट ही रहे थे कि रास्तेमे एक आदमीने चक्रवर्तीके नामका ५०० रु० का चेक दिया, चक्रवर्तीजी हमारे साथ उस चेकको लेकर पासके बैंकमें पहुँचे और ५०० रु० लिये। दफ़्तरमे आये। पाँच मिनिटमे पूरे पाँच सौ खतम हो गये। 'सर्वेण्ट' मे काम करनेवालोंकी २-३ महीनोकी तनख्वाह चढ़ी हुई थी। चक्रवर्तीकी नजरमे पहले वह आदमी थे जो देशकी आजादीके काममे जुटे हुए थे न कि वह बीमार लड़की जो पलगपर पडी थी। हमने जव यह देखा तो यही मुनासिव समझा कि चक्रवर्तीके हाथमें दिये हुए रुपये तो न कभी दवाका रूप ले सकेंगे और न कभी दूध वन सकेंगे। इससे यही ठीक होगा कि दवा खरीद कर दी जाय और दूधका कोई इन्तजाम कर दिया जाय। अगर कुछ देना ही है तो लड़की-की माँके हाथमे दिया जाय। हमने यह भी सोचा कि लडकीकी माँ हिन्दू नारी है और हिन्दू पत्नी है, वह पति देवतासे कैसे छिपाव रख पायेगी और फिर उसके पास भी वह रुपया कैसे बच सकेगा। आखिर ऐसा ही इंतजाम करना पड़ा कि जिससे सब झंझटोसे बचकर रुपये दूध और दवामें तवदील हो सके।

वस, इस ऊपरकी कथासे समझ लीजिए कि सेठीजीके हाथमें पहुँचा हुआ रुपया जाने कहाँ-कहाँ और किस तरह बिखर जाता था और किस तरह कम-ज्यादा देशकी आजादीके दीपकका तेल बनकर जल जाता था। सारी संस्थाएँ एक-एक आदमीके वलपर चलती है और वह आदमी इधर-उधरसे माँगकर ही रुपया लाता है, पर जिनपर वह रुपया खर्च करता है, उनपर सौ एहसान जमाता है। इतना ही नही, वह तो प्लेटफार्मसे चिल्ला-

चिल्लाकर यह भी कहता है कि यह मैं ही हूँ जो भूखोंका पेट भर रहा हूँ। पर अर्जुनलाल सेठीने इस तरह भीख माँगकर पाये हुए रुपयेसे न कभी किसीपर एहसान जमाया और न कभी प्लेटफ़ार्मसे तो क्या कोने-कतरेमे भी अपने दानकी कोई बात कही। वह सच्चे मानोंमे त्यागी था। उसने अपने आपको कभी पैसेका मालिक नहीं समझा, पर समझा तो यह समझा कि वह पोस्टमैन है जो इधरसे रुपया लाता है और उधर दे देता है। यहाँ हो सकता है कि कोई व्यवहार-धर्मके रँगमे बुरी तरहसे रँगा हुआ यह सवाल उठा बैठे कि अर्जुनलाल सेठी भीख माँगकर ही नही पैसा इकट्ठा करते थे, बल्कि इस तरहसे भी रुपया जुटा लेते थे, जिसे वह जानते थे कि यह रुपया ठीक तरहसे हासिल नही किया गया। उसे हम क्या कहें, उसे दलीलोंसे समझाना किसी तरहसे नही हो सकता। उसे तो हम यही कहेंगे कि वह एक मर्तबा अपने भीतर आजादीकी आग सुलगाये और देखे कि उस आगकी जब लपटें उठती है तो वह क्या करता है और व्यवहार-धर्मको कैसे निभाता है। अर्जुनलाल सेठीको निश्चय और व्यवहार-धर्मके दोनों रूपोंकी जानकारी बहुत काफी थी और इस नाते वह पण्डित नामसे पुकारे जाते थे। पर वह कोरे पण्डित नही थे। कोई दिन ऐसा नहीं जाता था जिस दिन वह रातको बैठकर अपने दिन भरके कामका अकेलेमें पर्यालोचन नही कर जाते थे। उन्होने तो कभी अपने मुँहसे नही कहा पर उनके पास रहकर हमारा यह अनुभव है कि उनका जीवन सचमुच जलमें कमलकी तरह था।

जयपुर कालेजसे वी० ए० करनेके वाद उनके लिए रियासतमे नौकरी का मार्ग खुला हुआ था, उनके साथियों और करीबी रिश्तेदारोंमेसे कई उस रास्तेको अपना चुके थे। पर ये कैसे अपनाते, इन्हें नौकरीसे क्या लेना था, इन्हे तो उसी राज्यके जेलख़ानेका मेहमान बनना था।

वी० ए० इन्होंने फ़ारसी लेकर किया था और संस्कृत घरपर सीखी थी। धर्मशिक्षाके मामलेमें वे चिमनलाल वक्ताको अपना गुरु मानते थे, हमने वक्ताजीके व्याख्यान सुने है। श्रोताओंको समझानेकी शैली

उनकी बड़ी सीधी होती थी और इतनी मनलगती होती थी कि असली बात झट समझमे आ जाती थी। ऐसे गुरुके शिष्य अर्जुनलालजी अगर कुछ ऐसी बाते कह गये जो बहुतोंको मन लगती नहीं जँचती तो उसमें उनका क्या दोष ! वे तो सचाईके साथ खोजमे लगे और जो हाथ आया कह गये।

वह भरी जवानीमें समाज-सेवाके मैदानमें कूद पड़े और सबसे पहले उन्होंने वह काम उठाया जिसकी समाजको सबसे ज्यादा जरूरत थी, यानी उन्होंने एक शिक्षासमितिकी नीव डाली, उसीके मातहत जयपुर-में पाठशालाओंका जाल बिछा दिया। अब्दुलगफ़ूर नामके विद्यार्थीको लेकर समाजमे बडी खलबली मची, पर समाज पैदायशी त्यागी अर्जुन-लालका क्या बिगाड़ सकती थी और फिर उन्हे एक साथी घीसूलाल गोलेच्छा ऐसे मिल गये थे, जिसकी दोस्तीने सेठीजीके त्यागको और भी ज्यादा मज़-बूत कर दिया था।

यह शिक्षासमिति कुछ दिनोंमे एक छोटी-मोटी यूनिवर्सिटीका रूप ले बैठी और दूर-दूरके विद्यार्थी उसकी परीक्षामें शामिल होने लगें।

शिक्षाकी सडक जिस रास्ते होकर गई है, उस रास्तेमें दासतासे मुठभेड हुए वगैर नही रहती और कैसी भी शिक्षासमिति क्यों न हो, दासता की बेड़ियोंमे फँसकर वह सच्चे धर्मकी तालीम नही दे सकती। उसका सच्चा धर्म और स्वाधीनता एकार्थवाची शब्द है, इसलिए उसको राजसे टक्कर ही नही लेनी पड़ती, बल्कि उसे उखाड़ फेंकनेकी तैयारी करनी होती है। सेठीजीकी शिक्षासमिति आखिर उस मंजिलपर पहुँच तो गई और वे सरकारसे टक्कर लें कि इन्दौरमे श्री कल्याणमलविद्यालयके प्रधाना-ध्यापककी हैसियतसे गिरफ्तार कर लिये गये और कुछ दिनों जयपुर जेलमे और कुछ दिनो वैलोर जेलमें रहनेके बाद बाहर निकले कि जल्दी ही सन् २१ के आन्दोलनमें शामिल हुए। पैदायशी त्यागीके लिए और राह ही क्या थी।

हमसे उमरमे दो वर्ष बड़े थे और हमारी उनसे जब जान-पहचान

हुई तव वह हमसे कई गुने ज्यादह धर्मके ज्ञाता थे और कहकर नहीं, तो मन ही मन हम उनको धर्मके मामलेमें गुरु ही मानते थे और हम उनकी बहुत-सी बातोंकी नक़ल करनेकी कोशिश करते थे। जब वह शिक्षा-प्रचारक समितिके काममे लगे हुए थे, तब शिष्टाचारके वह आदर्श थे। गाली तो उनके मुँहपर फटकनेकी सोच ही नही सकती थी। मामूली पाजी या नालायक शब्द भी उनके मुँहसे निकलते हमने कभी नही सुना, वह अध्यापक भी थ पर विद्यार्थियोंपर कभी नाराज नही होते थे। विद्यार्थियोंसे 'आप' कहकर बोलना हमने उन्हीसे सीखा। यह तारीफ़ सुनकर सम्भव है हमारे पढ़नेवाले एकदम ऐंठ जाये, क्योकि उनमेसे बहुतोंने उनको गाली देते सुना होगा, और बुरी-बुरी गालियाँ देते हुए भी सुना होगा। हम उनकी बातोंको झुठलाना नही चाहते, पर हम तो अर्जुनलाल सेठीके बहुत पास रहे हैं और मुद्दतों रहे है। यह गाली देनेकी बला उनके पीछे बेलौर जेलसे लगी, जहाँ वे वर्षो राजकाजी कैदीकी हैसियतसे रहे है। वहाँ वे इतने सताये गये थे कि 'बेलौर' जेलसे निकलनेके वाद उनके वारेमें यह कहना कि वह अपने होशहवासमें थे जरा मुश्किल हो जाता है। जेलसे छूटकर वह देहली गये तब हम वहाँ उनसे मिले थे। वे अनेकों काम ऐसे करते थे कि जो इस शिष्टाचारसे जरा भी मेल नही खाते थे, जिसको हमने जयपुरमें देखा था। उदाहरणके लिए हर औरतके पाँव छूने और जगह वेजगह यह कह बैठना कि मैंने भगवान्‌की मूरतका मेहतरोंसे प्रक्षाल करवाया। उन दिनों सारी वाते कुछ इस तरहकी होती थी कि यह नहीं समझा जा सकता था कि उनको होश-हवास थी। धीरे-धीरे उन्होने अपनेपर क़ाबू पाया, पर गालियोपर इस वजहसे पूरा-पूरा क़ाबू नही पा सके कि कांग्रेसकी राजकारी चपेटोंने उनका मरते दमतक कभी पीछा न छोड़ा।

निश्चयके बलपर व्यवहारमें वह कभी-कभी इतने पीछे पड़ जाते थे और वह कभी-कभी इतने आगे वढ़ जाते थे कि आम आदमी उन दोनोका मेल नही बिठा पाते थे। इस वास्ते कभी-कभी किसी-किसी समझदारके मुँहसे तंग आकर यह निकल पड़ता था कि अर्जुनलाल योगभ्रष्ट

हो गया है। हम उनसे हर हालतमे मिलते रहे। उस हालतमे भी मिले जब उन्हे योगभ्रष्टकी पदवी मिली हुई थी, पर हमने तो उनमें कोई अन्तर पाया नही। उनकी आजादीकी लगन ज्योंकी त्यों बनी हुई थी, उनका सर्वधर्मसमभाव ज्योका त्यो था और उनकी आजादीकी तडपमें कोई अन्तर नही आया।

हम तो उसीको धर्मकी चोटीपर पहुँचा हुआ मानते है जो जिस धर्ममे पैदा हुआ हो, उस धर्मके आम लोग उसे धर्मभ्रष्ट समझने लगे और उससे खूब घृणा करने लगें और वन सके तो उन्ही आम लोगोंमेसे कोई ऐसा भी निकल आये जो उस धर्मभ्रष्टको मौतके घाट उतार दे और क्या गाँधीजी कुछकी नजरमे धर्मभ्रष्ट नही थे और क्या उन्हे धर्मभ्रष्ट होनेकी सजा नही मिली। इस लिहाजसे तो सेठीजी अच्छे ही रहे। फिर वे धर्मभ्रष्ट तो रहे पर सजासे वच गये।

अर्जुनलाल सेठीका जीवन सचमुच जीवन है। यह भी कोई जीवन है कि वनी-बनाई पक्की सड़को पर दौडे हुए चले जाये, सेठीजीका जीवन कभी पहाड़ीकी चोटियोको लाँघना और कभी चक्करदार रास्तोमे घूमना, घने जंगलमे पगडंडीकी परवाह किये विना जिधर चाहे उधर चल पड़ना। ऐसा करनेके लिए नामवरीको अपने पाँवोके नीचे कुचलनेके लिए जितनी हिम्मत चाहिए, उतनी उनमे थी और यही तो एक ऐसी चीज थी कि जिसकी वजहसे हमको सेठीजीके जीवनसे स्पर्द्धा होती है।

तो क्या सेठीजीमे कोई कमी या बुराई नही थी, हाँ कमियाँ और वेहद वुराइयाँ थी। अगर गुलावके फूलकी टेक, गुलावकी झाडीके काँटे, गुलावकी वुराइयाँ है तो वैसी उनमे अनगिनत वुराइयाँ थी। और गुलावके फूलकी झाड़ीके वह सूखे पत्ते जो पीले पड जाते है, कमियाँ है तो उनमे अनेकों कमियाँ थी। अगर गुलावकी टेढी-मेढी वेढगी, वदसूरत जड़ें गुलावकी कमियाँ है तो ये सब उनमे थी। पर हम करे तो क्या करे, हमारी नजर तो गुलावपर है और हम उस गुलावपर इतने मस्त है कि उसे तोड़ते हुए हमारे सैकड़ो काँटे भी लग जाये तो भी अपनी मस्तीमे उस

ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हम सेठीजीकी उस लगनको देखें जिसको लेकर वह पहले पहल धर्मके मैदानमें कूदे, फिर समाजके मैदानमें आये और फिर देशके मैदानमें आये, या हम यह देखें कि वे क्या खाना खाते थे, किस तरहकी टोपी लगाते थे या वे उस मकानमें सोते थे, जिसका पश्चिमकी तरफ़ दरवाजा था, उस मकानमे रहते थे, जिसका पूरबकी तरफ दरवाजा था, जो काँटोंका ही रोना रोते है वो न फूल पाना चाहते हैं और न फूल पानेकी इच्छा रखते हैं। हम इसे मूर्खता ही समझते है कि फूल सूखकर जब उसकी पंखुड़ियाँ गिरे, तब इस आधारपर फूलके बारेमें हम अपनी राय बताये कि उसकी पंखुड़ियाँ जंगलमें गिरी थी, या किसी साधुकी कुटीमे गिरी थी, या मन्दिरमे किसी देवताकी वेदीपर गिरी थीं, या राजाके महलमे गिरी थी, आदमीके मरनेके बाद उस लाशको चील, गृद्ध खाये तो वही बात, जलाई जाय तो वही बात, दफनाई जाय तो वही बात और बहाई जाय तो वही बात।

एक शोर है कि सेठीजी दफनाये गये और साथमें यह भी शोर है कि उनके दफ़नाये जानेकी जगहका ठीक पता नही है। अगर यह पिछली बात ठीक है तो बड़े कामकी बात है क्योंकि इस तरह मरनेके बाद नाम न छोड़कर दफनाये जानेसे किसी दिन तो उन हड्डियोंपर हल चलेगा और वहाँ खेती होगी और उससे जो दाने उगेंगे उसे जो खायेगा उसमें देश-भक्ति आये बगैर न रहेगी। सेठीजीको जो मौत मिली, वैसी मौतके लिए दिल्लीके मशहूर कवि ग़ालिब तक तरसते गये—

"रहिये अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो।
हमसुख़न कोई न हो, और हमज़ुबां कोई न हो॥
बेदरोदीवार-सा इक घर बनाना चाहिए।
कोई हमसाया न हो और पासबां कोई न हो॥
पड़िये गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार।
और अगर मर जाइये तो नौहाख़्वां कोई न हो॥"

बैरिस्टर
चम्पतराय

उन्हें मरना नहीं आता

— गोयलीय —

"बाबूजी ! आप इतनी रुग्णावस्थामें विलायतसे क्यों लौट आये ? वहाँ तो बीमारीका इलाज कराने लोग यहाँसे जाते है और आप है कि गये हुए वापिस आ गये ।"

"मैं वहाँ धर्म-प्रचार करने जाता हूँ, मरने नहीं जाता ।"

"समझा नही ।"

"मेरे दोस्त ! यूरोपियन जीना जानते है, उन्हें मरना नही आता ।"

"बाबूजी ! बेअदबी माफ़ ! यह तो आपने एक अनोखी-सी बात कह दी । वे तो जिस शानसे जीते हैं, उसी शानसे मरते भी है । हिमालय पर्वतपर मरनेको हँसते हुए चढते है, हवाई जहाजसे किलकारियाँ मारते हुए कूदते हैं, इँगलिश चेनल थिरकते हुए पार करते है । कोई भी जोखमका कार्य्य हो, उसके लिए मर्दानावार तैयार रहते है, और मृत्यु आनेपर बेझिझक मुस्कराते हुए उसका आलिगन करते है ।"

मेरी न जाने यह बकवास कबतक चलती कि वे बोले—"अयोध्या-प्रसादजी ! आप दुरुस्त फर्मा रहे है, वे लोग जब जानबूझकर मृत्युको निमन्त्रण देते है, तब हँसते हुए ही उसका स्वागत करते है । लेकिन मेरे कहनेका आशय यह है कि मौत जब बग़ैर बुलाये उनपर झपट्टा मारती है, तब उनके सारे होशोहवास गायब हो जाते है, और फिर वह उन्हें जिस तरह घसीटते हुए ले जाती है, वह स्थिति मुझे पसन्द नही ।"

"........?"

"शायद आपको मेरे उत्तरसे अभी सन्तोष नहीं हुआ, मालूम होता है, मै अपने मनोभाव ठीक तरहसे व्यक्त नही कर पा रहा हूँ । मेरे कहने-

का मशा सिर्फ इतना है कि मौतके दिन नजदीक आनेपर वहाँवाले घबरा उठते है और वे अच्छे-बुरे सभी प्रयत्न उससे बचनेके करते है और जब नही बच पाते है तो एडियाँ रगड़ते हुए और बिलखते हुए मरते है। मृत्यु-महोत्सव मनाना वे नही जानते, क्योकि वह यह कतई भूल जाते है कि मृत्युका दिन भी मुकर्रर है और इसका आना भी लाजिमी है। और जब यह आये तो सब ओरसे मोह-माया त्यागकर मृत्यु-महोत्सव मनाते हुए समाधिमरण पूर्वक उसका वरण करे। इसी महोत्सवके लिए मै इतनी दूरसे यहाँ आया हूँ। इस महोत्सवसे वे लोग परिचित नही है। वे मरनेका आनन्द किरकिरा कर देते। वे आधिभौतिकवादी है। पर-लोकका विश्वास और सम्यग्दर्शन उनके पास नही है और मै अपनी इन दोनो कीमती वस्तुओको किसी भी हालतमें गँवानेको तैयार नही।"

वैरिस्टर साहबसे उक्त वार्तालाप सम्भवतः फरवरी १९३७ मे हुआ था, जब कि वे अत्यन्त नाजुक स्थितिमें यूरोपसे दिल्ली आये थे और अनेक रिश्तेदारों और कुटुम्बियोके होते हुए भी कश्मीरी दर्वाजेपर एक किरायेके मकानमें ठहरे हुए थे। किरायेके मकानमें ठहरनेका भी एक कारण था।

श्री सम्मेदशिखरकी अपील प्रिवी कौसिलमे चली गई थी। उसकी पैरवीके लिए वैरिस्टर साहबका १९२६ में लन्दन जाना निश्चित हुआ, तो शेष जीवन धर्म-प्रसार और समाज-सेवामें व्यतीत करनेकी अभिलाषा-से कानूनी पेशेसे अथवा अन्य उपायोसे अर्थोपार्जन न करनेका उन्होने व्रत ले लिया। हरदोईके वे ख्यातिप्राप्त और सर्वोच्च कानून-विशेषज्ञ थे। उनका यह सकल्प मामूली संकल्प नही था।

क़ानूनी पेशेको लात मारकर, वैभवशाली जीवनका परित्याग करके, मोह-ममताके बन्धनोको काटकर, बाह्यमे कपडे पहने हुए, किन्तु अन्तरंगमें निर्लिप्त साधु होकर, मुमुक्षु वैरिस्टर साहब लन्दनके लिए जब बम्बई प्रस्थान करने लगे तो दिल्लीकी जैनसमाजने भी उनका स्वागत-समारोह करके कृतकृत्य होनेके अवसरको हाथसे नही जाने दिया। सभा-

में जब बैरिस्टर साहबके इस त्यागकी प्रशंसा की गई तो उन्होंने सहज स्वभाव अपनी लघुता प्रकट करते हुए कहा कि—"मैंने वकालत-पेशेका त्याग करके समाजपर कोई उपकार नही किया है। बल्कि मैंने अपनी आत्माका भला किया है। क्योकि मेरी आत्मा इसे हकीर और जलील पेशा समझती थी। वेश्यावृत्ति और वकालतमे विशेष अन्तर नही है।"

बात तो केवल अपनी लघुता प्रकट करनेको कही गई थी, लेकिन यह बात उनके ससुर बा० प्यारेलालको खटक गई। बा० प्यारेलाल दिल्लीके सबसे बड़े वकील, बार एसोसियेशनके प्रेसीडेण्ट और दिल्ली जैनसमाजके सरपंच थे।

उस वक़्त तो बा० प्यारेलाल कुछ न बोले, परन्तु बैरिस्टर साहब-के विलायत प्रस्थान करनेके बाद उस बातने बतंगड़का रूप ले लिया, और यहाँ तक बिषैला प्रचार किया गया कि "बैरिस्टरी छोड़नेका प्रचार तो धोका-फ़रेब है। वे तो तीर्थक्षेत्र कमेटीसे मार्गव्यय और मेहनताना लेकर लन्दन गये है।" और यह बतंगड़ इस ढंगसे प्रसारित किया गया कि उनको नजदीकसे जाननेवाले भी शंकित हो उठे। तीर्थक्षेत्र कमेटीके मंत्रीने इस अफ़वाहको निराधार बताया तो उनका वक्तव्य यह कहकर अप्रामाणिक बता दिया गया कि "यह भी तो परिषद्-हितैषी है। चोर-चोर मौसेरे भाई, इनकी बातका क्या विश्वास ?"

हमारे यहाँ कितनी निराधार बातें सत्यका रूप ले लेती है, यह हम आये दिन देखते है। खैर, यह तो एक बवण्डर था, जो उठा और बैरिस्टर साहबके तप-त्यागको धूमिल कर गया। लेकिन बवण्डर तो बवण्डर ही है, वह जितने वेगसे चढ़ता है, उतने ही वेगसे मिटता भी है। जब यह शान्त हुआ तो जैनधर्मका दिवाकर असोजके सूर्यकी तरह और प्रखर हो उठा।

इसी कड़ुवाहटने बैरिस्टर साहबके स्वाभिमानको इजाजत नही दी कि वे उनके यहाँ ठहरें। और अन्य कुटुम्बियों-मित्रोके यहाँ ठहरनेसे बा० प्यारेलालके हृदयको ठेस पहुँचती, इसे बैरिस्टर साहबका कोमल

हृदय कब सहन कर सकता था ? इसलिए किरायेके मकानमें ही रहना उन्होंने उचित समझा।

बचपनमें माँ और भूआसे उनका जिक्र अक्सर सुननेमें आया था। इधर सामाजिक कार्योमें भाग लेनेसे उनकी ख्याति फैल रही थी, पत्र-पत्रिकाओमे फोटो भी देखे थे। साक्षात् दर्शनका सौभाग्य भी १९२४ में प्राप्त हो गया। भूआके घर उन्हे देखा तो देखता ही रह गया। ऐसा रूप और शानदार व्यक्तित्व पहले कभी नही देखा था। यह वृद्धा-वस्था और यह रूप-रग ! मालूम होता था गुलाब और अगूरोके सम्मि-श्रणसे शरीरका निर्माण किया गया है। उन्नत ललाटपर धवल गाँधी टोपी ऐसी फब रही थी, मानो हिम-पर्वतपर करीनेसे वर्फ बिछा दी गई है। आँखें बड़ी-बड़ी और रसभरी, उनपर सुनहरी फ्रेमका चश्मा, नाक सुतवाँ, दाँत मोती जैसे, बोलते हुए ऐसे प्रतीत होते थे मानो चमेलीके फूल झड़ रहे है। बच्चो-जैसी सरल-गुलाबी मुसकराहट, किताबी चेहरा, चौड़ा चकला सीना, छरेरा शरीर। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था कि सप्तम एडवर्डने भारतीय पोशाक पहन ली है। वही खसखसी दाढ़ी, वही गोरा-चिट्टा शरीर, वही रंग, वही रूप।

भूआने पहले ही जिक्र कर रखा था, देखते ही मुस्करा उठे, और इस स्नेह और प्यारसे मुझे अपने पास बिठाया कि मालूम होता था मै अपने हकीकी पितामहकी गोदमें बैठा हुआ हूँ। आयुमें उनके पौत्रके समान और ज्ञानमें हाथीके समक्ष जैसे चीटी, फिर भी उन्होने वार्तालाप-में नाम लिया तो 'जी' अवश्य लगाया, या 'मित्र' सम्बोधन देते रहे।

फिर तो उनके सम्पर्कमें आनेके मुझे कई अवसर मिले। जैनधर्मका प्रसार करके पहली बार लौटे तो २१ फरवरी १९२७ की रात्रिको दिल्ली-जैन-समाजकी ओरसे जो स्वागत किया गया, उसमें मैने भी एक तुकबन्दी पढी, जिसके चन्द अशआर आज भी याद है—

जिनधर्मके हितैषी हैं, इसपर निसार हैं,
यह बहरे क़ौम रहमते परविर्दगार हैं;

*   *   *

सच्चे वतनपरस्त हैं, लीडर हैं क़ौमके,
मैदाने मारफ़तमें ये रहबर हैं क़ौमके
ये धर्मके सिंगार हैं, ज़ेवर हैं क़ौमके,
रूहे रवाँ हैं क़ौमके, गौहर हैं क़ौमके।

*   *   *

साथी हैं उनके, जिनको न था कलका आसरा।
मायूसकी मुराद तो निर्बलका आसरा ॥

*   *   *

यकताँ हैं, बेमिसाल हैं और लाजवाब हैं,
हुस्नेसिफ़ाते दहरमें ख़ुद इन्तख़ाब हैं;
पीरीमें भी नमूनये अहदे शबाब हैं;
गोया कि जैनक़ौमके एक आफ़ताब हैं।

*   *   *

जब मैंने यह तीसरा मिसरा—"पीरीमे भी नमूनये अहदे शबाब है" पढ़ा तो जनताने तो जो दाद देनी थी, वह दी ही, लेकिन इस मिसरेपर आप भी मुस्करा उठे और अकेलेमें मजाक करते हुए बोले—"भाई अयोध्याप्रसादजी ! तुम तो अच्छे-खासे शायर बन बैठे।" मै शर्माकर दूसरी तरफ़ देखने लगा।

सन् २८ में मेरा एक ३२ पृष्ठका ट्रैक्ट छपा तो बीमार होते हुए भी शिमलेसे लिखा—"अब तो आप पूरे मुसन्निफ (लेखक) ही हो गये, हमें आपकी तहरीरोंको पढ़कर ख़ुशी होती है।" १९३३ में मेरा "राजपूतानेका जैनवीर" छपा तो लन्दनसे भी प्रोत्साहन दिये बग़ैर न चूके "मुझे बड़ी ख़ुशी हासिल हुई कि आप अपने वक़्तको बेकार नही खोते है। इस पुस्तकके बाज-बाज हिस्सोंको मैंने बहुत पसन्द किया है।"

वे मुक्तकठसे नवीन लेखको और समाजसेवियोको प्रोत्साहन देते थे। भरी सभामे पीठ थपकते थे। पत्रो द्वारा प्रेरणा देते थे, और उनके आशीर्वादात्मक शब्दोसे वल भी मिलता था।

धर्मके प्रति जैसी अटूट श्रद्धा-भक्ति उनमे थी, वह शब्दो द्वारा व्यक्त नही की जा सकती। उनका रोम-रोम उसमे भीगा हुआ था। सोते-वैठते, चलते-फिरते वे विदेह मालूम होते थे। आतुर जनताके समक्ष जव वे प्रवचन करते थे, तो मालूम होता था, सावनके वादल रिम-झिम, रिम-झिम वरस रहे है। वे तो जीवन्मुक्त थे ही, मोह-मायामे फँसे हुए श्रोता भी आत्मविभोर हो जाते थे। धर्मके सूक्ष्म तत्त्वों और गूढ अभिप्रायोंको इतने सरल, स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक ढगसे प्रस्तुत करते थे कि जनताका रोम-रोम भीग उठता था।

पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षामे पले-पोसे होनेपर भी उन्होंने इस रगको इस तरह पोछ फेंका था कि आश्चर्य्य होता था। उन्होंने पाँचों अणव्रतोंका अत्यन्त तत्परतासे पालन किया। खान-पान उनका अत्यन्त शुद्ध स्वच्छ और सात्त्विक था। उनके खानपानकी शुद्धता-पवित्रताको देखकर स्वयं जैनोको भी आश्चर्य होता था। वैरिस्टर साहव जव विलायत थे, तव श्री जमनाप्रसादजी (वर्तमान सिशन जज) को १६ माह उनके सम्पर्कमे रहनेका अवसर प्राप्त हुआ। वे लिखते है—"विलायतमे पले-पुसे होनेपर भी, विलायतमे रहकर भी वे अण्डे-तकका परोक्ष रूपसे यानी विस्कुट-केक आदिसे भी वचाव रखते थे।" वे रहन-सहन और भोजन आदिमे स्वच्छता और शुद्धताका बहुत ध्यान रखते थे। मेरी आँखो-देखी वात है—एक वार उनको दवा जिस कागज़मे दी जा रही थी, वह जमीनपर गिर पड़ा तो फिर उस कागज़को उपयोगमे लानेसे मना कर दिया था। सत्याणुव्रतका वे इतनी दृढ़तासे पालन करते थे कि स्वय तो कभी झूठ वोलते ही न थे, मुकदमे भी झूठे नही लेते थे, चाहे उनमे कितना ही अर्थ-लाभ क्यो न होता हो। इस सचाईके लिए वे कमिश्नरी भरमे प्रसिद्ध थे; और उन्हे छोटे-वडे सव चचा जैन (Uncle Jain) स्नेहमय

सम्बोधनसे पुकारते थे। वे अपनी सत्य-वादिताके लिए अदालतमें इतने मशहूर थे कि फाँसीकी सजा पाये हुए व्यक्ति भी इनकी पैरवीसे छूट जाते थे। क्योंकि जज जानते थे कि वह झूठे मुकदमे नहीं लेते है। एक दिन मैंने विनोदमें पूछा–"बाबूजी! जहाँ आपने अनेक व्यक्ति फाँसीसे बचाये हैं, वहाँ दो-चार फाँसी चढ़वाये भी होंगे।" मुसकराकर जवाब दिया "जिससे किसीके प्राणोपर आ बने ऐसा मुकदमा मैंने आजतक एक भी नहीं लिया।"

वैरिस्टरी छोड़कर आये, परन्तु अपने मुशी और नौकरोंको नही छोड़ा। विलायतसे भी उनके लिए वेतन बराबर भेजते रहे, और जब भारत आते थे, तब उन्हें अपने साथ रखते थे। वे नौकरों तकसे बडी सौजन्यतासे पेश आते थे। वे वाणीका संयम इतना रखते थे कि नौकरो तकको असावधानीमें उनके मुँहसे कोई ऐसा वाक्य निकल जाता था, जो क्रोधका द्योतक हो या उनको नागवार खातिर हो तो वे प्रायश्चित्त स्वरूप उस रोज भोजन नही करते थे। ख्वाह वह नौकर स्वयं कितनी ही मिन्नतें करे।

अचौर्य्यव्रतका यह हाल था कि रेलमे सफ़र करते हुए क़ायदेसे सेर भर भी वजन अधिक होता था तो लगेज करा लेते थे। कभी चुगी तककी चोरी नहीं करते थे।

ब्रह्मचारी वे आजीवन रहे। उनका विवाह बाल्यावस्थामें ही दिल्लीके सर्वोच्च वकील और दिल्ली जैन-समाजके सरपच बा० प्यारेलालकी पुत्रीसे हुआ था। उन दिनों देखनेका रिवाज नही था। उनकी पत्नी केवल कुरूप होतीं, तब भी गनीमत होती, किन्तु वह तो पागल थी। वैरिस्टर साहबका एक रोज भी सम्पर्क नहीं रहा। जीवनभर वे पिताके यहाँ रहीं। दाम्पत्य सुख उन्होंने एक दिन भी नही देखा। उनको दूसरी शादीके लिए जब-जब मजबूर किया गया, तो यही कहकर सदैव बचते रहे कि "यदि

---

१ वीर चम्पतराय अंक पृ० ९४

भाग्यमे स्त्री-सुख होता तो इतने सभ्य सुसस्कृत घरानेकी लड़की क्यो पागल निकलती। जब उसने एक रोज भी पति-सुख नही जाना तो मै ही क्यो उसका उपभोग करूँ। दोनो ही ब्रह्मचर्य्य व्रत पालन करेगे।" जब वे किसी भी तरह शादी करनेको प्रस्तुत नही हुए तो उन्हे दत्तक पुत्र रखनेको वाध्य किया गया ताकि वंशका नाम चल सके। दत्तक पुत्र-का प्रसग छिडनेपर वे गम्भीर हो उठते थे और कहते थे—"नाम सन्तान-से नही, अपनी करनीसे होता है। मेरा धर्म मेरे पास है, इसके होते हुए अव मुझे किसी सासारिक वस्तुकी अभिलाषा नही रही है", और जब उन्हे विद्यावारिधि, जैनदर्शनदिवाकर-पदवियॉ दी गई तो घवराकर भविष्य-मे कोई उपाधि न लेनेकी प्रतिज्ञा कर ली।

परिग्रहपरिमाण व्रतका वह हाल था कि उन्हे धनसे कभी लिप्सा नही हुई। धर्मनिष्ठ और सत्यवादी रहकर भी जो धन उनके पास एकत्र हो गया, उसे भी कौडी-कौडी समाजको अर्पण कर गये। वे वैभवशाली कुलमें पले-पोसे, वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत किया। पैसेको हाथके मैलसे अधिक महत्त्व नही दिया। सरल और सादा जीवन व्यतीत करते थे। यूरोपमे जैनधर्मके प्रचारमे कई लाख रुपये व्यय किये और शेष जो २१४७८५ रु० वचा उसका इम्पीरियल वैंकको ट्रस्टी वना गये, जिसका ६००० रु० वार्षिक व्याज सत्साहित्यके प्रचारमे व्यय हो रहा है।

हरदोईमे स्वय अकेले रहते थे, लेकिन नौकरोकी भीड रहती थी। रसोइया, कहार, अर्दली, माली, दरवान सभी रहते थे। एक वार सम्मेद-शिखरकी यात्राको गये तो भूआ भी साथ थी। अपने नौकर तो थे ही, वहाँ भी २-३ नौकर रख लिये। भूआ वोली—"भाई, इतने नौकर तो साथ है, इनका और क्या होगा?"

"वहन! अगर इनको हम यात्री लोग काम न दे तो फिर इनका गुजारा कैसे होगा? ये लोग तो यात्रियोकी आशामे ही यहाँ पड़े रहते है।"

"भाई! जो देना है, इन्हे खुशीसे दो, मगर यो भीड़ लगानेसे क्या फायदा?"

"बहन ! जिन्हें हमने नौकर नही रखा है, उन्हे हम कब क्या देते हैं ? सच बताओ तुम उन्हें क्या दे जाओगी ? और भीखके तौरपर दोगी भी तो जो मँगते नही है, उसे लेगे भी क्यो ?"

भूआ चुप हो गईं। देरतक उनकी इस सहृदयता और अपनी अनुदारतापर सोचती रहीं; और जब तक उन्होने अपनी इस लघुताका मुझसे जिक्र नहीं कर लिया, मन हलका नही हुआ।

१९२२ मे जैन महासभा—लखनऊ अधिवेशनके सभापति निर्वाचित हुए। उनकी वक्तृता और सभा-सञ्चालनके ढंगने सभीको मुग्ध कर दिया। ऐसा योग्य व्यक्ति समाजमें सदियों उत्पन्न नही होगा, न जाने हमारी कितनी तपश्चर्य्याओंका फल है कि समाजको यह रत्न नसीब हुआ, सभीके मुँहपर यह बात थी। फिर भी कुछ दकियानूसी थर-थर काँप रहे थे। क्योकि बैरिस्टर साहब अंग्रेजी पढ़े-लिखे थे। और अनपढ लोगोको भय था कि न जाने कब बैरिस्टर साहब भगवान्को कोट-पतलून पहनवा दें, हालाँ कि बैरिस्टर साहब स्वयं इस पोशाकका त्याग कर चुके थे। उन्हें आशका होने लगी कि यदि इन्होंने शास्त्र छपवानेका आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया तो हमारा फैलाया हुआ पोपडम सब विलीन हो जायगा, और न जाने कब कोई ऐसी समझदारीकी बात कह दे, जो हमारे पोंगापन्थके खिलाफ़ जा पड़े। अतः उन्हे महासभाकी सीमासे दूर-दूर ही रखा गया, और उनके धर्म-प्रचार कार्योमें वे सदैव राहु बने रहे।

लेकिन बैरिस्टर साहब सचमुच जैनधर्म-दिवाकर थे। वे अहर्निश धर्मका प्रसार करते रहे! दलबन्दीके दलदलमें वे कभी नही फँसे। महासभाकी तीर्थक्षेत्र कमेटीके लिए वे नगे पॉव अदालतोंमें गये। देश-विदेश सर्वत्र घूम-घूमकर उन्होंने धर्मकी अलख जगाई! बडे-सेबड़े ईर्ष्यालुकी उन्होंने कभी निन्दा नही की। जैन धर्मका यह दिवाकर पूरी आब-ताबके साथ बढ़ता हुआ हमारे तिमिराच्छन्न हृदयोंको आलोकित करता गया और अस्त हो गया।

डालमियानगर, २४ मई १९५१

जीवन-झाँकी

श्री बनवारीलाल स्याद्वादी

देहलीके कूँचा परमानन्दमे ला० चैनसुखदासजीकी हवेलीमे माता पार्वतीदेवीके उदरसे श्री चम्पतरायजीका जन्म हुआ था। आपके वावाजीका नाम श्रीमान् ला० निहालचन्द्रजी तथा पिताजी-का नाम ला० चन्द्रामलजी था। ला० चन्द्रामलजी अपने पिताजीके समान नित्य देवदर्शन, जिनपूजा, स्वाध्याय आदि धार्मिक क्रियाओमें रत रहते हुए सर्राफेका कार्य करते थे। आपकी धर्मपत्नी श्री पार्वतीदेवीजी धर्म-परायणा महिला थी। अभक्ष्यभक्षण और रात्रिभोजनकी तो वात क्या रातको जल तक पीनेका त्याग था। आप जिस नियम या प्रतिज्ञाको लेती, उसे कभी भी नही त्यागती थी। आपने एक वार प्रतिज्ञा की थी कि महा-वीरजी (चाँदनपुर) गये विना दही न खाऊँगी। सयोगवश आप अधिक वीमार हो गई। वैद्यजीने एक दवाई दहीके साथ देनेके लिए कहा। आपने तुरन्त ही उत्तर दिया—"वैद्यजी, मै दही न खाऊँगी। मेरी प्रतिज्ञा है।"

वैद्यजी—"वीमारीमे प्रतिज्ञा या नियमको हठवश पकडे रहना उचित नही। आप इस औषधिका सेवन करे और आराम हो जाने दीजिए। फिर अपनी प्रतिज्ञा या नियमका पालन स्वेच्छापूर्वक करें।"

पार्वती—"मुझे रोगमुक्तिसे अपनी धार्मिक प्रतिज्ञाका पालन अधिक आवश्यक मालूम होता है क्योकि 'रोगमुक्तिके वाद धर्मपालन होगा' यह तो निश्चित नही, किन्तु यह निश्चित है कि प्रतिज्ञा भंग करनेसे मेरा धर्म तो समाप्त हुआ।"

वैद्यजी इस उत्तरको सुनकर अवाक् रह गये। उन्हे धर्मप्रधाना

और प्रतिज्ञासूरि पार्वतीसे पराजय माननी पड़ी और दूसरी दवाई दी गई।

जननी पार्वतीके क्रमशः ३ पुत्र हुए थे, किन्तु वे दो-दो और तीन-तीन वर्षकी अल्पायुमें मर चुके थे। रिक्तगोद तथा पुत्र-वियोगकी अकथ पीड़ासे उनका हृदय भरा हुआ था। ला० चन्द्रामलजी भी इससे वडे चिन्तित और उद्विग्न रहते थे। इसके बाद चौथी सन्तान धरतीपर आई तो वह भी पुत्री। इन असाधारण प्रतिकूलताओमें भी पार्वती अपने धर्मपालनमे सदैव सावधान और दत्तचित्त रही। एक दिन स्वप्नमें पार्वतीसे किसीने कहा :–

"चिन्ता न करो, अवकी वार तुम्हारी अभिलापा पूरी होगी, किन्तु जव तुम्हे प्रसव-वेदना प्रतीत हो तो तुम पाखानेमें चली जाना।"

ऐसा ही किया गया और वालक चम्पतरायजीका जन्म पाखानेमें हुआ।

बाल्यकाल

ला० चन्द्रामलजीके भाई मिट्ठनलालजी तथा गुलाबसिंहजीके भी कोई पुत्र न था, अतः शिशु चम्पतराय ही सबके स्नेह-दुलार और आकाक्षाके केन्द्र वन गये, इधर नामकर्मकी विशेषताके कारण सुन्दर शरीर, ऊँचा माथा और आकर्षक मुखाकृति मिली थी, अतः माता-पिता, वहिन आदि कुटुम्बियोके लिए वे बड़े प्रिय थे। सवकी स्नेहमयी दृष्टि इन्हीपर पडती थी। लालन-पालन सावधानी तथा प्रयत्नशील ढंगके होनेपर भी, वालक चम्पतराय दो वर्षकी अवस्था तक अनेक वीमारियोके शिकार रहे। रूढिवश ५ वर्षकी अवस्था तक उनके सिरके बाल नही उतारे गये। वालक चम्पतरायको बाल्यकालसे ही देवदर्शनकी आदत थी। वह माताके साथ-साथ जिनमन्दिरजी जाते और णमोकार मंत्र, बिनती आदि पढते। वाल्यावस्था ही में धर्मशीला माताको जाप करते हुए देखते, तो आप भी वैसे ही वैठकरकी आँखोकी पलक वन्द कर अँगुलियोंको चलाते। धार्मिक माता-पिताके आचरणका प्रभाव वाल्यकालमे बालक चम्पतरायपर अच्छा पड़ा।

शिक्षारम्भ

इनका विद्यारम्भ इनके पिताजीने अपनी दुकानके पास ही 'काला-महल' नामक प्राइवेट स्कूलमें कराया था। चम्पतराय़जी जन्मसे ही तीक्ष्णबुद्धि थे, जो पाठ याद करनेको मिलता, तुरन्त वही याद कर लेते थे। इनके शिक्षक इनसे प्रसन्न रहते थे। एक बार शिक्षकने कुछ छात्रो-से पिछला पाठ सुना, क़रीब ८ या १० छात्रोसे पाठ नही बताया गया था। उनमे बालक चम्पतरायजी भी थे। शिक्षकको इससे बडा असन्तोष हुआ। उनके असन्तोषने क्रोधका स्वरूप धारण कर साँटियोसे पीटना प्रारम्भ कर दिया। बालक चम्पतराय ४ या ५ दिनसे स्कूल न आये थे और उस पाठको भी नही पढा था। शिक्षकका क्रोध उग्र रूपमे था ही, वह बालक चम्पतरायके पास भी पहुँचे। तेवरी चढ़ाकर साँट उछालते हुए बोले—

"बाबू साहब, अब तुम भी इन्ही जैसे हो गये ?" यह वाक्य समाप्त भी न हो पाया कि बालक चम्पतराय एकदम स्कूलसे भागे और पिताजी-के पास दुकानपर पहुँचकर साँस ली। यदि कोई साधारण छात्र होता, तो शिक्षक साहब भी बेपरवाह हो जाते, पर मामला था स्कूलके व्युत्पन्न-मति बालक चम्पतरायका। शिक्षक महोदय दुकानपर पहुँचे। लाला चन्द्रामलजीसे बोले—

"लालाजी, आज चम्पतराय स्कूलसे चम्पत होकर यहाँ आया है !"

पिताजीने पूछा—"चम्पत, क्या बात है ?"

बालक—"लालाजी, मास्टरजीने आज नया पाठ पढाया था, उसे मैं नही पढूँगा।"

पिता—"बेटा, स्कूल तो पढाईके लिए ही है। जो मास्टरजी पढावे उसे ज़रूर सीखो। (मास्टरजीसे) क्या क्लासमे कमजोर है ?"

मास्टर—"चम्पतराय, अपने क्लासमे तो मॉनीटर है।"

बालक—"लालाजी, आज मास्टरजीने किताबका पाठ न पढाकर बहुतसे लड़कोको हाथोसे मारका पाठ पढाया। मुझे भी पढाना चाहते

थे, मैं उसे नहीं पढ़ूँगा।"

पिताजीने स्कूलकी सारी घटना शिक्षकसे जान ली। और वालक चम्पतरायसे कहा, "बेटा स्कूल जाओ।"

बालक चम्पतरायने नम्रभावसे कहा, "मैं मारका पाठ न पढ़ूँगा!"

वालकके इस नम्र भावका शिक्षक महोदयके चित्तपर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि, उसने बच्चोके मारनेकी आदत सदाके लिए छोड दी।

माताका स्वर्गवास हो जानेसे जननीके दुर्लभ दुलार तथा लालन-पालनका सौभाग्य केवल ६ वर्षकी आयु तक आपको मिला।

गोद जाना

ला० चन्द्रामलजीके वंशज सोहनलाल बाँकेलाल भी थे। ये दोनो सहोदर भ्राता देहलीके विख्यात जैन धनिकोंमेसे थे, किन्तु कोई संतान न होनेसे वहुत चिंतित रहते थे। वालक चम्पतरायपर उनका ममतामय सन्तान-स्नेह जन्मसे था। ला० सोहनलाल बाँकेलालजीको पुत्रचाहसे व्यथित देखकर ला० चन्द्रामलजीने कहा, "भाई, जैसा चम्पत मेरा, वैसा ही तुम्हारा है, तुम्ही अपने यहाँ रक्खो। तुम्हारे सुखसे मै सुखी हूँगा।"

अतः क़रीब ७ वर्षकी आयुमे वालक चम्पतरायजी गोद चले गये। इस धन-गद्दीपर आते ही चम्पतरायजीके रहन-सहन वेष-भूषा आदिमे महान् परिवर्तन हो गया। अव उनकी शिक्षा अंग्रेज़ी स्कूलमे होने लगी थी, वुद्धिकी प्रखरताके कारण अंग्रेजी स्कूलमे वावू चम्पतरायजी खूव चमके।

विवाह-सम्बन्ध

धनकी प्रचुरता, वुद्धिकी तीक्ष्णता, शरीरकी सुन्दरता और वेश-भूषाकी आकर्षकता वालकोंको किसी अंशमें अधिक अभिशाप रूप होती है। इसका कारण यह है कि अनेकोंकी आँखें अपनी-अपनी पुत्रियोके विवाह-सम्वन्धके लिए बाल्यकालसे ही अपना लक्ष्य वना लेती है। वालक चम्पत-रायजी भी इसके अपवाद न रह सके। उनका विवाह-सम्वन्ध १३ वर्ष-

की आयुमे देहलीके प्रसिद्ध रईस स्व० ला० प्यारेलालजी (M. L. A. Central) की सुपुत्रीके साथ हुआ था। ला० प्यारेलालजी देहली समाजके केवल सरपंच व नेता ही नही थे, वल्कि देहली वार एसोसिएशनके प्रमुख, हिन्दू कॉलेजके सभापति, देहली यूनीवर्सिटीके सम्मानित सदस्य तथा विख्यात राष्ट्रिय नेताओमेसे थे।

विदेशमें शिक्षा

वा० चम्पतरायजीने मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा फर्स्ट डिवीजनमे पास की थी। वादको आपने देहलीके प्रसिद्ध सेंट स्टीफन कॉलेजमे एफ० ए० का अध्ययन किया। आप कुशाग्रवुद्धि तो थे ही, सन् १८९२ ई० मे शिक्षा प्राप्त करनेको इँगलैड गये। वहाँसे सन् १८९७ ई० में वैरिस्टर होकर आये।

विचित्र परिवर्तन

विलायतके विद्याध्ययन और वहाँके उन्मुक्त वातावरणने इनमे अजीव परिवर्तन ला दिया। शिक्षा और सहवासने वेश-भूषाके साथ ही विचारोंमे भी आमूल परिवर्तन कर दिया। वाल्यकालकी धार्मिक शिक्षाकी विदाई भी विलायतमे हो गई थी। खान-पान और आचार-विचार सभी पाश्चात्य ढाँचेमे ढल गये। उनकी जीवन-धाराका वहाव विपरीत रूपसे वहने लगा। इस जगत्के सिवाय परलोक आदिका विश्वास भी अब उनके मनमे नही रहा।

वैरिस्टरीका व्यवसाय

वा० चम्पतरायजीमें इस असाधारण परिवर्तन होनेके कारण उनके कुटुम्वी व देहलीकी जैन-समाजने उन्हें नास्तिक समझकर उनसे वातचीत करना तक छोड़ दिया। वैरिस्टर साहव भी इन्हें रूढ़िवादी, विवेकहीन और लकीरके फकीर समझकर इनकी उपेक्षा करने लगे। पहिले हम उन्हें वैरिस्टरीके व्यवसायमें देहली, मुरादावाद, अमृतसर आदि स्थानोमें और अन्तमें स्थायी रूपसे हरदोईमें देखते है। जव वे हरदोई

पहुँचते है, अपने प्रतिभा, श्रम और बर्तावके कारण साधारण और अपरिचित वैरिस्टरसे हरदोईके प्रमुख वैरिस्टर और फिर वहाँ बराबर बार एसोशिएशनके सभापति और अन्तमे अवध चीफ कोर्टमें फ़ौजदारीके प्रमुख वैरिस्टर बनते है। वे प्रान्त भरकी जनतामे यह धारणा वैठा देते है, "फॉसीकी सजासे अगर किसी अपराधीको बचाना है तो जैन वैरिस्टर का सहारा लीजिए।" इस प्रसिद्धिका कारण यह था कि बैरिस्टर साहवने जितने भी केस अपने हाथमे लिये, उन केसोंके मुलजिमोको फॉसीके तख्तेपर चढ़ने नही दिया। आपकी इस सफलता के करण उनका क़ानूनी ज्ञान, भारी श्रम और "जिस कार्यको करना उसे सफल बनाना" ये स्वर्ण सिद्धान्त थे। बैरिस्टर साहव अपने इस व्यवसायका अनुभव बताते थे, "अधिक केस लेनेकी अपेक्षा कम केस लेना और पूरे श्रमसे तैयार करना, अधिक फ़ीस दिलाता है" वे अपने जूनियर वकीलोंके साथ कृपापूर्ण सद्व्यवहार करते थे और उन्हें अनेक प्रकारसे उपकृत करते थे। वहाँके वकील उन्हे प्रेम और श्रद्धाके कारण अंकिल जैन (Uncle Jain) के नामसे पुकारते थे। उस समय हरदोईके डिस्ट्रिक्ट जज मि० वधावर आई० सी० एस० के द्वारा एक जूनियर वकीलका कोर्टमें अपमान करनेपर वैरिस्टर साहबने अपनी अध्यक्षतामें स्थानीय प्रमुख वकीलों और वैरिस्टरोंके साथ करीब ११ माहतक उस कोर्टका बहिष्कार कर रक्खा था। अन्तमें सफलता प्राप्त करना यह वैरिस्टर साहवका ही कार्य था।

विरक्तिका बीज

धन, जन-सम्पर्क, पद और प्रतिष्ठाके अनुरूप रहन-सहन, रीति-व्यवहार आदि भी बढ़ते गये। उनका जीवन-जहाज़ लोक-यात्रा करता हुआ जा रहा था। 'टीटोनिक जहाज'के समान किसीको स्वप्नमें भी विचार नहीं आता था कि वैरिस्टर साहवके जीवन-यानपर भी कोई आकस्मिक विशेष घटना होगी। पर कभी-कभी छोटी-से-छोटी घटना महापुरुषोंके जीवनके प्रवल वेगको एकदम रोककर ऐसी दिशामें वहा देती है, जिसकी कोई कल्पना भी नही कर सकता। यही वात यहाँ हुई।

वैरिस्टर साहवका ममतामय गाढा स्नेह ला० रंगीलालजी (उनके ससुर ला० प्यारेलालजीके लघु भ्राता) के साथ था। ला० रंगीलालजीकी आकस्मिक मृत्यु हो गई। इससे वैरिस्टर साहवके हृदयपर भारी प्रतिक्रिया हुई। उनका मन इन्द्रियोके सुख व गार्हस्थ्यसे हटकर अशान्तिकी ओर गया। पश्चिमी शिक्षा और साहित्य उनके मनकी अशान्ति दूर न कर सके। आपने स्व० रामतीर्थ-रचित कुछ वेदान्त ग्रथ अग्रेजीमें पढ़े। इससे आपका मन प्रभावित हुआ। आपमें अन्य मतोंकी जिज्ञासा जगी। आपके तर्कको पूरा निश्चय था कि सत्य धर्म एकरूप ही है। अनेक मतोंके अध्ययन, अनुशीलन और सन्तुलनमें आपने जीवनका वहु उपयोग लगाया और ग्रंथोकी रचना प्रारम्भ कर दी। पर तर्कसे कुछ ऐसी शकाएँ उठती थी, कि उनका समाधान सन्तोपके साथ न हो पाता था। सन् १९१३ में सौभाग्यवश वा० देवेन्द्रकुमारजी आराका सम्पर्क उन्हें प्राप्त हुआ। वावू देवेन्द्रकुमारजी वड़े उत्साही व लगनशील कार्यकर्त्ता थे। उन्होंने अन्य धर्मोके समान जैनधर्मकी कुछ पुस्तके पढ़नेके लिए उन्हें प्रेरित किया। आपने जैन-सिद्धान्तका अध्ययन किया। उस अध्ययन से सत्यके स्वर्ण-प्रकाशकी झाँकी-सी आपको मालूम पड़ी, जैन सिद्धान्तके अध्ययनको आपने अधिक विस्तृत तथा गतिशील किया। जो-जो अन्य मतोंमें शंकाएँ आपको मिली थीं, उनका सत्य समाधान उन्हें इसमें मिलने लगा ? तव आपने कहा, "सत्यका खजाना अपने यहाँ ही है, पर मै उसे पानेके लिए इधर-उधर व्यर्थ चक्कर लगाता रहा।" नास्तिक वने हुए वैरिस्टर सर्वज्ञकथित सत्यधर्मपर दृढ़ श्रद्धा करने लगे। यह सत्यधर्म वड़े खोज और श्रमसे उन्हें मिला था। अतः यह उनके जीवनकी सवसे प्यारी वस्तु वनी। इसके रंगमें वे ऐसे रँगे कि और सव वातें उन्हें फीकी और नीरस लगने लगी। वैरिस्टरीके व्यवसायसे उनका मन विमुख हो गया।

वैरिस्टर साहव अपने भाव, भापा और वचन, वल्कि यो कहिए, धन, तन और जीवनका सर्वस्व इसी सत्यके प्रचारमें लगा देनेके लिए निकलते है। हरदोईके उनके सहयोगी लिखते हैं कि वे यहाँपर अंग्रेजी वेपभूपा,

विचार और पद्धतिमें सजे हुए वैरिस्टर-से आते है, पर यहाँसे ज्ञान, भाव आचरण और शुद्धतासे सम्पन्न होकर भारतीय-सन्त-वेषमें जाते है। वे इस सत्यके प्रकाशको विश्वके विद्वानों तक पहुँचानेके लिए ज्ञानके साहित्यकी रचना करते हैं, देश-विदेशोमें व्याख्यान देते है, और एकमात्र सत्यके प्रचारको अपने जीवनकी साधना बनाते है। फल यह होता है कि पृथ्वी-मंडलपर कोने-कोनेमें लाखों महानुभाव उनके साहित्यको पढ़ते है और मनन करते हैं तथा करोड़ों व्यक्ति आगे करेंगे।

समाज-सेवा

समाज-सेवामें प्रथम बार वैरिस्टर साहवको सन् १९२२ में जैन महासभाके लखनऊ-अधिवेशनका सभापति देखते है। वे अपने उत्तर-दायित्वको बड़ी सतर्कता और सावधानीसे निभाते है। इसके कोषके द्रव्यको बड़ी वुद्धिमानी और दक्षतासे निकलवाते है। वे इसके टूटे हुए तारोको ठीक करनेमें पूरा प्रयत्न और श्रम करते है। महासभाके मुख-पत्रको सुधारने और इसके अनुरूप वनानेके लिए वे अपनी सेवाएँ समर्पित करते है। पर पुराने विचारोके कुछ महानुभावोको यह उचित नही मालूम होता, वे इसका विरोध करते हैं। इसपर समाजमें जीवन-संचार करने तथा सुधारोके फैलानेके लिए परिषद्का जन्म होता है। परिषद्को प्रगतिपूर्ण और समाजोपयोगी संस्था बनानेमें बैरिस्टर साहवने स्तुत्य सेवाएँ की है। परिषद्की ममता उनके जीवनकी अन्तिम साँसतकमें रही है।

श्री सम्मेदशिखर आदि तीर्थोकी रक्षा, जैनं लॉका निर्माण, दिगम्वर मुनियोके विहारपर प्रतिवन्ध हटानेके प्रयत्न, जैन-रथोके निकलवाने, कुड़चीके अत्याचारोके विरुद्ध विलायतमें भारतमंत्री और पार्ल्यामेंट तक आवाज़ पहुँचाने, जैन पुरातत्त्वोकी खोज करने, तुलनात्मक अपूर्व साहित्यके सृजन, देश-विदेशोंमें व्याख्यानोंके देने, विलायतमें जैन लाइब्रेरीकी स्थापना कराने, विद्वानों और विद्यार्थियोंके साथ विचार-विनिमय करने, समाज-सेवियोको तैयार करने, जैन-समाजमें जीवन और संगठन लाने, जैनधर्म और संस्कृतिके प्रसारमें तन, मन, धन और अपना सर्वस्व त्याग

करने, आदि परमार्थ साधनाओंमें ही श्रद्धेय वैरिस्टर साहबके जीवनकी अमूल्य घड़ियाँ गुज़री हैं।

—वीर, चम्पतराय अंक

वे और उनका मिशन

श्री कामताप्रसाद जैन

श्रद्धाञ्जलि !

वे पूज्यपाद अमर विभूति थे ! उनका रोम-रोम जैनधर्मके रहस्य, विश्वप्रेमसे अनुप्राणित था ! वे अहर्निशि धर्मोद्योत करनेके लिए जागरूक थे—अपना तन, मन और धन धर्मपर न्योछावर किये बैठे थे। वे धर्म-प्रभावनाके लिए—संतप्त संसारको प्रभु वीरका सुख शान्ति सन्देश सुनानेके लिए—उसे आकुल-व्याकुल न देख व्याधि-मुक्त हुआ देखनेके लिए 'अपने' से भी बेसुध थे। धर्मतत्त्वकी अमृत-घूंट पीकर वे ऐसे तन्मय हुए थे कि स्व-परकी द्वैतभावना उनमें कहीं दिखती न थी। लोकके वे थे, लोक उनका था ! धर्मध्यानका पुनीत फल उन्होंने आँखोंसे देखा था। वे लोक-कल्याण-भावनामें निरत कैसे न होते ? उस वृद्धावस्थामें भी युवाओंकी स्फूर्तिको लिये हुए वे एक बार नही अनेक बार सात समुद्र पार धर्मका झण्डा ऊँचा फहरानेके लिए गये—वे युगवीर और धर्मवीर थे ! जैनसंघके गौरव और जैनभालके तिलक थे वे ! संघकी प्रतिष्ठामें वे अपनी प्रतिष्ठा समझते थे ! धर्मपर कोई आक्षेप करता तो उनकी आत्मा तड़पकर कह उठती, "भूलते हो भाई ! धर्म त्राणदाता है। उसे समझो और मनमें बिठाओ।" पाशविक बलके झूठे दम्भ और मोहसे मृत्युलोकका वक्षःस्थल प्रकम्पित हो रहा है—मानव हैं पर दानव बने हुए; शासक है पर अज्ञानी बने हुए; विद्वान् हैं पर निस्स्वार्थी नही। कषाय-दावानल भड़क रहा है। मनीषी बैरिस्टर सा० का विवेक यह सब कुछ कैसे देखता ? उन्होंने अर्थसंचयको ठुकराया—त्यागको अपनाया। शासक और शासितको अहिंसाका पाठ

पढानेके लिए वह निकल पड़े ! एकाकी—निःस्पृही—निराकाक्षी ! महान् थे वे ! उनकी वाणीमें पीयूष था—उनका ज्ञान परीक्षित और परिष्कृत था—उनके नेत्रोमें प्रकाश था—उनके हृदयमें अमित करुणा-का वास था। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। जो भी उनके दर्शन करता, नतमस्तक हो जाता। भला वताइये क्यो न हम उन्हें महापुरुष कहें ? आज पूज्य वैरिस्टर चम्पतरायजी हमारे मध्य नही हैं ! उनके शरीराकार दर्शन दुर्लभ हैं, परन्तु उनकी सजीव प्रतिमा आज भी हमारे सम्मुख है। समाजका वच्चा-वच्चा उनके नाम और कामसे प्रभावित है। आइये, उनके चरण-चिह्नोपर चलनेकी सद्भावना जागृत करके अपने सच्चे हृदयकी श्रद्धाञ्जलि उनकी पवित्र स्मृतिको अर्पण कीजिये।

धर्ममूर्ति विद्यावारिधि !

पूज्य वैरिस्टर सा० से साक्षात् होनेके पहिले मैं उन्हे एक अधिकारी लेखकके रूपमें जान चुका था। यो तो मैंने उन्हें दूरसे कानपुरकी जैन-साहित्य-प्रदर्शनीका उद्घाटन करते हुए वहुत पहले देखा था। पर उनके निकट वैठकर वात करनेका सौभाग्य मुझे लखनऊमें महासभाके अधि-वेशनके समय मिला। दोनो अपरिचित—एक दूसरेकी सूरतसे नावाकिफ ! किन्तु जिस प्रेम और वात्सल्य भावसे उन्होने मुझको अपने पास आराम-कुर्सीपर वैठाया, उससे मैं यह न समझ सका कि वह मुझे नही पहचानते। किन्तु दूसरे क्षण मैं अवाक् रहा, जव उन्होने मेरा भी परिचय पूछा—अनुकम्पा—वात्सल्य-प्रेमसे वह ओतप्रोत थे ! वोले, 'क्यो जी ! तुम चुपचाप कैसे वैठ गये ?' मैं क्या कहता ? उनका प्रेम असीम था। उन्होने हर किसीसे धर्मतत्त्वपर चर्चा की और वड़ी विनयसे स्वरचित पुस्तक आगन्तुकोको भेंट की। यह सरलता देखकर मैं अवाक् था ! धर्म-तत्त्वको प्रत्येक जैन वैज्ञानिक रूपमें समझे यही उनकी हार्दिक कामना थी।

एक ज्योतिषीने उनको वताया कि ३२ वर्षकी उम्रमे उनका अकाल-मरण होगा ; उनकी वुद्धिने तर्क किया। "क्या मृत्युको जीतनेका उपाय नही है ?" इस तर्कने उन्हें धर्मका जिज्ञासु वनाया। वे ईश्वरके कर्तृत्व-

वादके खिलाफ़ प्रारम्भसे ही थे। उन्होने संसारमे प्रचलित सभी धर्मोका अध्ययन किया। अद्वैत वेदान्तमें वह कुछ रस लेने लगे, परन्तु उनकी मनस्तुष्टि नही हुई। सन् १९१३ मे स्व० कुँवर देवेन्द्रप्रसादजीके सम्पर्कमें वह आये और यहीसे उनका जैनधर्म-विषयक अध्ययन प्रारम्भ हुआ। वह धर्मके ज्ञाता हुए। धर्मविज्ञानके दर्शन उन्होंने जैन-सिद्धान्तोमें किये। धर्मतत्त्व दो रूप नही हो सकता—इसलिए उन्होंने तुलनात्मक रीतिसे अध्ययन करनेकी शैलीको प्रोत्साहन दिया। उन्होने धर्मतत्त्वपर इस शैलीके अनूठे ग्रंथ रचे है। वह मानते थे कि जैनधर्मके शास्त्रोमें धर्मतत्त्व का वैज्ञानिक निरूपण हुआ मिलता है, क्योंकि वह सर्वज्ञकथित मत है। अन्य धर्मोमें अलंकृत भाषा (Pictographic language) का प्रयोग हुआ है—उन धर्मग्रन्थोंको शब्दार्थमें नही पढना चाहिए। उनमें जिन अलंकारोंका उल्लेख है उनका परिचय बैरिस्टर सा० ने अपने साहित्यमें कराया है। खूबी यह है कि उस मतके धर्मग्रंथसे ही उद्धरण उपस्थित करके उन्होने यह स्पष्ट कर दिया है कि वह कुछ अपनी तरफसे नही मिला रहे है। धर्मज्ञानके वह 'विद्यावारिधि' हुए—काशीके धर्ममहामंडलने उनकी विद्वत्तासे प्रभावित होकर उन्हें इस उपाधिसे अलंकृत किया। इस धर्मज्ञानने बैरिस्टर सा० को विलासिता और वासनाका पुजारी नही रक्खा। उनकी अपूर्व कायापलट हुई। उन्होंने राजसी ठाठसे रहना छोड़ दिया। परिमित वस्त्रोंको रखते हुए एकान्तमें उच्च विचार और गहन अध्ययनमें उन्हे रस आने लगा। एक-एक दिनमें जहाँ वे बीसों सिगार (Cigars) पी जाते थे, वहाँ उसका धूआँ भी उन्हें अप्रिय हो गया। इस परिवर्तन का कारण उन्हीके शब्दोंमें यह है, "क्षेत्रका प्रभाव अमिट है—तीर्थङ्करों की पद-रजसे यहाँकी एक-एक कंकरी पवित्र और पूज्य है। मुझपर तो इस क्षेत्रका ऐसा प्रभाव पड़ा कि पहले ही पहल इसके दर्शन करते ही मैंने सिगार पीना छोड़ दिया, जिसका मै वड़ा आदी था।" निस्सन्देह वे धर्ममूर्त्ति थे! उस तीर्थस्थानपर उस सप्रभ-मुखको सामायिक करते हुए देखकर सुख और शान्तिका अनुभव होता था! अगाध! नि:स्तब्ध

विद्यावारिधि ! !

श्रद्धालु 'जैन दर्शन दिवाकर'—

उन्होने जिस सत्यको स्वयं समझा था और जिसपर वह श्रद्धा लाये थे, उसको लोकव्यापी वनाना वह अपना कर्तव्य मानते थे—वह जलद ही क्या, जो चातककी प्यास न वुझाये। वैरिस्टर सा० ने अपनी थैलीका मुंह धर्मपुस्तकोको आधुनिक वैज्ञानिक शैलीपर रचकर छपाने और दूर-दूर देशोमें वितरित करनेके लिए खोल दिया था और अन्ततः वे इसी ज्ञानप्रसारके लिए अपने शेप धनको ट्रस्टियोके सुपुर्द कर गये। भाई पन्नालालजी अग्रवाल दिल्लीके द्वारा वे अपने नये-नये ग्रन्थोका वितरण भूमण्डलके सभी विद्वानों-धीमानो और विश्वविद्यालयादिके पुस्तकालयों में कराया करते थे। अग्रवालजीके पास ऐसे अनेक पत्र सुरक्षित है, जिनमें उन ग्रन्थोकी प्राप्ति (Acknowledgment) स्वरूप हर्ष एवं धन्यवाद व्यक्त किया गया है। यूरोपमें उनके ग्रन्थ वड़े आदरसे पढे जाते है। लड़ाईके पहले इँगलैण्ड-फ्रान्स और जर्मनीके वुकसेलर उनके ग्रन्थ भारतसे मँगाते थे। प्रेस ही नही, प्लेटफार्मके द्वारा भी उन्होने धर्मतत्त्वका प्रसार विश्वमें किया था। भारतकी अपेक्षा यूरुपमें वे अधिक विचरे थे। उनके ज्ञानप्रसारकी अथक लगनको देखकर जैनियोका हृदय गद्गद हो गया—जैनियोने 'भा० दि० जैन परिषद्' के खुले अधिवेशनमें उन्हें 'जैनदर्शन-दिवाकर' की पदवीसे विभूषित किया !

इस युगमे उन-सा ज्ञानी श्रद्धालु गृहस्थ मिलना दुर्लभ है। तीर्थङ्कर भगवान्के महान् व्यक्तित्वमे उनकी श्रद्धा अटल थी। जव पं० दरवारीलालजी सत्यभक्तने "जैन जगत्" द्वारा २४ तीर्थंकरोंके अस्तित्वमे ही शङ्का की तो उस समय भी वैरिस्टर सा० अपनी श्रद्धामे सुदृढ़ रहे और उनके प्रहारोका उन्होंने उत्तर भी दिया। वही क्या ? जो भी जैनधर्मके विरुद्ध लिखता और अनाप-शनाप लिखता, वैरिस्टर सा० उसका निराकरण करनेके लिए चूकते नही थे ! ऐसे विरोधी मित्रोका उत्तर भी वे मध्यस्थ भावसे प्रेरित हुए प्रेमपूरित शब्दोमे ही देते थे—उद्वेग नही, तर्क

ही उनका बल और सत्य ही उनके उत्तरका आधार होता था। जब मैंने उन्हे तीर्थंकरकी दिव्य वाणीके विषयमे "जैन जगत्" के कटाक्षोकी बात लिखी तो उन्होंने जिस सरलता और दृढ़तासे उत्तर दिया वह पढ़ते ही बनता है। उन्होंने लिखा—

"इसमें अचम्भेकी कोई बात नही, यदि तीर्थंकरकी वाणी स्वत एक आश्चर्य हो। याद रखिए, पूरे अर्द्धकल्प कालमे केवल चौबीस ही ऐसे महाभाग पुरुष जन्मते है जो तीर्थंकर पदवी पाते है। देवता उनकी पूजा करने आते हैं। घातीयकर्मोके नाशसे वे सर्वज्ञ और इच्छारहित होते हैं। उनके आन्तरिक बनाव (Inner constitution) मे बहुत बड़े परिवर्तन हो जाते हैं। उनका रक्त भी तो लाल नही सफेद होता है। उनको बोलनेकी इच्छा नही होती—सूक्ष्मबुद्धि (Lower mind) उनके नहीं रहती—इंद्रियजनित परिज्ञानका होना बन्द हो जाता है। बुद्धिका अभाव हृदयकमलके नाशका भी द्योतक है; जो कि बोलनेकी इच्छाका आधार है। जब यह सब कुछ ऐसे होता है, तब आप यह कैसे कह सकते हैं कि तीर्थंकर एक साधारण मानवकी तरह बोलते है? वह कैसे बोलते हैं? इसका चित्रण सुगम नही है। यह निश्चित है कि वे बोलते हैं और इच्छारहित बोलते है। उन्हे तालु-जिह्वादिका प्रयोग भी आवश्यक नही है। ऐसे प्रश्नोंपर हमें शान्तिसे विचार करना चाहिए—जल्दी कोई मत स्थिर नही करना चाहिए।"

यह उद्‌गार उनके सम्यग्दर्शनकी निर्मलताको प्रकट करते है—वे धर्मके दृढ़ श्रद्धालु थे!

चरित्र-मूर्ति-श्रावक—

बैरिस्टर सा० केवल धर्मतत्त्वके दार्शनिक विद्वान् या उसके श्रद्धालु भक्त मात्र ही न थे। उन्होंने 'रत्नत्रय-धर्म' को अपने जीवनमें यथासम्भव मूर्तिमान बनानेका उद्योग किया था। वे महान् थे। इसलिए नही कि उनको महान् बननेकी आकांक्षा थी। महत्त्वाकांक्षा कभी भी मनुष्यको महान् नही बनाती, त्यागवृत्ति और सेवाधर्म ही मनुष्यको ऊँचा उठाते

हैं। वैरिस्टर सा० महान् हुए, क्योंकि वह त्याग और सेवाधर्मको जानते और उसपर अमल करते थे। लखनऊ महासभा अधिवेशनके वे सभापति मनोनीत हुए; परन्तु उस पदको ग्रहण करनेके पहले उन्होने स्थूल रूपमे पञ्चाणुव्रतोको धारण किया। उन व्रतोका उन्होने यावज्जीवन पालन किया। विलायतमे भी अपने व्रतोंकी सँभाल रखनेका वह पूरा ध्यान रखते थे। लन्दनसे ता० १६ अप्रैल १९३० के पत्रमे उन्होने लिखा था:—

"शामको मैं अपना भोजन स्वय वनाता हूँ। मेरे कमरोंके पास ही एक छोटा-सा रसोई-घर है। भोजन और कमरोके किरायेमें लगभग वीस पौंड प्रतिमास खर्च पडता है। प्रात मैं फल और मलाई लेता हूँ। कभी-कभी चाय भी पी लेता हूँ। ६-४५ वजे मैं उठ वैठता हूँ और पौने आठ वजे सामायिक करने वैठ जाता हूँ, जिसमे मुझे ३५ से ४५ मिनट लगते है। उसके वाद ही मैं ९ वजेके करीव फलाहार करता हूँ। उपरान्त पासके वगीचेमे घूमने चला जाता हूँ। वहाँसे १२-३० वजे लौटता हूँ। तव मैं अपना खाना वनाता और खाता हूँ, जिसमें रोटी और भाजी मुख्यत. होती है। दिनमे दो-से-पाँच वजे तक मैं लिखने-पढनेमें समय विताता हूँ और ६-३० पर अपनी शामकी व्यालू वनाकर खा लेता हूँ। लोगोंने मुझसे कई वार पूछा है कि क्या विलायतमे व्रती श्रावकका जीवन विताना सम्भव है। मुझे तो लगता है कि यह उतना कठिन नही है जितना कि लोग. समझते है। सव चीजे वाजारमे मिलती हैं और यदि रसोई-घर है तो मनचाहा वनाकर खाइये—इसमे दिक्कत ही क्या? रही वात मानसिक शान्ति और निराकुलताकी, सो भारतकी अपेक्षा यहाँ (विलायतमे) अधिक शान्ति और निराकुलता है, क्योकि यहाँ उनके विरोधी साधन ही नही हैं। यह सच है कि यहाँके जीवनमें वहुत-सी लुभावनी वाते हैं; परन्तु थोड़े-वहुत यह वात तो सभी ठौर है। मनुष्य लुभावोमे फँसकर कहाँ नही गलती कर सकता? वास्तवमे यह प्रश्न तो चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयोपशमसे सम्वन्ध रखता है। यदि उसका क्षयोपशम है तो वाह्य निमित्त निरर्थक होंगे और चारित्र मोहनीयके

उदयमें रहते हुए एक व्यक्ति बम्बईमें भी भ्रष्ट हो सकता है। अतः आठवी एवं उससे न्यूनतम प्रतिमाओके धारी श्रावक विलायतमे सानन्द रह सकते हैं। एक खूबी इस देशमे और है—वह यह है कि यहाँ चीटियाँ और कीड़े-मकोड़े प्रायः होते ही नही। अतः हमे उनकी आरम्भजनित हिसा-का भी पाप नही लगता।"

पाठक, जरा सोचिए कि पूज्य बैरिस्टर सा० संयमी जीवनकी सँभाल-में कितने जागरूक थे? उनका आदर्श बरबस हमसे कह रहा है कि संयमका पालन करो—श्रावक हो, तो श्रावकके आठ मूल गुणोंका पालन करो—मद्य, मांस, मधु और पंच उदम्बर फल मत खाओ—पानी छानकर पियो—रातमे खाना मत खाओ।

बैरिस्टर सा० तो वहाँ भी दिन ही मे भोजन कर लेते थे, जहाँ सब ही प्रायः रात्रिभोजी थे। वह अपने व्रतपालनमे खूब सावधान रहते थे। एक दफ़ा वह बहुत प्रातः ही रवाना होनेको थे—उनके मित्र नाश्ता लाये। पौ फटनेको थी। बैरिस्टर सा० ने कहा, 'अभी तो रात है, मैं नाश्ता नही करूँगा।' मित्रका आग्रह निरर्थक था। चारित्र-धीर बैरिस्टर सा० अपने व्रतमे दृढ़ थे। वह चारित्र-मूर्ति जो थे!

परीक्षा-प्रधानी सम्यक्त्वी—

बैरिस्टर सा० के जीवनमे अपूर्व क्रान्तिका सिरजन उनकी परीक्षा-प्रधानताके कारण ही हुआ। यदि उनको जिज्ञासुवृत्ति न होती—वह वस्तुस्थितिके परीक्षक न होते तो विलासिताके गहरे गर्तसे बाहर नही निकल सकते थे। तत्त्वान्वेषण करके ही वह जैनधर्मपर श्रद्धा लाये थे। उसपर भी वह शास्त्रोमें लिखी हुई प्रत्येक पक्तिको इसलिए ही नही स्वीकार कर लेते थे कि उसपर तीर्थंकर-कथित होनेकी मुहर लग गई है। वह उस बातको तर्क और विज्ञानकी कसौटीपर कसते थे और जब उसे ठीक पाते थे तभी उसे मान्य करते थे।

जैन-सिद्धान्तके करणानुयोग-विषयक साहित्यको वह अधूरा सम-झते थे—वह स्पष्ट कह देते थे कि भू-भ्रमण और सूर्य-चन्द्रादिके विषय

मे तीर्थंकर भगवान्‌का वताया हुआ सिद्धान्त शायद हमें उपलब्ध नही है, क्योंकि सर्वज्ञ कथित वाणी सदोष नही हो सकती !

पूज्य वैरिस्टर सा० ने सन् १६२६ मे नार्वे (Norway) देशकी यात्रा की थी—वहाँ उन्होंने ता० ११ जुलाई १६२६ को अपनी आँखोंसे वरावर रातदिन सूर्यको चमकते हुए पाया था। वहाँ तीन-चार महीने तक मुतवातिर सूर्य अस्त नही होता—सर्वज्ञका कथन इस प्रत्यक्षके अविरुद्ध ही हो सकता है। वैरिस्टर सा० ने वहाँका मनोरजक वर्णन लिखा था, जो उस समय 'वीर' मे प्रकाशित हुआ था। रातके ११॥ वजे सूर्य अस्ताचलकी रेखाको चूमने लगा—वारह वजते-वजते उसका आधेसे ज्यादा भाग डूव गया—शेष भाग आँखोके सामने रहा। आधी रातके पश्चात् सूर्यास्त होना वन्द हो गया—सूर्यका जो भाग नेत्रोंके सामने था, वह धीरे-धीरे ऊपरको उठने लगा और उगने लगा। डेढ वजे रातको पूरा सूर्य फिर निकल आया था। चारो ओर धूप ही धूप थी। वह दृश्य देखते ही वनता था। इस प्राकृतिक दृश्यका तारतम्य जैन-सिद्धान्तके करणानुयोगसे कैसे वैठता है, यह वतानेवाले साधन-सूत्र अभी प्रकाशमे नही आये है। वैरिस्टर सा० उन सर्वज्ञ-प्रणीत सूत्रग्रंथको पाकर फूले न अघाते, परन्तु शास्त्रभण्डारोंकी खोज तो अव भी नही हो रही है !

वैरिस्टर सा० तो केवल शास्त्रोके ही परीक्षक न थे, वह गुरु-परीक्षामें भी सतर्क थे, किन्तु उनकी परीक्षा गुरुभक्तिको अक्षुण्ण वनाये रहती थी। सन् १६२७ की वात है शायद हमारे आग्रहसे वैरिस्टर सा० ने अलीगज आना स्वीकार किया—वह आये। तभी अलीगंजमें स्व० मुनीन्द्रसागर-संघके एक मुनिजी भी आये हुए थे। वैरिस्टर सा० ने आते ही सविनय उनकी वन्दना की। उपरान्त वह एकान्तमे मुनिजीसे देर तक वातें करते रहे। वाहर आये तो वोले, "यह मुनि महाराज या तो पूरे सुधारवादी है, वरन् पाखडी (Diplomat) हैं।" फिर वह शायद उनकी वन्दना करने नही गये। उनकी परीक्षण-शैली तो उनके साहित्यके एक-एक शव्दसे प्रकट है।

धर्म-रक्षक–

धर्म स्वतः पंगु है—वह धर्मात्माओंका आश्रय चाहता है—धर्मात्माओंके सहारे वह दुनियामें चमकता है। बैरिस्टर सा० स्वयं धर्माश्रय थे। यदि कोई धर्मपर आक्रमण करता तो वह उसका प्रामाणिक उत्तर दिये विना चुप नही होते थे। उन्हें ज्ञात हुआ, बयानामे जैनरथ रुका हुआ है—वह फ़ौरन वहाँ गये और स्थितिका अध्ययन करके जैनरथ निकलवानेमें सतत उद्योगी बने। उन्होंने सुना कि कुड़चीके जैनियोपर मुसलमान गुण्डे अत्याचार कर रहे हैं—गुण्डोंने पूज्य प्रतिमाओंके शत खण्ड कर दिये हैं! कुड़ची भी वह गये और अपने भाइयोंको ढाढ़स बँधाया। बोले, "घबराओ नही; परिषद् आपके साथ है!" जब भारतीय अधिकारियोंने हमारी बात सुनी-अनसुनी की तो बैरिस्टर सा० ने विलायत जाकर मि० फ्रेनर ब्रॉकवे M. P. द्वारा इस अत्याचारकी कहानी भारत-मन्त्री और पार्ल्यामेंट तक पहुँचाई। उनकी शक्तिमें न्याय पानेके लिए उन्होंने कुछ उठा न रक्खा; परन्तु जैनी तो असंगठित हैं—आपसमे लडनेके लिए मर्द है! इस पापका दण्ड तो मिलना ही चाहिए, किन्तु बैरिस्टर सा० अपने कर्तव्यपालनमें कभी पीछे नही रहे। इसीलिए हम उन्हे धर्मरक्षक कहें तो अनुचित नहीं है।

मुनि-रक्षक–

सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थगुरु और जिनधर्मके वह अटल श्रद्धानी थे। जब मूढ़ जनताने दिगम्बर मुनियोके नग्न-वेषपर अँगुली उठाई एवं सरदार पटेल और महात्मा गाँधीने साधुत्वके लिए नग्नतापर अशिष्टताका लाञ्छन लगाया—परिणामस्वरूप सरकारकी ओरसे भी कुछ कड़ाई हुई—कई स्थानोंपर दिगम्बर मुनि-महाराजोके स्वतन्त्र विहारमें बाधाएँ उपस्थित हुईं—उस संकट-समयमें बैरिस्टर सा० आगे आये। वह दिल्लीमें रहे और प्रयत्न किया कि दि० मुनि-विहारपर वैधानिक स्वाधीनता प्राप्त कर ली जावे। उस समय बैरिस्टर सा० ने प्रेस और प्लेटफ़ार्मसे साधुत्वके लिए प्रत्येक मतमें दिगम्बरत्वको आवश्यक सिद्ध कर दिखाया था।

उन्होने मुझे दिल्ली बुला भेजा—मैंने देखा, वह दिगम्बरत्वकी सार्वभौमिकता सिद्ध करनेके लिए तन्मय हो रहे थे। उनकी साधुमूर्ति विदुषी वहन मीरोदेवी उनके स्वास्थ्यकी चिन्ता रखती थी; परन्तु वैरिस्टर सा० को केवल एक धुन—मुनिरक्षा की थी।

उन्होने मुनिचर्याके कतिपय ऐतिहासिक प्रसंगोंकी चर्चा मुझसे की और बोले, "हमारे यहाँ सच्चे कार्य करनेवालेकी कदर नही। जो उपयोगी सामग्री और ऐतिहासिक प्रमाण आपकी पुस्तकमें है, वह श्री घोपालकी पुस्तकमें नही दिखते। जैनी रुपया वरवाद करना जानते हैं—ठोस काम नही देखते।" उपरान्त वह मुझे वरावर जैनेतर शास्त्रोंके उद्धरण प्रकाशनार्थ भेजते रहे—शारह-आमसे हर मजहवके जुलूस निकालनेकी कानूनी नजीरें भी उन्होने भेजी, जो 'वीर' में वरावर छपती रही। उसी समय म० गाँधीजीको भी उन्होने इस प्रसगमें कई पत्र लिखे। एक पत्रमें उन्होने स्पष्ट लिखा था कि :—

"I don't know, if I shall ever succeed in this life in gaining my ambition, but it is my ambition one day to become a Digambara saint. I wonder, what you will do to me in the Swarajya, if it shall come by that time?"

इससे स्पष्ट है कि वैरिस्टर सा० दिगम्वरत्वको निर्वाण पानेके लिए कितना आवश्यक मानते थे। उनकी यह कामना थी कि वह भी कभी दिगम्बर मुनि हो। कहना न होगा, म० गाँधीने अन्ततः इस विपयमें अपना स्पष्टीकरण प्रकाशित कर दिया था। वैरिस्टर सा० मुनिभक्त ही नही, मुनिधर्मके रक्षक भी थे।

तीर्थ-रक्षक–

तीर्थस्थानको वह पवित्र भूमि मानते थे—तीर्थ जैसे एकान्त निर्जन स्थानपर वड़े-वड़े मकानोको वनाकर उसकी शान्तिको नष्ट करना उनकी दृष्टिमें तीर्थ-आसादना थी। उनका मत था, जो भी जिनेन्द्रका भक्त

है वह तीर्थवन्दना करनेका अधिकारी है। उन्होने प्रयत्न किया कि तीर्थोंके मुक़दमे जो दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें चल रहे है, आपसमें तै हो जाये; किन्तु भवितव्य ऐसा न था। आख़िर दिगम्बर सम्प्रदायकी ओरसे उन्होने निःशुल्क शिखिरजी केस—अन्तरीक्ष पार्श्व-नाथ केस आदि मुकदमोकी पैरवी की—स्वतः अपना खर्च करके प्रिवी कौंसिलमें अपीलकी पैरवी करने गये। उन्हींकी दलीलको कि यह पवित्र तीर्थ किसीकी निजी सम्पत्ति नहीं है—वे देवद्रव्य है, जिसपर प्रत्येक भक्त को वन्दना करनेका अधिकार है, प्रिवी कौसिलने मान्य किया था।

उन्हें जैनियोंकी मुकदमेबाजीकी मूढ़तापर वड़ी चिढ़ थी। एक दफ़ा वह बोले, "भला देखो तो लाखों रुपया बरबाद किया जा रहा है। एक अजैन वकील और एक अजैन न्यायाधीश हमारे धर्मके मर्मको क्या समझेगा और वह कैसे धार्मिक निर्णय देगा? फिर भी जैनी सरकारी न्यायालयोमे न्यायके लिए दौड़ते है।"

श्वेताम्बर सम्प्रदायसे मुक़दमा लड़ते हुए भी वे उनके मित्र थे—हजारीबाग़में श्वेताम्बरीय कोठीमे जाते और श्वेताम्बरीय नेताओसे मिलते-जुलते और उठते-वैठते थे। इस घनिष्ठताने स्व० लाला देवी-सहायजीके दिलमें वैरिस्टर सा० के प्रति शङ्का पैदा कर दी थी; किन्तु वैरिस्टर सा० ने स्पष्ट कहा था कि 'मेरा अहिसाधर्म यह नहीं सिखाता कि मै अपने विरोधीसे प्रेम न करूँ। यदि आपको कुछ डर हो तो मै मुकदमे-की पैरवीसे अलहदा हो सकता हूँ।' ऐसे स्पष्टवादी तीर्थरक्षक थे वे!

अखंड जैन समाजके आदर्श—

उपर्युक्त घटनासे पाठक समझ गये होगे कि वैरिस्टर सा० जैनोके सभी सम्प्रदायोके संगठनके हामी थे। वह उपदेशके स्थानपर उदाहरण-को कार्यकारी मानते थे। उन्होंने वरावर ही दिगम्बर संस्थाओंके साथ श्वेताम्बरीय संस्थाओके अधिवेशनोंमें भाग लिया। सन् १९२७ में काश्मीरसे लौटते हुए उन्होंने रावलपिंडी, फरीदकोट, गुजरानवाला आदि स्थानोंके श्वेताम्बर भाइयोंके निमन्त्रणको स्वीकार करके धर्मामृत-वर्षा

की थी। इस प्रकार ही तो साम्प्रदायिक विषमता दूर करके संगठन का वीज वोया जा सकता है। अन्य नेताओंके लिए उनका यह आदर्श अनुकरणीय है।

विश्व-वन्धुत्वके मिश्नरी–

वैरिस्टर सा० 'वसुधैव कुटुम्वकम्' सूत्रके अनुयायी थे—एक सम्यक्त्वीकी दृष्टिमें सारे विश्वके प्राणी ही उसके वन्धु हैं। वैरिस्टर सा० सारे लोकको विश्वप्रेममय देखनेको लालायित थे। दिल्लीमें वीर-जयन्तीके उत्सवमें 'सार्वधर्म सम्मेलन' को वह विशेष रूपसे करनेकी प्रेरणा करते थे। उनका अपना साहित्य और उनके अपने भाषण केवल विश्ववन्धुत्व-भावनाको जागृत करनेके लिए होते थे। उनका 'मिशन' केवल समाज विशेप तक सीमित न था। उन्हें अज्ञानी शासक और दलित शासितोंका समान रूपसे दुःख दूर करना था—वह दोनोका हृदय-परिवर्तन करना चाहते थे—राजनैतिक लीडरीसे यह वात नही मिलती—इसीलिए वह राजनीतिमें नही पड़े। वह कई वार यूरुप गये और वहाँ धर्मका प्रसार किया। सच पूछिये तो वह विश्वविभूषित थे—उनका 'मिशन' महान् था! वे समभाव और समदृष्टिके समर्थक ही नहीं, स्रष्टा थे। भ० महावीरके अनेकान्त-सिद्धान्तको उन्होने ही मूर्तिमान् वनाया था!

स्व० रवीन्द्रके सम्पर्कमें–

अपनी विश्वहित-कामनासे प्रेरित होकर वैरिस्टर साहव स्वर्गीय रवीन्द्रकी शान्तिनिकेतनस्थ विश्वभारतीमें ८ मार्च १९२७ को पहुँचे थे। उन्होने कवीन्द्र रवीन्द्रसे वार्तालाप किया था। वह विश्व-भारतीमें कुछ समय तक रहे थे। प्रति सप्ताह वह तीन दिन (मंगल, वृहस्पति और इतवार) को तुलनात्मक धर्मपर भाषण देते और शंका-समाधान करते थे। दो-तीन छात्र उनसे धर्मशास्त्र भी पढ़ते थे। उनकी इस सेवाका महत्त्व परिमित शव्दोमें चित्रित नही किया जा सकता!

वीरकी सिंह-गर्जना–

यूं तो वैरिस्टर साहव वहुत ही शान्त-प्रकृतिके महापुरुष थे, परन्तु

उनके निकट शान्तिका अर्थ दब्बूपन और अहिंसासे मतलव कायरताके नहीं। श्री दक्षिण महाराष्ट्रीय जैनसभाके सभापति-पदसे उन्होने कहा था कि "जैनधर्मके लिए स्वार्थत्याग और आत्मवलिदान करनेकी आवश्यकता है। कोई अत्याचार करे तो उससे दवना नही चाहिए। अन्यायके हटानेके लिए, धर्मरक्षाके लिए हमें लड़ने-मरनेको तैयार होना चाहिए। सीताजीको रावणने हरण किया; मात्र इसी अन्यायके प्रतीकार के लिए मोक्षगामी श्री रामचन्द्रजीने रावणसे युद्ध किया। सुग्रीव, हनूमानादिने भी उनका साथ दिया। ये सब ही मोक्ष प्राप्त किये। अहिंसा हमें कायरता नही सिखाती—वीरता वताती है।" जैनयुवक इस तत्त्व को समझें!

मंदिर भिक्षुकोंके लिए नहीं–

जैनधर्म एक विज्ञान है—कारण-कार्य सिद्धान्तपर वह अवलम्बित है। जैसा वोओगे वैसा फल पाओगे, किन्तु आज जैनी धर्मविज्ञानको भूल गये हैं—वे धनके लिए, पुत्रके लिए, यशके लिए मन्दिरोमें मनौती मनाते है। वैरिस्टर साहवने इसपर कहा था—"जैनमन्दिरोमें भिक्षा माँगनेकी जरूरत नही है—जैन-मन्दिर भिखारियोके लिए नही है। जो मोक्षाभिलाषी हों—निर्ग्रन्थ होना चाहते हों, उन्हीके लिए जैनमन्दिर लाभकारी है।"

समाज-सुधारके पथपर–

जैन-समाजको उन्नत देखनेके लिए वैरिस्टर साहव योग्य वीर पुत्रों और पुत्रियोंको जन्म देना आवश्यक मानते थे। वे कट्टर सुधारवादी थे। एक भाषणमें उन्होंने स्पष्ट कहा था–"वालविवाहोको विल्कुल रोकना चाहिए। वीर पुत्र व पुत्रियाँ प्रौढ़ विवाहसे ही होगी। हमें शारदा एक्टके अनुसार चलना चाहिए। किसी समय मुसलमानोके शासन-समयमें कन्याका विवाह जल्दी करनेकी प्रथा चल पड़ी होगी। यह प्राचीन नही है—प्राचीन कालमें प्रौढ़ स्त्रियोके ही विवाह होते थे। कैकेयी जो युद्ध

करना व रथ चलाना जानती थी, वालिका नही हो सकती। शादी तव होनी चाहिए जव स्त्री-पुरुषको परस्पर भाव समझनेकी शक्ति हो। जैनोकी संख्या कम होती जाती है। इस प्रश्नपर वड़ी गम्भीरतासे विचारना चाहिए। जैनियोकी उपजातियोमें परस्पर विवाह करना बहुत ही आवश्यक है। इससे वहुत लाभ है। जातियाँ मात्र भेद है—कोई वस्तु नही है। चार वर्ण राजनैतिक व सामाजिक है—धर्मसे इनका कोई सम्वन्ध नही। प्राचीन कालमें म्लेच्छोकी कन्याओको चक्रवर्तीने विवाहा है। रूढ़िके दास न होना चाहिए। हमारा धर्म पतितोका उद्धारक है। हम पतितको—अशुद्धको—शुद्ध कर सकते है। अजैनोको जैन दीक्षा दे सकते है। अपनी सख्याकी रक्षाके लिए यह सव कुछ करना होगा। जैनधर्म तो पारस पत्थर है, जो लोहेके समान अशुद्ध जीवको शुद्ध सुवर्णतुल्य वना देता है। खेद है कि हमने जैनधर्मको कैद कर रखा है।" यह थी उनकी सुधार-विचारधारा; जिसपर प्रत्येक जैनीको अमल करना आवश्यक है।

नवीन शिक्षा-पद्धति–

वैरिस्टर साहव प्रत्येक जैनयुवकको जैनधर्मका ज्ञाता देखना चाहते थे—वह शिक्षित जैनियोके हृदयोंमे जैनत्वकी भावना भरना चाहते थे। परन्तु वह जानते थे कि पुरातन स्वाध्याय या शिक्षा-पद्धतिसे यह कार्य नही होनेका। इसीलिए उन्होने कहा :—

"धर्मशिक्षा और स्वाध्यायकी पद्धतिमे सुधार होनेकी जरूरत है। नई पद्धतिसे वस्तुका स्वरूप समझनेकी व जाननेकी जरूरत है। शास्त्रकी पंक्तियोंके रटनेसे काम न चलेगा। हमे मुख्यत. सात तत्त्वोको जाननेकी जरूरत है। न्यायका पठन-पाठन वहुत कठिन कर दिया गया है। यदि वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे देखा जावे तो न्याय वहुत जल्दी समझा जा सकता है।" उन्होने जो कहा उसे व्यावहारिक रूप देनेके साधन भी जुटाये। स्वत. ही उन्होने वैज्ञानिक शैलीकी पुस्तकें रची जिनमे आत्मज्ञान, न्याय, समाजशास्त्र और इतिहासका नई पद्धति पर प्रतिपादन

किया गया है। निस्सन्देह उनकी लेखनशैली तर्कप्रधान और साथ ही समाधान-कारक है—इसलिए वह प्रामाणिक है। आधुनिक तर्कशील मस्तिष्ककी मनस्तुष्टि उससे होती है। इस नूतन पद्धतिको यह गौरव है कि अनेक शिक्षित जैन युवकोंको इसने धर्मका श्रद्धानी बनाया है।

साहित्य व शैली–

बैरिस्टर साहब प्रेमके अवतार थे। उनके स-प्रभ शान्त आकृतिसे जब निर्मम आत्मज्ञानवर्द्धक वाणी झरती थी, तो लोग एकटक उनकी ओर निहारते रह जाते थे—वह जो कहते सीधे-सादे शब्दोंमें युक्ति और प्रमाणसे कहते थे। गहन-से-गहन दार्शनिक विषयको ऐसी सरलतासे समझाते कि साधारण श्रोता भी उसे समझ लेता था। अपने भाषणके अन्तमें वह लोगोंको शंका समाधान करनेका अवसर देते थे। शंका उपस्थित करने वाला उनकी बातको पूरी समझ ले, जल्दी न करे। फिर भी कोई शंका रहे तो वह उसका समाधान करते—उग्र उत्तर देकर उसके हृदयको चोट नहीं पहुँचाते थे! जैसी उनकी निराली प्रचारशैली थी, वैसा ही उनका अनूठा साहित्य था—उसमें वह मौलिकता है जो अन्यत्र नहीं है।

यद्यपि उन्होंने अंग्रेजीमें ही साहित्य-रचना की है, परन्तु हिन्दी और उर्दूमें भी उनके रचे हुए ग्रन्थ उपलब्ध हैं। आवश्यकता तो यह है कि हिन्दीमें उनके सब ग्रन्थोंका प्रामाणिक अनुवाद प्रकाशित किया जावे। उनका साहित्य विश्वसाहित्यके प्रांगणमें भारतका मस्तक ऊँचा करता है। उनकी एक अमर-रचना "ज्ञानकी कुञ्जी" अपूर्व और विशाल है। धर्म-दर्शन और सिद्धान्तके विश्वसाहित्यका उन्होंने अपूर्व अध्ययन किया था—उसकी झलक उनके साहित्यमें मौजूद है।

पुरातत्त्वप्रेमी और अन्वेषक–

बैरिस्टर साहबको पुरातत्त्वसे प्रेम था—वह पुरानी चीजोंको गौरसे देखते थे। जब सन् १९२५ में मैं उनसे हरदोई मिलने गया और वापिस चलने लगा, तो वह कुछ पुराने सिक्के लाये और मुझे देकर बोले, "आप

इन्हें लेते जाइये—इनका आप ठीक उपयोग करेगे।" वह जहाँ जाते जैनचिह्नोंको तलाश करना नही भूलते। लन्दन और पैरिसके अजायवघरोसे उन्होने अनेक जिनमूर्तियोंके फोटो भिजवाये थे; जिनमे एक ऐसी भी मूर्ति है, जिसके सात मस्तक है। मेरे लिखनेपर उन्होने घंटों इंडिया ऑफ़िस लायब्रेरी लन्दनमे बैठकर अन्वेषण किया। उन्होंने जैन प्राचीनतापर जो लिखा, वह भी अपनी ही शैलीपर और महत्त्वपूर्ण। जैनेतर साहित्यसे उन्होने ऐसी-ऐसी वाते खोज निकाली जो अन्यत्र नही मिलती। वे महान् अन्वेषक थे!

इस युगके समन्तभद्र–

इस युगमे शायद ही जैनियोमें कोई ऐसा महापुरुष हुआ है, जिसने धर्मप्रचारके लिए दूर-दूर देशो तक इतना अधिक पर्यटन किया हो, जितना वैरिस्टर साहवने किया। स्वामी समन्तभद्रमे धर्मप्रकाशकी लगन थी कि वह सारे भारतमे धर्मदुन्दुभि वजाते घूमे थे—उसी लगनकी प्रतिच्छाया हमे बैरिस्टर साहवमें मिलती है। वैरिस्टर साहवने विदेशो—यूरुप, अमरीका तकमे घूम-घूमकर धर्मध्वजको ऊँचा फहराया, इसलिए दुनिया उन्हे महान् पर्यटकके रूपमें भी याद रक्खेगी।

परिषद्के संस्थापक और संरक्षक–

जव सन् १९२३ मे महासभाका अधिवेशन दिल्लीमे हुआ, उस समय उसके मुखपत्र 'जैनगजट' की दशा सुधारनेके लिए उसके सम्पादकोकी नियुक्तिका प्रश्न आया। वैरिस्टर साहवका नाम जनताने तजवीज किया, परन्तु महासभाके सूत्रधारोने उस योजनाको ठुकरा दिया—उधर वृद्ध-विवाहादि कुरीतियोके विरोधमे भी महासभा धीमे स्वरमे वोल रही थी—समाजके सुधारवादी दलको यह असह्य हुआ। समाज एक समुदार संस्थाको अपना प्रतिनिधि वनानेके लिए उत्सुक थी। परिणामत: 'अ० भा० दि० जैन परिषद्' की स्थापना हुई। मूल सस्थापकोंमे वैरिस्टर साहवका नाम उल्लेखनीय है।

वह परिषद्के संस्थापक ही नहीं, उसके आजन्म संरक्षक भी रहे ! परिषद्ने उनके संरक्षणमे पर्याप्त शक्तिका संचय किया और अपने निर्भीक सुधारों द्वारा समाजको बहुत आगे बढ़ाया है। दस्सा-पूजाधिकार, अन्त-र्जातीय विवाह, मरणभोज-निषेध इत्यादि सुधारकार्य आज समाजको संगठित और शक्तिशाली बना रहे हैं। वैरिस्टर साहबको परिषद्पर गर्व था—युवकोंको वह बताते, 'भा० दि० जैन परिषद्' को देखिए—वह पूर्णतः कार्यमे लगा हुआ है। उसके विधानमें आवश्यकता हो तो परिवर्तन कर लीजिये; पर आप परिषद्मे शामिल होइये और सुधार-कार्य कीजिये।' उनके इस आह्वानको जैन युवकोंने स्वीकारा और आज हजारो युवक परिषद्के सदस्य हैं। समाजकी वह प्रतिनिधि सभा है।

जैन-विश्वविद्यालयकी कामना !

पूज्य ब्र० सीतलप्रसादजीके अनुरूप ही बैरिस्टर साहबकी यह धारणा थी "जैन समाजको उन्नत बनानेके लिए—संसारमे सुख-शान्तिका सन्देश फैलानेके लिए एक 'जैनविश्वविद्यालय' स्थापित करना आवश्यक है। 'जैनविश्वविद्यालय'से सम्बन्धित जैनशिक्षालयोसे ही उच्चकोटिके वे विद्वान् सिरजे जा सकते है, जो 'जैनस्प्रिट' से ओत-प्रोत हो और अहिसा-शासनको विजयी बनानेके लिए अपना 'सर्वस्व' उसीमे लगानेको तैयार हों। वे ही विद्वान् दुनियाके केन्द्र-स्थानों—लन्दन, पैरिस, न्यूयार्क आदिमें जैन सेंटरोको स्थापित करके अहिसा संस्कृतिकी विजय-वैजयन्ती फहरा सकते हैं।"

बैरिस्टर साहबने इस आवश्यक कार्यकी पूर्तिके लिए कई मरतबा उद्योग किया, परन्तु समाजका दुर्भाग्य, उनकी यह कामना अपूर्ण रही। तो भी उन्होने अपनी बिसात उसकी पूर्ति "श्री बाँकेराय सोहनलाल जैन एकेडेमी" की स्थापना करके की, जिसका उद्देश्य अहिसाधर्मको दुनियामें फैलाना है। यह छोटा-सा प्रयास है, परन्तु है पवित्र और महान् ! काश एक दिन वह "जैनविश्वविद्यालय"का एक अंग बनकर चमके !

धैर्य मूर्ति !

सन् १९३७ से बैरिस्टर साहबका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया था; परन्तु रोगशय्यापर लेटे हुए भी वे अपने 'मिशन' को पूरा करनेमें जागरूक थे—रुग्णावस्थामे भी वे धर्मको न भूले थे। शरीरसे उन्हे ममत्व नही था। लन्दनसे जब वह बम्बई आने लगे तो उनके अंग्रेज-मित्रोने कहा कि वह यहीं इलाज करायें—क्षयका इलाज यहाँ भारतसे अच्छा होगा। यह सच था, और बैरिस्टर साहबने वहाँ इलाज कराया भी। किन्तु जब अपनेको ज्यादा शिथिल पाया तो वह भारतको वापस आ गये। उन्होंने अपने अंग्रेज़ मित्रोंसे कहा, "निस्सन्देह आप लोगोकी चिकित्सा-प्रणाली श्रेष्ठ है; परन्तु आप व्यक्तिकी आत्माकी परवाह नही करते—अन्त समय तक दवाइयाँ देते रहते हैं। हम भारतमें जीना ही नही, मरना भी जानते हैं। यदि हमारा मरण अवश्यम्भावी है, तो हम शान्तिके साथ उसका स्वागत करेंगे—यह बात यूरुपमें हमे कहाँ नसीब हो सकती है ?"

वह भारत आये और बम्बई एवं कराँचीमें इलाज कराते रहे—कुछ स्वस्थ भी हुए। जब सन् १९४० में मैंने उनके अन्तिम दर्शन बम्बई-में किये तो मै अवाक् रह गया ! उनका शरीर बहुत क्षीण हो गया था—वे कृशकाय थे; परन्तु उनका तेज और उनका प्रभाव वही पूर्ववत् था। उनमें धर्मप्रसारकी वही लगन थी। अपनी नवीन पुस्तकोंके प्रकाशन और प्रसारमे वह संलग्न थे। उनका धैर्य, उनका उत्साह अपूर्व था।

एक उपाय

उनकी एक धुन थी और वह यही कि जैनशासन अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त करे ? इसी धुनमे वह अपनी अन्तिम घड़ियो तक निमग्न रहे—अपाय-विचय धर्मध्यानकी साक्षात् मूर्ति ही बन गये थे वे। उनका वह 'एक उपाय' क्या था ? उन्हीके शब्दोमे पाठक पढें :—

"वह मात्र एक उपाय यह है कि हम अपने प्यारे जैनधर्मके प्रति लोगोके दिलोंको मोह लें—उनको जीत ले ! यह कार्य जैसा दीखता है वैसा कठिन नही है। जीवनभर इस समस्याको हल करनेकी उधेड़-बुनमे

रहकर मैं इसी परिणामपर पहुँचा हूँ कि जैन-सिद्धान्तकी विजय होगी। दुनिया एक रोज उसे अपनायेगी। किन्तु जैनसिद्धान्तका इस ढंगसे प्रचार करना चाहिए कि जिससे उसका प्रभाव लोगोंके दिलोंपर पड़े। शताब्दियों पहलेके उपायो द्वारा आज धर्मप्रचार करनेसे सफलता नही मिल सकती। जबतक जैनोंका रुपया मन्दिरों और रथयात्राओमें खर्च होता रहेगा, तब तक दुनिया, जो मन्दिरों और रथयात्राओंका महत्त्व नही समझती, हमे एक बुतपरस्त दहक़ानी क़ौम ही समझेगी ! प्रत्येक कार्य द्रव्य-क्षेत्र-कालभावके अनुसार करना उचित है। अन्यथा असफलता ही नही, सर्वनाश होना सम्भव है !"

यह एक उपाय है जिससे जैनशासन फिर चमक सकता है। यदि सचमुच हमारे हृदयोंमे बैरिस्टर साहबके कार्योका प्रभाव है—कृतज्ञताका भाव है, तो हमारा कर्तव्य है कि हम अपने साहित्यको—बैरिस्टर साहबके साहित्यको दुनियाके कोने-कोनेमें पहुँचायें और ऐसे विद्वान्, त्यागी, वीर, पैदा करें जो सारे लोकमें जैनधर्मके सन्देशको फैलावें ! दुनियाको सुख-शान्तिकी ओर बढ़ावें !

अन्तिम झाँकी !

मिस फ्रेज़रका पत्र ता० २-६-४२ का कराँचीसे आया, वह दुःखद समाचार लिये जिसकी कल्पना भी तब नहीं थी ! बैरिस्टर साहब अच्छे हो रहे थे और यह आशा की जाती थी कि वह पूर्ण स्वस्थ होकर धर्म और जातिके उत्थान-शकटको आगे बढानेमें युवकोको उत्साहित करते हुए विचरेंगे—यूरुपमें अपने अधूरे 'मिशन' को पूरा करनेका उद्योग करेंगे, किन्तु विधिको यह स्वीकार न था। उक्त पत्रमे उनके निधनका सवाद पढ़कर 'बेकस' की हालत हो गई। लोकका सच्चा हितैषी सदाके लिए सो गया !

कराँचीके कतिपय दिगम्बर और लगभग चार हजार श्वेताम्बर जैनोंको ही यह सौभाग्य प्राप्त था कि बैरिस्टर साहबकी अन्तिम घड़ियोंमें उनके अमूल्य प्रवचनसे लाभ उठावें। बैरिस्टर साहब बिल्कुल अपरिचित

वहाँ पहुँचे थे; परन्तु अपने ज्ञान और प्रेमभावनासे सब ही जैनियोंके हृदयोंको उन्होंने मोह लिया ! श्वेताम्बर जैनी भाई दिल खोलकर उनसे मिलते थे—उनसे दिगम्बर और श्वेताम्बर मतभेदपर दार्शनिक चर्चा करते थे—वह चर्चा प्रेमपूरक होती थी—द्वेष उससे नहीं बढ़ता था।

उनका स्मारक

धन्य थे करांचीके वे श्वेताम्बरी तथा दिगम्बरी भाई, जिन्हें बैरिस्टर साहबके अन्तिम दर्शन नसीब हुए थे। उनकी शवयात्रामें वे शरीक हुए और दाह-संस्कार भी उन्होंने विधिवत् कराया।

उनका यह अन्तिम आदर्श मानो यही कह रहा है, "जैन-नेताओ ! मतवादमें मत बहो ! दिगम्बर-श्वेताम्बर कोई भी हो, वह जैनी है—हमारा भाई है—उससे मिलो और प्रेमका व्यवहार करो !" आज हम तीनों सम्प्रदायोंका संगठन चाहते हैं—बैरिस्टर साहब अपने आदर्श उदाहरणसे उसकी नीव डाल गये हैं—जैन-नेताओंका कर्तव्य है कि उस नीवपर संगठनकी भव्य इमारत खड़ी करें ! यही बैरिस्टर साहबका सच्चा स्मारक होगा; इसीमें उनकी दिवंगत आत्माको शान्ति तथा समाजका उद्धार है।

उनके जीवन दर्शन

बैरिस्टर साहब अपने कर्तव्य-पथपर दृढतासे आरूढ़ रहे। वह इस युगके सबसे बड़े जैनी और मानवताके रत्न थे। विश्वको अहिंसाका पुजारी बनाकर उसे शान्त और सुखी देखनेका उनका स्वप्न यद्यपि सफल न हुआ; किन्तु वे अपने कर्तव्यपालनमें अवश्य सफल हुए। उनका यशस्वी जीव न रहा—उन्होंने अपने 'मिशन' को सफल बनाया। जिस अमरत्वके लिए उन्होंने अपनेको उत्सर्ग किया, उसको अपने ग्रन्थ-रत्नोंमें सुरक्षित करके वह उसे साकार अमरत्व दे गये है। जिनके पास ज्ञाननेत्र हैं, वह उस अमरत्वका महत्त्व आँकें—स्वयं प्रतिष्ठित जीवन बिताकर मानव-जन्मका सुफल ले और दूसरोंको उसका रसास्वादन कराकर उन्हें

भी सुखी और अमर जीवन पानेमें सहायता दें। यही बैरिस्टर साहबके जीवनका सन्देश है और वह अमर है। भले ही बैरिस्टर साहबका नश्वर शरीर पञ्चभूतमें लीन हो गया है; परन्तु उनका यशाकार ज्ञान-शरीर तो हमेशाके लिए मुमुक्षुओंके सम्मुख रहेगा !

—वीर चम्पतराय अंक

जन्म—	देवबन्द, आश्विन कृष्ण १०, वि० सं० १९३९
स्वर्गवास—	ज्येष्ठ कृष्ण अमावस, वि० सं० १९९४

वे मुझे अक्सर याद आते हैं

श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर

[१]

ऐसे लोग भी इस दुनियामें हैं, जो खानेके लिए परसी-परसाई थाली पा जाते हैं और ऐसे लोग भी, जो अपनी उँगलियोंसे आटा गूंध, अपनी हथेलियोंसे रोटी थपक-सेक और अपने ही हाथसे तोड़े पत्तेपर उसे रख खा लेते हैं।

पहले लोगोंकी भाग्यशीलतापर हम प्रशंसाके पुल बाँध सकते हैं, पर जीवन तो दूसरे ही लोगोंके जीवनमें लहराता है, इसमें सन्देह नही। स्वर्गीय बाबू ज्योतिप्रसादजी जैन, सम्पादक 'जैनप्रदीप' इसी श्रेणीके पुरुष थे और यही कारण है कि मुझे अक्सर याद आते हैं वे !

उनका कमरा ही उनका राजभवन था। ऊपर चारों ओर चित्र, नीचे आलमारियोंमे पुस्तके, एक ओर उनका पलंग, दूसरी ओर लिखनेके लिए तख्त, एक ओर नहानेकी वाल्टी-चौकी और कुछ कुरसियाँ, वस यही उनका परिग्रह था।

एक वार मैंने कहा—"वावूजी, इधर कोनेमे एक मेज लगा दीजिये, तो अच्छा रहेगा और आप उसपर ही वैठकर लिखा कीजिये।"

वहुत सादगीसे वोले—"मेरे पास कोई मेज है ही नही!"

उनकी सादगीमें उलझकर मै बेवकूफ वन गया—"बावूजी, मै अपनी मेज भेज दूंगा कल!"

मुस्कराकर वोले—"फिर तो एक टोप भी भेजना!"

अव मैं सुलझा और शरमाया। वे कहने लगे—"उस जीवनमें शान ज़रूर है, पर आराम इसीमें है, तख्तपर डेक्सके सहारे लिख लेता हूँ, इसी पर थाली रख भोजन कर लेता हूँ, तकियेके सहारे तिरछा ही पढता रहता हूँ, आनेवाले ज्यादा हो जाये, तो कई कुरसियोंका काम इससे ले लेता हूँ और जरूरत आ पड़े तो यह सोनेका भी काम दे देता है। भला, इसके मुकाविलेमें मेज क्या चीज है?"

उनके कमरेकी हर चीज अपनी जगहपर रहती थी। साफ़-सुथरी और व्यवस्थित। वे अपने इस कमरेमें स्वयं झाड़ू लगा लिया करते थे। कई वार मै पहुँच गया और चाहा कि झाड़ू उनके हाथसे ले लूँ, तो वोले—"ना-ना, यह तो मेरा ही काम है!"

सफाई और व्यवस्थाके सम्बन्धमें मुझमे जो गहरा संस्कार है, उसके लिए मै वहुत कुछ उन्हीका ऋणी हूँ और अव भी जव कभी मैं अपनी कोठरी या कार्यालयमें स्वयं झाड़ू लगाता हूँ, तो वे मुझे याद आ जाते हैं।

[२]

वे अपने नगरके श्रेष्ठ नागरिक और जैन-समाजके सारे देशमें अग्रणी पुरुषोमें थे, पर यह प्रतिष्ठा उन्हे वसीयतमे नही मिली थी, न लाटरीमे ही। यह उन्होंने अपने सतत श्रमसे उपार्जित की थी—वे अपनी

परिस्थितियोंके स्वयं पिता थे।

बहुत साधारण-सी स्थितिमें वे जन्मे, पले और बढ़कर एक दिन जैनजागरणके दादाभाई स्वर्गीय बाबू सूरजभान वकीलके निकट आ खड़े हुए। उन्हें इस बालकमें कुछ चमक दिखाई दी और उन्होंने इसे अपने पास रख लिया। ये उनके पास कुछ काम करते, कुछ सीखते और कुछ सोचते। इस सोचमें ही उन स्वप्नों और संकल्पोंकी सृष्टि हुई, जिन्होंने इस बालकको भावीका विकास और भीतरका प्रकाश दिया।

जवानी आते-न-आते वे अपनी जन्मभूमि देवबन्द (सहारनपुर, उत्तर प्रदेश) के सबसे बड़े आदमी—धनमें भी और प्रतिभामें भी—लाला हरनाम सिंहके यहाँ मुनीम हो गये। उस युगमें यह बड़ी बात थी। इस स्थानपर बैठे वे सरकारी अफ़सरों और ज़िलेके दूसरे बड़े आदमियोंके सम्पर्कमें आये और इससे उनमें स्वयं एक बड़प्पनकी सृष्टि हुई।

लालाजी जीवनकी कलाके पण्डित थे, वे जीना जानते थे। साधन-सम्पन्न होकर भी सादे; वेश-विन्यासमें ही नहीं, जीवनमें सादे और शक्ति-सम्पन्न होकर भी नम्र, वाणीमें ही नहीं स्वभावमें—मानसमें करुण। स्वयं मैंने अपने बचपनमें उन्हें अपने बहलखानेकी छतपर गोबरके उपले उलटते देखा था और सुना था कि वे अपने बाग़में घास छीलनेमें भी न हिचकते थे।

बाबूजीपर लालाजीके इस जीवनका गहरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने स्थानका ऐसा अच्छा उपयोग किया कि वे शीघ्र ही अपने नगरके सर्वप्रिय 'जोती मुनीम' हो गये, पर वे किसी स्टेटका हिसाब-किताब लिखनेको ही पैदा न हुए थे—उन्हें तो जीवनका हिसाब-किताब लिखना था! वे इसकी तैयारी करते रहे और यहीं बैठे-बैठे वे उर्दू मासिक 'जैन प्रचारक' के ऐडीटर (सम्पादक) हो गये। आगे चलकर उन्होंने नौकरी छोड दी और पूरी तरह सार्वजनिक जीवनमें रम गये। कहते हैं जनताका रक्खा हुआ नाम कभी नहीं बदलता, पर वे इसके अपवाद थे और जनताने

ही 'जोती मुनीम' को "जोती ऐडीटर' घोषित कर दिया था। वे अपने नगरमें जीवनके अन्ततक 'ऐडीटर साहब' रहे।

'जैन-प्रचारक' के बाद उन्होने अपना 'जैनप्रदीप' मासिक निकाला, जिसके वे चपरासी भी थे और चेयरमैन भी। वे स्वयं डाक लाते, स्वयं उसका जवाब देते, आई-गई डाक रजिस्टरमे चढ़ाते, लेख लिखते, काट-छाँट करते, पते लिखते, चिपकाते, टिकट लगाते और सारी व्यवस्था कुछ इस तरह करते कि उनका अक ३-४ घण्टेमे पूरेका पूरा डिस्पैच हो जाता; कामसे निपटकर उनके चेहरेपर एक ऐसा सलोना सन्तोप छिटकता कि मै देखता ही रह जाता !

[३]

वे उर्दूके लेखक थे, पत्रकार थे, पर हिन्दीके कवि थे। वे कविताएँ अपने उपनाम 'जैनकवि' से लिखते और लेखादि पूरे नामसे। उनकी कविताओंमे भावुकता कम और यथार्थ अधिक है। वे असलमें प्रचारक थे, सुधारक थे, निर्माता थे। उनका व्याख्यान, उनके लेख, उनका सम्पादन और उनकी कविताएँ उनका जीवनधर्म नही, उनके जीवनधर्मका साधन थे।

वे विद्वान् नही थे, जीवनकी पाठशालामे पढ़े थे, पढते रहते थे। यही कारण है कि उनके लेखोमे ज्ञान कम, जीवन अधिक होता था। इस जीवनके ही कारण 'जैन-प्रदीप'के ग्राहकोमे अजैनोंकी संख्या भी कम नही थी। भाषण हो या लेख और या फिर कविता, वे सरलतासे अपनी बात कहते थे और यही कारण है कि उनकी बात सीधी दिलो तक पहुँचती थी।

'जैनप्रदीप'में उन्हे कभी आर्थिक लाभ नही हुआ, पर वह उनका क्षेत्र सारे जैनसमाजको बनाये रहा, जिससे वे और 'जैनप्रदीप' दोनो निभते रहे। १९३० मे 'गाधीजी और भगवान् महावीर' नामक लेख-के कारण सरकारने 'जैनप्रदीप' पर जो पाबन्दी लगाई उसीसे वह बन्द हो गया, नही तो वह सदैव ठीक तारीखपर ही निकला।

[४]

नाटा क़द, भरा-उभरा शरीर, भरी-भूँगी मूछें, चौड़ा ललाट, भीतर तक झाँकती-सी आँखें, धीमा वोल, सधी चाल और सदैव शान्त मुखमुद्रा, वस यही उनका अंगन्यास !

मामूली कपड़ेका जूता पैरोंमें, नेड़े पाँवचेका पाजामा, आम तौरपर कमीज़ और कभी-कभी वन्द गलेका कोट; कमीजपर गांधी टोपी, तो कोटपर जरा तिरछा साफा; वस यही उनका वेश-विन्यास !

मिलनसार, अपनोंके लिए सदा चिन्तित और ग़ैरोसे सदाके लिए निश्चिन्त, जीवन नियमित, दृष्टि स्पष्ट, शक्ति सीमित, पर उसीमे सन्तुष्ट, समझदार साथी—कड़वाहट पीकर भी वातावरणकी मधुरता वनाये रखनेवाले श्रेष्ठ नागरिक; वस यही उनका अन्तर-आभास !

१९२० मे वे उभरकर समाजसे राजनीतिमें आये। वोले भी, गरजे भी, पर सरकारने उन्हे जेल न भेजा, तो वे मसमसाकर रह गये।

१९३० में भी वे आन्दोलनमें आये तो सही, पर धारोधार नही, किनारे-किनारे, वचे-वचे; उनकी घरेलू स्थिति जेल जाने लायक न थी ! एक दिन मेरी गिरफ़्तारीकी सम्भावना चारो ओर फैली तो मै उनका आशीर्वाद लेने गया।

वोले—"तुम जा रहे हो और मै यही धरा हूँ पहाड़का टीला-सा !"

भाषामें ही नहीं, उनकी अभिव्यक्तिमें भी गहरी व्यथा थी। उन्हे सँभालते-से मैंने कहा—"मै आपका ही तो प्रतिनिधि हूँ !"

वहुत ही डूबकर वोले—"मेरे भाई, इस मामलेमें तो मै खुद ही अपनी नुमायन्दगी कर सकता, तो ठीक था !" और कहकर वे इतने द्रवित हो गये कि रोकते-रोकते भी उनकी आँखें भीग ही गई।

अपनी परिस्थिति वताकर वोले—"मेरी यह कमजोरी ही है कि जालमें उलझ रहा हूँ। यों मै आज मर जाऊँ तो क्या परिस्थितियाँ न निभेगीं ?"

मैंने कहा—"जो परिस्थितियाँ हैं, उनमें मैं तो आपको जेल जानेकी सलाह दे नही सकता !" वोले–"हाँ, वे तो है ही ऐसी !"

इसके दूसरे दिन डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेटने उनसे कहा—"ऐडीटर साहव! हमारे फादरने, जव वह यहाँ कलक्टर थे, आपके अखवारका डिक्लेरेशन मंजूर किया था। हम नही चाहते कि हमारे समयमे वह वन्द हो, इसलिए आप हमको एक खत लिखो कि उस लेखका वह मतलव नही है, जो समझा गया है। बस हम अपना आर्डर वापस ले लेंगे।"

वावूजीने उत्तर दिया—"कलक्टर साहव, आप मुझसे सलाह करके पावन्दी लगाते, तो उसे हटानेके लिए भी मेरे खतकी जरूरत पड़ती। अव तो वह हटेगी, तो वैसे ही हटेगी, जैसे लगी है।" और उठकर चले आये।

नगरके एक वड़े रईसने, जिसने कलक्टर महोदयको नरम किया था, उसी दिन मुझसे कहा—"आज ऐडीटर साहवने हमारे किये-धरेपर चौका फेर दिया !" मै तुरन्त उनके घर गया, तो वहुत खुश थे। वोले–"भाई, हम जेल नही जा सकते, तो इज्जतके साथ अपने घर तो रह सकते है !"

उनके छोटे भाईकी अकालमृत्युने उन्हें झकझोर दिया था और उनकी ममताकी केन्द्र भतीजी पुष्पाके विवाहके तुरन्त वादके वैधव्यने तो उन्हें जीते-जी ही मार डाला था। स्वयं उनकी पत्नीको मरे युग वीत गया था और वहुत आग्रह होनेपर भी उन्होने दूसरी शादी न की थी। भाईके परिवारको ही वे अपना परिवार मानते थे, पर उनके मानसिक मोहका यह किला भी वुरी तरह टूट गिरा, तो जैसे वे स्वयं ही टूट गये।

भतीजीके विधवा होनेपर उसके विवाहका प्रश्न भी उठा था ! इसपर वे वहुत गम्भीर रहे और कई वार मुझसे सलाह करते रहे, पर उत्तर भारतमें एक नई चन्दावाईके निर्माणकी भावना उन्हे वहुत गहराई-में प्रभावित कर रही थी। एक दिन मुझसे कहा था—"विवाह तो हर घड़ी हाथमें है, पर यह प्रयोग तो फिर न होगा। क्या राय है ?" मैंने कहा था—"आप अपनी आत्मा इसीमें लगा दें, तो यह सम्भव है, नहीं

तो विवाह ही श्रेयस्कर है !" बहुत गहरे होकर बोले—"आत्मा लगाने को अब मुझे और करना ही क्या है ?"

उनके अभागे जीवनचरित्र-लेखकने जेल न जाने और यह विवाह न करनेपर उनको बहुत हलके हाथों नापा है, पर उसकी बुद्धिमें यह बात न आई कि उन्होंने पत्नीके मरनेपर, समय रहते, स्वयं भी विवाह न किया था। हाँ, यह तो स्पष्ट ही है कि वे एक सुधारक थे, कोई क्रान्तिकारी नही !

नये लोगोंको वे आगे बढ़कर प्रोत्साहन देते थे, हिन्दू-जैन-एकताके प्रबल समर्थक थे, दिगम्बर-श्वेताम्बर सबके लिए अपने थे और संक्षेपमें अपनी जगह खूब थे ! वे चले गये।

वे आश्विन कृष्णा दशमी वि० सं० १६३६ (१८८२ ई०) में जन्मे थे और २८ मई १६३७ अमावस ज्येष्ठ १६६४ में उनका देहान्त हो गया !

जन्म—	१८८१ ई०
स्वर्गवास—	५ जून १९३८ ई०

श्री सुमेरचन्द एडवोकेट

गोयलीय

बाबू सुमेरचन्दजीके निधन-समाचार जिस मनहूस घड़ीमें मुझे सुननेको मिले, फिर ऐसी कुघड़ी किसीको नसीब न हो। यह अनहोनी बात जब उनके सम्बन्धीने मुझे बताई तो मानो शरीरको लकवा मार गया। मैं उसकी ओर हतबुद्धि बना-सा देखता रहा। समझमें नही आया कि मैं उसका मुँह नोच लूँ या अपना सिर पीट लूँ। रुलाईसे गला रुँध रहा था, मगर घरवालोके भयसे खुलकर रो भी न सका। रातको कई बार नीद उचाट हुई, क्या बाबू सुमेरचन्दजी चले गये? दिल इस सत्य बातको निगलनेके लिए तैयार नही होता था। मगर रह-रहकर कोई सुइयाँ-सी चुभो रहा था। और दिमाग़में यह फ़ितूर बढ़ता जा रहा था कि बाबू सुमेरचन्दजी अब देखनेको नही मिलेंगे।

खंडवा अधिवेशनके बाद ८ मई १९३८ को तो मुजफ़्फ़रनगरकी मीटिंगमें वह आये ही थे। काश! उस समय मालूम होता तो जी भरकर उन्हे देख लेता। मुझे क्या मालूम था कि मीटिंगके बहाने उनके दर्शनार्थ कोई आन्तरिक शक्ति मुजफ्फरनगर खीचे ले जा रही है। मुज़फ़्फ़र-नगरकी मीटिंगका सँभालना उन्हीका काम था। कन्धेपर हाथ रखकर जो-जो बातें सुझाईं, वह सब आज रुलाईका सामान बन रही है।

मै कहता हूँ यदि उन्हें इस संसारसे जाना ही था तो जैसे दुनिया जाती है, वैसे ही वे भी चले जाते। व्यर्थमे यह प्रीति क्यो बढानी थी। समाजने उनका दामन इसलिए नही पकड़ा था कि मँझधारमें धोखा दिया जायगा। किसने कहा था कि वह इस झगड़ालू समाजको प्रीतिकी रीति बतायें, और जब प्रीतिकी रीति बताई ही थी तो कुछ दिन स्वय भी तो निभाई होती।

सहारनपुर-जैसी ऊसर जमीनमें किस शानसे और किस कौशलसे परिषद्का अधिवेशन कराकर सुधारका बीजारोपण किया; और रुड़की-में परिषद्के छठे अधिवेशनके सभापति होकर क्या-क्या अलौकिक कार्य किये? मैं यह कुछ नही जानता हूँ, मै पूछता हूँ परिषद्के बारहवें अधि-वेशनके सभापति बनकर वह देहलीमे क्या इसीलिए आये थे कि इतना शीघ्र हमे यह दुर्दिन देखना नसीब होगा। यदि ऐसी बात थी तो क्यों वे सैकड़ों बार महगॉव-कांडके सम्बन्धमे देहली आये? क्यों वह सतना, खंडवा, लाहौर, फ़ीरोजपुर, रोहतक, मुजफ़्फ़रनगर, मेरठ, ग्वालियर आदि स्थानोंमे परिषद्के लिए मारे-मारे फिरे? यदि परिषद् उन्हे इस तरह छोडनी थी तो अच्छा यही था कि वह परिषद्का नाम भी न लेते और इसे उसी तरह मृतक-तुल्य पड़ी रहने देते। क्यों उन्होने देहली अधिवेशन-में आकर परिषद्मे नवजीवन डाला, और क्यो सतना और खंडवामें पहुँचकर परिषद्की आबरूमे चार चाँद लगाये? बाबू सुमेरचन्द अब नही है, वर्ना सब कुछ मै उनका दामन पकड़कर पूछता।

मैने उन्हे सबसे पहली बार सन् ३५ में जब देखा था, तब वह देहली

में परिषद्के बारहवें अधिवेशनके सभापति होकर आये थे। बा० सुमेर-चन्दजी जितने बड़े आदमी थे, उतनी ही शानका देहलीवालोंने उनका स्वागत किया था। देव-दुर्लभ जुलूस निकाला था। देहलीकी जनतामे परिषद्-विरोधियोंने भ्रम फैलाया हुआ था, किन्तु यह सब बा० सुमेरचन्दजी के व्यक्तित्वका प्रभाव था, जो देहली-जैसे स्थानकी धार्मिक जनता, परि-षद्की अनुयायी हो गई, और परिषद्को वह अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई जो इससे पूर्व परिषद्को तथा अन्य जैन-सभाओंको नसीब नही हुई थी।

खंडवा अधिवेशनमे जव विषय-निर्वाचनी समितिमें मन्दिर-प्रवेश प्रस्तावपर वहस करते हुए हम मनुष्यत्व खो वैठे थे, तव बा० सुमेरचन्दजी किस शानसे मुस्कराते हुए उठे, और किस कौशलसे प्रस्तावका संशोधन करके परिषद्को मरनेसे वचा लिया था। वह सव आज आँखोंमें घूम रहा है। बा० सुमेरचन्दजीने कितनी आरजू-मिन्नत करके परिषद्के आगामी अधिवेशनका निमन्त्रण स्वीकार कराया था। उनकी आँखोंमें कौन-सा जादू था, उनकी वाणीमें ऐसी क्या शक्ति थी कि अन्य सब स्थानोंके निमन्त्रण वापिस ले लिये गये, और देहली प्रान्तका ही निमन्त्रण सर्वसम्मतिसे स्वीकृत हुआ।

बाबू सुमेरचन्दजी बातके धनी, समयके पाबन्द धर्मनिष्ठ पुरुष थे। जो बात कहते थे, तोलकर कहते थे। क्या मजाल, उनकी बात काटी जाय, मीटिंगमें बैठे हुए सबकी बात बच्चोंकी तरह चुपचाप सुनते, बच्चो-की तरह हँसते, और जब वह बोलते तो बहुत थोड़ा बोलते। मगर जो बोलते वह सब सूत्ररूप, बा-मायने। हम कहते—"यह बात आपने पहिले ही क्यों न कह दी, व्यर्थ हमें बकवादका मौक़ा दिया।" वह खिलखिलाकर हँस पड़ते और हम उनकी इस सरलताकी ओर नतमस्तक हो जाते। बा० सुमेरचन्दजी सहारनपुरके सबसे बड़े वकील थे। उन्हें लखनऊ, इलाहा-बाद, आगरा, कानपुर-जैसे नगरोंमे वकालतके लिए जाना पड़ता था। उनके क़ानूनी ज्ञानका लोहा प्रतिद्वन्द्वी भी मानते थे। मैंने कभी आपकी त्यौरियोंपर बल पड़ते हुए नहीं देखा। आपत्तिके समयमें भी उन्होंने

पार्थसिद्धचुपाय, ब्रह्मचारीजी और मैने मिलकर कर्मकाण्ड भाग २, और श्री शरच्चन्द घोषाल मैजिस्ट्रेट कूचविहारने परीक्षामुखम्का अग्रेज़ीमें वृहद् भाष्य और उपोदघातसहित अनुवाद किया। श्री घासीराम जैन प्रोफेसर विक्टोरिया कॉलेज ग्वालियरने तत्त्वार्थसूत्रके पंचम अध्याय के आधारपर Jain cosmology शीर्षक मौलिक ग्रन्थ लिखा। इस प्रकार The Sacred Books of Jainas Series मे १२ पुस्तकें छप चुकी है। जिनमेंसे तीन कुमार देवेन्द्रप्रसादने आरासे प्रकाशित की। भावपाहुड और आत्ममीमासा इस समय मेरे पास मुद्रणार्थ तैयार रखे है।

१९२९ मे मै बीकानेर हाईकोर्टका जज नियुक्त हुआ। छह सौ रु० वेतन मिलता था। लेकिन स्वतन्त्र विचारका मनुष्य उन दिनो रियासतोंमें नही निभ सकता था, अत. हम तीनो जज २-३ बरसके अन्दर वापिस आ गये।

१९३० में लाहौरके प्रसिद्ध बैरिस्टरका जो कि मेरे सहपाठी थे सहसा देहान्त हो गया। उनके लिये हुए बहुतसे मुकदमे थे। वहाँ जाकर उन सबको निवटाया।

यदि मै निरन्तर सरकारी नौकरी करता रहता तो जज या कमिश्नर अवश्य हो जाता, परन्तु इसके आगे जीवन कितना शुष्क और नीरस हो जाता? दिन दफ़्तरमें और रात क्लबो और पार्टियोमें बीत जाती। मानसिक अभिवृद्धि और आत्मोन्नतिका कोई अवकाश न मिल पाता। अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है।

मैने सरकारी वकालतसे १९१६ में त्यागपत्र दिया। इन ३५ वर्षोमें कितना परिभ्रमण किया, कितने व्यक्तियोसे मिला, कितने हजार पृष्ठ लिख डाले, कितनी पुस्तकें पढ डाली—सोचकर मुझे स्वय आश्चर्य्य होता है। भारतका कोना-कोना मैने छान डाला। कलकत्ता, पटना, इलाहाबाद, लखनऊ, लाहौर, बम्बई—प्रायः सभी हाईकोर्टोंमें वकालत कर ली। देशके सभी नेताओसे सम्पर्क रहा, मेरे जीवनका और जैनसमाजका इतिहास तो लगभग तत्सम रहा है। संस्कृत और प्राकृतके जितने

जैन-ग्रन्थोंका अँगरेजीमें अनुवाद हुआ, उनके सम्पादन, मुद्रण या प्रकाशन में मेरा हाथ रहा है। बिरले ही किसी व्यक्तिने समाचार-पत्रका निरन्तर इतने वर्ष सम्पादन किया हो जितना मैंने गजटका किया है। इतना बहु-मुखी और सम्पन्न जीवन व्यतीत करनेके बाद अब मुझे किस वस्तुका अभाव है ?

—१५ जून १९५१

बाबू

जन्म— हरदा, सी० पी० भाद्रपद कृष्ण १ संवत् १९४६

स्वर्गवास— इन्दौर, ७ जून सन् १९४२

मालव-क्रान्तिके दूत

श्री कौशलप्रसाद जैन

बाबूजीके दर्शनका सौभाग्य मुझे सन् १९३६-३७ में हुआ था, उनके बारेमे मैंने इतना काफी पढ़ा और सुना था कि मुझे उन-जैसे बहुमुखी नेताके पास जानेमे कौतूहल-मिश्रित भय-सा लग रहा था, पर मुझमें यह भाव केवल उसी समय तक रहा, जब तक उन्होने मेरा परिचय-पत्र नही पढ़ लिया। उसके बाद तो मैंने महसूस किया कि मैं एक पिताकी स्नेहमयी छत्रछायामे आ गया हूँ। सबसे पहिले उन्होंने मेरे ठहरने और भोजनके बारेमें प्रश्न किया, निश्चिन्तता बतला देनेपर भी उन्होंने मुझे पहिले घरपर ही नाश्ता कराया और तुरन्त ही पत्रमे लिखित कार्यके लिए मुझे साथ लेकर एक प्रसिद्ध कोटाधीशके पास चल दिये। इतने बड़े कार्यकर्त्ता और साहित्यिकके समाज-सेवा सम्बन्धी कार्यके लिए यह तत्परता मेरे लिए नई बात थी। एक घण्टेके अन्दर उन्होंने मुझे इन्दौरके प्रायः सभी प्रमुख व्यक्तियोसे मिला दिया और रास्तेमे प्राय प्रत्येकका परिचय और पड़नेवाले स्थानोकी चर्चा कर दी। इतने थोड़े समयमें इन्दौर-जैसे बड़े शहर और वहाँकी समाजके प्रमुख व्यक्तियोका परिचय करानेके अद्भुत ढंग और प्रभावने मुझे आश्चर्यचकित कर दिया। हर स्थानपर मैंने देखा कि बाबूजीका बड़ा मान और प्रभाव था, प्रत्येक व्यक्ति नम्रतापूर्वक कहता था—"बाबूजी, जब आप कहते है, हमें क्या एतराज़ है ?' परिषद्-क्षेत्रोंमें उन दिनों इन्दौरके सम्बन्धमें एक विशेष धारणा बनी हुई थी, अतः काफ़ी सोच-विचारके बाद इन्दौर डेप्युटेशन लानेकी बात निश्चय की गई थी और मुझे सफरमैनाके एक सिपाहीका कार्य सौंपा गया था। सबसे मिलकर मैंने मनमें सोचा कि हम लोग व्यर्थ ही घबरा

रहे थे, इन्दौर तो हमरा घर-जैसा ही है, हालाँकि पीछे अनुभवने मुझे बताया कि इस सारी सफलताके पीछे तो बाबूजी थे।

उसके बाद तो जबतक बाबूजी जीवित रहे, मुझे कई बार उनसे मिलने और उन्हे नजदीकसे देखनेका सुअवसर प्राप्त हुआ। केवल इतना ही नही, मुझे उनका स्नेहभाजन होनेका सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। जितना-जितना मै उनके नजदीक आता गया, वे मुझे उतने-उतने बडे दिखाई देते गये। विद्वान्, साहित्यिक, विचारक, सुधारक, देशभक्त होनेके साथ-साथ वे महामानव थे। प्रत्येक ईमानदार सार्वजनिक कार्यकर्त्ता की तरह वे भी अभावोके बीचमे खडे थे, पर उनके पास पहुँचनेवाला अनाथ, विद्यार्थी अथवा कोई भी जरूरतमन्द अपने आपको किसी धन्ना-सेठके पास पहुँचा हुआ अनुभव किया करता था। दूसरोकी सहायता के लिए अपने घरके जेवर बेच देनेकी बात उनके सम्पर्कके प्रायः सभी लोग जानते है। दूसरोके लिए ही बाबूजी जैसा स्वाभिमानी व्यक्ति धनवानो और राजाओके यहाँ याचक बनकर जाता था, जबकि अपने किसी भी अभावमे वे किसीके आगे जबान नही खोलते थे। मध्य-भारतके प्रसिद्ध पत्रकार श्री कृष्णचन्द्र मुद्गल द्वारा बताया गया बाबूजी का एक संस्मरण इस बातका प्रमाण है। देवास स्टेटमे बाबूजीको आमन्त्रित करके उनका सम्मान किया गया था, राज्यके अतिथिके रूपमें वे वहाँ सम्मानित किये गये थे, उन्हे जो भेट वहाँ मिली थी, उसे उन्होने सार्वजनिक सम्पत्ति मानकर वहीकी किसी सस्थाको दे दिया था, जबकि उनके पास इन्दौर पहुँचनेके लिए खर्च समाप्त हो गया था, और किसीके आगे हाथ फैलानेके मुकाबले उन्होंने अपनी घड़ी बन्धक रखना पसन्द किया था। हमारे आजके जीवनमे कितने सार्वजनिक कार्यकर्त्ता है, जो किराया और भेट स्वीकार नही करते है।

अपनी उत्कट देशभक्तिके कारण वे चार वर्ष इन्दौर राज्यसे निर्वासित रहे, अपने सुधारक विचारोंके कारण धनाढ्योके साथ उनकी पटरी नही बैठती थी, अपनी स्पष्टवादिताके कारण वे साथियोमे आलो-

चित होते थे, पर जहाँतक बाबूजीके व्यक्तित्वका प्रश्न है, वे सर्वप्रिय थे, सर्वमान्य थे, सब लोग उनका आदर करते थे।

उनका सार्वजनिक कार्य भी इसी प्रकार चतुर्मुखी था, मालवेकी कोई ऐसी संस्था नही थी, जिसमें बाबूजीका किसी-न-किसी प्रकार सहयोग न रहा हो, या वे उसके पदाधिकारी न रहे हों। कांग्रेस कमेटीके सभापति, मध्यभारत-हिन्दी-साहित्यसमितिके प्रचार-साहित्य व संयुक्त प्रधान मंत्री, राज्य-प्रजा संघकी व्यवस्थापक और कार्यकारिणीके सदस्य, अखिल भारतीयलमेंचू जैन-सभाके सभापति, म्युनिस्पल कौन्सिलर आदि न जाने कितनी प्रवृत्तियोसे वे सम्बन्धित थे, इसके अलावा 'प्रत्येक व्यक्ति और संस्थाका कार्य करनेमे कभी संकोच नही करते थे। जब भी उनको देखा, वे किसी संस्थाकी रिपोर्ट, किसी मीटिंगका कार्यक्रम, किसीका अध्यक्षीय भाषण, किसीका आय-व्यय लिखते ही मिले।

इन सब विविध कार्यक्रमोके बीच उनका ठोस साहित्यिक कार्य कभी बन्द नही होता था, सस्ता-मनोरंजक साहित्य न वे लिख सकते थे और न पढ़ ही सकते थे, बेंजामिन फ्रेन्कलिनका जीवनचरित्र, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ सम्बन्धी 'जीवन-स्मृति, जैनधर्मका इतिहास (चार भाग), सुधार और प्रगति, मराठा और अंग्रेज (एक ऐतिहासिक ग्रन्थ) जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें उनके द्वारा लिखी गई देखकर उनकी रुचिका अन्दाज लगाया जा सकता है। इन्दौरमें हिन्दी-साहित्य-समितिकी स्थापना और प्रसारणमे पूर्ण सहयोग देकर कायको आगे बढाना उन्हीका कार्य था। अ० भा० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन इन्दौरमें कराना, प्रथम बार उसके साथ सम्पादक-सम्मेलन, खादीप्रदर्शनी और कविसम्मेलनका आयोजन बड़े-बड़े साहित्य-महारथियोके सभापतित्वमे सम्पन्न करा लेनेके पीछे बाबूजीका परिश्रम और योग्यता कार्य कर रही थी।

सामाजिक विचारोंमें वे कट्टर सुधारवादी होते हुए भी जनताको अपने साथ लेकर चलनेके पक्षमें रहते थे। अपनी बात वे निधड़क और ज़ोरदार शब्दोंमें कहते थे और सिद्धान्त रूपमें कोई समझौता नही करते

थे। अन्यायके प्रति झुकना या समझौता करना, उनके स्वभावके विरुद्ध था। इन्दौरके तात्कालिक शासकके चरित्र सम्बन्धी उच्छृंखलताओं को लेकर आपने इन्दौरमे जो आन्दोलन उठाया था, उसके बदले आपको और आपके साथियोको इन्दौरसे निर्वासित किया गया था। आपके अन्य साथी माफी माँगकर वापिस आ गये, पर आपने कोई आश्वासन देकर भी आना स्वीकृत नही किया था।

पूरे मालवप्रान्तमें जब भी कभी कोई सार्वजनिक हितका कार्य होता था, बाबूजी सब कुछ भूलकर सबसे आगे रहते थे। आजके अनेक कार्य-कर्त्ता बाबूजीके प्रोत्साहन, सहयोग और अनुभवसे आगे बढ पाये है। बहुतसे व्यक्तियोको बाबूजीने सहारा देकर सार्वजनिक जीवनमे उतारा है। एक शब्दमे यदि हम कहे, आजके जागृत मालवेके उत्थानमें बाबूजीका बड़ा हाथ है, तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

—२९ अक्टूबर १९५१

वह देवता नहीं, मनुष्य था !

श्री दौलतराम मित्र

"हमने माना हो फरिश्ते शेख़जी !
आदमी होना बहुत दुश्वार है !!"

बाबू सूरजमलजी जैन ता० ७ जून १९४२ को इन्दौरमे ५२ वर्षकी आयु पार करके उस पार चले गये।

म० गांधीके कथनानुसार मृतकका तो गुणगान ही करना चाहिए। बाबूजीने मनुष्यत्व प्राप्त किया था, वे मनुष्य थे। फिर भी मुझे यह कह देनेमें जरा भी संकोच नही हो रहा है कि उनमे मनुष्योचित कमजोरियाँ भी थीं।

यह मूरत सौम्य और प्रतिभाशाली थी। इस प्रतिमामें प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण झलकते थे।

शरीर रोगी था और आर्थिक स्थिति खराव थी, फिर भी परोपकार के लिए वे आपत्तियोंका खयाल न करते थे।

द्विजेन्द्रलालरायने अपने 'उस पार' नाटकमे ऐसे (वावूजी-जैसे) एक व्यक्तिकी कल्पना की है, जिसका नाम भोलानाथ है। आशा लेकर आये हुए गरीवके सामने अपनी आर्थिक स्थितिका खयाल छोड़कर इनका हाथ आगे वढ़ ही जाता था। इनके पास गया हुआ व्यक्ति कभी निराश होकर लौटता किसीने नही देखा।

वावूजीने अपना तन, मन, धन सवके लिए खुला रख छोडा था, जिसका जी चाहता उपयोग कर लेता। लोगोने दुरुपयोग भी किया, पर उन्होने किसीकी शिकायत नही की। वे खुद या दोस्तोके द्वारा यह ज्ञात हो जानेपर भी कि दूसरा उनका दुरुपयोग कर रहा है, वे उसे दुरुपयोग करने देते थे। यह वात उन्हे प्यारी थी।

सैकड़ो छात्रोंको पढाईसे तथा सैकडो गृहस्थोको रोजीसे लगानेमें उन्होने अपनी सारी शक्ति खपा डाली।

मतभेदी तो क्या मतद्वेषी लोगोसे भी वे प्रेम करते थे।

वावूजी प्राचीन संस्कृतिके काफी हिमायती थे। भले ही सस्कृति के किसी अश या अंगको वे न अपना सके हो, परन्तु उसका उन्होने कभी विरोध नही किया, जैसे नित्य देवपूजा।

सुधारक भी वे पूरे थे। यह वात उनके लेखोसे स्पप्ट जाहिर होती है।

राजपुरुपोका चित्त-हरण कर लेना कठिन काम है, उसे भी वे साध लेते थे, और उसका उपयोग वे असहाय लोगोंके विगडे काम वनाने तथा जैनधर्मके प्रचारमें करते थे। जनहितके लिए वे राजपुरुपोसे विरोध भी कर वैठते थे। एक वार ऐसा विरोध करनेके कारण उन्हे इन्दौरसे वाहर होना पड़ा था।

वावूजी कितने कर्मठ और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, इस वातका

पता यों लग जाता है कि वे किसी समय एक साथ २१ पारमार्थिक संस्थाओ का नेतृत्व करते थे ।

बुद्धिमत्ता उनमे इतनी थी कि उनके साधारण, स्वाभाविक, नैसर्गिक ज्ञानके आगे विशेष ज्ञानीजनोंको झेंप जाना पड़ता था ।

उनका जैनधर्मपर श्रद्धान, कुलधर्मके रूपमे नही था, किन्तु परीक्षा-प्रधानताके रूपमें था । जैनधर्म-प्रचारके लिए जो अष्टनिमित्त बतलाये गये हैं, उनमेंसे बहुतसे निमित्तोके जरिये उन्होंने जैनधर्मका प्रचार किया है । इस परसे यह कहना अत्युक्ति नही होगा कि वे मुक्तिके अधिकारी है ।

वे सबके थे, पर मेरी समझमे मेरे ज्यादा थे । एक वक़्त हम दोनो सुख-दुःखकी बाते कर रहे थे कि मै अपने अश्रु-बिन्दुओसे उनका पाद-प्रक्षालन करने लगा तो उन्होंने भी मेरा मस्तकाभिषेक कर डाला । वे मुझे एक चीज़ दे गये है—मैंने उनसे कुछ सीखा है । मैं उनका कृतज्ञ हूँ । मैं जानता हूँ, बाबूजीके निंदक भी है । उसका कारण है—

"द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ।"

—कालिदास ।

—अनेकान्त

जून १९४२

महात्मा भगवानदीन

तप-त्यागकी मूर्त्ति

महात्माजी तप-त्यागकी साक्षात् मूर्त्ति हैं। जैनसमाज-सेवाकी लगनने उन्हें स्टेशनमास्टरी छोड़नेको मजबूर कर दिया। ऋषभ-ब्रह्मचर्य्याश्रमके अधिष्ठाताका पद ग्रहण करते ही भरी जवानीमें गृहस्थी त्याग कर ब्रह्मचर्य्यव्रत ले लिया और सदैवको मोह-मायासे मुक्त हो गये, और ३२–३३ वर्षसे देश-सेवाकी दीक्षा लेकर निष्काम मानव-सेवामें जुटे हुए हैं। हमारी इच्छा थी कि देशके इस निस्पृही महात्मा-का संस्मरण उसके व्यक्तित्वके अनुकूल ही प्रकाशित हो, किन्तु खेद है कि हम लिखानेमें सफलता न पा सके।

—गोयलीय

महात्माजी

श्री जैनेन्द्रकुमार

लेखन व्यक्तिके अन्तरंगकी अभिव्यक्ति है। महात्मा भगवानदीनजीके सम्बन्धमें तो यह और भी बात है। क्योकि शुद्ध आत्म-प्रयोजनको छोड़कर किसी और नाते उन्होंने लिखा है, ऐसा मुझे नही मालूम। उनके लेख-क्रमको समझनेके लिए हमें उनकी जीवन-धाराका कुछ परिचय पाना चाहिए।

उनकी मूलवृत्ति साधककी वृत्ति है। धर्मपुस्तकोको उन्होने विद्याके तौरपर नही, मानो साधनाके निमित्त पढा। उस समय उनमे तीव्र धर्मजिज्ञासा थी। धर्माध्ययनसे धर्मार्थ जीवन होम देनेकी ही तत्परता उनमें जागती गई। वह उनके आत्ममन्थनका समय था। उसका परिणाम यह हुआ कि नौकरीको और परिवारको भविष्यपर छोड़ वह घरसे निकल पड़े। धर्मकी प्यास उनमें उत्कट थी, और संयम-साधनाके वह व्रती थे। तीर्थोकी यात्रा की, जगल-पहाड़ घूमे, अनेक संस्थाएँ देखी और अन्तमें ऋषभब्रह्मचर्याश्रम लेकर हस्तिनागपुरमें जम बैठे।

यह काल साहित्य-रचनाकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। धर्मोत्कण्ठा जागनेसे पूर्व देवकीनन्दन खत्रीकी 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के मुक़ावलेका एक तिलस्मी उपन्यास उन्होने लिखा था।

जीवनमें यह साधनाका काल उपस्थित होनेपर उन्होने उस ग्रन्थ-को जला दिया। इस समय उन्होने दैनन्दिनी (डायरी) लिखी, जिसमें आत्म-मन्थनके अनुभव दर्ज किये। और कुछ भक्तिके पद-भजन लिखे। ब्रह्मचर्याश्रमके बालक अक्सर उनकी बनाई प्रार्थना गाया करते थे। इसके साथ धार्मिक पुस्तकोंका अध्ययन करते समय, उनकी कुञ्जी और

भाष्य भी आत्मलाभकी दृष्टिसे वह रचा करते थे। स्पष्ट है कि यह सब साहित्य-रचना मुद्रणमें नही आई, क्योकि उसका ध्यान ही न था। पर जीवनमें उसका लाभ अवश्य भरपूर हुआ।

ब्रह्मचर्याश्रमका काल महात्माजीके जीवनका अत्यन्त स्मरणीय परिच्छेद है। पुस्तकोंसे जो स्फूर्ति प्राप्त की थी, वह यदि भावुक थी तो आश्रम-जीवन उसके लिए कसौटी बन गया। यहाँ उनकी साधनामें जो रूढ़िबद्ध और सामाजिक था, वह कम होता गया और जो शुद्ध नैतिक और आध्यात्मिक था, वह प्रबलतर होता गया। इसी समय ब्रह्मचर्याश्रम-के इतिहासमें संघर्ष उपस्थित हुआ, जिसको मैं तो आज रूढ़ि और प्रगतिके संघर्षके रूपमे ही देखता हूँ।

अस्तु, इस कालमें श्री नाथूराम प्रेमीने उनसे 'जैनहितैषी'मे कुछ लेख प्राप्त किये, जिनमें धार्मिक श्रद्धाके साथ कार्मिक तेजस्विता भी देखी जा सकती है। आज भी वह लेख पुराने नहीं मालूम पड़ेंगे, उनमें फड़क है और सच्ची क्रान्तिका स्वर है; क्योंकि मूलमें धर्मनिष्ठा है और स्थितिसे तीव्र असन्तोष है।

इस काल उन्होंने रजिस्टरोंमें जो अपने अध्ययन और अनुभवके परिणाम अङ्कित किये, अथवा कि सहयोगियोंके साथ जो पत्रव्यवहार किया, वह भी यदि पाया और प्रकाशित किया जा सके तो साहित्यकी वह अनमोल निधि सिद्ध हो, ऐसा मेरा अनुमान है।

किन्तु जीवन तो वर्द्धनशील है और हस्तिनापुरके ब्रह्मचर्याश्रमसे अलग होकर जल्दी ही उन्होंने अपनेको राष्ट्रिय क्षेत्रमें पाया। आन्दो-लनके आत्यन्तिक प्रारम्भ यानी सन् १८ में ही वह जेल पहुँचे। इस कालकी उनकी अभिव्यक्ति राष्ट्रिय गौरवसे भरी हुई है। उन्होने भाषण दिये, कविताएँ लिखीं और विविध प्रकारोंसे अपने विचार व्यक्त किये। पहली बार जेलमें दो मोटे रजिस्टर तो दोनों तरफ़ भरकर लिखे ही। यह राष्ट्रिय प्रवृत्ति ठेठ सन् ३४ तक उनमें प्रधान रही। इसमें कर्मसे जीवन इतना भरा था कि मननको अवसर न था। जेल ही लिखने-

के लिए जगह हो सकती थी। वह समय साहित्य-रचनाकी दृष्टिसे उनका कभी खाली नहीं गया। कभी मुझे उन जेलके रजिस्टरोमें झाँकनेका सौभाग्य मिला है, मैंने पाया है कि उनकी अधिकाश अभिव्यक्ति अध्यात्म-मुखी है और अतिशय मूल्यवान् है। मुझे भय है कि बहुत करके वह आज अप्राप्य है।

सन् २१ में अरविन्द घोपका तत्कालीन साहित्य महात्माजी इसी दृष्टिकोणसे पढते और स्वीकार करते थे कि वह जैन-आत्मवाद और कर्मवाद तथा मुक्तिवादका शुद्ध समर्थन है।

इस राष्ट्रिय और राजनैतिक अध्यायके वाद उनके जीवनका समन्वय-युग आरम्भ होता है। इस कालमें उन्होने अत्यन्त उपयोगी और रुचिकर वाल-साहित्यका निर्माण किया है, वह इतस्तत पत्रोमें भी छपता रहा है। यद्यपि रचनाकारका उनपर नाम नही रहा है। यह पद्यात्मक है, और किन्ही उद्योगी जनको इन्हें पुस्तकाकार निकालनेका यत्न करना चाहिए।

इसके साथ कुछ निबन्ध भी उन्होनें लिखे है। यथा-प्रयोजन ही अधिकाश वाध्य होकर ही वह लिखते है और उनके लेखोका श्रेय उनसे अधिक 'विश्ववाणी'के सम्पादकको है, जहाँ कि वे छपते रहे है। 'जैन सस्कृति' वाला लेख तो जैनियोको विशेप रुचिकर हुआ है और जहाँ-तहाँ उद्धृत होता रहा है। उन निवन्धोकी खूबी यह है कि भाषा एकदम सहज और वोलचालकी है और भाव वह है जो आध्यात्मिकोके लिए भी गूढ पड़ते है। अत्यन्त कठिन विपयको वेहद सरलतासे वे उपस्थित करते है। और किसी पक्षका खण्डन न करके सत्य पक्षको ऐसे चित्रित करते है कि मानो वह उन सबका समुच्चय ही हो। यही अपने जैनधर्मकी अनेकान्त पद्धति है।

उनके इस समूचे जीवनकालमें और उसमें सृष्ट साहित्यमें यहाँसे वहाँ तक एक विशेष निष्ठाकी रीढ देखी जा सकती है। उस निष्ठाको मैं नाम देना चाहूँगा आत्म-धर्मपरायणता। यह गुण उनके रचे प्रत्येक शब्द-को स्पंदन और स्थायित्व देता है। इसीसे वह निस्तेज नही पड़ सकता।

तत्त्वार्थसूत्र उन्होंने अपने जीवनके पहिले उत्थानमें पढ़ा। तबसे मानो वह उनके समूचे आत्मदर्शनका मूलाधार ही बन गया है। उन्होंने उसे अपने ही रूपसे मनन किया और मनमें बैठाया है। अपने आचरणको भी उसपर ही गढ़नेकी चेष्टा की है। हम उसे मोक्षशास्त्र कहते हैं। महात्माजी उसे अपने शब्दोंमे 'स्वातंत्र्य-दर्शनसार' कहते है। उस भावार्थमें उक्त ग्रन्थका भाष्य उन्होने शायद ऋषभ-ब्रह्मचर्याश्रममें रहते ही आरम्भ किया था। लेकिन वह बात अब भी उनके मनमे उपस्थित है और भला दिन होगा कि जब उस महान् ग्रन्थका उस प्रकारका भाष्य महात्माजी सबके लाभके लिए लिखकर पूरा कर प्रकाशित होने दे सकेंगे।

—दिगम्बर जैन
दिसम्बर १९४२

साहसको नही खोया। ऐन मौकेपर जिन सहयोगियोने आपको धोका दिया, कभी उनके प्रति आपके हृदयमे अनादरने घर नही किया। उल्टा लोगोके आगे उनकी बेवसीकी वकालत की और उनके अन्य उत्तम गुणोंकी प्रशंसा करके जनताकी दृष्टिमे आदरणीय ही बनाये रक्खा।

बा० सुमेरचन्दजीको अपनी वकालतसे साँस लेनेको फुरसत न थी। मगर परिषद्के लिए कितना समय देते थे, यह परिषद्वाले जानते है। महमाँनवाज ऐसे कि घरपर कैसा ही साधारण-से-साधारण महमान आये तो उनके पाँवमे अपनी आँखे बिछा देते थे। अभिमान तो नामको भी न था। शायद ही उन्होंने अपनी उम्रमे किसी नौकरको अपशब्द कहे हो।

देहली अधिवेशनमे सभापति-पदसे आपने कहा था—"सज्जनो, आज हम अपनेमे एक ऐसे सज्जनको नही देख रहे है जिसने अपनी सेवाओ-से हमारी समाजको सदैवके लिए ऋणी बना दिया है। इनका शुभ नाम श्रीमान् रायबहादुर साहब जुगमन्दरदासजी है। आज हमारे बीच आप नही हैं, अब तो स्वर्गीय रत्न बन चुके है। आपकी सेवाओका पूर्ण विवरण तो लिखा जाना कठिन है। मै तो आपकी थोड़ी-सी भी कृतियोका उल्लेख नही कर सका हूँ। हाँ! इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि आप जैन-समाजके एक असाधारण महापुरुष थे। आपके वियोगसे जैनसमाजकी जो क्षति हुई है, निकट भविष्यमे उसकी पूर्ति नही दीखती। आपकी उदार सेवाओंके लिए समाजका मस्तक आपके आगे झुका हुआ है। क्या मै यह आशा कर सकता हूँ कि उदार जैन-समाज आपके उचित स्मारककी स्थापनापर विचार करेगी।"

मै आज इतने दिनके बाद उक्त शब्दोकी कीमत समझ पाया हूँ। यह उनका संकेत किसी अनन्तकी ओर था। खंडवाकी स्वागतकारिणीने जुगमन्दर-सभा-स्थान बनाकर आपके शब्दोको मान दिया था। क्या मै आशा करूँ कि बा० सुमेरचन्दजीकी पवित्र स्मृतिमे जैन-समाज कोई अलग स्मारकका आयोजन करेगी। बा० सुमेरचन्दजी कहनेको अब

इस नश्वर शरीरमें हमारे साथ नहीं हैं, मगर उनकी आत्मा, ऐसा मालूम होता है कि हमारे चारों तरफ़ मँडरा रही है। जिस दस्सापूजा-प्रक्षालकी अभिलाषाको लेकर वह खडवेसे आये थे और आते ही जिसमें वह जुट गये थे, क्या वह कार्य पूरा करके हम उनकी इस अभिलाषाको पूर्ण करके उनकी आत्माको शान्ति प्रदान कर सकेंगे ?[१]

आ अन्दलीब मिलके करें आहों जारियां।
तू हाय गुल पुकार पुकारूँ मैं हाय दिल ॥

—जैनसन्देश, आगरा
१९३८

---

१ यह मेरा लिखा संस्मरण जैन सन्देशमें एक नामके लोभी सज्जनने अपने नामसे छपवा दिया था। —गोयलीय

जन्म— नसीराबाद, १८७४ ई०

स्वर्गवास— लखनऊ, १७ सितम्बर १९५१ ई०

आत्म-कथा

[वकील साहबने अपनी जीवनी स्वयं लिखकर एक बहुत बड़ी आवश्यकताकी पूर्ति की है। यह जीवनी 'अज्ञात जीवन' शीर्षकसे २०×२६ आकारके २४० पृष्ठोंमें मुद्रित है। उसीपरसे हम यह संक्षिप्त सार दे रहे हैं।]

जाति-मद, कुल-मदकी भावना हेय है, किन्तु अपने पूर्वजोकी गौरवगाथा उत्साहवर्द्धक तथा शक्तिप्रद होती है। हमलोग क्षत्रियकुलोत्पन्न, राजा अग्रकी संतान, वीसा अग्रवाल, जिन्दल गोत्रीय है। रुईका व्यापार करनेसे रुईवाले सेठ कहलाते थे। व्यापार करते-करते वैश्य कहलाने लगे। इधर चार पीढ़ियोंसे अग्रेजी सरकारकी चाकरी करनेसे वैश्य पदसे भी गिर गये और सेठके स्थानमें बाबू कहलाने लगे। मैं तो वकालतका व्यवसाय और संस्कृत भाषाका अभ्यास करनेसे अपनेको पण्डित कहलानेका अधिकारी समझता हूँ। मेरे चारों पुत्रोंने भी वकालतकी उपाधि प्राप्त कर ली है। मेरी छोटी वेटी शान्ति और पोती शारदा दोनोंने संस्कृत भाषामें एम० ए० की उपाधि प्राप्त कर ली है। मेरी कनिष्ठ पुत्र-वधू एम० ए० (Previous) पास है। मेरी वडी वेटीकी वेटी प्रेमलताने लन्दन विश्वविद्यालयसे वी० ए० (Hons) डिगरी प्राप्त की है। कर्मणा वर्णव्यवस्था सिद्धान्तानुसार हम लोग किसी प्रकारसे भी बनिये नही है।

हमारे पुरखा खास शहर दिल्लीके रहनेवाले थे। मेरे परपितामह सेठ चैनसुखदासजी नसीराबाद जा वसे थे। मेरे पितामह वनारसीदासजीका जन्म वही हुआ था। वही वे उच्च पदाधिकारी हुए और वही ३५ वर्षकी भरी जवानीमें १९५८ ई० में उनका शरीरान्त हुआ।

मेरे बाबा फारसी विद्यामें निपुण और पारंगत थे। मेरे पिताजी भी फारसी भाषामें धाराप्रवाह नि.संकोच बात कर लेते थे, और मैंने भी फारसीकी ऊँचे दरजेकी पुस्तकें पढ़ी है।

१८५७ के गदरसे कुछ पहिलेसे दादाजी, पिताजी और बुआजी दिल्लीमे रह रहे थे। बाबाजी अकेले ही नसीराबादमे थे। गदर शान्त हो जानेपर उन्होंने दो आदमी लेनेके लिए दिल्ली भेजे। लेकिन उनमेंसे एक आदमी रास्तेमे मार डाला गया और दूसरा आदमी उन सबको लेकर बैलगाड़ीसे नसीराबादको रवाना हुआ। रास्तेमे एक मुसलमान सिपाही मिल गया। वह फरुक़नगरका रहनेवाला था, और यह जानकर कि दादीजी फरुकनगरकी बेटी है, वह गाड़ीके साथ-साथ पैदल चलने लगा। आगे चलकर कुछ डाकुओंने गाडी घेर ली। सिपाहीने ललकारा—"जब तक मैं जिन्दा हूँ गाडीपर हाथ न डालना।" उसने डाकुओसे बातचीत की और उनसे कहा कि यह मेरे गाँवकी बेटी है। मैं थक गया हूँ। तुम लोग ऐसा बन्दोबस्त कर दो कि यह अपनी सुसराल नसीराबाद सही-सलामत पहुँच जाय।" और दादीजी सकुशल नसीराबाद पहुँचा दी गई।

बाबाजीके देहान्तके बाद मेरी दादी, पिताजी और माताजीको लेकर दिल्ली आ गई थी। पिताजीका प्रारम्भिक शिक्षण उस ज़मानेके रिवाजके अनुसार फारसीमे हुआ। दिल्लीमे आकर उन्होंने घरपर अग्रेजी पढी। फिर स्कूलमे भर्ती हो गये। १८६५ ई० में वे एण्ट्रेन्स परीक्षामें उत्तीर्ण हुए और जुलाई १८६५ मे गुरुसराय तहसील (ज़िला झाँसी) मे अग्रेजी भाषाके अध्यापक हुए। फिर अगस्त १८६७ मे शिमले मे ४० रु० मासिकपर सहायक अध्यापक नियत हुए, एक वर्ष बाद ५ रु० वेतन-वृद्धि हुई।

शिमलेमे स्कूलके अतिरिक्त पिताजी सेनाके अंग्रेज़ोको उर्दूका अध्ययन भी कराया करते थे और २० रु० मासिक प्रति घण्टेके हिसाबसे वेतन लेते थे। १८७७ ई० में उन्होंने वकालतकी परीक्षा दी, किन्तु

पास नही हुए ।

१८७७ ई० में ३०-३५ वर्ष पीछे दिल्लीके बाजारोंमे रथोत्सव करनेका सौभाग्य जैनियोंको प्राप्त हुआ। अधिकतर विघ्नबाधा हमारे अग्रवाल वैष्णव भाइयोंने उपस्थित की थी। उनका सरदार रम्मीमल चौधरी था। दिल्लीके डिप्टी कमिश्नर कर्नल डेविसने जैनियोंकी विशेष सहायता की और अन्ततः गवर्नर सर लेपिल ग्रिफ़नसे स्वीकृति प्राप्त हुई। इस कार्यमें पिताजीने अग्रभाग लिया था। रथोत्सवके शान्तिपूर्वक प्रबन्धकी जिम्मेदारी ११ जैनियों और ११ वैष्णवोंपर रक्खी गई थी। पिताजी उन ११ व्यक्तियोंमें थे। प्रबन्धके लिए करनाल, पानीपत, अम्बाला और रोहतकसे भी पुलिस बुलाई गई थी। घण्टों पहलेसे रथोत्सवकी सड़कोंपर अन्य सड़कोके मिलानके मार्ग बन्द कर दिये गये थे। कोतवालीके सामने रेलसे उतरे हुए सैकड़ों जैनी पुलिसकी रोकसे विह्वल हो रहे थे। पिताजी यह देखकर कर्नल डेविसके पास गये। उन्होंने पिताजीकी जिम्मेदारीपर नाका खोल देनेकी परवानगी दे दी। उत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ।

मेरा जन्म नसीराबादमें वैसाख कृष्ण ४, संवत् १९३१ सन् १८७४ को सूर्योदय समय हुआ। मेरे जन्मसे पहले ४ भाई-बहन गुजर चुके थे। इस कारण मेरे नानाजीके आग्रहसे मेरा जन्म उन्हीके घर हुआ। छठीके कुछ दिन पीछे ही मेरे दोनों कान छेदकर बाली पहना दी गई थी; दोनो हाथोंमें कड़े भी।

उन दिनों किरासन तेलका किसीने नाम भी नही सुना था। सरसोंके तेलसे दीपकका प्रकाश होता था। सोते समय दीपक बुझा दिया जाता था। एक रात सोते समय मेरे हाथका कड़ा कानकी बालीमें अटक गया। ज्यों-ज्यों मैं हाथ खीचता था, कान बालीसे कटता जाता था और मै ज़ोर-जोरसे चिल्लाता जाता था। दीपक जलाया गया तो पता चला कि कान कट गया है और ख़ून बह रहा है। बाये कानकी लौ अब भी इतनी कटी हुई है कि उसमें सुरमा डालनेकी सलाई आरपार जा सकती है। इस

घटनाके कारण नानाजीने मेरा नाम बूची (कनकटा) रख दिया।

क़रीब दो वर्षकी उमरमे पिताजीके साथ मैं दिल्ली चला आया। उन दिनो चेचकका जोर था। मुझे भी चेचक निकली। शुभ कर्मोदयसे बच गया। चेहरेपर चेचकके दाग अबतक मौजूद हैं। चेहरे और बदन-का रंग भी मैला हो गया, गोरापन जाता रहा। अत मेरा नाम कल्लू पड गया। मिडिल परीक्षाके प्रमाणपत्रमे भी मेरा नाम कल्लूमल लिखा हुआ है। १८८७ मे नवी कक्षामे दाख़िल कराते समय मेरा नाम अजित-प्रसाद लिखवाया गया।

मेरी माताजीका १८८० मे क्षयरोगसे शरीरान्त हो गया। रातभर पिताजी मुझे छातीसे लगाये नीचे बैठकमें लेटे रहे और दादी आदि रोती-पीटती रही।

सालभरके बाद ही दादीजीके विशेप आग्रहपर पिताजीका पुन-र्विवाह हो गया। विमाता मूर्ख, अनपढ, सकीर्णहृदया थी। पिताजी का प्रेम उसने मुझसे बटवा लिया। एक बार कुतुब मीनार देखने गये। पिताजी, भाभी (विमाता) को पीठपर चढाके ऊपर ले गये। मैं रोता हुआ साथ गया कि मै भी पद्धी चढूंगा, भाभीको उतार दो। पिताजीने थोडी दूर मुझे भी चढा लिया और फिर भाभीको चढा लिया। मुझे इससे दुख हुआ।

फिर पिताजीकी बदली रुडकी हो गई। रातको रोज मैं पिताजी से चिमटकर सोता। लेकिन आँख लगते ही मेरी जगह भाभी ले लेती। दिनकी दुपहरीमे भी इसी बातपर तकरार होती। कुछ अरसे बाद दादी जी दिल्लीसे आ गईं, तब मुझे माँका प्यार नसीब हुआ, किन्तु दादीके साथ भी भाभीका बर्ताव ठीक नही रहता था। किसी-न-किसी बातपर आठवें-दसवे दिन दादी-पोते रो लेते थे। दादीजीको मरते दमतक चैन न मिला।

बचपनमे दादीजीके साथ रहनेसे मेरे जीवनपर धार्मिक क्रियाओका गहरा प्रभाव पडा, और उस प्रभावसे मुझे अत्यन्त लाभ हुआ। मै उनके

साथ हर रोज दर्शन करने जाता था।

सन् १८९३ मे वी० ए० की परीक्षामें भी मैं फर्स्ट आया। मुझे कनिंग कॉलेज गोल्ड मेडिल मिला। मेरा नाम १८९३ की स्नातक-सूचीमे स्वर्णाक्षरोंमे कॉलेज हालमें लिखा गया था। उन दिनों आई० सी० एस० की परीक्षा भारतमें नही होती थी। पिताजीके पास इतना धन नही था कि वे मुझे लन्दन भेज सकते। उनकी अनुमतिसे वम्वई गया और सेठ माणिकचन्दजीसे मिला, किन्तु छात्रवृत्ति प्राप्त न हो सकी। लाचार भारतमे ही रहकर १८९४ में एल्-एल० बी० और १८९५ में एम० ए० की परीक्षा पास की। मुझे थियेटर देखनेका व्यसन था, किन्तु परीक्षाकी तैयारीमे न देखनेका दृढ़ संकल्प कर लिया था, और उसे अन्त तक निभाया।

अप्रैल १८९५ में ५०० रु० के स्टाम्पपर मैंने हाईकोर्ट अलाहावादसे वकालत करनेकी अनुमति प्राप्त कर ली। लेकिन मुझे वहाँ एक भी मुकदमा नही मिला। कुछ दिनों बाद लखनऊ चला आया, और १० रु० किरायेके मकानमें रहने लगा। एक मुशी भी रख लिया। यहाँ मुझे काम मिलने लगा। और ३-४ वर्षके बाद कचहरीमें नाम फैलने लगा।

१९०१ मे मैंने रायबरेलीकी मुन्सिफ़ीका पद ग्रहण किया। १९०९ ई० में ६२ वर्षकी उम्रमे मेरे घुटनेपर सिर रखे हुए पिताजीका प्राणान्त हो गया। रायबरेलीमें तीन माह मुन्सिफी करनेके वाद मैं लखनऊ वापिस आ गया, और प्रयत्न करनेपर मैं सरकारी वकील हो गया। १९१६ में १५ वरस तक सरकारी वकालत करते-करते मैं उकता गया। सरकारी वकीलका वेतन उस समय २५ रु० प्रतिदिन था। सरकारी वकालतके १६ बरसके समयमे मेरा सतत उद्देश्य यही रहा कि मैं अन्याय या अत्याचारका निमित्त कारण न हो जाऊँ। मैंने कभी गवाहोको नही सिखाया, न ऐसी गवाहीपर जोर दिया जो मेरी समझमे झूठ थी। सरकारी वकीलका कर्तव्य है कि प्रजाके साथ न्यायपूर्वक व्यवहारमें सहायक हो। वह पुलिसका वकील नही है, जैसा लोग साधारणतया समझते

है। मेरा यह भी प्रयत्न रहा कि दैनिक फीस २५ रु० के बजाय ५० रु० कर दी जाय, किन्तु असफल रहा। आखिर असन्तुष्ट होकर १९१६ ई० में मैंने त्यागपत्र दे दिया।

सन् १९१० में मैं आल इण्डिया जैन एसोसियेशनके वार्षिक अधिवेशनका अध्यक्ष निर्वाचित होकर जयपुर गया। प० अर्जुनलाल सेठी बी० ए० ने 'जैन-शिक्षण-समिति' स्थापित कर रखी थी। एक आदर्श सस्था थी। श्री दयाचन्द गोयलीय छात्रालयके प्रबन्धक और समिति-में अध्यापक भी थे। श्री गेन्दनलाल सेक्रेटरी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड रुडकी तथा भगवानदीनजी असिस्टेण्ट स्टेशन मास्टर, दिल्ली-निवासी जगन्नाथ जौहरी, भाई मोतीलाल गर्गसे भी वहाँ मिलना हुआ और सर्वसम्मतिसे यह निश्चय हुआ कि एक ब्रह्मचर्य्याश्रमकी स्थापना की जाय। परिणामस्वरूप पहली मई १९११, अक्षयतृतीयाके दिन हस्तिनागपुरमें श्री ऐलक पन्नालालजीके आशीर्वादपूर्वक "श्री ऋषभब्रह्मचर्य्याश्रम"की स्थापना हुई। अक्षयतृतीयाकी पुण्यतिथिमें राजा श्रेयासने हस्तिनागपुरमें एक वर्षके उपवासके पश्चात् भगवान् ऋषभदेवको इक्षुरसका आहार दिया था।

भगवानदीनजीने नौकरीसे त्यागपत्र देकर २६ वर्षकी आयुमें ही आजन्म ब्रह्मचर्य्यव्रत ले लिया। तीन बरसके इकलौते बेटेको आश्रमका ब्रह्मचारी बना दिया। उनकी पत्नी बम्बई श्राविकाश्रममें चली गई। अधिष्ठाता पदका भार भगवानदीनजीने स्वीकार किया। मत्रि-पद मुझे दिया गया। हस्तिनागपुर मेरठसे २६ मील दूर है। १९ मील घोड़ागाडीका रास्ता था, शेष ७ मील बैलगाड़ीसे या पैदल जाना पड़ता था। तीन दिनकी छुट्टीमें मैं भी चला जाया करता था।

सरकार उन दिनो ऐसी सस्थाओको सन्देहकी दृष्टिसे देखती थी। जहाँतक मुझे मालूम हुआ एक पुलिसका जासूस आश्रममें अध्यापकके रूपसे लगा हुआ था।

जैन-समाजके पडिताई पेशेवर और धनिकवर्गको भी आश्रमके कार्य्यमें पूर्ण श्रद्धा नही थी। परिणाम यह हुआ कि ४ बरस पीछे मुझको

और भगवानदीनजीको त्याग-पत्र देना पड़ा और एक-एक करके गेन्दनलालजी, ब्र० सीतलप्रसादजी, भाई मोतीलालजी, जौहरी जगन्नाथजी, बाबू सूरजभानजी आदि सभी आश्रमसे हट गये। नामको वह आश्रम अब भी मथुरानगरके चौरासी स्थानपर चल रहा है, किन्तु जो बात सोची थी, वह असम्भव हो गई।

दृष्टान्तरूप इतना लिखना अनुचित न होगा कि जब मैंने त्यागपत्र दिया, उस समय ६० ब्रह्मचारी आश्रममे थे। शिक्षणका प्रभाव उनपर इतना था कि एक दिन सबके साथ मै भोजन करने बैठा। सब ब्रह्मचारी साधारणतया भोजन कर चुके, मुझसे खाया ही नहीं गया। तब भगवानदीनजीने नमक दाल-शाकमें डाल दिया। फिर तो मैंने भी भोजन कर लिया। भगवानदीनजीने बतलाया कि बालकोंके मनमें यह दृढ़ श्रद्धा है कि भोजन स्वादके लिए नहीं, बल्कि स्वास्थ्यके लिए किया जाता है, जो भोजन अधिष्ठाताजी देगें, अवश्य स्वास्थ्यप्रद होगा।

समस्त विद्यार्थी अपने जूठे बर्तन स्वयं माँजते, स्वयं कुएँसे पानी भरते, अपने वस्त्र स्वयं धोते थे, और आज्ञाकारी इतने थे कि भगवानदीनजीका इशारा पाते ही एक लड़का कुएँमें कूद गया, रस्सेसे उसे तुरन्त बाहर निकाला गया। एक बालक उस बियाबान जंगलमे ५-६ मीलकी दूरीसे आदेश मिलनेपर अकेला ही आश्रम पहुँच गया। बालक निर्भीक, विनयी और आज्ञाकारी थे।

१९१० ई० में लखनऊमें मकान बनवाया। अजिताश्रम उसका नाम रखा गया। १९११ में गृहप्रवेशके अवसरपर भारत-जैन-महामण्डलकी प्रबन्धकारिणीका अधिवेशन हुआ। फिर १९१६ में महामण्डल और जीवदया सभाके विशाल सम्मिलित अधिवेशन हुए। अजिताश्रमका सभामण्डप सजावटमें लखनऊभरमें सर्वोत्तम था। सभाध्यक्ष प्रख्यात पत्रसम्पादक मि० बी० जी० होर्नीमैन थे। वक्ताओमे महात्मा गांधी भी थे। अधिवेशनमें उपस्थिति इतनी अधिक थी कि छतों और वृक्षोंपर भी लोग चढ़े हुए थे। सामनेकी सड़क रुक गई थी, खड़े रहनेको भी कहीं

जगह न थी ।

श्री सम्मेदशिखर, गोम्मटेश्वर, गिरनारजी आदि तीर्थोंकी भक्ति-पूर्वक वन्दनाएँ की । १९१० में गोम्मटेश्वर स्वामीका महामस्तकाभिपेक था । उस ही अवसरपर महासभाके अधिवेशनका भी आयोजन किया गया था । प० अर्जुनलाल सेठी, महात्मा भगवानदीन भी पधारे थे । एक रोज महात्माजीने एक चट्टानपर अर्घ रख दिया, दूसरे दिन देखा कि वहाँपर सामग्रीका ढेर चढा हुआ है । वह स्थान पूज्य मान लिया गया । जनता अन्धश्रद्धासे चलती है, विचार-विवेकसे काम नही लेती ।

एक दिन यह चर्चा चली कि यात्राके स्मारक रूप कुछ नियम सबको लेना चाहिए । भगवानदीनजीने कहा कि सब लोग गालीका त्याग कर चलें, गालीका प्रयोग बुरा है । लेकिन इस कुटेवका ऐसा अभ्यास पड़ गया है कि किसीकी भी हिम्मत नहीं हुई कि गालीका यावज्जीवन त्याग कर दे । अन्ततः सबने यह नियम लिया कि जहाँतक बनेगा, गालीका प्रयोग न करेंगे । यदि करे तो प्रायश्चित्तस्वरूप दण्ड लेंगे । उस नियमका परि-णाम अच्छा हुआ । जब कभी ऐसा अशुभ अवसर आता है तो मै उस दिन-की वार्ताको याद कर लेता हूँ और कषायावेगको रोक लेता हूँ । परि-णामशुद्धिरूप त्याग, खाने-पीनेकी वस्तु-त्यागसे कई गुना अच्छा और पुण्याश्रवका कारण है, किन्तु ऐसी प्रथा चल पड़ी है कि त्यागीवर्ग तथा साधुवर्ग गृहस्थोसे खाने-पीनेकी वस्तुओका ही त्याग कराते है । यदि कषायका त्याग कराएँ तो जैनसमाज और जैनधर्मका महत्त्व संसारमें फैल जाय, महती धर्मप्रभावना हो ।

गिरनारजीसे हम लोग बम्बई आये, रास्तेमे गुरुवर्य्य वादिगज-केसरी पं० गोपालदासजी बरैया, पं० माणिकचन्द कौन्देय, खूबचन्द, देवकीनन्दन, बशीधर (शोलापुरवाले), मक्खनलालजीका भी साथ हो गया था । हमारे स्वागतके लिए स्टेशनपर बम्बईके प्रायः सभी दि० जैनसमाजके प्रतिष्ठित सज्जन उपस्थित थे । प्लेटफार्मपर लाल बनात बिछाई गई थी । मुख्य बाजारोमेसे जुलूस निकाला गया ।

२८ दिसम्बर १९१२ को वम्बई प्रान्तिक सभाकी पहली वैठक शुरू हुई। पं० धन्नालालजीने मंगलाचरण किया। सेठ हीराचन्द नेमिचन्दके प्रस्ताव करनेपर मै सभापति चुना गया। मैंने अपने भाषणमें जातिभेद-सम्बन्धी कुछ बाते कही तो कुछ सभासद् ऐसे विगड़े कि उन्हे शान्त करना दुष्कर हो गया। मूर्खताके सामने बुद्धिको हारना पडा और अल्पजनमतने बहुमतको दवा लिया। केवल दस-बीस महात्माओंने ऐसा हुल्लड़ मचाया कि उस दिनकी सभाका कार्य समाप्त कर देना पडा। वादमे मालूम हुआ कि बाहरके सेठ लोगोंकी तरफसे दो गुप्तचर भेजे गये थे और उन्हीकी कृपाकटाक्षसे यह सब कार्य्य हुआ। उन्होने बाज़ीमार लेनेका तार उसी रोज़ दे दिया था। अन्ततः इस अधिवेशनमें सफलता अवश्य प्राप्त हुई। जो लोग अशान्ति उठानेवाले थे, और जिन्हे कुछ बाहरसे आये हुए महात्माओंने बहकाकर उत्तेजित किया था, उन्होने पीछेसे पश्चात्ताप किया और उनमेसे कई भाइयोंने मेरी विदाईके समय स्टेशनपर आकर प्रेमपूर्वक बिदाई दी।

पं० अर्जुनलाल सेठीको नजरबन्दीसे मुक्त करानेमे मैंने १९१३ से १९२० तक निरन्तर प्रयत्न किया। ब्र० सीतलप्रसाद, बैरिस्टर जगमन्दरलाल तथा महात्मा गांधीने पर्याप्त सहयोग दिया, कोशिश की।

मेरा विवाह वाल्यावस्थामे ही कर दिया गया। माताजीके मरनेके कुछ दिन बाद छह वरसकी उमरमे ही मेरी सगाई हो गई। पत्नी मुझसे डेढ़ वरस छोटी थी। हम दोनों नई मन्दिरकी जनानी ड्योढीके मैदानमें अनारके वृक्षके नीचे अनारकी कलियाँ चुन-चुनकर खेला करते थे। विवाह छह वरस पीछे हुआ।

विद्योपार्जनका शौक़ मुझे वचपनसे था। अपनी कक्षामे सर्वोच्च रहता था। विवाहके समय १२ वरसका था। विषयवासना जागृत नही हुई थी। एंट्रेंस परीक्षामें उत्तीर्ण हो चुका था। मई १८८९ में पत्नी दिल्लीसे लखनऊ आई। सहवासके लिए मुझे और उसे लैम्प जलाकर कमरेमे वन्द कर दिया गया। वह लैम्पके पास वैठी रही, मै पलंगपर लेटा रहा। हाथ-

मे लघुसिद्धान्तकौमुदी थी, व्याकरणके सूत्रोंकी पुनरावृत्ति कर रहा था। न मैं पत्नीके पास गया, न वह मेरे पास आई। उसने कई दफा बाहर जानेको दर्वाज़ा खटखटाया, और आख़िर दर्वाजा खोल दिया गया। इस तरहके बराबर प्रयत्न किये गये, परन्तु हम आपसमे वार्तालाप तक नही करते थे।

सहधर्मिणीका स्वास्थ्य प्रबल था। ३१ बरसके वैवाहिक जीवनमे छह बच्चोकी जननी होनेपर भी उसको कभी हकीम, वैद्यकी आवश्यकता नही पड़ी। धार्मिक क्रियाकाण्डमे उसका गहरा श्रद्धान था। निर्जल उपवास महीनेमे एक-दो हो जाते थे। कभी-कभी निरन्तर दो दिनका निर्जल उपवास हो जाता था। और भी अनेक नियमोंका पालन करती थी। पतली दवाका तो आजन्म त्याग था, केवल सूखी दवाकी छूट रखी थी, जिसके प्रयोगका कभी अवसर नही आया! १९१८ की अष्टाह्निकामे दो रोजका उपवास करनेके बाद उसे हैजा हो गया और लाख प्रयत्न करने पर भी न बच सकी।

गृहिणीके देहान्तके पहले ही मैने सरकारी वकालतसे तो त्यागपत्र दे दिया था। उसके देहान्तपर सब कानूनी पुस्तके तथा असबाब नीलाम करके दोनों कोठियाँ बेचकर, काशीवासके अभिप्रायसे बनारस चला गया।

काशी-स्याद्वाद-विद्यालयकी प्रबन्धकारिणी-समितिका सदस्य मैं उसकी स्थापनाके समयसे बरसो तक रहा। जो बालक वहाँ भर्ती होते थे, उनको भोजन, वस्त्र, बिना दाम मिलते थे, और पढ़ाई नि:शुल्क थी ही। फिर भी कुछ विद्यार्थी ऐसी संकीर्ण प्रवृत्तिके थे कि समाजके प्रतिष्ठित सज्जनोसे गुप्त पत्र लिखकर आर्थिक सहायता प्राप्त कर लेते थे। इस व्यवहारसे महाविद्यालयकी महिमामे बट्टा लगता था। एक सज्जनने कितने ही कपड़ेके थान भेट किये। कमेटीने विद्यार्थियोके वस्त्र एक प्रकारके बनवा देनेका प्रस्ताव किया। इसपर विद्यार्थियोने विद्रोह मचा दिया कि हम सिपाहियोकी-सी वर्दी नही पहनेगे। हम अपने मनका

कपड़ा और अपनी पसन्दकी काटका वस्त्र वनवायेगे।

विद्यार्थियोंमे यह भी कुटेव थी कि रसोईके समय अपनी-अपनी घीकी हॉड़ी लेकर जाते थे। कमेटीने निश्चय किया कि घी विद्यार्थियोके पास न रहे। सब घी दालमें रँधते समय डाल दिया जाय और रूखी रोटी परसी जाये। इसपर भी विद्रोह बढ़ गया। उद्दण्डताके कारण कुछ विद्यार्थियोंको विद्यालयसे पृथक् करना पड़ा। मामला फिर कमेटीके सामने पेश हुआ। मैंने इसपर प्रबन्ध-समितिसे त्यागपत्र दे दिया। जैन जातिके विद्यार्थियोंने महाविद्यालयको गिराकर अनाथालय-सा वना दिया है, और इसी कारण कोई प्रतिष्ठित सज्जन अपने वालक इस जैन-संस्थामे पठनार्थ नहीं भेजते।

१७ नवम्बर १९२२ को लखनऊसे दिल्ली पहुँचा। पंचायती मन्दिरकी पञ्चकल्याणक-प्रतिष्ठाके अवसरपर महासभाको निमन्त्रित करनेका प्रस्ताव मैंने जोरसे भाषण देकर स्वीकार करा लिया, किन्तु मुख्य नेता, अधिकारप्राप्त पुरुषोका सहयोग नहीं मिला।

महासभाके अधिवेशनमें तुरन्त सदस्यपत्र भरवाकर सदस्य वना लिये गये। बैरिस्टर चम्पतरायजीके जैनगजट (हिन्दी) के सम्पादक होनेके प्रस्तावका समर्थन करनेको लाला देवीसहाय फ़ीरोजपुर खडे हुए। उनको एक महाशयने पकड़कर बिठा दिया और अनियमित अनधिकार वहुमतसे एक पण्डितपेशा महाशयको सम्पादक वनानेका प्रस्ताव पास करा लिया। ऐसी खुली धाँधली देखकर कितने ही सदस्य उठ खड़े हुए और दूसरे मण्डपमें एकत्र होकर भारतवर्षीय दि० जैन परिषद्की स्थापना की। प्रथम अध्यक्ष रायबहादुर सेठ माणिकचन्दजी सेठी झालरापाटनवाले निर्वाचित हुए। ब्र० सीतलप्रसादजीने सदस्य-सूचीपर प्रथम हस्ताक्षर किये।

तीर्थक्षेत्र-कमेटीकी स्थापना जैनसमाजके वास्तविक दानवीर सेठ माणिकचन्दजीने की थी। वे स्वयं उसके महामन्त्री थे। रोज़ाना कार्यालयमे आकर ४-५ घण्टे कार्य करते थे।

७ मार्च १९१२ को श्वेताम्बर जैन-संघकी ओरसे दिगम्बर जैन-समाजके विरुद्ध हज़ारीबाग़की कचहरीमें नालिश पेश की गई। उनका दावा था कि सम्मेदशिखरजी निर्वाणक्षेत्रस्थित—टौंक, मन्दिर, धर्मशाला सब श्वेताम्बर सघ द्वारा निर्मित हुई हैं। दि० जैनियोंको श्वेताम्बर सघकी अनुमतिके विना प्रक्षाल-पूजा करनेका अधिकार नही है, न वह धर्मशालामें ठहर सकते हैं। इस मुकदमेमें उभयपक्षके कई लाख रुपये व्यर्थ व्यय हुए!

१९१७ मे मैं और भगवानदीनजी काग्रेस अधिवेशनके अवसर-पर कलकत्ते गये और वहाँ महात्मा गाधीसे मिलकर निवेदन किया कि आप इस मुकदमेवाजी और मनोमालिन्यका अन्त करा दें। महात्मा गाधीने हमारी प्रार्थना ध्यानसे सुनी और मामलेका निर्णय करना स्वीकार किया, और कहा कि चाहे जितना समय लगे, मैं इस झगड़ेका निवटारा कर दूंगा, किन्तु उभयपक्ष इक़रारनामा रजिस्ट्री कराके मुझे दे दे कि मेरा निर्णय उभयपक्षको नि.संकोच स्वीकार और माननीय होगा।

हम दोनो कितनी ही वार रायवहादुर वद्रीदासजीकी सेवामें उनके निवासस्थानपर गये और उनसे प्रार्थना की कि वह श्वेताम्बर समाजकी ओरसे ऐसे इकरारनामेकी रजिस्ट्री करा दें। हम दि० समाजसे रजिस्ट्री करा देनेकी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेते हैं। लेकिन उन्होंने वातको टाल दिया और मेल-मिलापके सव प्रयत्न व्यर्थ हुए। परिणामत. जैन-समाजके प्रचुर द्रव्यका अपव्यय और पारस्परिक मनोमालिन्यकी वृद्धि हुई। वकील और पैरोकार-मुख्तार अमीर हो गये। मैंने ७ वर्षतक १९२३ से १९३० तक तीर्थक्षेत्र कमेटीका काम किया। ४६,००० रु० मेरे नामसे तीर्थक्षेत्र कमेटीकी वहीमें दान खाते जमा हैं।

१९२६ में काकोरी षड्यन्त्रका मुकदमा चला! मैंने रामप्रसाद विस्मिलकी नि.शुल्क वकालत की। मैंने उसे सलाह दी कि वह काकोरी डकैती करना और क्रान्तिकारी दलका सदस्य होना स्वीकार कर ले। मैं उसे प्राणदण्डसे वचा लूंगा; क्योकि उसने किसी भी डकैतीमें किसी

भी व्यक्तिकी जानकर हत्या नही की थी, किन्तु उसने मेरी सलाह नहीं मानी, परिणामतः मैंने उसकी वकालत छोड़ दी और उसे फाँसी हो गई।

२३ जुलाई १९२६ को ब्र० सीतलप्रसादजी लखनऊ पधारे। लखनऊकी जैनजनता स्वागतार्थ स्टेशन गई। वे अजिताश्रममें ही ठहरे। उनको देवदर्शनका नियम था। अष्टमी-चतुर्दशीको उनका प्रोषधोपवास होता था, और उस रोज सवारी भी इस्तेमाल नही करते थे। उनके पधारनेके दूसरे दिन २४ जुलाईको चतुर्दशी थी। ब्रह्मचारीजी पैदल ही अहियागंज दर्शनार्थ गये और आये। गर्मीमें उनका इस प्रकार आना-जाना मुझे बहुत खटका और भावावेशमें बाराबकीसे एक प्रतिमा लाकर २५ जुलाईको अजिताश्रममे विराजमान कर दी। २७ जुलाईको अजिताश्रम चैत्यालयकी नीव खुदनी प्रारम्भ हो गई। नीवकी पहली ईंट ब्रह्मचारीजीने जमाई, वह पवित्र समय मेरे और शेष अजिताश्रमवासियोके जीवनमें चिरस्मरणीय रहेगा। १६ नवम्बरसे १८ नवम्बर तक मंत्रके आठ हजार जप होकर वेदी-प्रतिष्ठा हुई। चौककी पंचायतने ब्रह्मचारीजीसे आग्रह किया कि अजिताश्रममे चैत्यालयके लिए मूर्ति पसन्द कर लें और बाराबंकीकी मूर्ति वापिस कर दें। ब्रह्मचारीजीने ऐसा ही किया।

ब्रह्मचारीजीने चतुर्मास अजिताश्रममें करनेके समय जैनवाङ्मय अंग्रेजी भाषामे प्रकाशनका निश्चय किया। मै और वे गोम्मटसारका काम रात्रिको तीन बजेसे छह बजेतक प्रतिदिन करते रहे। अगस्त १९२७ में श्री जे० एल० जैनीका ४६ वर्षकी अवस्थामें आकस्मिक शरीर छूट गया। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति जैनधर्म-प्रचारार्थ अर्पण कर दी। ट्रस्टकी सम्पत्ति अनुमानतः ९० हजार होगी।

आत्मानुशासन, समयसार, नियमसार, गोम्मटसार, जीवकाण्ड भाग १, अंग्रेजीमे श्रीयुत जे० एल० जैनी द्वारा अनुवादित भाष्य, उपोद्घात और प्राक्कथन सहित नवलकिशोर मुद्रणालयमें अत्यन्त परिश्रमसे शुद्ध करके छपवाये और प्रकाशित कराये। उनके शरीरान्तके वाद मैंने पुन-

राजा हरसुखराय

राजा हरसुखराय

गोयलीय

वे भी दिन थे, जब हमारे पूर्वज लक्ष्मीकी आराधना न करके उसपर शासन करते थे। धनको कौड़ियोकी तरह बखेरते थे, पर वह कभी कम न होता था। गरीब-गुरबाओकी इमदाद करते थे, मगर डरते हुए। कही ऐसा न हो कोई भाई बुरा मान जाय और कह बैठे—"हम ग़रीब हुए तो तुम्हें धन्नासेठी जतानी नसीब हुई !" धार्मिक तथा लोकोपयोगी कार्योंमें लाखों रुपये लगाते थे, परन्तु भय बना रहता था कि कही किसीको आत्म-विज्ञापनकी गन्ध न आ जाये। किये हुए धर्म-दानकी प्रशंसा सुन पड़ती थी तो बहरे बन जाते थे, जिससे आत्म-प्रशंसा सुनकर अभिमान न हो जाय। वे लक्ष्मीके उपासक न होकर वीतरागके उपासक थे। लक्ष्मीको पूर्वसंचित शुभ कार्योका उपहार न समझकर कुमार्गका प्रवर्त्तक समझते थे। उनका विश्वास था—सुईके छिद्रमें हजार ऊँटोंका निकल जाना तो सम्भव, पर धनलोलुपका संसार-सागरसे पार होना सम्भव नहीं, इसीलिए वे लक्ष्मीको ठुकराते थे और उसके बलपर सम्मान नहीं चाहते थे; पर होता था इसके विपरीत। लक्ष्मी उनके पाँवोंसे लगी फिरती थी। कोयलोमें हाथ डालते तो अग-

फियाँ बन जाती थी और साँपपर पाँव पड़ता था तो वह रत्न-हार बन जाता था।

वे लक्ष्मीके लिए हमारी तरह वीतराग भगवान्को रिझानेका हास्यास्पद प्रयत्न नहीं करते थे। और न धेलेके खील-बताशे मेलेमें बाँटते हुए मँगतोंके सरपर पाँव रखकर दानवीर कहलानेकी लालसा रखते थे। पाँच आनेकी काठकी चौकी मन्दिरमें चढ़ाते हुए उसके पायोंपर चारों भाइयोंका नाम लिखानेकी इच्छा नहीं रखते थे और न अपनी स्वर्गीय धर्मपत्नीकी पवित्र स्मृतिमें सवा रुपयेका छतर चढाकर कीर्ति ही लूटना चाहते थे। उन्हें पद-प्रतिष्ठा तथा यश-मानकी लालसा न होकर आत्मोद्धारकी कामना बनी रहती थी।

नेकी करके कुएँमें फेंकनेवाले ऐसे ही माईके लालोंमें देहलीके राजा हरसुखराय और उनके सुपुत्र सुगनचन्दजी हुए हैं। सन् १८०७ में देहलीके धर्मपुरे मोहल्लेमें राजा हरसुखरायजीने एक अत्यन्त दर्शनीय भव्य जिन-मन्दिरका निर्माण कराया, जिसकी लागत उस समयकी ८ लाख कूती जाती है। यह मन्दिर ७ वर्षमें बनकर जब तैयार हुआ तो एक दिन लोगोंने सुबह उठकर देखा कि मन्दिरका सारा काम सम्पूर्ण हो चुका है, केवल शिखरपर एक-दो रोजका काम और बाकी है, किन्तु तामीर बन्द कर दी गई है और राजा साहब, जो सर्दी-गर्मी, बरसातमें हर समय मेमार-मजदूरोंमें खड़े काम कराते थे आज वहाँ नहीं हैं।

लोगोंको अनुमान लगाते देर न लगी। एक सज्जन बोले—"हम पहले ही कहते थे, इस मुसलमानी राज्यमें जब कि प्राचीन मन्दिर ही रखने दूभर हो रहे हैं, तब नया मन्दिर कैसे बन पायेगा?"

दूसरे महाशय अपनी अक़्लकी दौड़ लगाते हुए बोल उठे—ख़ैर भाई, राजा साहब बादशाहके खजाञ्ची हैं, मन्दिर बनानेकी अनुमति ले ली होगी। मगर शिखरबन्द मन्दिर कैसे बनवा सकते थे? अगर मन्दिरका शिखर बनानेकी आज्ञा दे दी जाय, तो मस्जिद और मन्दिरमें अन्तर ही क्या रह जायगा?"

तीसरेने अटकल लगाते हुए कहा—"बेशक मन्दिरके शिखरको मुसलमान कैसे सहन कर सकते हैं ? देखो न, शिखर बनता देख फ़ौरन तामीर रुकवा दी।"

किसीने कहा—"अरे भाई, राजा साहबका क्या बिगड़ा, वे तो मुँह छुपाकर घरमें बैठ गये। नाक तो हमारी कटी ! भला हम किसी-को अब क्या मुँह दिखायेंगे। इस फजीतेसे तो यही बेहतर था कि मन्दिर की नीव ही न खुदवाते !!!"

जिस प्रकार म्युनिस्पैलिटीका जमादार ऊँचे-ऊँचे महल और उसके अन्दर रहनेवाले भव्य नर-नारियोंको न देखकर गन्दगीकी ओर ही दृष्टि-पात करता है, उसी प्रकार छिद्रान्वेषी गुण न देखकर अवगुण ही खोजते फिरते हैं। जो कोरे नुक्ताची थे, वे नुक़्ताचीनी करते रहे; मगर जिन्हें कुछ धर्मके प्रति मोह था, उन्होने सुना तो अन्न-जल छोड़ दिया। पेट पकड़े हुए राजा हरसुखरायजीके पास गये और आँखोमें आँसू भरकर अपनी व्यथाको प्रकट करते हुए बोले—

"आपके होते हुए भी जिन-मन्दिर अधूरा पड़ा रह जाय, तब तो समझिए कि भाग्य ही हमारे प्रतिकूल है। आप तो फ़र्माते थे कि बाद-शाह सलामतने शिखर बनानेके लिए खुद ही अपनी ख्वाहिश जाहिर की थी, फिर नागहानी यह मुसीबत क्यो नाजिल हुई ?"

राजा साहबने पहले तो टालमटूलकी बाते की, फिर मुँह लटकाकर सकुचाते हुए बोले—"भाइयोंके आगे अब पर्दा रखना भी ठीक नही मालूम होता। दरअसल बात यह है कि जो कुछ थोड़ी-सी पूँजी थी, वह सब ख़त्म हो गई, कर्ज मै किसीसे लेनेका आदी नही, सोचता हूँ बिरादरीसे चन्दा कर लूं, मगर कहनेकी हिम्मत नही होती। इसीलिए मजबूरन तामीर बन्द कर दी गई है।"

सुना तो बॉछें खिल गईं—"बस राजा साहब इतनी जरा-सी बात !" कहकर आगन्तुक सज्जनोने अशर्फियोंका ढेर लगा दिया और बोले—

"आपकी जूतियाँ जाएँ चन्दा माँगने। हम लोगोके होते आपको इतनी परेशानी !! लानत है हमारी जिन्दगीपर !!!"

राजा साहब कुछ मुस्कराते और कुछ लजाते हुए बोले—"बेशक, मै अपने सहधर्मी भाइयोसे इसी उदारताकी आशा रखता था। मगर इतनी रकमका मुझे करना क्या है, दो चार-रोजकी तामीर खर्चके लिए जितनी रकमकी जरूरत है, उसे अगर मै लूंगा तो सारी बिरादरीसे लूंगा, वर्ना एकसे भी नही।"

हील-हुज्जत बेकार थी, हर जैन घरसे नाम मात्रको चन्दा लिया गया। मन्दिर बनकर जब सम्पूर्ण हुआ तो बिरादरीने मिन्नतें की—"राजा साहब, मन्दिर आपका है, आप ही कलशारोहण करें।" राजा साहब पगड़ी उतारकर बोले—"भाइयो, मन्दिर मेरा नही पंचायतका है, सभीने चन्दा दिया है, अत. पंचायत ही कलशारोहण करे और वही आजसे इसके प्रबन्धकी जिम्मेदार है।"

लोगोने सुना तो अवाक् रह गये, अब उन्होने इस थोड़ी-सी रकमके लिए चन्दा उगाहनेके रहस्यको समझा।

यह मन्दिर आज भी उसी तरह अपना सीना ताने हुए गत गौरव-का बखान कर रहा है। इस मन्दिरकी निर्माण-कला देखते ही बनती है। समवसरणमें सगमरमरकी वेदीमें पच्चीकारीका काम बिल्कुल अनूठा और अभूतपूर्व है। कई अशोमें ताजमहलसे भी अधिक बारीक और अनुपम काम इस वेदीपर हुआ है। वेदीमें बने हुए सिहोकी मूँछोके बाल पत्थरमें खुदाई करके काले पत्थरके इस तरह अंकित किये गये है कि कारीगरके हाथ चूम लेनेको जी चाहता है और बेसाख्ता हरसुखरायजी-की इस सुरुचिके लिए वाह-वाह निकल पड़ती है। श्री जिनभगवान्का प्रतिबिम्ब इस वेदीमें जिस पाषाण-कमलपर विराजमान है, वह देखते ही बनता है। यद्यपि प्राचीन तक्षणकलासे अनभिज्ञ और जापानी टाइलो-से आकर्षित बहुतसे जैनबन्धुओको यह मन्दिर अपनी ओर आकर्षित नही कर सका है, फिर भी जैनोके लाख-लाख छुपानेपर भी विदेशोमें इसकी

भव्य कारीगरीकी चर्चा है और विदेशी यात्री देहली आनेपर इस मन्दिर को देखनेका जरूर प्रयत्न करता है। यह मन्दिर १३२ वर्ष पुराना होने पर भी नये मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है।

इस मन्दिरकी जब प्रतिष्ठा हुई थी, तो तमाम कीमती सामान मुसलमानोंने लूट लिया था, किन्तु बादशाहके हुक्मसे वह सब सामान लुटेरोंको वापिस करना पड़ा। हरसुखरायजी शाही खजांची थे और बादशाहकी ओरसे उन्हें राजाका ख़िताब मिला हुआ था। उन्हीके सुपुत्र सेठ सुगनचन्दजी हुए हैं। इन्हें भी पिताके बाद राजाकी उपाधि और शाही ख़जांचीगिरी प्राप्त हुई थी और वह ईस्ट इण्डिया कम्पनीके शासन-काल तक इन्हीके पास रही।

—अनेकान्त, अप्रैल १९३९ ई०

सेठ सुगनचन्द

सेठ सुगनचन्द

गोयलीय

कुछ सुना आपने? यह जो हस्तिनागपुर-तीर्थक्षेत्रपर खडा हुआ गगनचुम्बी विशाल जैनमन्दिर स्वच्छ धवल पताका फहरा रहा है, कब और कैसे बना? देहलीके सेठ सुगनचन्दजीकी आन्तरिक अभिलाषा थी कि हस्तिनागपुर जैसे प्राचीन जैन-तीर्थ-स्थानमें एक जिनमन्दिर बनवाकर तीर्थक्षेत्रका पुनरुद्धार किया जाय, किन्तु उन दिनो जैनमन्दिर बनवाना मानो लन्दनमें कांग्रेस-भवन निर्माण करना था। एक ओर मुसलमानी बादशाहत मन्दिरोके निर्माणकी आज्ञा नही देती थी, दूसरी ओर कुछ धर्मान्ध और ईर्ष्यालु हमारे पड़ोसी भी जैनोंका विरोध करते थे। वे विरोधी भावनाएँ आज इस संगठन और स्वतन्त्रताके युगमें भी बहुत कुछ अवशिष्ट बनी हुई है, कितने ही स्थानोपर अब भी जैन-मन्दिर बनवाने और रथयात्राएँ निकालनेमे रुकावटें आती है और सैकडो स्थानोंमें लाखों रुपया व्यय करके अदालतो द्वारा रथ-यात्राओके अधिकार प्राप्त हुए है। अतः तबकी तो बात ही निराली थी। सेठ साहबकी मनोभिलाषाको मीरापुरके रॉगड़ पूरी नही होने देते थे। वे मरने-मारने पर तुले हुए थे। उन दिनो हस्तिनागपुर और मीरापुर साढ़ौरा स्टेटमें सम्मिलित थे।

भाग्यकी बात, दुष्काल पड़नेपर महाराज साढ़ौराको एक लाख रुपयेकी जरूरत पड़ी। सेठ सुगनचन्दजी साहूकारीके लिए काफ़ी विख्यात थे। अतः सब ओरसे निराश होकर महाराज साढ़ौराने अपना दीवान सेठ साहबके पास भेजा और बगैर कोई लिखा-पढ़ी कराये ही सेठ साहबके संकेतपर मुनीमने एक लाख रुपये गिन दिये।

एक वर्षके बाद दीवान साहब जब एक लाख रुपया व्याज समेत वापिस देने आये तो सेठ साहबके मुनीमने रुपया लेनेसे इनकार कर दिया और कहा कि "हमारे यहाँसे महाराज साढौराको कभी रुपया कर्ज नहीं दिया गया।"

दीवान हैरान था कि मैं स्वयं इस मुनीमसे एक लाख रुपये ले गया हूँ और फिर भी यह अनभिज्ञता प्रकट करता है? एक लाख रुपयेकी रकम भी तो मामूली नही, जो वहीमें नाम लिखनेसे रह गई हो। इससे तो दो ही बातें जाहिर होती हैं—या तो सेठ साहबके पास इतना रुपया है कि कुबेर भी हार मानें या इतना अन्धेर है कि कुछ दिनोमें सफाया होना चाहता है। आखिर दीवान साहब तग आकर बोले—"सेठ साहब, यह हमने माना कि आपने आडे वक़्तमें रुपया देकर हमारे काम साधे। मगर इसका यह अर्थ तो नही कि आप अपना रुपया ही न लें, और उसपर भी कहा जा रहा है कि रुपया कर्ज दिया ही नही गया। अगर रुपया हम कर्ज न ले जाते तो हमारे पास आपकी तरह रुपया फालतू तो है नही, जो व्यर्थमें देने आते। मैं स्वय मुनीमजीसे ता०. . .को रुपया उधार लेकर गया हूँ। आखिर. . . . . . ?"

सेठ साहब वातको जरा सँभालते हुए बोले—"मुनीमजी, जरा अमुक तारीखकी रोकड़ वही फिर ध्यानसे देखो। आखिर एक लाख रुपयेका मामला है। दीवान साहब भी तो आखिर झूठ नही बोल रहे होगे।"

मुनीमजीने रोज़नामचा उस तारीखका देखा तो गर्म हो गये। तावमें भरकर बोले—"लीजिए, आप ही देख लीजिए, उधार दिया हो, तो पता चले। मुझे व्यर्थमें इतनी देरसे परेशान कर रखा है।"

सेठ साहब और दीवान साहबने पढा तो लिखा हुआ था—"दीवान साहबके हस्ते महाराज साढौराके पास एक लाख रुपया हस्तिनागपुरमें जैनमन्दिर बनवानेके वास्ते बतौर अमानत जमा कराया।"

पढा तो दीवान साहब अवाक् रह गये। फिर भी रुपया जमा कर

लेनेके लिए आग्रह किया, किन्तु सेठ साहबने यह कहकर रुपया जमा करने-में अपनी असमर्थता प्रकट की कि—"जब मन्दिरके लिए रुपया लिखा हुआ है तो वापिस कैसे लिया जा सकता है ? धर्मके लिए अर्पण किया हुआ द्रव्य तो छूना भी पाप है।"

लाचार दीवान साहब रुपया वापिस लेकर महाराजाके पास पहुँचे और सारी परिस्थिति समझाई और कहा कि जब अन्य उपायोंसे सेठ साहब मन्दिर बनवानेमें असफल रहे तो उन्होंने यह नीति अख्तियार की। अन्तमें महाराज साढौराने कृतज्ञता स्वरूप राँगड़ोंको राजी करके जैनमन्दिर बनवा दिया। मन्दिर-निर्माण होनेपर सेठ साहबको बुलाया गया और हँसकर उनकी अमानत उन्हें सौप दी।

सेठ साहबकी इस दूरदर्शिताके कारण हस्तिनागपुरमें आज अमर-स्मारक खड़ा हुआ श्री शान्तिनाथ आदि तीन चक्रवर्ती तीर्थंकरों और कौरव-पाण्डव आदिकी अमर कथा सुना रहा है। हजारों नर-नारी जाकर वहाँ-की पवित्र रज मस्तकपर लगाते है। सेठ साहब चाहते तो हर ईंटपर अपना नाम खुदवा सकते थे, मगर खोज करनेपर भी कही नाम लिखा नही मिलता। केवल वहाँकी वायु ही उनकी सुगन्ध-कीर्ति फैलाती हुई भावुक-हृदयोंको प्रफुल्लित करती हुई नजर आती हैं।

सेठ सुगनचन्दजी और उनके पिता राजा हरसुखरायजीने भारतके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें कोई ६०-७० जैन-मन्दिर बनवाये हैं।

दूसरोंको उपदेश देनेकी अपेक्षा स्वयं जीवनमें उतारना उन्हें अधिक रुचिकर था। उन्होने मन्दिरमें देखा कि एक स्त्री आवश्यकता-से-अधिक चटक-मटकसे आती है। सेठजीको यह ढंग पसन्द न था। उन्होने सोचा यदि यही हाल रहा तो और भी बहू-बेटियोंपर बुरा असर पडे बगैर न रहेगा। बिरादरीके सरपंच थे, चाहते तो मना कर सकते थे, किन्तु मना नहीं किया और जिस टाइमपर वह फ़ैशनेबिल स्त्री दर्शनार्थ आती थी, उसी मौकेपर अपनी स्त्रीको भी जरा अच्छी तरह सज-धजसे आनेको कह दिया। शाही खजांचीकी स्त्री, सजनेमें क्या शक होता ? स्वर्गीय

अप्सरा वनकर मन्दिरमें प्रविष्ट हुई तो सेठ साहवने दूरसे ही कहा–"यह कौन रण्डी मन्दिरमें घुसी आ रही है?"

सेठानीने सुना तो काठमारी-सी वही वैठ गई, मानो शरीरको हजार विच्छुओने डस लिया। मन्दिरका व्यास सेठ साहवकी आवाज सुनकर आया तो सेठानीको देखकर भौचक-सा रह गया। उससे उत्तर देते न वना कि सेठ साहव, यह रण्डी नही आपकी धर्मपत्नी है। व्यासको निरुत्तर देख सेठ साहव वहाँ स्वय आये और वोले–"ओह! यह सेठानी है, यह कहते हुए भय लगता था। खवरदार, यह वीतरागका दरवार है, यहाँ कोई भी कामदेवका रूप धारण करके नही आ सकता। चाहे वह राजा हो या रंक, रानी हो या वाँदी। यहाँ सवको स्वच्छता और सादगीसे आना चाहिए।"

सेठानीपर मुर्दनी-सी छा गई, न जाने वह कैसे घर पहुँची, और वह फैशनेविल स्त्री!! मन्दिरमें ही समा जानेकी राह देखने लगी। सेठानीने घर आनेपर रोकर अपराध पूछा तो सेठजी वोले—"देवी, अपराधी तुम नही, मै हूँ। मैने उस स्त्रीको समझानेकी शुभ भावनासे तुम्हारा इतना वड़ा तिरस्कार किया है। अपने समाजका चलन न विगड़ने पाये इसी ख्यालसे यह सव कुछ किया है।". उस दिनके वाद सेठजीके जीतेजी किसीने उनकी उक्त आज्ञाका उल्लंघन नही किया।

एक वार सेठ साहवने नगर-गिन्दौड़ा किया। सारी देहलीकी जनताने आदर-पूर्वक गिन्दौड़ा स्वीकृत किया। केवल एक स्वाभिमानी साधारण परिस्थितिके जैनीने यह कहकर गिन्दौडा लेनेसे इन्कार कर दिया कि "मेरे यहाँ तो कभी ऐसा टेहला होना है नही, जिसमें सेठ साहवके गिन्दौड़ोके एवजमें मै भी कुछ भिजवा सकू, इसलिए मै. . . . . .।"

सेठजीने उस गरीव सहधर्मी भाईकी स्वाभिमान-भरी वात कर्मचारियोसे सुनी तो फूले न समाये और स्वय सवारीमें वैठ नौकरोको साथ ले गिन्दौड़ा देने गये। दुकानसे २०-३० गजकी दूरीसे आप सवारीसे उतरकर अकेले ही उसकी दुकानपर गये और जयजिनेन्द्र करके उसकी

दुकानपर बैठ गये। थोड़ी देर बाद बातचीत करते हुए दुकानमें बिक्रीके लिए रक्खे हुए चने और गुडके सेव उठाकर खाने लगे। चने और सेव खानेके बाद पीनेको पानी माँगा तो ग़रीब जैनी वडा घबड़ाया। मैली-सी टूटी सुराही और भद्दा-सा गिलास, वह कैसे सेठ साहबको पानी पिलाये? और जब सेठ साहबने माँगा है तो इन्कार भी कैसे करे? उसे असमंजसमें पड़ा हुआ देख सेठ साहबने स्वयं ही हाथ धोकर पानी पी लिया।

इशारा पाते ही कर्मचारी गिन्दौड़ा ले आये। वह विचारा जैन अत्यन्त दीनता और लज्जाके साथ कुछ सटपटाता-सा बोला—"गरीब-परवर, मुझे क्यों कॉटोमें घसीट रहे हैं? भला गिन्दौडा देनेके लिए आपको तकलीफ़ उठानेकी क्या जरूरत थी? मुझे गिन्दौड़ा लेनेमें क्या उज्र हो सकता था, मगर.....?"

"अजी वाह, भाई साहब! यह भी आपके कहनेकी बात है, मैं तो ख़ुद ही आपका माल बगैर आपसे पूछे लेकर खा चुका हूँ, फिर आपको अब एतराज करनेकी गुंजाइश ही कहाँ रही?"

ग़रीब जैन निरुत्तर था, गिन्दौड़े उसके हाथमें थे, सेठ साहब प्यारसे थपथपा रहे थे और वह इस धर्मवत्सलताको देख झुका जा रहा था।

एक नही, ऐसी अनेक किवदन्तियाँ है। कहाँ तक लिखी जायें।

सेठ सुगनचन्दजीके पूर्वज सेठ दीपचन्दजी अग्रवाल जैन, हिसारके रईस थे। देहली बसाये जानेके समय शाहजहाँ बादशाहके निमन्त्रण पर वे देहली आये थे और दरीबेके सामने ४-५ बीघे जमीन बादशाह द्वारा प्रदान किये जानेपर आपने अपने १६ पुत्रोके लिए पृथक्-पृथक् महल बनवाये थे। बादशाहने प्रसन्न होकर सात पार्चेका (जामा, पायजामा, चादर जोड़ी, पेटी, पगड़ी, सिरपेच, कलगी, तुर्रा) ख़िलअत अता फर्माया था। ईस्टइण्डियाके शासनकालतक आपके वंशज खज़ाची रहे!

मुझे यह लेख लिखनेके लिए बहुत-सी बातें वयोवृद्ध चन्दूलालजीके भाई पन्नालालजीकी सहायतासे ज्ञात हुई थी, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। बाबा चन्दूलालजी भी उक्त सेठजीके वंशमेंसे ही थे।

—अनेकान्त, मई १९३९ ई०

जन्म— मथुरा, आश्विन कृष्ण ८ स० १९१०

मृत्यु— मथुरा, मार्गशीर्ष कृष्ण ९ सं० १९५७

महासभाके जन्मदाता

वंश-परिचय

श्री गुलाबचन्द्र टोंग्या

राजा लक्ष्मणदासजीके पूर्वज श्री जिनदासजी, जयपुर राज्यान्तर्गत मालपुरा गाँवके रहनेवाले थे। आर्थिक स्थिति ठीक नहीं होनेके कारण जिनदासजीके दोनो पुत्र—फतहचन्दजी, मनीरामजी,—जयपुर चले गये। लेकिन वहाँकी भी व्यावसायिक स्थितिसे मनीराम–जैसे महत्त्वाकांक्षी परिश्रमी युवकको सन्तोष नही मिला। उनका उद्योगी स्वभाव किसी विशाल-क्षेत्रमे कुलाँचे भरनेको उतावला हो उठा। उन दिनों यातायातमें अनेक विघ्न-बाधाओ और आपदाओं-का मुक़ाबिला करना पड़ता था। कोई साहसी युवक घरसे बाहर पाँव रखनेका प्रयत्न करता भी था तो उसके पाँवोमें मोह-ममताकी ज़ंजीर इस तरह डाल दी जाती थी कि वह छटपटाकर रह जाता था। लेकिन मनीरामजी स्वभावत: स्वावलम्बी और इरादेके मजबूत थे, उनके पथमें यह सब विघ्न-बाधाएँ क्या आड़े आती? वे जयपुरसे अज्ञात दिशाकी ओर निकल पड़े।

> "जो बाहिम्मत हैं उनका रहमते हक़ साथ देती है।
> क़दम ख़ुद आगे बढ़के मंज़िले मक़सूद लेती है॥"
>
> —गोयलीय

भाग्यकी बात, जिस धर्मशालामें मनीरामजी विश्राम कर रहे थे, उसीमें सेठ राधामोहनजी पारिख मृत्युशय्यापर पड़े हुए छटपटा रहे थे। स्वार्थी नौकर सामान लेकर चम्पत हो गये थे। राज्य-सम्मानित और धनिक होते हुए भी निरीह और लाचार बने मृत्युकी घड़ियाँ गिन रहे थे।

उनकी यह स्थिति देखकर मनीरामजीका दयालु हृदय द्रवित हो उठा। पारिखजी जिस शोचनीय अवस्थामें पड़े हुए थे, उन्हें देखकर किसी

को उनके धनसम्पन्न होनेका ख्वाबोखयाल भी नही हो सकता था। मनी-रामजीने मानव कर्तव्यके नाते उनकी खूब नि:स्वार्थ सेवा-शुश्रूपा की।

पारिखजी स्वस्थ हुए तो मुसीवतके साथी मनीरामजीको वे अपने साथ ग्वालियर ले गये और उन्हें कपडेके व्यवसायमें लगा दिया।

पारिखजी गुजराती वैश्य और वल्लभ सम्प्रदायी वैष्णव थे। जवाहरातके अच्छे पारखी होनेके कारण पारखी नामसे प्रसिद्ध थे। जीवाजी-राव सिन्धियाका शासनकाल था। उनकी महारानी वैजावाईके पारिखजी अत्यन्त विश्वस्त कृपापात्र थे। उन्ही दिनो सिन्धिया फौज, उज्जैनको लूटकर करोडो रुपया लाई। वैजावाईने वह लूटका रुपया राज्यकोपमें रखना उचित न समझकर पारिखजीको १४ करोड़ रुपया मथुरामें मन्दिर वनवानेके लिए दे दिया।

पारिखजी अपने साथ अपने विश्वस्त सखा मनीरामजीको भी मथुरा ले गये और वही स्थायी रूपसे रहनेका निश्चय कर लिया। पारिखजी वल्लभ-सम्प्रदायी वैष्णव थे। अत: उन्होंने इसी सम्प्रदायका एक विशाल मन्दिर करोड़ोकी लागतका वनवाया, और उसके दैनिक आवश्यक व्ययके लिए एक वहुत वड़ी जागीर भी लगा दी, जिसकी आय वर्तमानमें दो लाखके अनुमान है। यह मन्दिर मथुराका सर्वश्रेष्ठ दर्शनीय मन्दिर है। द्वारिका-धीशकी मूर्ति स्थापित होनेके कारण द्वारिकाधीश-मन्दिर और सेठजी द्वारा वनवाये जानेके कारण सेठजीके मन्दिर नामसे समस्त भारतमें प्रसिद्ध है। वर्तमानमें भी इस मन्दिरका पूर्ण सम्वन्ध सेठ घरानेसे वना हुआ है।

पारिखजी अपना समस्त कारोवार मनीरामजीको सौंपकर निरा-कुलतापूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे। पारिखजीके कोई सन्तान नही थी। अत: जव मनीरामजीके यहाँ पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ तो वहुत प्रसन्न हुए और गद्गद स्वरमें वोले—यही वालक हमारा उत्तराधिकारी होगा और सेठ लक्ष्मीचन्द नामसे खूब यश:कीर्ति प्राप्त करेगा।

यद्यपि पारिखजी गुजराती वैश्य एवं धर्मसे वैष्णव थे, और मनीरामजी

मारवाड़ी खण्डेलवाल जैन थे, फिर भी दो शरीर और एक प्राण थे। भले ही आज इस सम्प्रदायी और प्रान्तीयताके युगमें अटपटा-सा मालूम हो, लेकिन मनुष्य जब केवल मनुष्य था, उसपर जाति-सम्प्रदायके आवरण नही चढ़े थे, तब यह सब कुछ सम्भव था।

हाँ, तो सेठ लक्ष्मीचन्दजी वैष्णव कुलमें गोद गये, किन्तु जैनधर्म पर उनकी श्रद्धाभक्ति अविचल बनी रही। उनका आचार-विचार सब जैन-धर्मानुसार रहता था। वे बहुत बडा संघ लेकर श्री सम्मेद-शिखरकी वन्दनाको भी गये थे। वे धार्मिक और श्रद्धालु तो थे ही, भ्रातृ-वत्सल और उदार भी अत्यन्त थे। यद्यपि पारिखजीके यहाँ दत्तक चले जानेके कारण समस्त सम्पत्तिके केवल मात्र वही अधिकारी थे और उनके भाइयोंका कोई भी क़ानूनी अधिकार नही था, फिर भी उन्होंने अपने दोनों भाइयो—राधाकिशनजी, गोविन्ददासजीको सम्मानपूर्वक अपने साथ रखा, उनमे और अपनेमे कभी अन्तर नही समझा।

विधिका विचित्र विधान देखिए कि वैष्णवकुलमे गोद चले जानेपर भी लक्ष्मीचन्दजी जैनधर्मानुयायी बने रहे, लेकिन उनके दोनो सगे भाई वैष्णवकुलसे कोई सम्पर्क न होते हुए भी उस ओर झुक गये और सेठजी जब जैनसंघ लेकर तीर्थयात्राको गये हुए थे, उनकी अनुपस्थितिका लाभ उठाकर रामानुज सम्प्रदायके धर्मगुरु रंगाचार्य्यकी सीखमें आकर वृन्दावन-में एक विशाल मन्दिर बनवाना प्रारम्भ कर दिया। सेठ लक्ष्मीचन्दजी वापिस आये तो उन्हें मालूम हुआ कि ३० लाख व्यय हो चुके है। भाइयों-के इस व्यवहारसे उन्हे दुःख तो अवश्य हुआ, किन्तु जबानपर एक शब्द भी नही लाये और जब एक चीजकी भाइयोने नीव डाल दी है, तब वह पूर्ण होना ही चाहिए। हमारा आपसका मतभेद दूसरोंपर प्रकट न हो, इसीलिए स्वयं वृन्दावन रहकर उन्होने अपनी देख-रेखमें मन्दिरका[1]

---

[1] यह मन्दिर एक विशाल क़िले-जैसा है। सात परकोटे हैं। सैकड़ों मनुष्योंके रहने योग्य स्वतंत्र मकान आदि हैं। प्रत्येक मकानमें पृथक्-

निर्माण कराया। सेठजीके वल-पराक्रम, धर्मप्रेम, साहस आदिकी कितनी ही वातें जनतामें सीने-व-सीने चली आ रही है, उनमेंसे कुछ इस प्रकार है—

१. सेठ लक्ष्मीचन्दजी वृन्दावनमें जव मन्दिर-निर्माण करा रहे थे, तव स्वय भी मजदूरोका हर काममें साथ देते थे। एक वार एक पत्थरको यथास्थान ले जानेमें जव १५-२० मजदूर भी असफल रहे, तव सेठ लक्ष्मीचन्द कमरमें रस्सा वँधवाकर पत्थरको घसीटते हुए यथास्थान रख आये।

२. अपने पुत्र सेठ रघुनाथदासको व्याहने दिल्ली गये तो वारातके जुलूसका हाथी विगड गया। जनतामें भगदड पड़ गई। सेठ लक्ष्मीचन्दजीने सुना तो निर्भय होकर उसका दाँत पकड़ लिया और कार्य समाप्त होनेतक उसे वरावर वसमें किये रहे।

३. सेठ लक्ष्मीचन्दजी एक बार कलकत्ते गये तो एक शीशेके व्यापारीकी दुकानमें चले गये। एक झाड़का मूल्य पूछा तो इनके साधारण वस्त्र देखकर व्यापारी उपहास-सा करने लगा। सेठजी चुपचाप चले आये और आदमी भेजकर दुकानका रत्ती-रत्ती सामान खरीद मँगवाया। तव व्यापारीको अपनी मूर्खताका पता चला।

४. सेठजी कलकत्ते गये तो उन्हें यह खयाल न रहा कि यहाँ चार घोड़ोंकी गाड़ीमें निकलनेका उन्हें अधिकार नही है। अनायास ४ घोडोंकी गाड़ीमें वैठकर निकल गये। कानूनकी इस अवज्ञापर मैजिस्ट्रेटने एक हजार रुपये जुर्माना कर दिया। सेठजी एक हजार भिजवाकर दूसरे दिवस छह घोड़ोंकी गाड़ीमें निकले तो दो हजार जुर्माना कर दिया गया। यह जुर्माना अदा करते रहे और घोड़ोकी संख्या वढाते रहे। अन्तमें जव ३२ घोडोंकी संख्या हुई तो मैजिस्ट्रेटने घवराकर वाइसरायको सेठजीके इस सत्याग्रहकी सूचना दी, और वाइसरायको लाचार होकर ३२

पृथक् कूप तथा वाटिकाएँ हैं। मन्दिरके बीचमें स्वर्ण-स्तम्भ हैं, जो कि वृन्दावन मार्गमें वहुत दूरसे दीखने लगता है। लाखों रुपयोंके सोने-चाँदीके आभूषण, वाहन, वर्तनादि हैं। चार लाख रुपये वार्षिक आयका मन्दिरके लिए सदैवको समुचित प्रवन्ध कर दिया।

घोड़ोंकी गाड़ीमें निकलते रहनेका सदैवको अधिकार देना पड़ा।

सेठ लक्ष्मीचन्दजीके पुत्र सेठ रघुनाथदासजी भी पिता-तुल्य जैन-धर्म-श्रद्धालु और प्रतिभासम्पन्न थे। सेठ मनीरामजीने श्री जम्बूस्वामी सिद्धक्षेत्र चौरासीपर बृहत् मन्दिरका निर्माण कराया तो मन्दिरके अनुरूप ही विशाल एवं मनोज्ञ प्रतिमाकी आवश्यकता थी। सौभाग्यसे ग्वालियर राज्यमे खुदाई करते समय अभिलाषानुसार अजितनाथ भगवान्‌की मूर्ति प्रकट हुई। ग्वालियर महाराजने मूर्ति ले जानेकी स्वीकृति भी दे दी। लेकिन इतनी विशाल मूर्ति चौरासीमें किस प्रकार ले जाई जाय, इसका कोई उपाय नहीं सूझता था। आखिर एक रात्रिको सेठ मनीराम-जीको स्वप्नमें किसीने कहा—'ऐसा व्यक्ति जिसकी जैनधर्ममें अत्यन्त आस्था और भक्ति हो, शुद्धतापूर्वक उठाकर गाड़ीमें रख देगा तो मूर्ति निर्विघ्न चौरासी पहुँच जायगी।" युवक रघुनाथदासजीने बाबाजीका यह स्वप्न सुना तो वे स्वयं इस कार्य्यको करनेके लिए तत्पर हो गये। भक्तिविभोर होकर पहले पूजा वन्दना की और जय बोलकर अकेले ही मूर्तिको उठाकर गाड़ीमें विराजमान कर दिया! यह प्रतिबिम्ब आज भी चौरासीके मन्दिरमें मूलनायक प्रतिमाके रूपमें विराजमान है।

सेठ रघुनाथदासजीके निःसन्तान होनेके कारण उनके उत्तराधिकारी सेठ लक्ष्मणदासजी[1] हुए। आपका जन्म आश्विन कृष्ण ८ वि० सं० १९१० में हुआ। और ४७ वर्षकी अल्पायुमें ही मार्गशीर्ष कृष्ण ९ वि० सं० १९५७ में स्वर्गवास हो गया।

भा० व० दि० जैन-महासभाके आप जन्मदाताओमें थे। आपकी ही प्रेरणासे चौरासीपर महासभाने महाविद्यालय स्थापित किया और जैनगजटका प्रकाशन प्रारम्भ किया था। कार्तिक कृष्णमे प्रतिवर्ष ८ दिवस रथयात्रा महोत्सव होता था। यह उत्सव उस समय भारतके जैन उत्सवोंमे सर्वश्रेष्ठ महान् उत्सव गिना जाता था। भारतवर्षके ख्यातिप्राप्त सेठ-साहूकार, विद्वान्, संगीतज्ञ बहुत बड़ी संख्यामें एकत्र होते थे।'

१ ये सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीके भाई राधाकिशन जीके पुत्र थे।

आपको जनता तो आदर-प्रेमकी दृष्टिसे देखती ही थी, अंग्रेज़ सरकारने भी राजा और सी० आई० ई० की पदवीसे सम्मानित किया था। लार्ड कर्जन भी आपके यहाँ अतिथि रहे थे; जयपुर, भरतपुर, धौलपुर, रामपुर, मैसोर, ग्वालियर-नरेशोंसे भी आपके मैत्री सम्बन्ध थे। राजा साहबका रहन-सहन, आदर-प्रतिष्ठा राज्योचित थे और उस प्रान्तकी जनता इन्हें अपना अधिपति समझती थी। जैनधर्मी होने-पर भी सभी धर्मोंके प्रति आदर और प्रेमभाव रखते थे। हिन्दू-मुसलमान सभीको मुक्त कठसे दान देते थे और उनके धार्मिक उत्सवोंमें अत्यन्त प्रेमसे सहयोग देते थे। हर सम्प्रदायी इन्हें अपना ही समझता था। बगालमें जो सम्मान जगतसेठको प्राप्त था, वही सम्मान इस ओर इस वंशको प्राप्त था। प्रत्येक नगरमें इनकी कोठियाँ खुली हुई थीं। और जनता बेझिझक लेन-देन करती थी। आज जो कार्य बैंक करते हैं, वही इन गद्दियोंसे सम्पन्न होता था। मिस्टर ग्रोसने अपनी मथुरामेमोयर और सरकारी गजटमें लिखा है कि--"बैंक आफ इँगलैण्डके चेकका भुग-तान जिस तरह सब स्थानोंपर हो सकता था, उसी तरह एक समय था जब सेठजीकी हुंडीका भुगतान प्रत्येक स्थानपर होनेमें कोई कठिनाई नहीं हो पाती थी।"

व्यवसायके अधिक फैल जानेके कारण व्यवस्थाका समुचित प्रबन्ध न होनेसे और कलकत्तेके मुनीमकी अदूरदर्शिताके कारण राजा साहब-का व्यवसाय फैल हो गया। इससे आपको बहुत सदमा पहुँचा, किन्तु अपने जीवनकालमें ही सबका एक-एक पैसा चुकता कर दिया। मृत्युके बाद भी इतनी विशाल सम्पत्ति बची कि उचित देख-रेख न रहनेके कारण लाखों रुपयेकी वस्तुएँ नष्ट हो गईं।

---

१ सर सेठ हुकमचन्दजी गत वर्ष चौरासी पधारे तो आपने फर्माया--"हमारी आँखों देखी बात है कि महासभाके अधिवेशनपर राजा साहबके अनुरोधपर समस्त भारतसे प्रतिनिधि चौरासीमें एकत्र हुआ करते थे। और राजासाहब स्वयं प्रत्येक डेरेपर जाकर भाइयोंके सुख-दुखके सम्बन्धमें पूछताछ किया करते थे।"

उनके उत्तराधिकारी

गोयलीय

राजा लक्ष्मणदासजीको तो मैंने नही देखा, वे मेरे जन्मसे पूर्व ही स्वर्गवासी हो चुके थे। हाँ, उनकी रानी साहिबा और दो पुत्रों—सेठ द्वारिकादास, दामोदरदासको देखा है। द्वारिकादासजी अल्पायुमें ही निधन कर गये थे। उन्हें चौरासीके मेलेमें जिनेन्द्र भगवान्‌के रथपर सारथीरूपमें देखनेकी एक धुँधली-सी स्मृति शेष है।

सेठ द्वारिकादासजीके निःस्सन्तान निधन कर जानेसे उनके छोटे भाई सेठ दामोदरदासजी उत्तराधिकारी हुए। इन्हें मैंने सन् १९१४ से १९१९ तकके अर्सेमें पचासों वार देखा है।

ठिगना क़द, गोरा-चिट्टा गठीला जिस्म, किताबी चेहरेपर बड़ी-बड़ी रसीली आँखें सुनहरी फ्रेमके चश्मेंसे विभूषित, सुतवाँ नाक, उन्नत ललाट। भगवान्‌की सवारीमें नंगे पाँव, धोती रईसाना ठाटसे पहनी हुई और ज़मीनमें घिसटती हुई, खुले गलेका कोट और सरपर लाल पगड़ी। पोशाक अत्यन्त भव्य और राजसी, गलेमें हीरेका क़ीमती कंठा, व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक और भव्य। यद्यपि मसें भीग रही थीं, फिर भी चाल-

ढालमें संजीदगी, बातचीत गम्भीर और अधिकारपूर्ण। रथके साथ चलते तो भी जर्क-वर्क वर्दीमें दो सिपाही और प्राइवेट सेक्रेटरी साथ रहते थे। राजा-महाराजाओ-जैसा रोब-दाव होता था। हर आदमीका हौसला उनसे वार्तालाप करनेका नही हो सकता था। चौरासी मेलेके एक माह पहलेसे उनके रहने योग्य निवासस्थानकी तैयारियाँ होती थी। क़ीमती दो मुश्की घोड़ोकी लैण्डोपर सवार होकर आते थे। लैण्डोके आगे-पीछे घोड़ोपर चार बावर्दी सिपाही रहते थे। कोचवानकी और साइसोकी वर्दी भी बहुत सजीली होती थी। आपकी माताजी, भाभी, पत्नी घूंघट निकाले हुए रथके पीछे-पीछे अन्य स्त्रियोके साथ चलती थी।

मथुरामें जमनाके किनारे विशाल महलमें रहते थे, जिसके एक भागमें जैन चैत्यालय था और दूसरी ओर रगमहल था। रंगमहल और चैत्यालय जनताके लिए खुले रहते थे।

कुछ स्वार्थी महानुभावोके बहकावेमें आकर सेठ द्वारिकादासकी पत्नी पृथक् रहने लगी थी और मुकदमेबाजी प्रारम्भ हो गई थी। निस्सन्तान होनेके कारण इन्होने गोपालदासजीको गोद लिया था!

सेठ दामोदरदासजी भी भरी जवानीमें निस्सन्तान स्वर्गवासी हो गये। इनकी मृत्यु हुई तो समस्त मथुरामें और आस-पासके इलाकोंमें शोक छा गया। ऐसा मालूम होता था कि सारी मथुरा विधवा हो गई है और उसने काला लिबास पहन लिया है।

सेठ दामोदरदासकी विधवा पत्नीने भी सेठ मथुरादासको दत्तक पुत्र बनाया! और दुःख है कि सेठ गोपालदास और सेठ मथुरादासजी भी अल्पायुमें ही नि.संन्तान निधन कर गये! वर्तमानमें वह पुराना वैभव देखनेको नही मिलता है। फिर भी किसी न किसी रूपमें स्मृति शेष है। इन्हींके पूर्वज सेठ लक्ष्मीचन्दजीकी धन-वैभवकी धाक जनतामें ऐसी थी कि आज भी लोग कह देते है कि तू कबसे सेठ लक्ष्मीचन्द बन गया है।
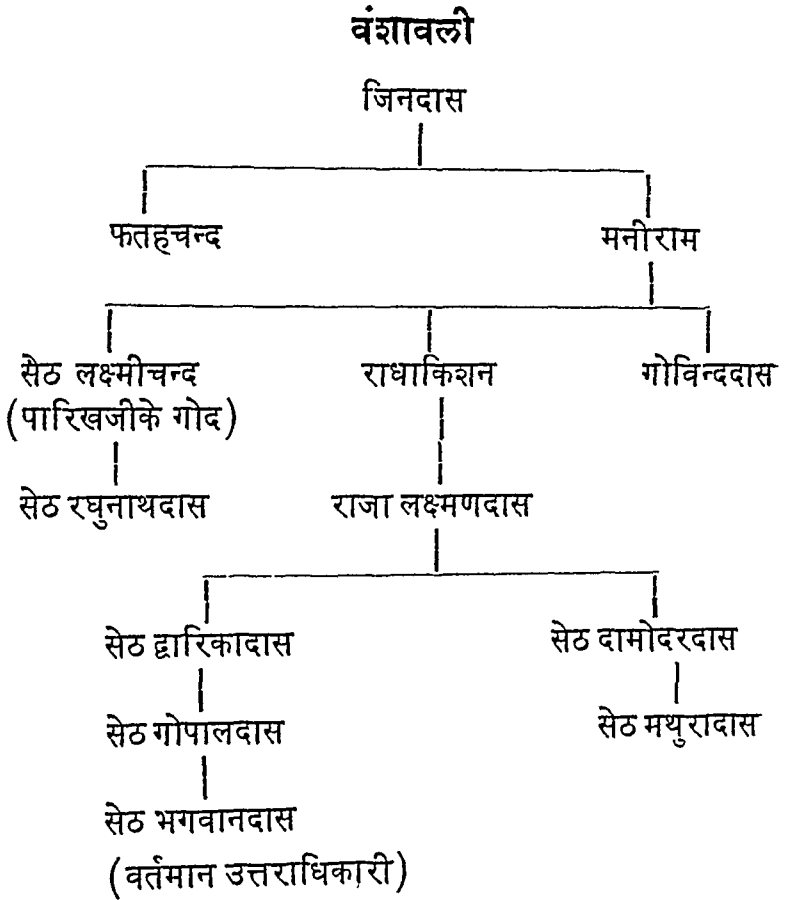
—डालमियानगर, २२ अक्टूबर १९५१

जन्म—	वि० सं० १९०८
स्वर्गवास—	१६ जुलाई १९१४

दानवीर सेठ माणिकचन्द्र

श्री नाथूराम प्रेमी

यह प्रकट करते हुए हमें बड़ा ही दुःख होता है कि ता० १६ जुलाई १९१४ की रातको २ बजे श्रीमान् दानवीर सेठ माणिकचन्द्र हीराचन्द्र जे० पी० का एकाएक स्वर्गवास हो गया। दो

घण्टे पहले जिसकी कोई कल्पना भी न थी, वह हो गया। भारतके आकाश-से चमकता हुआ तारा टूट पड़ा। जैनियोके हाथसे चिन्तामणि रत्न खो गया, समाज-मन्दिरका एक सुदृढ़ स्तंभ गिर गया। जहाँ जब जिसने यह खबर सुनी, वही भौचक-सा होकर रह गया और 'हाय-हाय' करने लगा। मृत्युकी यह अचिन्त्य शक्ति देखकर विचारशील काँप उठे।

सेठ माणिकचन्द्रजीसे हमारा जो कुछ परिचय रहा है, उससे हमारा हृदय कहता है कि उनके स्वर्गवाससे जैन-समाजकी जो बडी भारी हानि हुई है, उसकी पूर्ति होनेका इस समय कोई भी चिह्न नही दिखाई देता है और वह पूर्ति आगे जल्दी हो जायगी, इसकी भी कम सम्भावना है। यद्यपि आज सारे जैनसमाजमें सेठजीकी कीर्ति-पताका फहरा रही है और सभी लोग उनकी मुक्त कठसे प्रशसा कर रहे है, तो भी हमारा विश्वास है कि वास्तवमें सेठजी किस श्रेणीके पुरुषरत्न थे, इस बातको बहुत ही कम लोग जानते है? उनके हृदयमें जैनसमाजके प्रति जो भावनाएँ रहती थी, जिन निष्कपट वृत्तियोसे वे समाज-सेवामें अहर्निश तत्पर रहते थे और जिन शान्तता, उदारता तथा धीरतादि गुणोसे उन्हें प्रत्येक काममें सफलता मिलती थी, उन सबके परिचय प्राप्त करनेका जिन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे उन्हें केवल दानवीर और धनी ही नही समझते थे, किन्तु एक महात्मा समझकर अतिशय पूज्य दृष्टिसे देखते थे। सेठजीने गत बारह वर्षोमें जो-जो काम किये है, उन सबपर दृष्टि डालनेसे यदि यह कहा जाय कि वे इस समयके युगप्रवर्त्तक थे, उनके प्रयत्नोने जैनसमाजमें एक नया युग उपस्थित कर दिया है, तो कुछ अत्युक्ति न होगी। केवल रथ-प्रतिष्ठाओं में और मन्दिर बनवानेमें ही लाखो रुपया प्रतिवर्ष खर्च करके सन्तुष्ट हो जानेवाले जैन-समाजके धनियोंका चित्त विद्यामन्दिर स्थापित करने-की ओर आकर्षित करनेका प्रधान श्रेय सेठ माणिकचन्द्रजीको ही प्राप्त था। उनकी देशव्यापी अनन्यसाधारण कीर्तिने धनियोपर वह प्रभाव डाला है, जो बीसो समाचारपत्र, पचासों उपदेशक और सैकड़ों सभा-समितियाँ नही डाल सकती है। यह आप ही के सभापति-पदका प्रभाव

है जो सभा-सोसाइटियोंको बच्चोंका खेल समझकर उनकी ओर आंख न उठानेवाले धनाढ्य लोग आज उन्हीं सभाओके सभापति बननेके लिए लालायित रहते हैं और अपने प्रसादलब्ध पुरुषोके द्वारा इसके लिए प्रयत्न तक कराते हैं।

सेठजी केवल दानवीर ही न थे, वे कर्मवीर भी थे। धनवानोंमें दानवीर तो अनेक हैं और आगे और भी हो जावेंगे, परन्तु सेठजी-जैसा कर्मवीर होना कठिन है। उन्होंने जैन-समाजके लिए अपने पिछले जीवनमें कई वर्षो तक अश्रान्त परिश्रम किया है। यदि उनकी पिछली चार-पाँच वर्षकी दिनचर्या देखी जाय, तो मालूम होगा कि जैनसमाजकी संस्थाओंके लिए उन्हें प्रतिवर्ष कम-से-कम तीन महीने प्रवास-पर्यटनमें रहना पड़ा है और अपने व्यापारादिके तमाम काम छोड़कर प्रतिदिन चार-पाँच घण्टे प्रान्तिक सभा, तीर्थक्षेत्र कमेटी तथा अन्यान्य संस्थाओके लिए देने पड़े हैं। समाजके किसी भी कार्यके लिए उनको आलस्य न था। हर समय हर कामके लिए वे कटिबद्ध रहते थे। इस समय दिगम्बर जैनियोके जो डेढ़ दर्जनसे अधिक बोर्डिग हाउस हैं, उनमे आपकी दानवीरताकी अपेक्षा कर्मवीरताने अधिक काम किया है। दिगम्बर-समाजकी शायद ही कोई ऐसी संस्था होगी, जिसने सेठजीकी किसी-न-किसी रूपमें सहायता न पाई हो।

सेठजी न अंग्रेजीके विद्वान् थे और न संस्कृतके, वे साधारण देशभापा का पढ़ना-लिखना जानते थे, परन्तु उन्होने अपने जीवनमें जो कुछ किया है उससे बाबू लोग और पण्डितगण दोनों ही बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। वे अपने अनुकरणीय चरित्रसे बतला गये हैं कि कथनीकी अपेक्षा करनीका मूल्य अधिक है—ज्ञानकी अपेक्षा आचरण अधिक आदरणीय है। उनका अनुभव बहुत बढ़ा-चढ़ा था। जैनसमाजके विषयमें जितना ज्ञान उनको था उतना बहुत थोड़े लोगोंको होगा। कभी-कभी उनके विचार सुनकर कहना पड़ता था कि अनुभवके आगे पुस्तकों और अखबारोंका ज्ञान बहुत ही कम दामोंका है।

यदि संक्षेपमें पूछा जाय कि सेठजीने अपने जीवनमें क्या किया ? तो इसका उत्तर यही होगा कि जैन-समाजमेंसे जो विद्याकी प्रतिष्ठा उठ गई थी, उसको उन्होंने फिरसे स्थापित कर दिया और जगह-जगह उसकी उपासनाका प्रारम्भ करा दिया। सेठजीके हृदयमें विद्याके प्रति असाधारण भक्ति थी। यद्यपि वे स्वयं विद्यावान् न थे, तो भी विद्याके समान मूल्यवान् वस्तु उनकी दृष्टिमें और कोई न थी। उन्होने अपनी सारी शक्तियोंको इसी भगवतीकी सेवामें नियुक्त कर दिया था। उनके हाथसे जो कुछ दान हुआ है, उसका अधिकाश इसी परमोपासनीया देवीके चरणोमें समर्पित हुआ है, पीछे तो उनकी यह विद्याभक्ति इतनी बढ गई थी कि उसने सेठजीको कंजूस बना दिया था। जिस सस्थाके द्वारा या जिस कामके द्वारा विद्याकी उन्नति न हो, उसमें लोगोके लिहाज या दबावसे यद्यपि वे कुछ-न-कुछ देनेको लाचार होते थे, परन्तु वे उससे दानके वास्तविक आनन्दका अनुभव नही कर पाते थे।

सेठजीके हृदयमें यह बात अच्छी तरह जम गई थी कि अंग्रेजी स्कूलो और कालेजोमें जो शिक्षा दी जाती है, वह धर्मज्ञानशून्य होती है। उनमेंसे बहुत कम विद्यार्थी ऐसे निकले है जो धर्मात्मा और अपने धर्मका अभिमान रखनेवाले हो। अपनी जाति और समाजके प्रति भी उनके हृदयमें आदर उत्पन्न नही होता है; परन्तु वर्तमान समयमें यह शिक्षा अनिवार्य है। अग्रेजी पढे बिना अब काम नही चल सकता है, इसलिए कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे उनके हृदयमें धर्मका अंकुर उत्पन्न हो सके। इसके लिए आपने "जैन बोर्डिंग स्कूल" खोलना और उनमें स्कूल-कॉलेजके विद्यार्थियोको रखकर उन्हें प्रतिदिन एक घटा धर्मशिक्षा देना लाभकारी समझा। इस ओर आपने इतना अधिक ध्यान दिया और इतना प्रयत्न किया कि इस समय दिगम्बर-समाजके लगभग २० बोर्डिंग स्कूल काम कर रहे हैं।

सस्कृत पाठशालाओकी ओर भी आपका ध्यान था। संस्कृतकी उन्नति आप हृदयसे चाहते थे, परन्तु इस ओर आपके दानका प्रवाह कुछ

कम रहा है—पूर्ण वेगसे नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि एक तो कोरी संस्कृत-शिक्षाको आप अच्छी न समझते थे—इस समय वह जीविका-निर्वाहके लिए उपयोगी नही और संस्कृत-पाठशालाओंकी पढाईका पुराना ढचरा तथा उनके प्रबन्धकी कठिनाइयाँ आपको इस ओर प्रवृत न होने देती थी। तो भी आप संस्कृतके लिए बहुत कुछ कर गये है। बनारस की स्याद्वाद पाठशालाने आपके ही लगातार उद्योगसे चिरस्थायिनी सस्था-का रूप धारण किया है। आपके बोर्डिग स्कूलोमें वे विद्यार्थी प्रथम स्थान पाते है, जिनकी दूसरी भाषा संस्कृत रहती है और संस्कृतके कई विद्यार्थियो-को आपकी ओरसे छात्रवृत्तियाँ भी मिलती है। अपने पिछले दानमें वे जैन-परीक्षालयको स्थायी बना गये है। उक्त दानका और भी अंश संस्कृतकी उन्नतिमें लगेगा।

सेठजी बहुत ही उदारहृदय थे। आम्नाय और सम्प्रदायोंकी शोच-नीय संकीर्णता उनमे न थी। उन्हे अपना दिगम्बर सम्प्रदाय प्यारा था, परन्तु साथ ही श्वेताम्वर सम्प्रदायके लोगोसे भी उन्हें कम प्रेम न था। वे यद्यपि बीसपंथी थे, पर तेरह पंथियोसे अपनेको जुदा न समझते थे। उनके बम्बईके बोर्डिग स्कूलमें सैकड़ों श्वेताम्वरी और स्थानकवासी विद्यार्थियोंने रहकर लाभ उठाया है। एक स्थानकवासी विद्यार्थीको उन्होंने विलायत जानेके लिए अच्छी सहायता भी दी थी। उनकी सु-प्रसिद्ध धर्मशाला हीराबागमे निरामिषभोजी हिन्दू मात्रको स्थान दिया जाता है। साम्प्रदायिक और धार्मिक लड़ाइयोसे उन्हें बहुत घृणा थी। उनकी प्रकृति बड़ी ही शान्तिप्रिय थी। पाठक पूछेंगे कि यदि ऐसा था तो वे मुकद्दमेबाजीमें सिद्धहस्त रहनेवाली तीर्थक्षेत्र कमेटीके महामंत्री क्यों थे? इसका उत्तर यह है कि वे इस कार्यको लाचार होकर करते थे, पर वे इससे दुखी थे और अन्त तक दुखी रहे। तीर्थक्षेत्र कमेटीका काम उन्होंने इसलिए अपने सिर लिया था कि इससे तीर्थक्षेत्रोंमें सुप्रबन्ध स्थापित होगा, वहाँके धनकी रक्षा और सदुपयोग होगा। यात्रियोंको आराम मिलेगा और धर्मकी बढ़वारी होगी। इस इच्छाको कार्यमें परि-

णत करनेके लिए उन्होने प्रयत्न भी वहुत किये और उनमें सफलता भी वहुत कुछ मिली। कुछ ऐसे कारण मिले और समाजने अपने विचार-प्रवाहमें उन्हें ऐसा वहाया कि उन्हें मुकदमे लड़ने ही पडे—पर यह निश्चय है कि इससे उन्हें कभी प्रसन्नता नही हुई। अपने ढाई लाखके अतिम दान-पत्रमें तीर्थक्षेत्रोकी रक्षाके लिए $\frac{9}{900}$ भाग दे गये है, परन्तु उसमें साफ शब्दों-में लिख गये है कि इसमेंसे एक पैसा भी मुकद्दमोमे न लगाया जाय, इससे सिर्फ़ तीर्थोका प्रवध सुधारा जाय।

जैनग्रन्थोके छपाने और उनके प्रचार करनेके लिए सेठजीने वहुत उद्योग किया था। यद्यपि स्वय आपने वहुत कम पुस्तकें छपाई है, परन्तु पुस्तकप्रकाशकोकी आपने वहुत जी खोलकर सहायता की है। उन दिनोमें जव छपे हुए ग्रथोकी वहुत कम विक्री होती थी, तव सेठजी प्रत्येक छपी हुई पुस्तककी डेढ-डेढ सौ, दो-दो सौ प्रतियाँ एकसाथ खरीद लिया करते थे, जिससे प्रकाशकोको वहुत वडी सहायता मिल जाती थी। इसके लिए आपने अपने चौपाटीके चन्द्रप्रभ-चैत्यालयमें एक पुस्तकालय खोल रखा था। उसके द्वारा आप स्वयं पुस्तकोकी विक्री करते थे और इस काममें आप अपनी किसी तरहकी वेइज्जती न समझते थे। जैनग्रंथ-रत्नाकर-कार्य्यालय तो आपका वहुत ही उपकृत है। यदि आपकी सहायता न होती, तो आज वह वर्त्तमान स्वरूपको शायद ही प्राप्त कर सकता। आप छापेके प्रचारके कट्टर पक्षपाती थे; परन्तु इसके लिए लडाई-झगडा, खडन-मंडन आपको विलकुल ही पसंद न था। जिन दिनो अख़वारों-में छापेकी चर्चा चलती थी, उन दिनो आप हमें अकसर समझाते थे कि "भाई, तुम व्यर्थ ही क्यो लड़ते हो? अपना काम किये जाओ। जो शक्ति लड़नेमें लगाते हो, वह इसमें लगाओ। तुम्हें सफलता प्राप्त होगी। सारा विरोध शान्त हो जायगा।"

सेठजीके कामोको देखकर आश्चर्य होता है कि एक साधारण पढे-लिखे धनिकपर नये जमानेका और उसके अनुसार काम करनेका इतना अधिक प्रभाव कैसे पड़ गया। जिन कामोमें जैनसमाजका कोई

भी धनिक खर्च करनेको तैयार नहीं हो सकता, उन कामोंमें सेठजीने बडे उत्साहसे द्रव्य खर्च किया है। दिगम्बर जैन-डिरेक्टरी जो हाल ही में छप-कर तैयार हुई है–एक ऐसा ही काम था। इसमें सेठजीने लगभग १५ हजार रुपये लगा दिये हैं। दूसरे धनिक नही समझ सकते कि डिरेक्टरी क्या चीज है और उससे जैनसमाजको क्या लाभ होगा। विलायतमें एक "जैन-छात्रावास" बनवानेकी ओर भी सेठजीका ध्यान था, परन्तु वह पूरा न हो सका।

दिगम्बर जैन-समाजमें इस समय कई पक्ष या दल हो रहे हैं, जिसे देखिये वही अपने पक्षके गीत गा रहा है और दूसरेको नीचा दिखानेका प्रयत्न करता है; परन्तु सेठजीका पक्ष इन सबसे निराला था। उनकी दृष्टि सदा समूचे जैनसमाजके कल्याणकी ओर रहती थी। किसी भी पक्षसे वे द्वेष न रखते थे। जब कभी इन पक्षोंमे लड़ाई-झगडोंका मौका आता था और वह शान्त न होता था, तब आप तटस्थवृत्ति धारण कर लेते थे। ऐसे अनेक मौके आये जव अखवारोमें आपपर वहुत ही अनुचित आक्रमण हुए है, परन्तु आपने उनमेंसे एकका भी खंडन या परिहार करनेका प्रयत्न नही किया है–सब चुपचाप सह लिया है। आप कहा करते थे कि "जो झूठा है उसे झूठा सिद्ध करनेका प्रयत्न करना व्यर्थ है। मै यदि सच्चे जीसे काम करता हूँ, सच्चा हूँ तो मुझे अपयश नहीं मिल सकता।"

धनवैभवका मद या अभिमान सेठजीको छू तक न गया था। इस विषयमें आप जैन-समाजमें अद्वितीय थे। ग़रीब-से-ग़रीब ग्रामीण जैनीसे भी आप वड़ी प्रसन्नतासे मिलते थे–उससे वातचीत करते थे और उसकी तथा उसके ग्रामकी सब हालत जान लेते थे। आप शामके दो घंटे प्रायः इसी कार्यमें व्यतीत करते थे। सैकड़ों कोसोकी दूरीसे आये हुए यात्री जिस तरह आपकी कीर्ति-कहानियाँ सुना करते थे, उसी तरह प्रत्यक्षमें भी पाकर और मुँहसे चार शब्द सुनकर अपनेको कृतकृत्य समझने लगते

थे। आपका व्यवहार इतना सरल और अभिमान-रहित था कि देखकर आश्चर्य होता था।

विलासिता और आरामतलवी धनिकोके प्रधान गुण है, परन्तु ये दोनो बातें आपमें न थी। आप वहुत ही सादगीसे रहते थे और परिश्रम-से प्रेम रखते थे। अनेक नौकरो-चाकरोके होते हुए भी आप अपने काम अपने हाथसे करते थे। इस ६३ वर्षकी उम्र तक आप सवेरेसे लेकर रात के ११ वजे तक काममें लगे रहते थे। आलस्य आपके पास खड़ा न होता था। परिश्रमसे घृणा न होनेके कारण ही आपका स्वास्थ्य वहुत अच्छा रहता था। आपकी शरीर-सम्पत्ति अन्त तक अच्छी रही—शरीरसे आप सदा सुखी रहे। सेठजीकी दानवीरता प्रसिद्ध है। उसके विषयमें यहाँ पर कुछ लिखनेकी जरूरत नही। अपने जीवनमें उन्होने लगभग पाँच लाख रुपयोका दान किया है, जो उनके जीवनचरितमें प्रकाशित हो चुका है। उसके सिवाय अभी उनके स्वर्गवासके बाद मालूम हुआ कि सेठजी एक २॥ लाख रुपयेका वड़ा भारी दान और भी कर गये है, जिसकी वाका-यदा रजिस्ट्री भी हो चुकी है। वम्वईमें इस रकमकी एक आलीशान इमारत है, जिसका किराया ११००) महीना वसूल होता है। यह द्रव्य उपदेशकभडार, परीक्षालय, तीर्थरक्षा, छात्रवृत्तियाँ आदि उपयोगी कार्यो में लगाया जायगा। इसका लगभग आधा अर्थात् पाँच सौ रुपया महीना विद्यार्थियोको मिलेगा।

सेठजीके किन-किन गुणोका स्मरण किया जाय? वे गुणोके आकर थे। उनके प्रत्येक गुणके विषयमें वहुत कुछ लिखा जा सकता है। उनका जीवन, आदर्श जीवन था। यदि वह किसी सजीव कलमके द्वारा चित्रित किया जावे तो उसके द्वारा सैकड़ो पुरुष अपने जीवनोको आदर्श वनानेके लिए लालायित हो उठे।

यदि अच्छे कामोका अच्छा फल मिलता है, तो इसमें सन्देह नही कि दानवीर सेठजीकी आत्मा स्वर्गीय सुखोको प्राप्त करेगी और अपने

इस जन्मके लगाये हुए पुण्यविटपोंको फलते-फूलते हुए देखकर निरन्तर तृप्तिलाभ करनेका अवसर पावेगी। एवमस्तु।

—जैन हितैषी, अंक ८, सन् १९१४
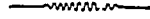
जन्म— ई० स० १८७६

मृत्यु— ई० स० १६३०

महिलारत्न मगनबाई जे० पी०

—— गोयलीय ——

मगन बहन जैनसमाजके ख्यातिप्राप्त शिक्षाप्रसारक महान् हितैषी दानवीर सेठ माणिकचन्द्रजीकी लाड़ली और आदर्श पुत्री थीं। यह जैनसमाजका सौभाग्य था, जो मगन बहन जवानीकी चौखट-पर पाँव रखते ही विधवा हो गई। यदि वे विधवा न हुई होती और गृहस्थी-की गाड़ीको जीवन भर ढोती रहती तो फिर यह महिला-समाजमें जीवन-ज्योति कैसे फैलती? अत. हम उस मनहूस घडीका श्रद्धापूर्वक अभि-वादन करते है, जिसमे मगन बहनके माथेका सिन्दूर पोंछा गया और हाथ की चूड़ियाँ तोड़ी गई।

दुःखोंका पहाड़ उन्हींपर गिरता है, जो उसे उठाकर भी सीना तान-कर खड़े रहनेकी क्षमता रखते है। सूर्य्य अपनी प्रखर रश्मियोंको पहाड़ोकी उन्हीं चट्टानोपर बखेरकर गौरव अनुभव करता है, जो उसके तेजको अविचल भावसे सह सके। कायरोंपर तो उसका साया भी पड जाता है तो मारे आत्मग्लानिके बादलोंमे मुँह छिपा लेता है। दुःखोंसे जूझने को हाथभरका कलेजा चाहिए। दुख वह बरसाती बादल नही, जो अन्धेकी तरह चाहे जहाँ गिर पड़े। वह अपना निवास फौलादी जिस्ममें बनाता है।

दु:ख ही सुखका मूल है। रावण यदि सीता-हरण न करता, तो शीलका माहात्म्य संसारको क्योंकर विदित होता ? द्रौपदीका चीर-हरण न हुआ होता तो अवलाओके आँसुओंकी शक्तिका पता कैसे लगता ? अंजना वनोमें न धकेल दी जाती तो अपहृता नारीको सात समुद्र पारसे भी उद्धार करके लानेका आदर्श उपस्थित करनेवाला हनुमान् कैसे पैदा होता ? झाँसीकी रानी लक्ष्मीका सुहाग न लुटा होता तो स्वतन्त्रता-यज्ञमें प्रथम आहुति देकर भारतके जन-जनकी श्रद्धा-भक्तिका पात्र कौन होता ? वापू गोरो द्वारा नही पीटे जाते तो पददलित भारतका उद्धार कैसे होता ?

मगन वहन भी ऐसी ही रत्न थी, जो दु:खके खरादपर चढकर अनमोल वन गई थी। उनका जन्म श्रीमती चतुरवाईकी कूखसे पौप कृष्ण १० वि० सं० १९३६ (ई० स० १८७९) मे हुआ। जव उन्होने आँखे खोली तो धन-वैभव उनके चारों ओर विखरा हुआ था। कीर्ति और यश उनके आँगनमें छम-छम खेलते थे। सुख-समृद्धि उन्हे पालना झुलाते थे।

उन दिनो स्त्री-शिक्षाका चलन नही था। धोवीके कपड़े लिख लेने लायक योग्यता पर्याप्त समझी जाती थी। दुधमुंही वच्चियोकी शादी करना परम पुण्य समझा जाता था। जो माता-पिता अपने वालक-वालिकाओको जितनी अल्प आयुमें विवाह-वन्धनमें वाँध देते थे, वे उतने ही अधिक यश-कीर्तिके भागी होते थे। वहुत-से तो गर्भावस्थामें ही शादी कर देते थे[1]।

१—हर्ष है कि १९३० में शारदाबिल पास हो जानेसे यह प्रथा वन्द हो गई है। १९३१ की मर्दुमशुमारीके आँकड़े वतलाते हैं कि १२५१३४० जैनोंकी संख्यामें १३४२४५ विधवा और ५२९०२ विधुर थे।

सेठ माणिकचन्द्रजी इस प्रथाके प्रबल विरोधी थे। वे पर-उपदेश-कुशल न होकर अपनेमें ही सुधार चाहते थे। इसी भावनासे प्रेरित होकर उन्होंने अपनी बड़ी पुत्री फूलकुमारीका विवाह १५ वर्षकी आयु होनेपर भी नही किया। मगन भी १३ की हो गई थी। रूढिवादियोको चैन कहाँ? नकटापन्थी तो किसीके चेहरेपर भी नाक नही देखना चाहते। चेमेगोइयाँ होने लगी, खुसर-फुसर चलने लगी। अपनी आँख फोड़कर दूसरोंका अपशकुन करनेवाले, जब सेठजीको तिलभर भी विचलित न कर सके तो कुटुम्बियो और इष्ट-मित्रों द्वारा नाक कट जानेका हौआ दिखलाया गया। जब हौएका भी कुछ असर न हुआ तो अन्तमे वह शक्ति छोड़ी गई, जिसके समक्ष सेठजी-जैसे इरादेके मजबूतको भी झुक जाना पड़ा। और वह शक्ति यही थी कि सयानी लड़कियोके उपयुक्त क्वारे वर कहाँ मिलेंगे? आपकी तरह कौन भला आदमी अपने लड़कोंको बिन-ब्याह किये बूढ़े होने देगा? बड़ी आयुके तो विधुर लड़के मिलेंगे, क्वारे तो मिलनेसे रहे!

इस आशंकाने सेठजीको विचलित कर दिया, वे फूलकुमारीका १५ वर्ष और मगनका १३ वर्षकी आयुमें विवाह करनेको बाध्य हो गये। अत: लड़कियोंकी शिक्षा साधारण प्राईमरी गुजरातीसे अधिक नहीं हो सकी।

विवाह-शादियोंमें उन दिनो व्यर्थ व्यय बहुत अधिक होता था। एक-दो माह पूर्व ही कुटुम्बी और रिश्तेदार बुलाने पड़ते थे। हजारो आदमियोको भोज देना पड़ता था। बारातमें हज़ार-पाँच सौसे कम आदमी ले जाना असम्भव था। हाथी-घोड़े, रथ-मझोलीका ताँता लग जाता था। आतिशबाज़ी, फुलवाड़ी, वेश्या-नृत्य, नौटंकी विवाहके आवश्यक विधिविधानोंमे सम्मिलित थे। बरातियोकी तो ५-६ रोज़ दावतें होती ही थीं, उनके वाहन—घोड़ों-बैलोंको भी भरपेट घी पिलाया जाता था। दूल्हा-दुल्हनके ऊपर अशर्फ़ी और रुपयोंकी बखेर की जाती थी। और

हजारों रुपया कमीन-कारुओंमें बाँटा जाता था[१]। बरातियोंका इतना समूह पहुँचता था कि मालूम होता था कि कोई आततायी आक्रमण करने आया है।

१—इस तरहकी कई बारातें मैंने भी अपने बचपनमें देखी हैं। एक बारातमें फुलवाड़ियोंमें १०-१० के नोट लगे देखे हैं और यह फुलवाड़ी केवल लुटानेके लिए बनाई जाती थी। एक बारातमें डेढ़ हज़ार आदमी गये थे। वेश्यानृत्य, नौटंकी, गाजे-बाजेमें दसबीस हज़ार रुपया स्वाहा हो जाना मामूली बात थी। मैंने अपनी आँखोंसे तमाम दिल्ली शहरकी दावत देखी है। इसी तरहकी वैवाहिक फ़िजूलखर्चियोंका एक रोज़ प्रसंग चल रहा था। हरएक एक-से-एक बढ़कर देखी-सुनी सुना रहा था कि सहारनपुरके चौधरी कुलवन्तराय जैनने जो दिलचस्प वाक़या बयान किया, उसके लिखनेका लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। फ़र्माया—

"हमारे यहाँ एक छबीली नामकी जैन-सम्भ्रान्त महिला काफ़ी प्रसिद्ध हुई है। जब वह विधवा हुई तो, उसके समधीने एक पत्रमें लिखा—"समधीजीके स्वर्गवास-समाचारसे हमें अत्यन्त दुःख हुआ। हमारी समझमें नहीं आता कि अब हम क्या करें? हमने तो उन्हींकी लिहाज़से आपकी लड़कीका रिश्ता लिया था। रिश्ता छोड़ते हैं तो स्वर्गमें उनकी आत्माको कष्ट पहुँचेगा, नहीं छोड़ते हैं तो हमारी बारातका अब ठीक-ठीक स्वागत कौन करेगा? आप स्त्री हैं, कैसे सब प्रबन्ध कर सकेंगी? अस्तु, आप जितने बारातियोंका निराकुलता पूर्वक स्वागत-सत्कार कर सकें, निःसंकोच लिख दें, हम उतने ही बाराती ले आएँगे। क्योंकि हम आपकी बदनामीको अपनी बदनामी समझते हैं।" छबीलीको इतनी बर्दाश्त कहाँ कि कोई उसकी रईसी और इन्तज़ाममें शकोशुबह ज़ाहिर करे। उसने एक थैलीमें पोस्तके दाने भरकर भिजवा दिये और लिखवा दिया कि—"इससे कम तो बाराती लाएँ नहीं, अधिक आप जितना चाहें

इन व्यर्थके व्ययोसे जो समाजका अहित हो रहा था, उससे सेठजी दुखी थे। अतः उन्होने सामूहिक विवाहका सूत्रपात अपने ही यहांसे प्रारम्भ किया। यानी फूलकुमारीका पाणिग्रहण श्री मगनलालसे और मगनबाईका श्री खेमचन्दसे एक ही वक्तमे कर दिया। दोनों बारात एक दिन बुला ली और एक ही दिनमें दोनोका विवाह सम्पन्न हो गया। और बेटेवालोके अत्यधिक दबाव डालनेपर भी दस हजारसे अधिक रुपया दोनोंकी शादीमें व्यय नही किया।[1]

ले आयें"। बेटेवालेने सुना तो होंट चबा लिये। गांव-गांवमें डोंडी पिटवा दी। ऐरे-ग़ैरे नत्थूख़ैरोंको इतना भर लाया कि टिड्डीदलका धोखा होता था। लेकिन ठहरने और भोजनकी इतनी सुन्दर सुव्यवस्था थी कि चाहनेपर भी बेटेवाला कोई बाल न निकाल सका। आख़िर हारकर उसने नाक काटनेका यह उपाय निकाला कि चढ़तके वक्त छबीलीके दर्वाज़ेपर अशर्फ़ियोंकी बखेर प्रारम्भ कर दी। उन दिनों बखेरका रिवाज था, किन्तु बेटीवालेके अनुनय-विनय करनेपर बखेर बन्द कर दी जाती थी। मगर छबीली अनुनय-विनय क्यों करती ? उसने मकानकी छतपर अशर्फ़ियोंकी बोरियां रखवा लीं और अशर्फियोंको छाजमें भर-भरकर बरातियोंपर बखेरने लगी। जिसका अर्थ यह था कि मेरे दर्वाज़ेपर बखेर इस तरह करना है तो करो, वर्ना बन्द करो। बेटेवाला क्या खाकर इस तरहकी बखेर करता, चुप रह गया।"

१—विवाह-शादियोंमें दिन-दूने बढ़ते हुए व्यय और उसके परिणामोंकी ओर बैरिस्टर जमनाप्रसादजी जजका ध्यान भी आकर्पित हुआ था। उन्होंने १९४५ में भारतवर्षीय जैनपरिषद्के वार्षिक अधिवेशनके अवसर पर जबलपुरमें ४–५ कन्याओंका सामूहिक विवाह सम्पन्न कराया था। परिषद्के सभापति दानवीर साहू शान्तिप्रसादजीने वरोंको तिलक लगा कर रुपये नारियल देकर आशीर्वाद दिया था। साहू श्रेयान्सप्रसादजीने

दुर्भाग्यसे मगनको ससुरालका वातावरण अनुकूल नही मिला। पति दुराचारी, शराबी और सास ससुर धार्मिक संस्कारोसे कोरे। घरेलू धन्धो और झगडोमें ही मगनका सारा समय व्यतीत होता रहता था। उचित शिक्षाका प्रबन्ध तो दरकिनार, अवकाशके क्षणोमें शास्त्र-स्वाध्याय भी उचित नही समझा जाता था। वनकी मैना पिंजरेमें बन्द हो गई थी!

शादीके ३ वर्ष बाद यानी १६ वर्षकी अवस्थामें मगनके एक पुत्री हुई, वह सारे दुःख भूलकर अपनी पुत्रीमें ही मगन रहने लगी, किन्तु १॥ वर्ष की होकर वह भी चलती बनी। मगनको इस मनबहलावके सम्बलके नष्ट हो जानेसे मर्मान्तिक पीडा पहुँची, किन्तु सेठजीके धार्मिक उद्बोधनसे काफी सान्त्वना मिली।

दो वर्ष बाद एक और पुत्रीका लाभ हुआ, किन्तु १९ वर्षकी अवस्था-में मगनका सुहाग लुट गया। इस वज्रपातसे मगनका चित्त विक्षिप्त-सा हो गया। बूढी माँ पछाड़ खाकर गिर पड़ी। बूढे सेठजीकी कमर टूट गई, किन्तु उन्होने अपने हृदयके उबालको आँखो तक नही आने दिया। वे इस बहते हुए ज्वालामुखीको चुपचाप पी गये। वे डकराती हुई मगनको अपने साथ बम्बई लिवा लाये और उचित अवसर देखकर सान्त्वना देते हुए बोले—

"मगन, सोच तो सही यदि संसारमें सुख होता तो तीर्थंकर-चक्र-वर्ती इसका त्याग क्यों करते? यह तो सदैवसे होता आया है। अपनी

फूलमालाएँ पहनाकर उनकी सुधारक वृत्तिका अभिनन्दन किया था। और जनसमूहने जयघोषके साथ अपनी मंगल-कामनाएँ व्यक्त की थीं, इस कल्याणकारी प्रथाका रूढ़िवादियोंने घोर विरोध किया था और सैकड़ोंकी संख्यामें आततायी जज़ साहब पर टूट पड़े थे। फिर भी जज़ साहबने शान्त और अहिंसक बनकर जिस दृढताका परिचय दिया, वैसी दृढता विरले ही सुधारकोंमें देखनेको मिलती है। काश, यह प्रथा जज़ साहबने चालू रखी होती तो हज़ारों दरिद्र बेटीवालोंका उद्धार होता रहता।

समाजमें एक वर्षसे लेकर तेरी आयु तककी कई लाख विधवाएँ नारकीय यन्त्रणाएँ सहन कर रही है। तुझे जीवन-निर्वाहकी चिन्ता और कुटुम्बियो द्वारा दारुण क्लेश पहुँचाये जानेका तो भय नही है। हमारी समाजमें तेरी हजारों बहनें ऐसी निराश्रिता है कि जिन्हे वर्तन माँजने, चक्की पीसने, गोवर थापने, पानी लाने, चर्खा कातने-जैसा कष्टकारक परिश्रम करने पर भी भरपेट भोजन नही मिलता। उनके बालक कीड़े-मकोड़ेकी तरह मर जाते है। विधवा स्त्रियोंपर उनके देवर, ज्येष्ठ, सास, ससुर, ननद, जिठानी जो अत्याचार ढाते है, काम-वासनाके लोग कैसे जाल फैलाते है, और निर्दोष अवला भी समाजकी आलोचनाकी किस प्रकार लक्ष्य बनी रहती है? उस ओरसे तू कबतक आँख बन्द किये वैठी रहेगी?

"पाखण्डियो-अत्याचारियों द्वारा तिरस्कृता न जाने कितनी वहनें आत्महत्या करनेपर मजबूर होती हैं, न जाने कितनी घरसे निष्कासित करके तीर्थोपर भीख मॉगनेको मजबूर कर दी जाती है, न जाने कितनी विधर्मियोंके और वेश्याओंके चंगुलमें फँसती है, और न जाने कितनी भूखी गायकी तरह खूंटेसे बँधी आँसू बहा रही हैं।

"अपने दुःख-सुखके लिए तो कीट-पतंग, पशु-पक्षी भी प्रयत्न करते है। यदि मानव भी व्यक्तिगत दुःख-सुखमें आसक्त रहा तो फिर पशु और मानवमे अन्तर ही क्या रह जायगा?

"मगन, तू अपने दुःखको सारे विश्वका दुःख वना ले, तू अपने वहते हुए ऑसुओंको पीकर अपनी सन्तप्त वहनोके रिसते हुए नासूरोंपर मरहम लगाना सीख। अपने इस वैधव्यको अपने लिए वरदान समझ। और आज जो तेरी बहनें अज्ञान-अन्धकारोमें भटक रही है, उन्हे सम्यक् मार्ग दिखा दे। सदाचरणका कवच पहनकर ज्ञानका दीप हाथमे लेकर समूचे भारतमें घूम-घूमकर जीवन-ज्योति जला दे बेटी!"

और सचमुच मगनने अपने माथेके सिन्दूरकी तरह आँखोंके आँसू भी पोंछ डाले। वह शोकातुर अवला, सवला वनकर शोकातुर अवलाओं के आँसू पोंछनेको प्रस्तुत हो गई।

सेठजी महिलाओंकी दुर्दशाका कारण शिक्षाका अभाव समझते थे। अतः उन्होने मगनके चारो ओर धार्मिक वातावरण बखेर दिया और आदर्श शिक्षाका समुचित प्रबन्ध कर दिया। क्योंकि वे जानते थे कि यदि मगनके पास सदाचरण-कवच और ज्ञान-मशाल न होगी तो यह दूसरोका तो उत्थान क्या करेगी, स्वयं ठोकर खाकर गिर पड़ेगी।

मगन अब अपना समस्त समय जिनदर्शन, पूजा, स्वाध्याय और पठन-पाटनमें व्यतीत करने लगी, और थोड़े ही दिनोमें अमरकोश, लघुकौमदी. न्यायदीपिका, द्रव्यसग्रह, तत्त्वार्थसूत्रका अध्ययन कर लिया। उस समयके प्रसिद्ध विद्वान् पं० लालन जब कभी सेठजीके पास आते, मगनको अध्यात्मरसका घण्टो अनुभव कराते।

१९५६ में मगनका ललिताबाईसे परिचय हो गया[1]। १९५७ मे मगनकी माताका भी देहान्त हो गया। सेठजी संसारमे अकेले रह गये, लेकिन इस दुःखको भी वे चुपचाप पी गये। युवा विधवा पुत्रीके सामने उन्हे 'हाय' कहते भी हया आई। अब उन्होंने मगनकी माताके कर्तव्यका भार भी अपने ऊपर ले लिया और अपने ध्यानको चारों ओरसे समेटकर मगनको ही अपने जीवनकी साधना बनाकर जीने लगे।

मगनकी माताका जिस वर्ष निधन हुआ, उसी वर्ष आकलूज-शोलापुरमे बिम्बप्रतिष्ठाके अवसरपर बम्बई प्रान्तिक सभाके अधिवेशनमें मगनने पहली बार भाषण दिया।

समाजसेवाकी भावनासे प्रेरित होकर जब श्री सीतलप्रसादजी नौकरी आदिके बन्धनसे मुक्त होकर लखनऊ छोडकर बम्बईमें सेठजीके पास रहने लगे, तब मगनको समाज-सेवाकी बहुत प्रेरणा मिली। उन्होने सीतलप्रसादजीसे—पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार आदि आध्यात्मिक

१—यह शत्रुञ्जय तीर्थके मुनीम धर्मचन्द्रजीकी भानजी थीं, और बालविधवा थी। यह भी उन दिनों संस्कृत और धर्मशास्त्रका अभ्यास कर रहीं थीं।

ग्रन्थोंका मनन किया, जिससे संस्कृत और धर्मकी योग्यता वढ़ी। स्त्री-शिक्षा-प्रचारके लिए श्री सीतलप्रसादजी मगनको निरन्तर प्रेरणा करते रहते थे कि जब तक स्त्रियोंमें शिक्षाका प्रसार नही होगा, उनका उद्धार होना असम्भव है। स्त्री-शिक्षाके लिए गाँव-गाँव और कसवे-कसवेमें कन्याशालाएँ खुलवानी होंगी, और कन्याशालाएँ तभी खुल सकती है, जब उनमें शिक्षा देनेके लिए आसानीसे अध्यापिकाएँ मिल सके। अत. अध्यापिकाएँ तैयार करनेके लिए हमें हर प्रान्तमें महिलाश्रम स्थापित करने होंगे, और इसका सूत्रपात अपने यहाँसे प्रारम्भ करना चाहिए।

एक रोज प्रातःकाल मगनके सामने श्री सीतलप्रसादजीने सेठजी को एक घण्टे तक इस सम्बन्धमे समझाया तो सेठजीपर इसका प्रभाव पड़ा। उन्होंने कहा—"आश्रम खोलनेसे पहले यह देखना चाहिए कि कोई विधवा यहाँ आती भी है या नही ? मैं अपने मकानमें २-४ कोठरियाँ खाली किये देता हूँ। पत्रोंमे नोटिस देकर पढनेवालियोको वुलाओ, उनके खानपान आदिकी सव व्यवस्था हो जायगी।"

मगन बहनको इससे अपार हर्ष हुआ। उन्होने १६ फरवरी १६०६ के जैनगजटमे श्राविकाश्रम खुलनेकी सूचना और महिलाओको ज्ञानोपार्जनके लिए आश्रममें भर्ती होनेका निमन्त्रण छपवा दिया। यही छोटा-सा रूप शनै-शनैः इतना विकसित हुआ कि मगन वहनने अपने जीवन-काल में ही इसके लिए ६१६३३।।=)।। का ध्रौव्य फ़ण्ड एकत्र कर लिया था, जो कि आज भी वैंकों और शेयर्समें सुरक्षित है, और इस ध्रौव्य फण्डके व्याज तथा सामाजिक सहायतासे आश्रमका कार्य्य सुचारु रूपसे चल रहा है।

आश्रमसे सुशिक्षित महिलाएँ, भारतके २७ भिन्न-भिन्न आश्रमोकन्यापाठशालाओको मगन वहनके जीवनकालमें ही सचालन करने लगी थी। उनकी प्रेरणासे वम्बई—दक्षिण प्रान्तमें १२, राजपूताना-मालवा में ६, मध्यप्रदेश-वरारमे ४, देहली-पंजाव प्रान्तमे ५, संयुक्तप्रान्तमें ७, वंगाल-विहारमे २, आश्रम और पाठशालाएँ स्थापित हो चुकी थीं।

स्त्री-सभाओ, आश्रमों, पाठशालाओंका तो एक प्रकारसे सारे भारतमें जाल-सा पुर गया था, जिनकी तालिका देना भी कठिन-सा है !

श्री सीतलप्रसादजी समाजसेवाका व्रत लेकर बम्बई तो पहले ही रहने लगे थे, किन्तु उनका मन तो सर्वस्व त्यागनेको आकुल हो रहा था। कही इस शुभोपयोगमे कोई इष्ट-मित्र बाधक न हो जाय, इस भयसे उन्होने अपना यह संकल्प किसीपर भी प्रकट नही होने दिया, और चुप-चाप १३ दिसम्बर १९०९ को सोलापुरमे ऐलक पन्नालालजीके समक्ष सप्तम प्रतिमाधारी त्यागी बन गये। सूर्य अपने तेजको बादलोमें कितना ही छिपाये, प्रकट हो ही जाता है। मगन बहन उनके वैराग्यमे भीगे हृदय से परिचित थी। उनसे उपदेश श्रवण करते समय, अध्ययन करते समय, उनकी समाज-सेवाकी अहर्निश लगन तथा सामायिक प्रतिक्रमणसे वह भले प्रकार समझ गई थी कि इस मुमुक्षुको घरमे बाँधकर कोई न रख सकेगा। उसी आशकाने श्री सीतलप्रसादजीके त्यागीवेशके वस्त्र तैयार कर देनेकी उन्हे प्रेरणा की। यह मगन बहनका परम सौभाग्य था कि दीक्षा लेते ही ब्रह्मचारीजीने उनके तैयार किये हुए वस्त्र ग्रहण किये।

फरवरी १९१० मे सम्मेदशिखरपर पंचकल्याणक महोत्सवके अवसरपर महासभाका भी अधिवेशन हुआ। मेलेमे तीस सहस्र जनता एकत्र हुई। महिलाओमे श्री पार्वतीदेवी, ललिताबाई, चन्दाबाई, लाज-वन्ती, मगनबाई आदि भी गईं। मगनकी मुख्य प्रेरणासे महिलाओंकी ६ सभाएँ हुई। और तभी अखिल भारतवर्षीय दि० जैनमहिलापरिषद् की स्थापना हुई, जिसकी अध्यक्षा पार्वतीदेवी और मन्त्री मगन बहन चुनी गई।

• मगनने तीर्थयात्राओ, मेलेप्रतिष्ठाओं और सभाओके उत्सवोमें जाकर भारतके प्राय. सभी प्रान्तोंका भ्रमण किया और महिलाओंमें जागृति उत्पन्न की।

उनके जीवनकालमें भारतके भिन्न-भिन्न भागोंमें महिला परिषद् के २० अधिवेशन अत्यन्त सफलतापूर्वक हुए। उनको इस पुनीत कार्य्य

में ललिताबाई और कंकुबाईका पूरा सहयोग मिला। इनमें परस्पर इतना गाढ़ा सम्बन्ध था कि अनजान जनता इन तीनोंको सहोदरा बहन समझती थी।

१९१३ में स्याद्वाद विद्यालयके उत्सवपर जैन महामण्डलका भी अधिवेशन हुआ। उसने मगनकी अनुपस्थितिमें उसकी सेवाओंकी अत्यन्त सराहना करते हुए जैन-महिला-रत्नकी उपाधि दी।

६२ वर्षकी आयुमें १९१४ में सेठजीका स्वर्गवास हो गया, और ७ फरवरी १९३० की रात्रिको अचानक हृदयगति बन्द हो जानेसे जैन-समाजकी यह ज्योति भी विलीन हो गई। उनके शवपर जैनधर्मभूषण ब्र० सीतलप्रसादजीने बारहभावना भाई और जैनधर्मदिवाकर विद्या-वारिधि बैरिस्टर चम्पतरायजी अर्थीके साथ श्मशान तक गये।

—डालमियानगर,
२ अक्तूबर १९५१

सेठ
देवकुमार

सेठ देवकुमार

पं० हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ

संस्मरण दो प्रकारका होता है निर्जीव तथा सजीव। जिसके संस्मरणसे सार्वजनीन कार्योंके लिए कुछ भी प्रोत्साहन नहीं मिले, वही निर्जीव संस्मरण है अन्यथा सजीव। मानवरूपमें अवतीर्ण बाबू देवकुमारजीने औदार्यपूर्ण विश्वजनीन कार्योंसे अपनेको अक्षरश. अमर सिद्ध कर दिया है।

भूतकालकी पूर्णताकी पराकाष्ठाको पार किये हुए, अर्थात् आजसे लगभग ५० वर्षकी बातें लिख रहा हूँ, क्योंकि उन दिनों मैं १९-२० सालका नवयुवक था और अब मेरा अगला डग ७० की सीढ़ीपर जमा हुआ है। वस्तुतः ऐसे सजीव संस्मरणके लिए सजीव एवं स्फूर्तिप्रद लेखनीकी ही आवश्यकता होती है, किन्तु उदारहृदय निष्कलंकचरित्र, छात्रकल्प-

वृक्ष, नैष्ठिक एवं शान्तिके एकान्तसेवी अपने आश्रयदाता स्व० बाबू देवकुमारजीके सजीव सस्मरणमें मेरी निर्जीव लेखनी एकाध पंक्ति लिखकर कृतकृत्य होनेसे भला कब वाज आनेवाली है और मैं भी अपनेको भाग्यशाली समझूंगा, पर पाठक इसे मखमलकी तोशक पर मूंजका बखिया ही समझें।

हाँ!!! वह दिन मुझसे भुलाये भी नही भूला जा सकता, जिस दिन मैली-कुचैली मिरजई पहने, एक बड़ा-सा गमछा लिए और मलयज चन्दन ललाटपर लेपे हुए मैंने दो तल्लेकी पक्की इमारतके निचले भागके एक कमरेमे श्रीचन्दनमिश्रित केसरके श्रीमुद्राकित तिलकसे अकित ललाट-वाले और तांबूल-रसका आस्वादन करते हुए आपको शान्त तथा गंभीर मुद्रामें देखा। बात यह थी कि दो ही तीन महीनेके पितृवियोगसे जर्जर मैं जीविकोपार्जन करनेके लिए आरा आया हुआ था। महामहोपाध्याय पं० सकलनारायण शर्मा विद्यावाचस्पतिजी (गुरुवर्य) की शिक्षणशाला (नारायण विद्यालय) मे प्रविष्ट भी हो गया था। सस्कृत छात्रोके अनन्य आश्रयदाता श्री गुरुजीने मेरे भोजनादिका समुचित प्रबन्ध कर दिया था, किन्तु मुझे देनी थी काव्यकी मध्यमा परीक्षा। पुस्तकें मेरे पास थी नही। कई छात्रोंने मुझसे कहा कि "आप बाबू देवकुमारजीकी कोठीमे जाकर उनसे मिले, वह आपकी पुस्तकें मँगवा देंगे। पढनेके निमित्त असमर्थ और होनहार छात्रोंकी अनिवार्य आवश्यकताकी पूर्तिके लिए उन्हे आप आरामे वदान्य-वरेण्य राजा कर्ण ही समझें।" बस, देर अब किस बातकी। मैं कुछ पुष्प लेकर आपकी कोठीको चला। पर छात्रोंसे आपकी सात्त्विक दानशूरताकी प्रचुर प्रशसा सुनकर मेरे असात्त्विक अन्त -करणमें समुदित छल-छद्मने आपसे तत्कालीन आवश्यकतासे भी अधिक मॉग करनेको मुझे प्रोत्साहित कर दिया। कुछ आशीर्वादात्मक श्लोक पढकर दो-एक पुष्प आपके करकमलमे मैंने रख दिये। आपने मेरी ओर देखकर कहा—"आपका घर कहाँ है ? कौन है ? कैसे आये ?" इनके उत्तरमे जाति-ग्रामादि कहकर 'कैसे आये ?' इसका उत्तर देते समय

आपकी तेजस्विता पूर्ण आँखोंकी ज़ाज्वल्य ज्योति मेरी तमःपूर्ण आँखोंमें पड़ते ही जिस प्रकार तपोनिष्ठ ऋषियोके आश्रममे आय हुए हिंसक जीव भी उनके तप.प्रभावसे प्रभावित हो अपनी सहज-हिसावृत्तिसे विरत हो जाते है, उसी प्रकार आप-जैसे आदर्श मानव-मुकुटके मिलनसे मेरी पूर्व-चिन्तित लोभग्रस्ति नौ-दो ग्यारह हो गई और झट अपनी प्रकृत माँग—काव्यकी मध्यमा दे रहा हूँ, पाठ्य पुस्तकें नहीं हैं—आपके समक्ष मैंने प्रस्तुत की। आपने अपने सहज सौम्यभावसे कहा कि "पुस्तकें जहाँ मिलती हों वी० पी० से भेज देनेको लिख दे। वी० पी० आ जानेपर डाकियेको लिये यहाँ आइयेगा—कोठीसे रुपये मिल जायेंगे।" मैंने तत्क्षण जीवानन्द विद्यासागर कलकत्तेको पुस्तकें वी० पी० से भेज देनेको लिख दिया। पुस्तकें यथासमय आ गईं, तथा कोठीसे रुपये भी मिल गये।

अस्तु, अब मेरा अध्ययन सुचारु रूपसे चलने लगा। मेरे गुरुजी आरा-नागरीप्रचारिणी सभाके संस्थापक, मन्त्री या यों कहिए उसके सर्वे-सर्वा थे। हिन्दीके प्रायः सभी समाचारपत्र वहाँ आया करते थे। अतः मुझे भी हिन्दीकी कुछ गन्ध लग गई थी। गुरुजीसे बा० देव-कुमारजीकी वड़ी मधुर मैत्री थी। सभाके लिए आर्थिक साहाय्यकी आव-श्यकता होनेपर गुरुजी आपसे उसकी पूर्तिकी अपेक्षा करते थे। क्योंकि सार्वजनीन साहाय्यापेक्ष्य कार्योंमें आपकी औदार्यपूर्ण दानधारा बड़े प्रखर वेगसे प्रवाहित होती थी। एक दिन गुरुजीने मुझसे कहा कि "बाबू देव-कुमारजीने अपने षष्ठवर्षीय बच्चेको हिन्दी पढ़ानेके लिए मुझसे एक छात्र देनेको कहा है। तुम्हें ही वहाँ भेजनेको मैंने सोचा है। एक पत्र मैं दिये देता हूँ, इसे लेकर तुम उनसे मिलो।"

उन दिनों दुर्दान्त दमेकी व्याधिसे ग्रस्त होनेके कारण आप कोठी छोड़कर सपरिवार अपनी मैनेजरी कोठीमे ही रहा करते थे। मैंने वही जाकर गुरुजीका दिया हुआ परिचयपत्र आपको दे दिया। पत्र पढकर और मेरी ओर देखकर आपने कहा कि "परीक्षा पास कर ली।" मैंने संकु-चित होकर कहा, नही श्रीमान्! क्यों? मैंने कहा कि पाँच प्राणीके

भरणपोषणके अस्त-व्यस्तोसे समुचित अध्ययन नही होनेके कारण मैं असफल रहा। कुछ चिन्तित हो ठुड्डीपर हाथ रखकर आपने कहा-"आपके ऊपर परिवार-पोषणका भी भार है? साधारणतया कितनेमें आप अपनी गुज़र कर लेते है?" मैंने कहा कि "दस रुपयेमे।" वस्तुत: मेरे जैसे साधारण व्यक्तिके लिए जब कि पक्की तौलसे १४ सेरका चावल, १३ सेरका आटा, १३ सेर की दाल और १ रु० मे पौने दो सेरका घी मिलता था-प्रति व्यक्ति २ रु० मासिक भोजनाच्छादनके लिए पर्याप्त थे। इन दिनो तो प्रतिप्राणीके ३५ रु० पड़ जाते हैं पर भोजनाच्छादन अनुपातत: निकृष्टतम। आपने कहा कि १० रु० के लिए कितने घटे लग जाते है। कहा कि ५-६ घटे। आपने कहा कि पंडितजीसे मैंने कहा था कि १२ वजे से ४ वजेतक हिन्दी पढानेके लिए एक छात्र दे, जिन्हें १० रु० वेतन मिलेगा। पर मैं अव सोच रहा हूँ कि आप १२ से २ ही वजेतक पढाये और १२ रु० मासिक आपको कोठीसे मिलेगा, किन्तु परिश्रम करके इस साल परीक्षा पास कर लें। अन्यथा मैं समझूंगा कि आप विद्यार्थी नही प्रत्युत केवल अर्थार्थी है। परीक्षा पास कर लेनेपर आपकी वेतनवृद्धि की भी चेष्टा की जायगी। आप आज ही से पढाना प्रारभ कर दे। मुझे तो मुँहमाँगी-मुराद मिली-मनमे कहा कि मैं आज अपने सौभाग्य-सुरतरुके आश्रयमे आ गया। अस्तु, चि० वड़े वव्वू (वा० निर्मलकुमारजी) वुलाये गये। आप भीतर वँगलेसे निकल आये। अवस्था लगभग आठ सालकी होगी। दुवले-पतले लालिमा लिये हुए तेजस्विताकी प्रतिमूर्ति चि० निर्मलकुमारजीको देखकर मुझे वड़ी प्रसन्नता हुई। 'यही प० जी आजसे आपको पढायेगे-किताव कापी लेते आइये'। वावू साहवके निकट ही एक क़ालीन विछी चौकीपर मैं वैठ गया। चि० वडे वव्वू हिन्दीकी एक पुस्तक और दो-एक कापियाँ लिये मुझ अदृष्टपूर्व अध्यापकको एकटक देखने लगे। मैंने पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। यो मेरा अध्यापन अविच्छिन्न रूपसे चलने लगा। प्रतिदिन आपके निकट मुझे पढाना पड़ता था। भले ही विशेष पढे-लिखे न हों, पर ब्राह्मण प्रकृत्या अपनेको वर्ण-

ज्येष्ठ तथा ज्ञानज्येष्ठ समझनेमें भूल नहीं करते थे। अतः मेरी धारणा थी कि बाबू साहब एक बड़े ज़मीदार हैं। थोड़े-से पढ़े-लिखे होंगे। आपको हिन्दीकी विशेषज्ञता कहाँ ? यही कारण था कि बिना कुछ सोचे-समझे निर्भीकतापूर्वक पढ़ाता था। एक दिन किसी दोहेका अर्थ उल्टा-सीधा पढा रहा था। आप झट टोक बैठे—पं० जी क्या पढ़ा रहे है ? मैंने कहा कि यह दोहा। आपने कहा इसका अन्वय और शब्दार्थ तो कहिये। मैंने ज़रा सँभलकर अन्वय और शब्दार्थ कह दिया। तब इसका अर्थ क़्या होगा ? उसका प्रकृत अर्थ भी मुझसे आपने कहलवा दिया। और कहा कि पहले आपके कथित अर्थसे इस अर्थमे कुछ अन्तर है ? मैंने संकुचित होकर कहा कि मैं अशुद्ध पढ़ा रहा था। मेरे सिरपर मानो सौ घडे पानी पड़ गये। स्तब्ध और कुण्ठितकण्ठ देखकर मुझे आश्वासन देते हुए आपने कहा कि अध्यापकको छात्रोंको पढानेमे जल्दबाजी नही करनी चाहिए। आप दोहेका अन्वय तथा शब्दार्थ जानते हुए भी इनका सदुपयोग नहीं कर, शीघ्रतामें मनमाना अशुद्ध अर्थ कर रहे थे। अस्तु, अबसे ऐसी शीघ्रता पढ़ानेमें न करें। मैंने डेरेपर आकर गुरुजीसे यह घटना कही। आपने कहा कि बाबू देवकुमारजी अन्यान्य जमीदारों और कोठीवालोकी तरह गद्दीपर बैठे निरक्षरताका निदर्शन बन हमेशा चापलूसोसे घिरे रहकर अपने जीवनको कृतकृत्य तथा धन्यधन्य समझनेवालोंमेंसे नही है। यह एक सुदक्ष, ग्रैजुएट, उर्दू-फ़ारसीके अतिरिक्त हिन्दीके अच्छे मर्मज्ञ है। अपने सामाजिक पत्र "हिन्दी जैन गज़ट" के सफल सम्पादक है। जैन महासभाके किसी वार्षिकोत्सवके वह सभापति भी हो चुके है, जिनका गवेषणापूर्ण भाषण मैंने जैन पत्रोंमें पढ़ा है। आप पटना ला कालेजमे भी ६-७ महीने तक अध्ययन कर चुके हैं। बा० देवकुमारजी संस्कृतके अधिक जानकार नहीं होनेपर भी संस्कृतके अनन्य प्रेमी है। क्योकि अपने एकमात्र अनुज बा० धर्मकुमारजीको अंग्रेजीके साथ संस्कृतके एक अच्छे पण्डित रखकर उच्च शिक्षा दिलवाई। बा० धर्मकुमारजी धाराप्रवाह संस्कृत बोलते और लिखते थे। क्योंकि, व्युत्पत्तिके साथ

उन्होंने कौमुदी पढ ली थी। ऐसे होनहार एव १८ वर्षकी उम्रमे ही बी० ए० में पढनेवाले अपने दक्षिण भुजतुल्य भाईकी अप्रत्याशित मृत्यु हो जानेके कारण बा० देवकुमारजीके स्वास्थ्यको वड़ा गहरा धक्का लगा है। इनका उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुख स्वास्थ्य देखकर भावी दुर्घटनाकी चिन्ता हम मित्र-मण्डलीको सदा डॉवाडोल किये रहती है। सस्कृत पंडितो तथा छात्रोके लिए देववृक्षप्रतिम बा० देवकुमारजी स्वास्थ्य-सम्पन्न होकर चिरायुष्मान रहें, यही शुभ कामना सबोके अन्तस्तलमें सदा जागरूक रहती है। इनकी दृष्टान्तभूत चरित्रनिर्मलता, सत्यवादिता, सहृदयता, विद्यारसिकता एव परदु.खकातरता आरा अग्रवाल मण्डलीको ही नही, प्रत्युत बड़े-से लेकर छोटे तक सर्वसाधारण जनताको इनमें सच्ची श्रद्धा प्रकट करनेको विवश किये रहती है। तुम अपना अहोभाग्य समझो कि इनके आश्रयमें पहुँच गये। तुम्हें २ घंटेके ४ रु० के बदले १२ रु० मासिक छात्रवृत्ति दे रहे है न कि पाठनवृत्ति।

मेरा अध्यापन अबाध गतिसे चलने लगा, एव गुरुजीसे बावू साहवका प्रकृत परिचय पा और गुणवर्णन सुनकर मै वडा ही प्रभावित हुआ तथा साथ ही अव आपको बहुत निकटसे देखने भी लगा। आपके यहाँ अन्यान्य विषयोके विद्वानोका भी समागम रहता था। कभी किसी मौलवीको हाथमें तसवीर लिये बातें करते देखता था तो कभी किसी पण्डितको तात्त्विक विचार करते। मयूरपिच्छधारी कौपीनी जैन साधुओके आगे तो भक्तिविह्वल एव प्रणत मैने आपको अनेक बार देखा था। हाँ, आरा के आस ही पास रहनेवाले पं० मुरलीधर शर्मा नामक एक अच्छे नैयायिक विद्वान् सदा आपके पास रहा करते थे। जब-तब बावू साहबको पं० जीसे शास्त्रीय विचार-विनिमय करते भी मै देखता था। पं० जी बड़े ही नि स्पृह, चिन्तनशील, आध्यात्मिकतासे ओत-प्रोत तथा ज्ञानगरिमासे गंभीर प्रकृतिके जान पड़ते थे, किन्तु दुःखकी बात है कि पण्डितजीने अपने लिए "व्याघ्रचर्मावृत शृगाल' की लोकोक्तिको ही चरितार्थ कर दिखाया। क्योकि कालान्तरमें मुझे ज्ञात हुआ कि पं० जीके गाँवके निकट

ही बाबू साहबके सैकड़ों बीघे जीरातके खेत है। 'दर्शनशास्त्रकी पाठशाला खोलकर मै निश्चिन्त हो घरपर ही छात्रोको पढ़ाना चाहता हूँ' यह कहकर आपसे ५० बीघे जमीन उन्होंने वृत्ति रूपमें लिखवा ली, जिसका मूल्य कमसे कम ५० हजार रुपये होता है, किन्तु प्रस्तावित पाठशाला अपने रूपमें न रहकर पं० जीके परिवार-पोषणमें ही परिणत हो गई। अन्तमें पं० जीने बहुत दिनों तक पागल होकर बड़े कष्टसे ऐहिक लीला समाप्त की। किसीने सच कहा है—"धोखा खाना कही अच्छा है, धोखा देनेकी अपेक्षा।"

बाबू साहबमें एक अपूर्वता मैंने यह देखी कि आप कभी हँसते नही थे। आपसे बाते करते अन्यान्य शिक्षित समुदायको प्रसंगानुसार ठहाका लगाते मै भले ही देख लूँ। हाँ—पण्डिताचार्य स्वामी नेमिसागर वर्णीके साथ जब धार्मिक बातें छिड़ जाती थी तो हास्यप्रसंगपर कभी-कभी आपके प्रशान्त मुखमंडलपर स्मितमुद्राकी एक क्षीण रेखा बिजली-सी कौध जाती थी। वस्तुतः हमारे पण्डिताचार्य वर्णीजी महाराज विशुद्ध वीर, करुण, हास्य एवं शान्तरसका अवतरण करनेमे सिद्धहस्त है। आप ही जैसे कर्मठ सच्चे साधुओंकी समाजको आवश्यकता है।

मै ऊपर एक जगह कह आया हूँ कि आप सार्वजनीन कार्योमें भाग लेना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते थे। ऐसी दशामें अमर भाषा संस्कृत की दौहित्री, प्राकृतकी पुत्री तथा अन्यान्य अपभ्रंश भाषाओंकी सहेली आर्यभाषा हिन्दीकी ओर आपकी सदय दृष्टि होनी अस्वाभाविक बात नही थी। उन दिनों गुरुजीके सम्पादनमें आरा नागरीप्रचारिणी सभासे पुस्तकें प्रकाशित होती थी। तर्कशास्त्र नामकी भी एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। एक बार सभामें एक विशेष बैठकका आयोजन हुआ था। उस बैठकमे सम्मिलित हो आपने उक्त पुस्तकके लेखकको एक सुवर्णपदकसे पुरस्कृत कर सम्मानित किया था। युगोंकी बात है, पूज्य गुरुजीके मुँहसे मैंने सुना था कि जिस समय बाबू देवकुमारजी मृत्युशय्यापर पड़े हुए अन्यान्य अपनी संस्थाओके लिए निर्बाध स्थायी रूपसे मिलनेवाली

मासिक वृत्तिके निमित्त अपनी लाखोकी भू-सम्पत्ति अन्तिमवृत्ति दानपत्र (EndoWment) में लिखवाकर उसे राजमुद्राकित (Registered) कर रहे थे, उस समय उन्होंने आरा ना० प्र० सभाको भी याद कर मुझे बुलवाया था, किन्तु पार्श्ववर्ती लोगोने टालमटूल कर दिया। अन्यथा सभाके लिए भी कुछ न कुछ मासिक वृत्तिकी स्थायी व्यवस्था अवश्य कर देते। जो हो, आपकी अन्तिमावस्थाकी सच्चेष्टाने हिन्दीकी व्यापकता तथा प्रामाणिकताके प्रसारके लिए अलक्षित रूपसे अमूल्य तथा असीम "जैन सिद्धान्त भवन" (The Central Jain Oriental Library) में इकट्ठा रक्खा है। यहाँ हिन्दीके प्राणस्वरूप अपभ्रंशकी अपूर्व निधियाँ सचित हैं, जो देशी भाषाओकी एक सवल शृंखला है। साथ ही इस "जैन सिद्धान्त भवन" को प्राक्कालीन विषयकोविदोकी जिज्ञासा-पिपासाकी परितृप्तिके लिए उनके साध्यकी सिद्धिका असाधारण साधन समझना कोई अत्युक्ति नही कहा जायगा।

आप धार्मिक शिक्षा तथा संस्कृत-प्रसारके प्रवल पक्षपाती थे। क्योंकि आपने वच्चोको धर्मशिक्षापूर्वक संस्कृत पढानेके निमित्त पं० लालारामजी शास्त्री (संभवतः किसी प्रतिमा विशेपकी दीक्षा लेनेसे अव आपका परिवर्तित नाम ज्ञानानन्दजी है) को वड़े आग्रहके साथ वुलाकर सम्मानपूर्वक रक्खा था। चौवीसो घंटे शास्त्रीजीकी ही देखरेखमें रहकर दोनों वच्चे कातन्त्र व्याकरण पढते तथा धर्मशिक्षा ग्रहण करते थे। आपकी हार्दिक इच्छा रहती थी कि आराकी जैन जनता अपनी सामाजिक रीति-नीतिकी विशुद्ध परम्पराका पालन करनेमें कभी शिथिलता नही आने दे। क्योकि आप कहा करते थे कि अपने धर्मका मर्म नही जानने एवं दैनिक कार्य-क्रममें धर्मको प्राधान्य नही देनेसे भारतीयताकी समुज्ज्वल प्रभा सदाके लिए निर्वाणप्राय हो जायगी। अंग्रेजी-दाँ लोगोसे वातें करनेमें वडी दृढता एवं निर्भीकतासे कहा करते थे कि भारतवर्षकी आध्यात्मिकता एवं संस्कृतिके सुललित सुवर्णसूत्रको पाश्चात्यशिक्षा-दीक्षित वहुसंख्यक भारतीय अपने कन्धेसे उतार फेंकनेमें ही अपनी नव्य भव्यता

तथा आत्मसम्मानवृद्धिकी समुचित सुव्यवस्था समझते हैं। सच बात तो यह है कि पूर्वपुरुषोंके सुसंस्कार अथवा कुसंस्कार आगे आनेवाली पीढ़ियोंमें अलक्षित रूपसे संक्रान्त होते रहते हैं। और उन संस्कारोंका ह्रास अथवा विकास मात्रानुसार हुआ करते हैं। आपके पितामह बाबू प्रभुदासजी संस्कृतके मर्मज्ञ तथा धर्मप्रवण व्यक्ति थे। यह रहस्य मुझे तब ज्ञात हुआ जब मैं "जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा" में पुस्तकालयाध्यक्षके पदपर रहकर स्वर्गीय सेठ पद्मराज रानीवालेके सम्पादनमें भवनसे निकलनेवाले "जैन सिद्धान्त भास्कर" में निर्जीव-सी कुछ तुकबन्दियाँ दिया करता था। उसमें आदिपुराणके मंगलाचरण और प्रशस्ति भी मुझे देनी पड़ी। भवनमें संरक्षित आदिपुराणकी प्रति बड़ी जीर्ण-शीर्ण थी। उसे बार-बार उलटते-पुलटते मुझे देखकर बाबू साहबके पू० मामा बाबू बच्चूलाल जीने कहा कि पण्डितजी आदिपुराणकी इसी प्रतिका चि० निर्मलकुमारके प्रपितामह बाबू प्रभुदासजी प्रतिदिन स्वाध्याय करते थे, और सब लोग उन्हें पण्डित कहा करते थे। यही कारण है कि परम्परागत यह संस्कार उत्तरोत्तर विकासोन्मुख दृष्टिगोचर हो रहा है।

एक उल्लेखनीय बात मैं भूल ही रहा हूँ। बात यह थी कि काशीकी यशोविजय श्वेताम्बर जैन पाठशालाके अधिष्ठाता परम विद्वान् श्री धर्मविजय सूरिजी महाराज पाठशालाके १५-२० छात्रों तथा एक व्याकरणाध्यापकके साथ आरामें पधारे थे। यहाँ आपका शुभागमन कैसे हुआ था, यह मुझे ज्ञात नहीं। क्योंकि आरामें श्वेताम्बर साधु एक भी नहीं था। बहुत संभव है कि धार्मिक भावनासे ओत-प्रोत बाबू साहब आराकी जनताको कृतार्थ करनेके लिए श्री सूरिजी महाराजको आग्रहपूर्वक यहाँ लिवा लाये हों। आप ही सूरिजी महाराजके अनन्य आतिथ्य थे। श्री सूरिजी चार-पाँच दिनों तक यहाँ रह गये थे। एक बड़े भारी जैनाचार्य आये हुए हैं, नगरमें इसकी बड़ी धूम थी। श्री शान्तिनाथजीके विशाल मन्दिरके सुविस्तृत प्राङ्गणमें प्रतिदिन आपका प्रवचन होता था, जिसका सदुपयोग जैन-मंडली बड़ी श्रद्धासे करती थी। श्री सूरिजीके

विदाईके दिन बाबू साहबने पू० गुरुजीको भी बुलाया। आपका अन्ते-वासी मैं भला क्यों नही साथमें रहता ? आपने श्री सूरिजीसे परिचय दिया कि हमारे यह पं० जी विहारके गण्य-मान्य विद्वानोंमें है। और हम सबोंका सौभाग्य है कि आप यहींके रहनेवाले है। सूरिजीने अपनी सहज शान्तिशीलताकी सुधाधारा प्रवाहित करते हुए जैनदर्शन तथा षड्दर्शन सम्बन्धी विचार-विनिमय करके कहा कि आप जैसे सद्विवेचक विद्वान् ही जैनदर्शनके स्याद्वाद सिद्धान्तके प्रति जो अन्यान्य ब्राह्मण विद्वानोके हृदयमें भ्रान्त धारणा घर कर गई है उसे दूर कर सकते है। अन्तमें गुरुजीसे आपने कहा कि मेरे साथमें कुछ छात्र आये हुए है। इनकी आप परीक्षा ले। गुरुजी प्रत्येक छात्रसे पाठ-विषयक मार्मिक वातें पूछकर उनके संतोपजनक उत्तरसे अत्यधिक प्रभावित हुए। अन्तमें सब छात्रोको "राजते महती सभा" यह समस्यापूर्ति करनेको दी। सबोंने बहुत शीघ्र भावपूर्ण समस्यापूर्ति करके दे दी, किन्तु प्रज्ञाचक्षुजीने सब पूर्तियोसे विशिष्ट वीररसाप्लुत ओजोगुणगर्भित अपनी सुन्दर पूर्ति सिंहनाद स्वरमें कह सुनाई। गुरुजीने सूरिजीसे कहा कि प्रज्ञा-चक्षु कालान्तरमें बड़े अपूर्व विद्वान् होगे। यह दिव्य दृश्य देखकर उस समय बा० देवकुमारजीका रोम-रोम मानो हर्ष-गद्गद, भक्तिविह्वल एवं तन्मय-सा हो रहा था। ज्ञात होता था कि आपकी धर्मप्रवणता तथा विद्या-रसिकता रूपी उत्ताल तरंगमय समुद्र अपनी मर्यादाका अब उल्लंघन करना ही चाहता है। अन्तमे आपने प्रचुर मात्रामे बहुत मूल्यवान् द्रव्यादि-से सभी छात्रो और अध्यापक महोदयको पुरस्कृत कर अपनी अनुत्तर उदारता एव वीतरागताका परिचय दिया। अन्ततोगत्वा आपके भक्ति-भरित तथा सात्त्विक आतिथ्य-सत्कार और नैष्ठिकतासे परम प्रसन्न एवं प्रभावित होकर सूरिजीने कहा कि बा० देवकुमारजी बडे ही निश्छल एव दूरदर्शी जैन धर्मात्मा है। यदि अन्यान्य धनी-मानी जैनी भी आप ही के समान धर्म और विद्याके प्रचारसे समाजोत्थानकी चेष्टा करे तो जैन-धर्मका महत्त्व व्यापकताको धारण कर ले और "जैन" शब्दके पीछे जो

श्वेताम्बर और दिगम्बर ये मतभेदसूचक शब्द जुड़े हुए है—कालान्तरमें निरर्थकसे जान पड़ने लगें।

दक्षिण प्रान्त हिन्दू और जैनधर्मका एक दुर्लङ्घ्य दुर्ग-सा है। अथवा सनातन भारतीय संस्कृतिका एक जीता-जागता मूर्त्त प्रतीक उसे कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नही होगी। मेरे संस्मरणीय बाबू साहब अपने प्रभविष्णु भ्राताके निधनजन्य औदासीन्यसे उद्भ्रान्त-से हो दक्षिण-तीर्थयात्राकी धुनमे लग गये और अविलम्ब स्वजन परिजन दल-बलके साथ सपरिवार यात्राको निकल पड़े। साथ ही वहाँ स्वामी नेमि-सागरजी वर्णीका सम्मिलन सोनेमें सुगन्धका काम कर गया। वहाँ आपकी दर्शनीय वस्तुओंमें प्राथमिकता थी शास्त्र-भांडार की। धर्मकी ज्ञानगरिमाका अनन्य साधन शास्त्रोंको दीमक, कीड़ों-मकोड़ोंका खाद्यान्न बनते देखकर आपके रोंगटे खड़े हो गये। दक्षिणके शास्त्र-भाण्डारके अधिपति शास्त्रोंका दर्शन कराना शास्त्रापमान समझते थे, किन्तु बहुत अनुनय-विनय करने तथा वर्णीजीके सहयोगसे शास्त्रोके दर्शन करनेमे आपको अधिक अड़चन नही पड़ी। जिस जैनधर्मका "देव, शास्त्र, गुरु" इन त्रिदेवोके अतिरिक्त दूसरा कोई आधार है ही नही, उसके एक महत्त्व-पूर्ण सर्वोत्तम अंग (शास्त्र) की ध्वंसोन्मुखता देखकर भला किस धर्मात्मा का हृदय नही दहल उठेगा? अस्तु, भाण्डारोमे अरक्षित शास्त्रोंकी अपनी ओरसे अलमारियों तथा वेष्टनके कपड़ेका पर्याप्त प्रबन्ध कर वहाँ तात्कालिक रक्षाकी व्यवस्था अपनी ओरसे आपने कर दी। दक्षिण प्रान्तस्थ सभी शास्त्रागारोंको आपने छान डाला। जहाँ जैसी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति कर शास्त्ररक्षा करना ही एकमात्र ध्येय अपना बनाते हुए तीर्थप्रवाससे आप लौटे, किन्तु स्वास्थ्य आपका साथ देनेसे विरक्त हो चला। अतः मृत्युमहोत्सवका दिवस निकटस्थ देखकर शास्त्ररक्षा-विषयक अपना अन्तिम उद्‌गार निम्नाकित रूपमे प्रकट किया, जो भवनमें संरक्षित आपके चित्रके नीचे अंकित है—

"आप सब भाइयोंसे और विशेषतया जैन-समाजके नेताओंसे

मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है कि प्राचीन शास्त्रो और मन्दिरों और शिला-लेखोकी शीघ्रतर रक्षा होनी चाहिए क्योकि इन्हीसे संसारमे जैनधर्मके महत्त्वका अस्तित्व रहेगा। मैं तो इसी चिन्तामे था, किन्तु अचानक काल आकर मुझे लिये जा रहा है। मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि जवतक इस कार्यको पूरा न कर दूंगा, तव तक ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा। वड़े शोककी वात है कि अपने अभाग्योदयसे मुझे इस परमपवित्र कार्यके करने-का पुण्य प्राप्त नही हुआ, अव आप ही लोग इस पवित्र कार्यके स्तम्भ-स्वरूप हैं, इसलिए इस परम आवश्यक कार्यका सम्पादन करना आप सवका परम कर्तव्य है।"

यह भीष्मप्रतिज्ञा आपने तीस वर्षकी अवस्थामे की थी। जैन-समाजके प्रति आपका यह कारुणिक अतएव मार्मिक निवेदन पढ़कर मुझे रामवनवासकी वात याद आ जाती है। अवध-नरेश राजा दशरथकी आज्ञासे राम, सीता और लक्ष्मणको सुमन्तने रथमें वैठाकर वनमें पहुँचा दिया है। वटवृक्षके नीचे राजवेश-भूषाका परित्याग कर वटक्षीरसे रामचन्द्रजी अपनी तथा लक्ष्मणजीकी जटाकी रचना कर तपस्वी वेपकी सज्जासे सज्जित होने लगे। उस समय वृद्ध सचिव सुमन्तजीने यह दुर्दृश्य देखकर कहा था "हा! हन्त! दुर्दैव!!! जिन रघुवशी राजाओंने चौथेपनमे राज्य-शासनभार अपने पुत्रोको सौपकर सन्यास निमित्त वनका आश्रय लिया था, उसी रघुकुलके ये नवाकुर दुधमुँहे वच्चे वनमें तपस्वियो-जैसा वाना वनाकर रह रहे हैं।" मैं जैन सिद्धान्त-भवनमें वर्षो लगातार लायब्रेरियनके पदपर रह चुका हूँ। तीर्थयात्रियोमे वहु-सख्यक जैन यात्री भवनमे आपके चित्रके नीचे समुद्धृत आपका हृदय-द्रावक मार्मिक निवेदन पढकर रो पड़ते थे, और विवश हो मेरी भी आँखे भर आती थी।

वावू साहव वडी अवोधावस्थामे अपने दोनो वच्चोको छोड़ गये थे, किन्तु वाघके वच्चोको सिखावे कौन? यह जनश्रुति चरितार्थ

हो रही है। आपके चि० पुत्र और पोते आपकी लक्ष्यसिद्धिके लिए अथक परिश्रम कर रहे हैं। इसके निदर्शनरूप आपके नामका देवाश्रम नामका सुविशाल प्रासाद तथा जैन सिद्धान्त-भवनका भव्य भवन ही पर्याप्त है। आपकी अनुजवधू ब्रह्मचारिणी पण्डिता चन्दाबाईजीने तो जैन बाला-विश्राम द्वारा आपकी कीर्तिमें चार चाँद लगा दिये हैं। सच पूछिए तो बा० देवकुमारजीकी वैद्युतरूप चेष्टासे सबके सब अनुप्राणित हो रहे हैं।

—ज्ञानोदय काशी,

अगस्त १९५१

जन्म— १८७७ ई०

स्वर्गवास— १० अगस्त १९२३ ई०

सेठ जम्बूप्रसाद जैन रईस

श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

"सारा समाज सो जाये, कोई साथ न दे, तब भी मैं लड़ूंगा !"
राज्यने सम्मेदशिखरजीका तीर्थ श्वेताम्बर समाजको बेच दिया था और उससे तीन प्रश्न उभर आये थे। श्वेताम्बरोंका आग्रह था कि हम दिगम्बरोंको इस तीर्थकी यात्रा न करने देंगे, यह दिगम्बरियोका घोर अपमान था, यह पहला प्रश्न। राज्यको तीर्थ बेचनेका अधिकार नहीं है, क्योंकि तीर्थ कोई सम्पत्ति नही है, यह दूसरा प्रश्न। और तीर्थ के सम्बन्धमें दिगम्बरोके अधिकारका प्रश्न।

दिगम्बर समाजका हरेक आदमी बेचैन था, पर कोरी बेचैनी क्या करेगी? यहाँ तो आगे बढ़कर एक पूरा युद्ध सिरपर लेनेकी बात थी, उसके लिए प्रायः कोई तैयार न था। इतने विशाल समाजमें एक सिर उभरकर उठा, एक कदम आगे बढा और एक वाणी सबके कानोंमें प्रतिध्वनित हुई—

"सारा समाज सो जाये, कोई साथ न दे, तब भी मैं लड़ूगा। यह दिगम्बर समाजके जीवन-मरणका प्रश्न है। मैं इसकी उपेक्षा नही कर सकता !"

यह सहारनपुरके प्रख्यात रईस ला० जम्बूप्रसादजीकी वाणी थी, जिसने सारे समाजमें एक नवचेतनाकी फुहार बरसा दी। मीठे बोल बोलना भले ही मुश्किल हो, ऊँचे बोल बोलना बहुत सरल है। इस सरलता-में कठिनताकी सृष्टि तब होती है, जब उनके अनुसार काम करनेका समय आता है। लालाजीने ऊँचे बोल बोले और उन्हें निवाहा, ५० हजार चाँदीके सिक्के अपने घरसे निकालकर उन्होने खर्च किये और श्री ला० देवीसहायजी फीरोजपुर-निवासी एवं श्री तीर्थक्षेत्र कमेटी बम्बईके कन्धेसे कन्धा मिलाकर पूरे ढाई वर्ष तक रात-दिन अपनेको भूले, वे उसमें जुटे रहे और तब चैनसे बैठे, जब समाजके गलेमें विजयकी माला पड़ चुकी।

मुकदमेके दिनोमें ही उनकी पत्नीका भयंकर आपरेशन हुआ। मृत्यु सामने खड़ी थी, जीवन दूर दिखाई देता था, सबने चाहा कि वे पास रहें, पर उन्हें अवकाश न था, वे न आये। यह उनकी धुन, उनकी लगन की एक तस्वीर है, बहुत चमकदार और पूजाके लायक, पर यह अधूरी है, यदि हम यह न जान लें कि तब लाला जम्बूप्रसाद किस स्थितिमें थे, जब समाजके अपमानका यह चैलेंज उन्होने स्वीकार किया था।

सन् १८७७ में जन्मे और १९०० में इस स्टेटमें दत्तक पुत्रके रूप में आये। तब वे मेरठ कालिजके एक होनहार विद्यार्थी थे। १८९३ में उनका विवाह हो गया था, पर विवाहका बन्धन और इतनी बडी स्टेटकी प्राप्ति उनके विद्या-प्रेमको न जीत सकी और वे पढते गये, पर कुटुम्बके दूसरे सदस्य स्टेटके अधिकारी बनकर आये और मुकदमेबाज़ी शुरू हुई। यह जीवन-मरणका प्रश्न था, कॉलेजको नमस्कारकर वे इस संघर्षमें आ कूदे और १९०७ में विजयी हुए। स्व० पण्डित मोतीलाल नेहरू प्रिवी-कौंसिलमें आपके वकील थे और आपकी विजय, किसी विवाहित युवाके दत्तक होनेकी पहली नज़ीर थी। यह विजय बहुत बड़ी थी, पर बहुत मँहगी भी। स्टेटकी आर्थिक स्थितिपर इसका गहरा प्रभाव पड़ा था और आप उसे सँभाल ही रहे थे कि शिखरजीका आह्वान आपने स्वीकार कर लिया।

हमने ला० जम्बूप्रसादजीको नहीं देखा, पर इस सारी स्थितिकी हम सही-सही कल्पना करते है, तो एक दृढ़ आत्माका चित्र हमारे सामने आ जाता है। आँधियोंमे अकम्प और संघर्षोमें शान्त रहनेवाली यह दृढ़ता, परिस्थितियोकी ओर न देखकर, लक्ष्यकी ओर देखनेवाली यह वृत्ति ही वास्तवमें जम्बूप्रसाद थी, जो लाला जम्बूप्रसाद नामके देहके भस्म होनेपर भी जीवित है, जागृत है, और प्रेरणाशील है।

इस तस्वीरका एक कोना और हम झाँक लें। अबतक देखे तीनों कोनोमें गहरे रंग है, दृढ़ताके और अकम्पके, पर चौथे कोनेमें बड़े 'लाइट कलर' है—हल्के-हल्के झिलमिल और सुकुमार।

धर्मके प्रति आस्था जीवनके साथ लिये ही जैसे वे जन्मे थे। कॉलेज में भी स्वाध्याय-पूजन करते और धर्म-कार्योमें अनुरक्त रहते। कॉलेजमें उन्हे एक साथी मिले ला० धूमसिह। ऐसे साथी कि अपना परिबार छोड़कर मृत्युके दिन तक उन्हीके साथ रहे। ला० जम्बूप्रसादके परिवारमें इसपर ऐतराज़ हुआ, तो बोले—मैं यह स्टेट छोड़ सकता हुँ, धूमसिहको नहीं छोड़ सकता, और वाकई जीवनभर दोनोंने एक दूसरेको नही छोड़ा।

दत्तक पुत्रोका सम्वन्ध प्रायः अपने जन्म-परिवारके साथ नहीं रहता, पर बे बराबर सम्पर्कमें रहे और सेवा करते चले। अपने भाईकी बीमारीमें १०० रु० रोज़पर वर्षो तक एक विशेषज्ञको रखकर, जितना खर्च उन्होंने किया, उसका योग देखकर आँखे खुली ही रह जाती है!

१९२१ मे, अपनी पत्नीके जीवनकालमें ही आपने ब्रह्मचर्यका व्रत ले लिया था और वैराग्यभावसे रहने लगे थे। अप्रैल १९२३ में वे देहली-की बिम्बप्रतिष्ठामें गये और वहाँ उन्होंने यावन्मात्र वनस्पतिके आहार-का त्याग कर दिया। जून १९२३ में उन्होने अपने श्रीमन्दिरकी वेदी-प्रतिष्ठा कराई और इसके बाद तो वे एकदम उदासीन भावसे सुख-दु:खमें समता लिये रहने लगे।

आरम्भसे ही उनकी रुचि गम्भीर विषयोके अध्ययनमें थी—कॉलेज में बी० ए० में पढ़ते समय, लॉजिक, फिलासफी और संस्कृत साहित्य

उनके प्रिय विषय थे। अपने समयके श्रेष्ठ जैन विद्वान् श्री पन्नालालजी न्यायदिवाकर सदैव उनके साथ रहे और लालाजीका अन्तिम समय तो पूर्णतया उनके साथ शास्त्रचर्चामें ही व्यतीत हुआ।

उनकी तेजस्विता, सरलता और धर्मनिष्ठाके कारण समाजका मस्तक उनके सामने झुक गया और समाजने न सिर्फ़ उन्हें 'तीर्थभक्त-शिरोमणि' की उपाधि दी, अपना भी शिरोमणि माना। अनेक संस्थाओं-के वे सभापति और संचालक रहे और समाजका जो कार्य कोई न कर सके, उसके करनेकी क्षमता उनमें मानी जाने लगी।

समाजकी यह पूजा पाकर भी, उनमें पूजाकी प्यास न जगी। उन्होने जीवनभर काम किया, यशके लिए नही, यह उनका स्वभाव था, विना काम किये वे रह नही सकते थे। उनकी मनोवृत्तिको समझनेके लिए यह आवश्यक है कि हम यह देखें कि सरकारी अधिकारियोके साथ उनका सम्पर्क कैसा रहा ?

उनके नामके साथ, अपने समयके एक प्रतापी पुरुष होकर भी, कोई सरकारी उपाधि नही है। इस उपाधिके लिए ख़ुशामद और चापलूसी-की जिन व्याधियोकी अनिवार्यता है, वे उनसे मुक्त थे। उनके जीवनका एक क्रम था—आज तो सरकारी अधिकारी ही अपने मिलनेका समय नियत करते है, पर उन्होने स्वयं ही सायंकाल ५ वजेका समय इस कार्यके लिए नियत कर रक्खा था। ज़िलेका कलक्टर यदि मिलने आता, तो उसे नियमकी पावन्दी करनी पड़ती, अन्यथा वह प्रतीक्षाका रस लेनेके लिए वाध्य था।

लखनऊ दरवारमें गवर्नरका निमन्त्रण उन्हें मिला। उन्होने यह कहकर उसे अस्वीकृत कर दिया कि मैं तो ५ वजे ही मिल सकता हूँ, विवश, गवर्नर महोदयको समयकी ढील देनी पड़ी। आजके अधिकाश धनियो का नियम तो दारोगाजीकी पुकारपर ही दम तोड़ देता है। कई वार उन्हें ऑनरेरी मजिस्ट्रेट वनानेका प्रस्ताव आया, पर उन्होंने कहा—"मुझे

अवकाश ही नहीं है।" यह उनके अन्तरका एक और चित्र है, साफ और गहरा।

१० अगस्त १९२३ को वे यह दुनिया छोड़ चले। मृत्युका निमन्त्रण माननेसे कुछ ही मिनट पहले उन्होंने नये वस्त्र बदले और भूमिपर आनेकी इच्छा जताई। उन्हें गोदमें उठाया गया और नीचे उनका शव रखा गया। जीवन और मृत्युके बीच कितना संक्षिप्त अन्तर। ला० जम्बूप्रसाद, एक पुरुष, संघर्ष और शान्ति दोनोंमें एक रस! वे आज नहीं है, किन्तु उनकी भावना आज भी जीवित है।

—अनेकान्त १९४३
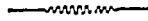
जन्म— वि० स० १९२९

स्वर्गवास— वि० स० १९७५

सेठ मथुरादास टड़ैया

श्री 'तन्मय' बुखारिया

'आपका नाम ?'

'............'

'निवास-स्थान ?'

'ललितपुर ।'

'ललितपुर ? कौन-सा ललितपुर ?'

'ललितपुर, ज़िला झाँसी ।'

'जिला...आ...आ झाँसी ई...ई, सेठ मथुरादासका ललितपुर ?'

अब मेरी बारी थी । साश्चर्य मैंने उत्तर दिया—'सेठ मथुरादास ? सेठ मथुरादासको तो मै जानता नही । आप शायद किसी दूसरे ललित-पुरकी बात कह रहे हैं ?'

'ख़ैर, होगा । आप जाइए । कमरा नं० ११ ख़ाली है, उसमे सामान रख लीजिए ।'

उस समय मेरी आयु लगभग १६-१७ वर्षकी रही होगी । बात इन्दौरकी एक धर्मशालाकी है । कमरा प्राप्त करने जब मैं व्यवस्थापक के पास गया, उस समय जो बाते हुई, वही ऊपर अंकित हैं । उस समय मेरा ज्ञान, अनुभव और परिचय आदि इतना अत्यल्प था कि यदि मैं सेठ मथुरादासको नही जान सका तो यह उचित तथा स्वाभाविक ही था । किन्तु, 'नहीं जानता', उस समय यह मैंने कह तो दिया, पर मेरे सहज जिज्ञासु और कुतूहलप्रिय हृदयमे, सेठ मथुरादासजीके प्रति परिचयेच्छा अवश्य ही अंकुरित होकर रह गई और उसीका परिणाम है यह लेख । आखिर कौन है ये सेठ मथुरादास, जिनके नामसे ही ललितपुरको लोग जानने लगे हैं, इस कौतूहलने मुझे शान्त नही रहने दिया और इसीलिए

जब यात्रासे घर वापिस आया तो यथावसर और यथाप्रसग मैने वडे-बुजुर्गोंसे पूछ-ताछ प्रारम्भ की। उत्तर-स्वरूप उनसे जो कुछ सुननेको मिला, वह आज भी मेरे सश्रद्ध हृदयकी चिर-स्मरणीय निधि है, और आज जब कि मुझमे इतनी समझ आ गई है कि मै 'हिन्दुस्तान, गाँधीका हिन्दुस्तान', इस उक्तिमे निहित भावको जल्दी ही ग्रहण कर लेता हूँ, तव सोचता हूँ कि सेठ मथुरादासजीसे सम्वन्धित यह जन-कथन, 'ललितपुर, सेठ मथुरादासजीका ललितपुर', क्या ऐसी ही वडी उक्तियोका छोटा सस्करण नही है। गाँधीके नामसे, ससार हिन्दुस्तानको जानता है, पर क्या यह भी सच नही है कि मेरे छोटे-से ललितपुरको लोग सेठ मथुरादास के नामसे जानते है ?

× × ×

इकेहरा-छरेहरा शरीर, ठिगना कद, ऊँचा और चौडा ललाट, गोरा रग, दोनो आँखोके आकारमे इतना कम और सूक्ष्म अन्तर कि वह दोप न होकर कटाक्ष वन गया। पहनावेमे महाजनी ढगकी वुन्देलखडी धोती अथवा सराई (चूडीदार पायजामा), तनीदार अँगरखा, सिरपर मारवाडीसे सर्वथा भिन्न वुन्देलखडी लाल पगडी, गलेमे सफेद दुपट्टा। स्वभाव, मानो मोम और पापाण—दोनोका सम्मिश्रण। क्षण भरमे सावेश, क्षण भरमे करुण। वादाम या नारियलकी भाँति ऊपरसे कठोर, भीतरसे कोमल—अन्त सलिल, पाषाणके नीचे प्रवहमान निर्झर। विना गाली दिये वात नही करेगे, किन्तु गाली वह जो शब्दोसे तो गाली लगे किन्तु भावनामे आशीर्वाद-सी। स्वभावकी इस अप्रियकर विशिष्टता के होते हुए भी लोकप्रिय इतने कि सरकारकी ओरसे कई वर्षो तक स्थानीय म्युनिसिपल वोर्डके वाइस चेयरमैन नियुक्त होते रहे। एक वार अखिल भारतवर्षीय परवार-सभाके सभापति भी चुने गये थे। धर्मसाधना उनकी प्रकृति थी और आयुर्वेद हॉवी। फलतः धार्मिक और आयुर्वेदिक दोनो ही विपयोके सुन्दर ग्रंथोंका विशाल सग्रह किया। पुस्तकालय और औपधालयकी स्थापना की।

दूर-दूर तक उनकी प्रसिद्धिका प्रमुख कारण था, उनका वह समम और उदार हृदय, जो क्षेत्रपालजीकी धर्मशालासे प्रतिदिन २-४ किन्ही भी अनजान-अपरिचित यात्रियोको सस्नेह अपने घर लिवा लाया करता था और उन्हें सप्रेम तथा ससम्मान भोजन कराके सन्तुष्ट और सुखी होता था। उनके इस स्वभावसे सामजस्य करनेकी दिशामे घरकी महिलाएँ इतनी अभ्यस्त हो गई थी कि १५-२० मिनिटके भीतर गरम पूड़ी और दो साग तैयार कर देना उनके लिए अत्यन्त सामान्य वात थी। न जाने किस समय अतिथि आजाएँ और भोजन वनाना पड़ जाय, चूल्हा कभी बुझ ही न पाता था।

ललितपुरका सुप्रसिद्ध मंदिर 'क्षेत्रपाल' उन्हीके परिश्रम और सरक्षणका फल है। एक वार स्थानीय वैष्णवोने उसपर अपना अधिकार घोषित किया था, किन्तु यह सेठ मथुरादासजीका ही साहस था कि उन्होंने उसको अदालती और ग़ैरअदालती—दोनो ही तरीकोंसे लडकर जैन-मंदिर प्रमाणित और निर्णीत कराया। उनके लिए क्षेत्रपाल सम्मेद-शिखर और गिरिनार-सा ही पूज्य था। किस प्रकार उसकी यशोवृद्धि हो, प्रसिद्धि हो, आर्थिक स्थिति सुदृढ हो, वह तीर्थ, यात्रियोके लिए आकर्षणका केन्द्र वने—यही उनके जीवनकी सबसे वड़ी महत्त्वाकाक्षा थी। उनका प्रिय क्षेत्रपाल, जैनगति-विधियोका एक सक्रिय केन्द्र वन सके, इसीलिए उन्होने, वहाँ अभिनन्दन पाठशालाकी स्थापना की, जो अभी थोड़े दिनों पहले ही वन्द हुई है। क्षेत्रपालके प्रति, सेठजीके मोह की पराकाष्ठा थी कि वे अपने पीनेके लिए जल भी, एक मील दूर क्षेत्रपाल स्थित कुएँसे ही मँगाया करते थे। क्षेत्रपालके निकटस्थ कुछ भूमि, उन्होंने स्थानीय जैन-समाजसे कुछ विशेष शर्तोपर प्राप्त कर, अपने लिए एक बग़ीचेका निर्माण कराया था, जो आज भी है। प्रतिदिन प्रातःकाल ही इस बग़ीचेसे फूलोकी एक वडी टोकरी उनकी दूकानपर पहुँच जाया करती थी कि नगरके किसी भी व्यक्तिको—विशेषतया हिन्दुओंको, जिन्हें पूजाके लिए फूल अभीष्ट होते है, वे सहज-सुलभ हो सके। जब तक

जीवित रहे, प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल क्षेत्रपाल जाकर पूजन करना तथा शास्त्र-प्रवचन सुनना—उनकी नियमित रुचि थी। क्षेत्रपालमें सुन्दर धार्मिक ग्रंथोका सग्रह हो सके, इस इच्छासे उन्होने न केवल वहुत से वहुमूल्य ग्रथोको प्रयत्नपूर्वक प्राप्त ही किया वल्कि वहुत-से लिखधारियों (हाथसे ग्रथोकी नकल करनवाले लेखको) को आश्रित रखकर उनसे भी ग्रथ लिखाये।

उनकी पारिवारिक आर्थिक स्थितिकी आज जो सवलता है, उसका वहुत वड़ा श्रेय उनके व्यवसाय-कौशलको ही है। वम्वई, टीकमगढ, महरौनी, पछार, वामौरा, चँदेरी, हरपालपुर आदि-आदि कई मडियोमे उनकी गद्दियाँ थी, जिनकी सुव्यवस्था वे अपने सुयोग्य भतीजे पन्नालालजी टडैयाके सहयोगसे करते थे।

उनकी अनुकरणीय विशेपता थी कि इतने निपुण और वड़े व्यौपारी होनेपर भी 'वनियापन' उन्हे छू नही गया था। उनके मुनीम, नौकर-चाकर जहाँ उनकी गालियाँ सुननेके अवश पात्र थे, वहाँ उनके अत्यन्त उदार संरक्षणके अधिकारी भी। सम्मेदशिखरके आसपास, सम्भवतः कलकत्ता या पटना, व्यावसायिक कार्यसे जाकर भी, उनका एक मुनीम वन्दनार्थ शिखरजी भी क्यो नही गया, इसपर उस मुनीमको उन्होने इतना डाटा कि उसे दूसरी वार, ऐसा ही अवसर आनेपर शिखरजीकी यात्रा करनी ही पड़ी। मार्गमे क्यों उस मुनीमने अपनी एक वक़्तकी खुराक़मे केवल तीन आने ही खर्च किये और इस प्रकार सेठ मथुरादासकी मुनीमीके पद को लज्जित किया, इसपर उन्होंने उसको इतनी गालियाँ दी कि सुनने वालोको कानोपर उँगलियाँ रख लेनी पड़ी। नौकरी करते-करते जो नौकर या मुनीम मर गया, उसके वाल-वच्चोको आजीवन पेशन देना और उनके सुख-दुःखकी खोज-खवर एक कौटुम्विककी भाँति ही रखना—आज कितने धनी ऐसा करते है? सेठ मथुरादासके लिए यह सामान्य वात थी!

वयोवृद्ध चौधरी पलटूरामजी, जो आज भी जीवित है और सेठ मथुरादासजीकी चर्चा आते ही जिनके नेत्र सजल तथा कंठ आर्द्र हो उठता

है, उनके एक प्रकारसे दाहिने हाथ ही थे। ललितपुर-समाजमे, चौधरी जी अपनी पंचायत-चातुरीके लिए विख्यात हैं। व्यवहार-कौशलकी यह देन—उन्होंने सेठ मथुरादासजीके चरणोमे बैठकर ही प्राप्त की थी—इसको वे आज भी गर्व और कृतज्ञतासे स्वीकार करते है, और इन पंक्तियो का लेखक चौधरीजीके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है कि सेठजीके सम्वन्ध में इतनी अधिक और प्रामाणिक सामग्री उन्होंने उसको दी।

सेठजी, एक वार, एक विवाहमे सम्मिलित होने मुँगावली गये। चौधरी पलटूराम भी साथ थे। सहसा न जाने क्या सूझी कि चौधरीजीको वुलाकर वोले—'अरे, पल्टुआ! (चौधरीजीके प्रति यही उनका स्नेह-सिक्त सम्वोधन था) सुना है, यहाँ जज साहव रहते है? उनसे मिलना चाहिए।' चौधरीजीने उत्तर दिया—'अच्छी वात है, शामको चले चलें।' इस सुझावपर चौधरीजीको उन्होने इतनी गालियाँ दी कि चौधरी सहमकर रह गये। वोले, 'अवे पल्टुआ! इतना वड़ा हो गया, पर तुझमें इतनी अक़्ल नही आई? मै मिलने जाऊँगा? अवे, वह कामकर कि जज साहब खुद अपने डेरेपर मिलने आये।'

चौधरीजीमें, चातुर्य जन्मजात रहा है, तत्काल वोले—'ठीक है; दीजिये मुझे तीन सौ रुपये—ऐसा ही होगा।' रुपयोकी व्यवस्था हो गई। वाजार जाकर चौधरीजीने दो-चार स्थानीय पचोको साथ लिया। सस्तेका जमाना था। वहुत-सी धोतियाँ, कम्वल, कापियाँ, कितावें, पेंसिलें, दावातें आदि खरीदीं। स्थानीय पाठशालाओके विद्यार्थियोको सूचित किया। गाँवमे जो ग़रीव थे, उनको खवर कराई। सामानको एक सार्वजनिक स्थानपर व्यवस्थित किया। पचोको लेकर जज साहवके वँगलेपर पहुँचे। निवेदन किया कि आज सायंकाल, स्थानीय विद्यार्थियो और ग़रीवोंको, सेठ मथुरादासजी ललितपुरवालोकी ओरसे पुरस्कार वितरित किये जायेंगे; सेठजीकी इच्छा है कि यह कार्य आपके कर-कमलो से सम्पन्न हो। जज साहवने प्रस्तावको सहर्ष स्वीकृत किया। कार्य हुआ। सेठजीकी उदारतासे जज साहव इतने प्रभावित हुए कि दूसरे दिन उनके

डेरेपर पहुँचे और उनको अपने घर भोजनके लिए निमंत्रित किया। चौधरी जी कह रहे थे कि जज साहबने उस दिन जो स्वागत-सत्कार किया, वह आज भी उनकी स्मृतिमे हरा है।

अपने जीवनमे उन्होने शायद ही कोई यात्रा ऐसी की हो, जिसमें मार्ग-व्यय आदिके अतिरिक्त २००-४०० रु० उनके और भी खर्च न हुए हो। विवाह-बारात आदिकी यात्राएँ भी उनके इस स्वभावकी अपवाद नही थी। किसीकी भी वारातमे जाते समय घरसे १०-२० सेर मिठाई-पूडी, काफी पान-सुपारी, इलायची आदि साथमें ले जाना और रास्ते भर वारातियोकी इस प्रकार खातिर करते चलना, मानो उन्हीके लड़केकी वारात हो, आज किसके द्वारा यह उदारता साध्य है ? तीर्थ, विमान, अधिवेशन आदि धार्मिक या सार्वजनिक यात्राओके समय समस्त सहयात्रियोके सुखदु खका दायित्व, मानो नैतिक रूपसे वे अपना ही समझते थे, और अपनी इस वृत्तिके प्रभावमे पैसा तो उदारतापूर्वक वे खर्च करते ही थे, अवसर आ पड़नेपर तन-मन देनेमे भी उन्हे सकोच नहीं होता था। एक वार प्रवासमे उनके सहयात्री श्री दमरू कठेल जव बीमार हो गये थे, तो उनके पाँव तक उन्होने बेझिझक दावे थे !

अपने नगर ललितपुर और प्रदेश वुन्देलखडके प्रति उनके हृदयमें नैसर्गिक ममता थी। एक बार, कुण्डलपुरमे महासभाके अधिवेशनके समय, एक व्यक्ति द्वारा बुन्देलखडके प्रति अपमान-जनक शब्द कहे जाने पर, उन्होने इतना सख्त रुख अख्तियार किया कि आराके प्रसिद्ध रईस और अधिवेशनके सभापति स्वय देवकुमारजी उन्हे मनानेके लिए आये और मुश्किलसे उन्हे शान्त कर सके। ललितपुरके प्रति लोगोमे सम्मान की भावना आये—उनका सदैव यही प्रयत्न रहा करता था। मस्तापुर-रथ-यात्राके समय वे तत्कालीन भावी सिघईसे अपना यह आग्रह स्वीकार कराके ही माने थे कि पहले ललितपुरके विमानोका स्वागत किया जाय।

उस समय समाज-सुधारके न तो इतने पहलू ही थे और न उनके प्रेरक बहुत-से दल ही। समाजमे नारीकी स्थितिके सम्बन्धमे उनका

दृष्टिकोण बिलकुल सीधा-सादा था। एक इसी विषयमें ही क्यों, जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें वे 'मर्यादा' के हामी और पोपक थे। मंदिरोंमे स्त्रियाँ अधिक तड़क-भड़कसे न आये, उनकी गतिमें नारी-सुलभ लज्जा हो, न कि उच्छृंखल चंचलता, उनकी पैनी दृष्टि सदैव यह 'मार्क' करनेके लिए तत्पर रहा करती थी। एक बार, सम्मेदशिखर क्षेत्रपर पंजाब प्रदेशकी कुछ स्त्रियाँ कुएँपर बैठी हुई नग्न स्नान कर रही थी। यह दृश्य, सेठजीसे न देखा गया। उसी समय कई थान मँगवाकर, कुछ वल्लियाँ खड़ी करके उनके सहारे एक पर्दा-सा तनवा दिया।

उनकी धर्म-साधना केवल पूजा-पाठ तक ही सीमित नही थी। सम्भवतः यदि कभी अवसर आ जाता तो धर्मके लिए अपने प्राण दे देनेमें भी उन्हे संकोच न होता। एक बार, स्थानीय जैन मदिरपर, होली खेलने-वाले कुछ लोगोने गोवर फेक दिया। खबर सेठजी तक पहुँची। सब काम छोड़, उसी समय एस० डी० ओ० के पास दौड़े गये। एस० डी० ओ० अंग्रेज था, पर चर्चिल-परम्पराका नही। सेठजीका वहुत सम्मान करता था। तत्काल मौकेपर पहुँचकर जाँच कराई। अपराधियोकी खोज की। जिन लोगोने यह निद्य हरकत की थी, उन्हीसे गोवर साफ़ क़राया गया। नसेनी भी उनको नही दी गई। एक दूसरेके कन्धोपर चढ़कर ही उन्हें गोवर पोंछना पड़ा।

इसी प्रकार **'अहिंसा परमो धर्मः'** भी उनका मात्र मौखिक सिद्धान्त ही नही था। व्यवहारमें भी उसका प्रयोग उन्हे अभीष्ट रहता था। एक बार एक गाय भागती-भागती आई और सेठजीके मकानमें घुसती चली गई। पीछे-पीछे उसका स्वामी कसाई भी दौड़ता हुआ आया। सेठजीने स्थिति समझी और नौकरोंको आदेश दिया कि वह घरकी अन्य गाय-भैंसोंके साथ 'थान' पर बाँध दी जाय। कसाई, क़साई पीछे था और व्योपारी पहले। मौक़ेको ताड़ गया। गायके अनाप-शनाप दाम माँगने लगा, किन्तु सेठजीके आगे उसकी एक भी चालाकी न चली। उन्होंने चार भले आदमियोंको बुलाकर निर्णय लिया और उचित मूल्य देकर उस क़साईको विदा किया।

निरन्तर देना, और बदलेमे कुछ भी पानेकी आशा न करना, उनके जीवनका यह आदर्श था। एक बार टीकमगढकी एक स्त्री अपने तीन भूखे-प्यासे बच्चो-सहित उनके दरवाजे आ गिरी। बोली, जैन हूँ, तीन दिनसे निराहार हूँ। सेठजीने तत्काल उसको ससम्मान प्रश्रय दिया। उसके स्नानादिकी व्यवस्था की। भोजनकी सामग्री दी, बर्तन दिये कि वह स्वयमेव शुद्ध विधिपूर्वक बनाकर खा ले। सेठजीको कुतूहल हुआ कि स्त्री, वास्तवमे, जैन है या यो ही झूठ बोलती है। पल्टूराम चौधरी-को साथ लेकर, छिपकर उसकी भोजन बनानेकी विधिका निरीक्षण करने लगे। स्त्री रसोई बना रही थी, उधर बच्चे भूखके मारे चिल्ला रहे थे। स्त्रीने पहली ही रोटी तवेपर डाली कि बच्चोका धैर्य समाप्त हो गया। वे उसी अधकच्ची रोटीको ले लेनेके लिए लपके। सेठजीसे यह करुणाजनक दृश्य न देखा गया। उसी समय नौकरके हाथ थोड़ी-सी मिठाई भेज दी। क्षुधातुर बच्चोको सब्र कहाँ ? एक बच्चेने एक साबित लड्डू अपने छोटे-से मुँहमे ठूँस लिया और उसे निगलनेके लिए व्याकुलतापूर्वक रुआसा हो उठा। जैसे-तैसे स्त्रीने उसके मुँहमेसे लड्डूको तोड़-तोडकर निकाला और फिर अपने हाथो थोड़ा-थोडा-सा खिलाया। तत्पश्चात् हाथ धोकर रोटियाँ सेकने लगी। वह जैन थी और विधिपूर्वक ही उसने भोजन बनाया खाया। सेठजी सन्तुष्ट हुए, किन्तु साथ ही क्षुधाजनित व्यथाको साक्षात् देख इतने विगलित भी हुए कि वे उस दिन एकान्तमें बैठकर घंटो रोते रहे। उस स्त्री और उसके बच्चोको रोटी-कपडो और वेतनपर नौकर रख लिया। मरते समय वेतन-स्वरूप जमा हुए उसके रुपये तथा अपनी ओरसे भी २५० रु० देकर उसको इन शब्दोके साथ बिदा किया कि शायद उनकी मृत्युके बाद उनके उत्तराधिकारी उसके साथ निर्वाह न कर सकें, अत वह जाये और उन रुपयोसे कोई छोटी-मोटी पूँजीकी जीविका प्राप्त करके गुजर करे।

चाहे पारिवारिक हो चाहे सामाजिक, चाहे नागरिक हो, चाहे प्रादेशिक, जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमे उनकी उदारता स्पष्टतया परिलक्षित थी।

अपनी पुत्री शान्तिका विवाह किया तो इस धूमधामसे कि बारात देखनेके लिए आसपासके गाँवसे इतने आदमी आये कि उस दिन प्रत्येक घरमें २-२, ४-४ अतिथि ललितपुरमें थे। प्रत्येक नागरिकके घर मिठाई 'बायने' के रूपमें पहुँचाई गई। कोई भी सामाजिक त्योहार या पर्व ऐसा नही होता था, जिसपर सेठजीकी ओरसे समस्त समाजकी 'पंगत' नही की जाती हो। जिस नगर या गाँवकी यात्रा की, वही ग़रीबो और विद्यार्थियों को पुरस्कार वितरित किये। कोई भी याचक चाहे वह चन्दा लेनेवाला हो, चाहे सामान्य भिक्षुक, कभी उनके दरवाजेसे खाली हाथ वापिस नही गया।

सेठ पन्नालाल टड़ैया, उनके सुयोग्य भतीजे थे। पुत्र एक ही है—हुकमचन्द टड़ैया, बिल्कुल वही रूपरंग; आज भी है। मथुरादासजी की न्याय-प्रियता, उदारता, स्वाभिमान-भावना और व्यवहार-कौशल—सौभाग्यवश, स्वभावकी सभी विशिष्टताएँ पन्नालालजीको वंशोत्तराधिकारमें मिली थी। सेठ मथुरादासजी द्वारा स्थापित बहुत-सी परम्पराएँ सेठ पन्नालालजीने बहुत दिनों तक यथारूप प्रचलित रखी। कालवश आज सेठ पन्नालालजी भी स्वर्गस्थ है। सेठ मथुरादासजी और पन्नालालजीकी महानताके अवशेष, यद्यपि उनके वर्त्तमान वंशज अभिनन्दनकुमारजी टड़ैया तथा जिनेश्वरदासजी और हुकमचन्दजी द्वारा आज भी कुछ-कुछ सुरक्षित हैं, किन्तु निश्चय ही तुलनाकी दृष्टिसे वे पासंग भी नहीं हैं, किन्तु जहाँ तक मथुरादासजी तथा पन्नालालजी द्वारा अपनाई गई विशेषताओसे तुलनाका प्रश्न है, वही तक यह बात घटित है। नगरके अन्यान्य परिवारोंकी तुलनामें तो आज भी इसी वशका पलड़ा भारी ठहरेगा, इससे इनकार नही किया जा सकता।

सेठ मथुरादासजीका जन्म लगभग सं० १९२९-३० मे और मृत्यु सं० १९७५ में हुई। धन्य है उनके पिता सेठ मुन्नालालजीको, जिन्होंने ऐसे पुत्र-रत्नको प्राप्त किया था।

१५ जुलाई १९५१

सर मोतीसागर

सर मोतीसागर जीका नाम सुना था, दूरसे एक बार देखा भी था। १९३० के असहयोग आन्दोलनमें तीन माहकी मुझे सजा मिली कि जेलमें ही १२४ धाराके अन्तर्गत दो वर्षकी क़ैदका हुक्म और सुना दिया गया। कही दूसरे कार्यकर्त्ताओंके साथ भी इस तरहका ग़ैरकानूनी व्यवहार न हो, इसी आशकासे काँग्रेस-कार्यालयसे अपील करनेका आदेश प्राप्त हुआ। अपीलको धन कहाँसे आवे, इस दर्देसरसे तो चुपचाप जेल काटना ही श्रेयस्कर समझा गया। न जाने सर मोतीसागर जीके कानमे यह भनक कैसे पड़ी? चटपट उन्होंने नि.शुल्क अपीलकी पैरवी की ज़िम्मेवारी स्वयं अपने आप ले ली। जरूरी कागजात भी मँगवा लिये और अपील सुनवाईकी तारीख़ भी निश्चित हो गई। लेकिन भाग्यकी अमिट रेखाएँ कौन मेट सकता है? अपीलकी तारीख़से दो दिन पूर्व अकस्मात् उनका स्वर्गवास हो गया। मुझे लाहौरसे तार मिला तो मैने विषाद भरे स्वरमें कहा—"यहाँ न्यायकी आशा न देख, वे ईश्वरकी अदालतमें फरियाद करने गये है। इन्साफ़ होनेपर ही वापिस आएँगे।" लेकिन उनका साधु और परोपकारी मन इस दुनियासे ऐसा उचाट हुआ कि वापिस आनेका नाम तक नही लिया।

—गोयलीय

३१ अक्टूबर १९५१

सर मोतीसागर : एक राजा साधु

श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर

पासकी भी एक तस्वीर होती है और दूरकी भी। पासकी तस्वीरमें हाथ-नाक ही नही, तिल और रेखाएँ भी साफ़ दिखाई दे जाती है। दूरकी तस्वीरमें यह सब बात तो नही होती, पर चित्रकार अच्छा हो, तो झिलमिल वातावरणका एक अद्‌भुत सौन्दर्य उसमें अवश्य होता है।

स्वर्गीय सर मोतीसागरको मैंने कभी नही देखा, पर उन्हें पूरी तरह जाननेवालोसे उनके सम्बन्धमें इतना सुना है कि मुझे अक्सर ऐसा लगता है कि मैं बहुत दिन उनके पास रहा हूँ। भावनाकी इसी छायामें जब-जब मैं उनकी समीपता अनुभव करता हूँ, मुझे लगता है, मै एक ऐसे व्यक्तित्व-के पास बैठा हूँ, जिसमें पुराने युगके दो व्यक्तित्व एक साथ समाये हुए है:—एक चमकदार राजाका और दूसरा शान्त साधुका, और शक्तिके साथ भक्तिका ऐसा सरल स्पर्श मुझे मिलता है कि जैसे अभी-अभी मै किसी उपवनसे घूमकर लौटा हूँ।

× × ×

तीन संस्मरणोमें उनके तीन चित्र हैं, जो मिलकर उनका एक ऐसा चित्र बनाते है, जिसमें एक्स-रेकी तरह उनका अन्त.करण तक साफ दिखाई देता है ?

कालेजके विद्यार्थी-साथियोमें मोतीसागरकी सच्चरित्रताका आतङ्क था। वे न कभी किसी अश्लील बातचीतमें भाग लेते, न कार्यकलापमें। इससे साथी उनका आदर तो करते, पर कुढते भी और सदा इस फिक्रमें रहते कि कैसे इसकी भगताई ढीली पड़े।

एक दिन मोतीसागरके पिताजी कही बाहर गये थे कि कुछ साथियो-ने उनसे कहा—"मोती! कल शामको हम तुम्हारे घर आवेंगे!" वे बहुत खुश हुए।

दूसरे दिन शामको २०-२५ साथी उनके बड़े कमरेमें आ जमे। हँसी-मजाक़की बातें होती रही कि रातके ९ बज गये और ९ बज गये कि एक वेश्या और उसके साजिन्दे भी कहीसे चुपचाप वहाँ आ बैठे।

रातमें २-३ बजे तक खूब नाच-गाना हुआ और अन्तमें साथियोंने चन्दा कर उस वेश्याको बिदा किया। मोतीसागरने किसी बातमें कोई हिस्सा नही लिया, पर वे चुपचाप वहाँ बैठे रहे।

दौरेसे लौटकर किसी तरह पिताजीको यह बात मालूम हो गई, तो उन्होंने पूछा—"मोती! मेरे पीछे मेरे कमरेमें वेश्याका नाच हुआ था?"

मोतीसागरने सिर झुकाकर कहा—"जी हाँ।" बड़ी तगडी लताड तो पड़ी ही, अपने पिताकी मानसिक व्यथाकी चोट भी उन्हें सहनी पडी। मोतीसागरके पिता रायबहादुर श्री सागरचन्द अपने समयके वर्चस्वी शिक्षाशास्त्री थे। वे अपने पुत्रका यह कारनामा सुनकर बहुत ही व्यथित हुए, पर मोतीसागरने उनसे अपने साथियोके बारेमें एक शब्द भी न कहा।

बादमे जब उन्हें मोतीसागरके साथियोंकी धूर्त्तताका पता चला, तो उनका बोझ हल्का हुआ। इसके लिए वे स्वयं उस वेश्यासे मिलने गये थे। "तुमने यह बात उस समय मुझे क्यो न बताई और खड़े-खडे झिड़कियाँ खाते रहे?" इस प्रश्नके उत्तरमें मोतीसागरने कहा—"मुझे यह अच्छा नही लगा कि अपनेको कलंकसे बचानेके लिए, मै आपकी आँखों-मे अपने साथियोंको गिरा दूं!"

× × ×

मोतीसागरके पुत्र श्री प्रेमसागरने एक दिन श्रीरामकिशोर ऐडवोकेटसे कहा—"बाबूजी, मुझे आपका जीवन-परिचय चाहिए। एक मेरे मित्र पत्रकार है, उन्हे जरूरत है।"

रामकिशोरजीने अपना परिचय दूसरे दिन एक फुलिस्केप शीटपर टाइप कर दिया, पर वह किसी पत्रमें नही छपा। एक-दो बार उन्होंने इस बारेमें पूछा और बात अपने घरकी हो गई।

इस घटनाके कुछ मास बाद भारत-सरकारकी जो सम्मान-सूची छपी, उसमें श्री रामकिशोरको भी रायबहादुरकी उपाधि दी गई थी। उन्हें आश्चर्य हुआ और उन्होने मोतीसागरसे पूछा–"यह तुम्हारे प्रयत्नों-का फल है हजरत !" वे बोले–"जी नही, यह आपकी योग्यताका फल है !"

श्रीरामकिशोरको जब चीफ कमिश्नरके दरबारमें रायबहादुरकी उपाधि दी गई, तो चीफ़ कमिश्नरने रायबहादुर रामकिशोरका जो परिचय पढा, वह वही फुलिस्केप शीट थी, जो कभी उन्होने स्वय टाइप करके प्रेमसागरको दी थी। दरबारसे लौटते समय रामकिशोरजीने अपने मित्र मोतीसागरको १०० उलाहने दिये, पर उन्होने एक बार भी यह स्वीकार नही किया कि उनके इस सम्मानमें मेरा हाथ है।

× × ×

मोतीसागर पंजाब कौंसिलके लिए खड़े हुए, तो मनोहरलाल (बादमें सर और मिनिस्टर) उनके मुकाबले आये, पर चुनावसे चार दिन पहले ही वे समझ गये कि मोतीसागरकी जीत १०० फीसदी निश्चित है। मोतीसागरको तो उनके मित्र विजयकी पेशगी बधाई भी दे चुके थे कि जीतकर वे मिनिस्टर बनेंगे।

तीन दिन पहले मनोहरलाल रातमें स्वय उनके पास आये और बोले–"मोतीसागर, तुमपर तो भाई, चारों ओरसे भगवान्के वरदान बरस रहे है, इसलिए कौन्सिलकी मेम्बरीका तुम्हारे लिए इतना महत्त्व नही है, पर मै मेम्बर हो गया, तो मेरा जीवन बन जायेगा।"

मोतीसागरने उनके पक्षमें अपना नाम वापिस लेनेका पत्र लिखकर उन्हें दे दिया। दूसरे दिन यह खबर फैली तो घरवालोने आपको बहुत लथेडा, पर आप चुप ही रहे और स्वय मनोहरलालको बधाई देने गये।

× × ×

मोतीसागरने एक साधारण वकीलके रूपमें भारतकी राजधानीमें अपना जीवन आरम्भ किया और कुछ ही दिनोमें वे इस पेशेकी चोटीपर पहुँचे। रायसाहब हुए, रायबहादुर हुए, दिल्ली विश्वविद्यालयके वायस-

चांसलर हुए, डाक्टर हुए और दिल्लीसे पंजाब हाईकोर्ट तक ऐसे छाये कि जस्टिस होकर सर हुए। जीवनभर लक्ष्मी उनपर मँडराती फिरी, सम्मान उनका अनुचर रहा और सफलता उन्हे घेरे रही।

उनकी असाधारण सफलताका रहस्य क्या है? एक दिन मैंने उनके जीवनसाथी रायबहादुर श्री रामकिशोरजीसे पूछा, तो बोले–"नेक-नीयती और मेहनत।"

वे कमाना भी जानते थे और खर्चना भी, पर उनके आश्रित खोना ही जानते थे। इस तरह उन्होंने लाखो कमाये, लाखों खर्चे, लाखो खोये और लाखों छोड़ गये। सबसे बहुमूल्य वस्तु जो वे छोड़ गये, वह वे छात्र हैं, जिन्हें सहायता देकर वे पनपा गये और जो आज जीवनके विभिन्न क्षेत्रोमें काम कर रहे है।

उनके जीवनका एक महत्त्वपूर्ण कार्य था–भारतमें सिनेमाको जमानेमें लाखों रुपये खर्च करना, 'लाइट आफ एशिया' और 'अनारकली' उनके महत्त्वपूर्ण निर्माण थे। पहला चित्र तो सारे संसारमे यशस्वी हुआ था। हिमांशुराय ही इसमें बुद्ध थे। अनारकलीमें कलाके जो ऊँचे प्रयोग किये गये थे, आजका सिनेमा उनसे बहुत नीचे है।

कमाकर उन्होंने कभी गर्व नहीं किया और खोकर न कभी अफसोस। अपने ही पैरों उठकर वे अपने समयमें समाजके सबसे ऊँचे शिखरतक पहुँचे थे, पर उनके स्वभावकी नम्रता कभी कम नही हुई। वे जिस उत्साहसे अपने प्रान्तके गवर्नरसे मिलते थे, उसी उत्साहसे अपने बागके मालीसे भी बातें करते थे। वे अपने पुत्र-पुत्रियोंको जिस लाडसे पोषते थे, उसी लाड़से अपनी बूढी (दुनियाकी भाषामें– बेकार) घोड़ीको भी और वह भी इस हदतक कि जब साइसने एक दिन उससे कहा–"तेरे बाबूजी मर गये" तो वह एक लम्बी साँस लेकर इस तरह बैठी कि फिर न उठी!

२३ अक्टूबर १९५१

जन्म— नजीवावाद,

आश्विन कृष्ण ५ वि० सं० १९४१

निधन— मसूरी,

आषाढ कृष्ण ९ सं० १९९२

रायबहादुर साहू जुगमन्दरदास

गोयलीय

नवम्बर १९२७ की बात है कि दिल्लीके उत्साही कार्यकर्ता मेरे परमस्नेही बन्धु ला० पन्नालालजीने मुझे सूचना दी कि साहू जुगमन्दरदास दिल्ली आये हुए है और दरीवेमें रायबहादुर लक्ष्मीचन्द्र पानीपतवालोकी कपड़ेकी कोठीमें ठहरे हुए है, उनसे चाहो तो मुलाक़ात कर सकते हो।

मेरा रायबहादुरसे इससे पूर्व कोई परिचय नही था। नाम उनका अक्सर सुना था, परन्तु साक्षात्कार नही हुआ था। सामाजिक क्षेत्रमें प्रवेश किये मुझे २-३ वर्ष ही हुए थे। इसलिए मेरा अनुमान था कि वे मुझे नही जानते होंगे; किन्तु उन्होंने यह अनभिज्ञता प्रकट नही होने दी।

उन दिनो मेरा अपना व्यवसाय चौपट हो गया था। दिन-रातकी लेक्चरबाजी और इधर-उधरकी दौड-धूपने नौकरीका बन्धन स्वीकार कर लेनेको मजबूर कर दिया था। इसी सिलसिलेमें यह मुलाकात की गई थी।

मुझे देखते ही वे बोले—"पण्डितजी, आप नजीबाबाद तशरीफ क्यों नही ले चलते......?"

मैं बीचमें ही बात काटकर बोला—"रायबहादुर साहब, बेअदबी माफ, मैं पण्डित नही हूँ, कृपया आप मुझे गोयलीय कहें।"

उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—"बहुत मुनासिब है पण्डितजी," और इस सम्बोधनको मेरे साथ वे जीवनभर चिपकाये रहे। पण्डितजी कहते थे और ओठो-ओठोमें मुस्करा लेते थे। मैं भी उनकी इस सितमजरीफी पर हँस देता था।

जब उन्होंने नजीबाबाद रहनेका निमन्त्रण दिया तो मेरे मुँहसे यकायक निकल गया—"आप रायबहादुर है, मैं एक देशभक्त हूँ, मेरा आपके यहाँ निर्वाह कैसे होगा?"

फर्माया—"रायबहादुर भी इन्सान हो सकते या नही, आप इसकी एक बार परीक्षा तो कर लीजिये।"

मेरा मुँह बन्द हो गया। मैंने निवेदन किया—"अभी तो मुझे अपने एक लेखके सिलसिलेमें मेवाड़ जाना है। फिर वहाँसे आनेपर २८ फरवरी-को 'सायमन कमीशन' बहिष्कारके सम्बन्धमें कार्य करना है। यदि आप आज्ञा दें तो मार्चके प्रथम सप्ताहमें उपस्थित हो सकता हूँ।"

फ़र्माया—"हम तो आपको जल्दी ही चाहते हैं। यूँ आप स्वतन्त्र हैं, जब भी तशरीफ़ लायें, काम होगा।"

२८ फरवरीको 'सायमन कमीशन' का वहिष्कार-कार्य सम्पन्न करके मैं २६ फ़रवरीको नजीवाबाद पहुँच गया। अपनी कोठीके सामने ही मुझे मकान दे दिया गया।

"रायवहादुर भी इन्सान होते हैं" इस वाक्यको उन्होंने कहाँ तक निभाया, पहले इसीका उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है—

उनकी जितनी डाक आती थी, मुझे उसे खोलकर पढनेकी इजाज़त थी। एक रोज हर रोजके दस्तूरके मुताविक मैंने डाक खोली तो उसमें जैन-समाजके धनिक और जीहुजूर वर्गका एक पत्र मिला, जिसमें राय-वहादुर साहवसे जोरदार शब्दोंमें जैन-समाजकी ओरसे सायमन कमीशन का स्वागत करनेके पक्षमे लिखा गया था। मैंने यह पत्र पढ़ा तो जैसे साँपपर पाँव पड़ गया। काटो तो शरीरमें रक्तकी एक बूंद नही। यह "जीहुजूर अपने स्वार्थके लिए समाजकी आड़ लेकर स्वागत करेंगे और इन स्वार्थियोंके कारण सारी समाज देश-द्रोहके कलंककी भागी होगी।" उसी आवेशमें मैंने एक विरोधी लेख लिखकर 'अर्जुन' देहलीको भेज दिया। जब मैं लेख पोस्ट कर रहा था तो श्री शान्तिप्रसादजीने देख लिया। ये उन दिनों १०वीमे पढते थे, परन्तु बड़े जहीन और विनयी थे। वोले—"पण्डितजी, वुरा न माने तो एक वात कहूँ, आपको रायवहादुर साहवकी डाक खोलनेकी तो इजाजत है, परन्तु उसका व्यक्तिगत उपयोग करनेका अधिकार नही।"

मै उसी आवेशमें बोला—"देशभक्तिमें सभी कुछ जायज है। आप इसकी चिन्ता न करें।"

शान्तिप्रसादजी तो चुप हो गये और स्कूल चले गये, परन्तु मेरे हृदयमें उनका यह वाक्य घर कर गया। सचमुच यह तो अनधिकार चेष्टा है। विरोध करना है तो रायवहादुर साहवको जताकर विरोध करो और आवश्यकता पड़े तो नौकरी भी छोड़ दो। यह कहाँकी देश-भक्ति है कि

मालिकको पता भी न चले और उसकी डाकका यों गुप्तरूपसे उपयोग किया जाय ।"

अत. वह लेख मैं पोस्ट आफिससे वापिस ले आया और त्याग-पत्र लिखकर जेबमें इस खयालसे रख लिया कि इसका उत्तर यदि स्वीकृति-में गया तो मैं त्याग-पत्र देकर गॉव-गाँवमें घूमकर इस योजनाके विरुद्ध प्रचार करूँगा। दस्तूरके मुताबिक मुझे तीन बजे बुलाया गया, मुझे देखते ही बोले—"आपने यह पत्र देखा ?" मैं कुछ कहूँ कि वे स्वयं ही बोले—"सारा भारत इसका विरोध कर रहा है और हमारी समाजके ये भॉड़ स्वागत करनेपर उतारू है ? पढकर जी बड़ा खराब हो गया है, क्या जवाब देना चाहिए इस पत्रका ?" फिर बोले—"ऐसे बेहूदे पत्रोका जवाब ही क्या ? रद्दीकी टोकरीमें डालिए साहब, इस पत्रको ।"

उन्होंने डालनेको कहा था, मैंने वह फाड़कर डाला कि कही राय-बहादुरीका जोश फिर न उभर आये और आँख बचाकर अपना त्यागपत्र भी फाड़कर फेंक दिया ।

दूसरी घटना इस प्रकार है—साइमन-बहिष्कारका नेतृत्व करनेपर लाहौरमें लाला लाजपतरायपर साउण्डर्सने लाठियोका प्रहार किया था। उसी चोटसे लालाजीका स्वर्गवास हो गया था। सारे भारतमें इस अत्याचारके विरोध-स्वरूप हड़ताल और सभाएँ हुईं। हमने भी नजीबाबादमें बड़े जोशोखरोशके साथ हड़ताल कराई, जुलूस निकाला, और सभामें आग्नेय भाषण दिये ।

जब जुलूस निकल रहा था तो रायबहादुर साहब अपनी कोठीपर खड़े जुलूसको देख रहे थे। जब हम लोग यह गान गाते हुए उनके सामनेसे गुजरे—

"दुष्टोंकी मुक्ती करनेको हम रणका साज़ सजावेंगे ।"

तो मुस्करा पड़े। बादमें लोगोंसे मालूम हुआ कि उन्होंने हमारे इस कार्य-की बड़ी सराहना की थी। इस कार्यकी रिपोर्ट पाकर पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट

और कलेक्टर नजीबाबाद आये और मुझे बुलाकर ऐसे कार्य न करनेकी चेतावनी दी। ख़ैर, मेरे ऊपर तो इस चेतावनीका असर क्या खाक पड़ता। हाँ, नौकरी छूट जानेकी आशंका अवश्य हो गई। क्योंकि रायबहादुर-का इन दोनों आफ़िसरोंसे घनिष्ठ संबंध था, परन्तु हुआ आशाके विपरीत। मुझे देखते ही मुस्कराते हुए बोले—"खूब साहब! अब तो कलक्टर और कप्तान हुजूरकी नौकरी देने नजीबाबाद आते हैं। यहाँ उम्रभर-मे यह रुतबा हासिल न कर सके जो आपने चन्द रोजमें हासिल कर लिया।"

मैं बैठा हुआ मुस्कराता रहा। फिर बोले—"पण्डितजी, परवाह न कीजिये इन बन्दरघुड़कियोंकी, आप अपने मनके हौसले निकाले जाइये। मेरे होते हुए आपका बाल भी बाँका नही हो सकता, परन्तु जरा हाथ-पाँव बचाकर काम कीजिये। एकदम आगमें न कूद पड़िये।"

तीसरी घटना इस प्रकार है—

बिजनौरमें डिस्ट्रिक्ट बोर्डने एक बृहत् नुमाइशका आयोजन किया था। रायबहादुर बोर्डके चेयरमैन होनेके नाते नुमाइशके कर्त्ता-धर्ता थे। बिजनौरके एक मुख्य नेता इस नुमाइशमें विलायती वस्त्रोंका बहिष्कार कराना चाहते थे। वे काँटेसे काँटा निकालनेकी तरकीब सोचकर मेरे पास आये और उन्होने उस योजनाको दबाकर, शहरमें निकलनेवाले जुलूसमें व्याख्यान देनेका आग्रह किया। मेरी अभिलाषा क़तई इस जुलूसमें सम्मिलित होनेकी नही थी। मेरे मना करनेपर उन्होंने रायबहादुरसे भी मुझे भेज देनेका आग्रह किया। राय-बहादुर मुझसे बोले—"पण्डितजी! क्या हर्ज है, अगर इनका काम आपके जानेसे बनता है तो अवश्य जाइये, मेरी ओरसे इस नेक कार्यमें क्या बाधा हो सकती है?"

अब मैं विचित्र परिस्थितिमें हो गया। मेरा जी नही चाहता था कि मैं किसी जुलूसमें भाग लूं। २-४ रोज नुमाइश देखने आया था, अतः मेरी रुचि किसी अन्य कार्यकी ओर नहीं थी, परन्तु अब परिस्थिति

ऐसी हो गई कि मैं मानो गिरफ़्तारीके भयसे जानेमें आना-कानी कर रहा हूँ। ख़ैर, बेमनसे जाना पड़ा, और स्थान-स्थानपर व्याख्यान भी देने पड़े। थोड़ी देरमें जुलूस बहिष्कारकी नीतिको लेकर जब नुमाइशमें घुसा तो मैंने जानेसे इनकार कर दिया। रायबहादुरको पता लगा तो बोले—"पण्डितजी, आप बहिष्कारमें शामिल क्यो नही हुए?"

मैंने कहा—"यदि मैं शामिल होता तो ये नुमाइशके दुकानदार आपको कितना परेशान करते? कि "एक तरफ तो आप हमें इतनी दूर-दूरसे बुला लेते है। दूसरी तरफ अपने आदमीसे बहिष्कार कराते है? यह क्या मजाक बना रखखा है आपने?" अभी कांग्रेसने बहिष्कारका आन्दोलन नही छेडा है। जब छेड़ेगी तब मैं पहले आपके यहाँसे सम्बन्ध-विच्छेद करूँगा और तब इस आन्दोलनमें हाथ बटाऊँगा। यह धोखा-धड़ी और विश्वासघाती नीति मुझे पसन्द नही। इसका अर्थ तो यह हुआ कि मै कोई ज़िम्मेवारीका कार्य सँभाल ही नही सकता। चाहे जहाँ धोखा दे सकता हूँ।"

बोले—"मुझे आपसे इन्ही वाक्योकी आशा थी, मैंने तो आपको इसीलिए इजाजत दे दी थी कि कही आप अन्यथा न समझ जाएँ।"

चौथी घटना भी सुनिये—

एक रोज उनके यहाँ कलेक्टर आये। कलेक्टर कायस्थ थे और शेरोशायरीका शौक फर्माते थे। रातका वक्त था, जब आये तो सबके उठनेपर मैं भी उठने लगा तो रायबहादुरने मुझे बैठे रहनेका ही संकेत किया। चुनाचे मैं बैठा रहा। कलेक्टर आये और कोई न उठे यह उन दिनो अनहोनी बात थी। कलक्टरके बैठते ही आपने परिचय दिया—

"ये अनन्य देशभक्त और सुधारक है। ये कृपापूर्वक मेरे साथ रहते है, हमको इनपर बडा गर्व है। बहुत अच्छे सुखनफ़हम है। भगतसिंहने असेम्बलीपर बम फेंका तो किसी शायरने क्या ख़ूब शेर कहा है, आप इनकी ज़बाने मुबारिकसे सुनिये।" कलेक्टरकी ख्वाहिशपर मैंने बर्क़ (देहलवी

नहीं, शायद बिजनौरी) का यह शेर सुनाया—

बर्क़ गिरनेको गिरी लेकिन ज़रा बचकर गिरी।
आँच तक आने न पाई ख़ानये सैयाद पर॥

शेर सुनकर कलक्टर झूम उठा। शेरकी उम्दगी और बुलन्दख़यालीकी वजहसे उसे यह भी ख़याल न रहा कि किस वातावरणको लक्ष्य करके यह शेर सुनाया गया है। उसने उठकर मुझसे हाथ मिलाया और झूम-झूमकर कई बार शेर सुना।

दिल्ली षड्यन्त्रके मुख्य कार्यकर्त्ता श्री विमलप्रसाद जैनका मुझे तार मिला कि मैं नजीबाबाद छोड़कर तुरन्त दिल्ली पहुँचूं। उन दिनो लाहौर-षड्यन्त्रके जो अभियुक्त फ़रार थे, वे किसी सुरक्षित स्थानमें रहकर कार्य कर सकें, इसी योजनाके अनुसार विमलजीकी इच्छा थी कि मैं एक मकान मेरठमें लेकर अपनी माँके साथ रहूँ। रायबहादुरको इस तारका कुछ आभास मिल गया। वे नही चाहते थे कि मैं इस आगमें कूदूँ, किन्तु स्वयं कहनेका साहस भी नही होता था। अतः उन्होंने एक ऐसे विद्वान्‌को इस कार्यके लिए बुलाया, जिनका मुझपर काफ़ी प्रभाव था। रायबहादुरने कहा—"मै इसे कांग्रेसमें कार्य करनेसे नही रोकता, परन्तु जानपर खेल जानेवाला खेल इसे मैं नही खेलने देना चाहता। यह अपनी माँका इकलौता पुत्र है? कृपया आप उसे किसी तरह इस आग-में कूदनेसे बचाएँ।"

उन विद्वान्‌ने अनेक उतार-चढ़ावकी बातें समझाई, जो कि सम्भव हो सकती थीं, परन्तु मेरा दिल्ली जाना अनिवार्य्य था। जब चलने लगा तो मेरे सरपर हाथ रखकर बोले—"यों आप हमारे गुरुतुल्य है। पर मैं तुम्हें अपना बच्चा समझता हूँ। इसी नाते कहता हूँ कि काम सब कुछ करो मैं रोकता नहीं, परन्तु तुम्हारी जान हमारी समाजकी अमानत है। उसे खोनेका तुम्हें अधिकार नही, मैं उसी जानकी तुमसे भीख माँगता हूँ।"

मेरा जी चाहा कि इस पितृतुल्य स्नेहीके पाँव छू लूँ, परन्तु अहंकार-

ने झुकने ही न दिया। स्टेशनपर सब लोग विदा करने आये तो आप चुपचाप खड़े रहे। जब गाड़ी चली तब भी कुछ न बोल सके, केवल सरपर हाथ फेरकर रह गये।

बमुश्किल नजीबाबाद गये हुए मुझे ४-५ रोज़ हुए थे। रातके करीब ८ बजे होंगे। मैं और रायबहादुर बैठे हुए सामाजिक चर्चा कर रहे थे कि मंगू मुनीमने दर्वाजेके बाहरसे ही कहा—"वहाँ ताली रखी है क्या?" ताली वही रायबहादुरके सामने डेस्कपर पड़ी हुई थी, जब मुनीमने उक्त जुमलेको कई बार दुहराया तो रायबहादुर तो चुप रहे, लेकिन मैं उठकर ताली मुनीमको दे आया। मेरे ताली देते ही मुनीमकी तरफ संकेत करते हुए वे बोले—'भैयाजी, ताली यहाँ रख दो।" मुनीमने ताली वहाँ रख दी। लेकिन वह वहीं खड़ा रहा और बोला—"इजाजत हो तो ताली ले जाऊँ, कोठेमेंसे बहुत जरूरी सामान निकालना है" और रायबहादुरकी मौन सम्मति देखकर वह ताली उठाकर ले गया। अब मैं हैरान कि यह क्या बात हुई? मेरे मनोभावको वे ताड़ गये। बोले—"पण्डितजी! आयुमें आप भले ही छोटे है, किन्तु आप हम लोगो के गुरुपदपर प्रतिष्ठित है, इस पदकी प्रतिष्ठा आपको और हमें सदैव रखनी होगी। इस मुनीमने आपको यों ही पण्डत-वण्डत समझकर यह हरकत की। उसने जो बाहरसे तालीको पूछा, उसका मंशा यही था कि आप उठकर उसे ताली दे दें और उसे जूते खोलनेकी जहमत न उठानी पड़े, और आपने उसकी मंशा पूरी भी कर दी। मैंने उससे इसीलिए ताली रखवा ली कि उसे मालूम हो जाय कि उसने आपको गलत समझा। अगर मैं उस वक्त चुप हो जाता तो आपसे फिर यह नौकरो-जैसे कामकी आशा रखता।" उनकी बात सही निकली। दूसरे रोजसे मैंने देखा मुनीमजी मुझे बडे अदबसे प्रणाम करते, गुरुजनो-जैसा आदर देते और मेरे हर कामके लिए तत्पर रहते।

इस घटनाके २-४ रोज़ बाद ही उनसे एक तहसीलदार मिलने आये। मैं अखलाकन अपने स्थानसे तनिक सरक गया और अपनी जगह-

पर उनको बैठने दिया। रायबहादुरको यह अच्छा मालूम नही दिया। उन्हे वहाँसे उठाकर अपने बाये तरफ बिठाया। जब वे चले गये तो फर्माया—"आप किसी आफ़िसर या रईसके आनेपर न कभी उठें और न उनको अपनी जगहपर वैठनेको कहे, आपके यह गौरवके अनुकूल नही।" मैने कहा—"रायबहादुर साहब, मुझे तो मालूम भी न था कि ये तहसीलदार है और मालूम होता भी तो मेरे ऊपर उनकी तहसीलदारीका क्या खाक प्रभाव पड़ता। मैने तो सभ्यताके नाते एक आगन्तुकको योग्य स्थान देनेका प्रयत्न किया था।" रायबहादुर बोले—"पण्डितजी, आपके भावको मै समझता हूँ, परन्तु इन सरकारी आफ़िसरोंको हम लोगोकी नम्रता और शराफ़तमें भी जीहुजूरीकी गन्ध आती है। वे समझते है कि हम यह सब व्यवहार उनकी पद-प्रतिष्ठाके रौबके कारण करते है। इसीलिए मैने उसको आपकी जगहसे उठाकर नीचेकी तरफ वैठाया, ताकि उसे ग़लतफहमी न हो[1]।"

× × ×

साहूवंशमें नौकर रख लेनेके बाद पृथक् करनेका रिवाज नही था, स्वयं नौकरी छोड़कर बेशक चला जाय, लेकिन इनके यहाँसे जवाब शाजोनादर ही किसी नौकरको मिला होगा। छोटे-मोटे कुसूर नज़रन्दाज कर दिये जाते थे। एक मुलाजिम किसानोसे जमीदारी वसूल करनेपर नियत था। उसका कहना था कि "मालिकके यहाँसे जब अपने घर जाओ, कुछ-न-कुछ लेकर जाओ। अगर कुछ भी हाथ न लगे तो बुहारीकी एक सीख़ ही उठाकर ले जाओ। खाली हाथ घर पहुँचनेसे मालिकका असगुन होता है। क्योंकि बाल-बच्चे आशा लगाये होते है कि अब्बाजान कोई

१—उक्त स्थलोंमें मेरे आत्म-विज्ञानकी गन्ध-सी आती है, किन्तु इन सबका उल्लेख संस्मरणमें करना मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ, इसीसे यह धृष्टता हो गई है। आशा है, पाठक मेरे इस हलकेपनको नज़रन्दाज़ फर्मायेंगे।

चीज लाएँगे और जब वे खाली हाथ देखते है तो मालिकको कजूस कहकर मन ही मन कोसते है। इसलिए मालिककी दुआए-खैरके लिए भई भला मानो या बुरा मुझे तो यह नागवारेखातिर काम करना ही पडता है।" इसका एक करिश्मा सुनिये—

एक रोज आँख बचाकर शीशमके दो तख्ते उठाकर वह ३०-४० कदम ही गया होगा कि रायबहादुरके पिता साहू मुसद्दीलालने भाँप लिया। वे लपककर कोठीके बाहर आये और उसे आवाज़ देने लगे। लेकिन वह आवाजको अनसुनी करके बढता ही गया। उसकी इस हरकतपर खडे हुए साहू साहब सोच ही रहे थे कि "नौकर क्या है, पूरा डाकू है। अभी तो सुना ही करते थे, आज आँखोसे देख लिया और बुलानेपर भी वापिस न आया।" क्या करें और क्या न करें, इसी पसोपेशमें साहू साहब खडे थे कि दूसरी गलीका चक्कर काटकर उन्ही दो तख्तोको बगलमें दाबे हुए फिर कोठीकी बगलवाली गलीसे गुज़रा। साहू साहब को देखते ही फ़र्शी सलाम झुकाया!

"क्यो भई! इधर कहाँसे, यह बगलमें तख्ते कैसे है?"

"हुजूर क्या अर्ज करूँ? बुजुर्ग सही फर्मा गये है—

मौत, मुक़दमा, मान्दगी, मन्दा और मकान।
इतने मम्मा जब लगें, कैसे बचेंगे प्रान॥

हुजूर आपके गुलामको मकान तो क्या बनवाना था, एक किवाड़ो की जोडी बदलवानी थी। सुबहसे यह तीसरा पहर हो गया, खातीने नाकमें दम किया हुआ है। कभी कहता है यह तख्ते छोटे है, कभी कहता है पतले है, कभी आमके लानेको कहता है, कभी शीशमके मँगाता है। अभी-अभी बमुश्किल ५ मिनिट भी न हुए होगे, लेकर गया था कि वे भी नापसन्द कर दिये।"

साहू साहब खामोश और वह फिर एक फर्शी सलाम झुकाकर हजारो दुआएँ देता हुआ घरकी तरफ रवाना।

एक रोज झुरपटेका वक़्त था। रायबहादुर सहनमें आरामकुर्सी पर तशरीफ रखते थे कि मिस्सरजी २-२॥ सेर घी एक लोटेमें भरकर बाहर जा रहे थे कि उन्होंने भाँप लिया। आवाज दी, लेकिन जवाब नदारद, फिर २-३ आवाज दी तो जवाब मिला—आता हूँ हुजूर, आता हूँ, ज़रा किसानोंको पानी पिला दूं।

"पहले इधर बात सुनो" मगर वहाँ कौन सुनता है, जब लोटा साफ कर लिया तो आकर बोला—फ़र्माइए हुजूर क्या हुक्म था?

"तुम उस वक़्त क्यों नही आये।"

"हुजूर एक वक़्तमें क्या-क्या काम करूँ? घण्टे भरसे पानीकी रौल मची हुई थी, बिचारे किसान पानीको तड़प गये, आखिर मुझसे न देखा गया तो सब काम छोड़कर नीचे दौड़ा आया। क़ुसूर हुआ सरकार, अब हुक्म दीजिये, ताबेदारको क्या उज्र हो सकता है?"

"तुम उसी वक़्त क्यों नही आये?"

"हुजूर तो सब नौकरों-जैसा मुझे भी चोर समझते है। अच्छा साहब! मालिकके सामने क्या हुज्जत? हम चोर हमारा बाप चोर, अब तो आप खुश। बड़े रख गये, आप निकाल दीजिये! नौकरी की है तो सभी बोहतान सुनने पड़ेंगे। हाय रे जमाने और वाह रे पापी पेट।"

रायबहादुर चुप हैं और मिस्सरजी बड़-बड़ करते हुए चले जा रहे हैं।

एक कहारका छोकरा विवाहके अवसरपर बहुतसे कपडे चुराकर ले गया, और बाजारमें नीलाम करने लगा, पुलिसको शक हुआ तो गिरफ़्तार करनेपर उसने बतलाया कि वक्तन-फवक्तन मुझे रायबहादुरके यहाँसे बतौर खैरात मिलते रहे हैं। पुलिसको यकीन न आया और उसे हवालातमें ठोक दिया। छोकरेके माँ-बाप घरपर आकर रोये तो रायबहादुरने कहलवा भेजा कि छोकरा छोड़ दिया जाय, ये कपड़े हमारे यहाँसे बतौर इनाम इसको मिलते रहे हैं।

× × ×

रायबहादुरके सामाजिक विचार क्या है, वे रूढ़िवादी है या सुधारक, यह जान लेना आसान नही था। वे दलबन्दीके दलदलमें फँसना मायूब समझते थे। दोनों ही दलोंके प्रमुख व्यक्तियोंसे उनका घनिष्ठ संबंध था।

महासभाके महामंत्री चैनसुखदास छाबड़ासे व्यक्तिगत पत्रव्यवहार चलता था। अलीगढके हकीम कल्याणराय उनके पुराने मित्रोंमें थे और शादी-गमीमें एक दूसरेके यहाँ आते-जाते रहते थे। यहाँ तक कि हकीम-जीके यहाँ एक शादीमें ऑफीसर्सको दिये जानेवाले भोजके वे बानी-मुबानी तजवीज़ किये गये थे, और इस भोजके सिलसिलेमे जिस रोज वे अलीगढ जानेवाले थे, उनकी बडी लडकी चम्पा बिस्तरे मर्गपर पड़ी हुई दम तोड रही थी,[१] किन्तु रायबहादुर भोजके सिलसिलेमें उसी रातको अलीगढ जानेको बजिद थे। फर्माया—"मैने वायदा किया है, न पहुँचूगा तो हकीम-जी क्या कहेंगे?" मेंने इसरार किया—"आप ऐसी स्थितिमें वहाँ जायेंगे तो हकीमजी खुश होनेके बजाय दुखी होगे। आप चलें शादीमें, मैं भी आपके साथ चलकर आपके इस कठोर आचरणका पर्दाफाश करूँगा। आप अपनेपर ही नही, इस व्यवहारसे हकीमजीपर भी सितम कर रहे है।" बमुश्किल रुके, मगर न पहुँचनेका काफी मलाल रहा। इसी तरह सहारनपुरके सेठ जम्बूप्रसाद, रायबहादुर हुलासरायसे भी उनके पारिवारिक-जैसे सम्बन्ध थे। दिल्लीके रायबहादुर पारसदास, लाला जग्गीमल आदिसे काफी घनिष्ठता थी, दिल्लीमें वे इन्हीके यहाँ ठहरते थे। सेठ देवीसहाय फीरोजपुर, सेठ मथुरादास मथुरा आदि सभीसे उनके सम्बन्ध थे।

महासभाके कोषाध्यक्ष बा० नवलकिशोर उनके परम मित्र थे। यहाँ तक कि इस मैत्री-सम्बन्धको चिरस्थायी बनाये रखनेके लिए राय-

---

१—यह पहाड़ी धीरज, दिल्लीमें ला० बशेशरनाथसे विवाही थी, महीनोंसे बीमार थी और उसी रातको मर गई। रायबहादुर उसकी जलती चिताको देख सके।

बहादुरने अपनी छोटी पुत्री पद्मश्रीका रिश्ता ही उनके पुत्र लक्ष्मीचन्द्रसे कर दिया था, जो कि उन दिनों लन्दनमें पढ़ते थे और वर्तमानमें वे किसी बड़े ओहदेपर हैं। शादी होनेसे पूर्व ही लड़कीका देहान्त हो गया, और बा० नवलकिशोर भी अन्तकाल फर्मा गये, मगर उनके लड़केने रायबहादुरका वैसा ही अहतराम किया जो सगे चाचा-ताऊका किया जा सकता है और इस वजअदारीको यहाँ तक निभाया कि अपने पिताकी जगह रायबहादुरको समझा और एक आई० सी० एस० होते हुए भी जहाँ रायबहादुरने उनकी शादी करना चाही, एक अकीदतमन्द औलादकी तरह ख़ुशी-ख़ुशी कर ली।

रायबहादुर किसी जमानेमें महासभाके महामंत्री रह चुके थे, परिषद्के मुख्य संस्थापकोंमे थे। उसके प्रथम अधिवेशनके सभापति रह चुके थे और जीवन-पर्यन्त कोषाध्यक्ष रहे। परिषद्के प्राण बा० राजेन्द्रकुमारजी उनके आत्मीयोंमें थे। बा० सूरजभानजी वकीलका वे बहुत श्रद्धा-भक्तिसे जिक्र करते थे और उन्हें अपने सामाजिक क्षेत्रका गुरु मानते थे। पं० जुगलकिशोरजीका बहुत आदर करते थे। उनको शास्त्रप्रवचनके लिए भी बुलाया था और उनके लिखे कई ट्रैक्टोंको प्रकाशित करनेमे आर्थिक सहायता भी देते रहते थे। श्री अर्जुनलाल सेठीके वे अत्यन्त सम्मानपूर्वक मुझसे संस्मरण सुना करते थे और जिन दिनों उनके नेतृत्वमे महासभाके डेपुटेशनमें सेठीजी, ब्र० सीतलप्रसादजी, बा० सूरजभानजी आदि गये थे, उन दिनोंकी याद करके उनकी आँखें गीली हो जाती थी, उस वक़्तका लिया चित्र भी उन्होंने मुझे बड़े चावसे दिखाया था। देवबन्दके बा० ज्योतिप्रसादजीसे उनकी मित्रता थी। पत्रव्यवहारके अतिरिक्त शादी-ग़मीमे भी आते-जाते थे। सहारनपुरके बा० सुमेरचन्दजी ऐडवोकेट उनके परम मित्र थे। यहाँ तक कि सहारनपुरमें परिषद्का अधिवेशन हुआ तो रायबहादुर ही सभापति बनाये गये और अगले वर्ष १९३६ में जब परिषद्का अधिवेशन दिल्लीमें हुआ तो उससे दो-तीन माह पूर्व रायबहादुरका स्वर्गवास हो चुका था। उस दिल्ली अधि-

वेशनके सभापतित्व पदसे वा० सुमेरचन्दजीने जिन व्यथा-भरे शब्दोंमें रायबहादुरको स्मरण किया, उससे उपस्थित जनताकी आँखें गीली हो गई थी।

स्थितिपालक या सुधारक व्यक्तियोसे ही नही, उनका जैनसमाज-की सभी वर्गकी सस्थाओसे कुछ-न-कुछ सम्बन्ध रहता था। परिपद्के भी कोपाध्यक्ष थे और कट्टर रूढ़िवादी हस्तिनापुर पंचायत कमेटीके भी कोपाध्यक्ष थे। स्याद्वाद विद्यालयकी अन्तरंग समितिके भी सदस्य थे।

मुझे इस तरहकी हरदिलअजीजी पसन्द नही, मुझे इस शब्दसे ही चिढ है। मै हरदिलअजीजीको मिर्जापुरी लोटेसे मुशावहत देता हूँ और इसे एक तरहकी गाली समझता हूँ। यह क्या मजाक़ कि गंगा गये तो गगादास और जमना गये तो जमनादास बन गये। आदमी एक तरफ होके रहे, चाहे किसीका भी बनके रहे।

परन्तु धीरे-धीरे उनके मनोभाव जाहिर होने लगे। उन दिनों अजमेरसे श्री फतहचन्द सेठी "जैनजगत्" निकालते थे और साहित्यरत्न प० दरबारीलालजी उसका सम्पादन करते थे। उसमें सव्यसाचीके नामसे धारावाही लेखमाला प्रकाशित हो रही थी, उसे वे बड़े मनोयोगसे सुनते थे। मै उस लेखमालाका लेखक श्री अर्जुनलाल सेठीको समझता था, परन्तु रायबहादुरने पहला ही अश सुनकर बता दिया कि यह पं० दरबारीलालजीकी कलमका चमत्कार है और पण्डितजी जब (सन् २८में) दशलाक्षणीमें शास्त्र-प्रवचन करने पधारे, तब आपने इस गवेपणापूर्ण लेखके लिए पण्डितजीकी काफी सराहना की।

प० दरबारीलालजीको उन दिनो शास्त्र-प्रवचनके लिए बुलाना हँसी-खेल नही, बड़े कलेजेका काम था। अन्तर्जातीय विवाह-आन्दोलनके पण्डितजी मुख्य प्रेरक थे, उन्होने रूढिवाद-गढ़पर ऐसी करारी चोटें की थी और उनके हमलोका इस खूबीसे जवाब दिया था कि लोग सकतेमें आ गये थे, और जब पण्डितजीके दिये हुए शास्त्र-प्रमाणों और युक्तियोंका जवाब न सूझ पडा तो रूढिवादी दलने बहिष्कार-नीतिका सहारा लिया।

केवल वहिष्कार ही नही किया, पारिवारिक भरण-पोषणसे तंग आकर इस आन्दोलनको छोड़ दें, इसलिए आर्थिक कष्टमें डालनेके लिए उस संस्थासे भी पृथक् कर दिया, जहाँ वे अध्यापन कार्य करते थे। और दिल्लीमें उनकी व्याख्यान-सभामें अहिंसाके पुजारियोने जो हिसाका ताण्डव किया था और रूढ़िवादी जिस तरहका उनकी सभाओमें उत्पात मचाते थे, उसको देखकर सुधारकोंका पण्डितजीको निमन्त्रित करनेका साहस नहीं होता था।

यों मनमे सुधारक होना और वात है, परन्तु पंचायती वहिष्कारका सामना करना मजाक नहीं, बड़े दिलगुर्देका काम है। इष्ट-मित्र यहाँ तक कि वाप-भाई और सन्तान भी विरोधमें खड़े हो जाते है, और पारस्परिक सम्बन्ध विच्छेद हो जाते है।

"दशलाक्षणी पर्वमें शास्त्र-प्रवचन करने पण्डित दरवारीरालजी नजीबावाद जायेंगे," रूढ़िवादियोंने सुना तो घवराहट फैल गई। "उनको हरगिज न बुलाया जाय"—इस तरहके सेठों, रायवहादुरो और पण्डितोंके पत्रोंके ताँते लग गये। पहले तो मैंने इन पत्रोकी कोई परवा नही की, किन्तु जब रायबहादुरके स्नेही मित्रोके पत्र आने लगे तो मेरा दिल धक-धक करने लगा कि कही ऐसा न हो कि रायवहादुरका मन डोल जाय और कह दें कि भई क्यों व्यर्थमे वैठे-विठाये झगडा मोल लें और पण्डितजीका निमन्त्रण स्थगित कर दे। किन्तु वाह रे रायवहादुर ज्यो-ज्यों विरोधी पत्रोंका ताँता बँधता गया, उनको वुलानेका साहस भी वढता गया, और मुझसे बोले—"ऐसे जितने पत्र आएँ मुझे वगैर दिखाये ही फाडकर फेंकते जाओ और पण्डितजीको सख्त ताकीद लिख दो कि वे हर हालतमें यहाँ ज़रूर पधारें, ऐसा न हो कि किसी अनिवार्य्य कारणवश आना स्थगित कर दें।"

पण्डितजी नजीबावाद आये और उनका खूब स्वागत-सत्कार किया गया।

उन्ही दिनों ब्र० सीतलप्रसादजीका वहिष्कार मुनि-संघने गाँव-गाँव और खेडे-खेड़ेमें घूमकर कराया था। सनातन जैनसमाजकी स्थापना करनेसे पूर्व ब्रह्मचारीजीने स्वयं उन संस्थाओसे त्यागपत्र दे दिया था, जिनसे उनका तनिक भी सम्बन्ध था, ताकि उनके सम्पर्कके कारण किसी सस्थाको हानि न पहुँचे। काशी-स्याद्वाद-विद्यालयके अविष्ठाता-पदसे भी वे मुक्त हो चुके थे और वे अपनी समझसे उससे कत्तई सम्बन्ध विच्छेद कर चुके थे, किन्तु भूलसे कार्यकारिणीमें उनका नाम वना रहा। अधिकारी नही चाहते थे कि ब्रह्मचारीजीका लेशमात्र सम्बन्ध भी विद्यालयसे रहे। अतः उन्होने विधानके अनुसार कार्यकारिणी समितिके सदस्योसे सम्मतियाँ माँगी। रायवहादुर भी कार्यकारिणीके सदस्य थे, उनके पास पत्र पहुँचा तो उन्हें इससे वडी व्यथा पहुँची और पत्रके उत्तरमें जो उन्होने मार्मिक शव्द लिखे वे तो अव मुझे स्मरण नहीं रहे, परन्तु आशय यही था कि "एक तरफ तो आप विद्यालयके उत्सवोके अध्यक्ष ऐसे जैनेतर व्यक्तियोको वनाते रहते हैं, जिनसे हमारा पूरब-पश्चिमका मतभेद है, दूसरी ओर आप एक ऐसे व्यक्तिको विद्यालयका सदस्य भी नही रहने देना चाहते, जिसके घोर परिश्रमसे विद्यालय इतनी उन्नति कर सका है, और जिसका हर श्वास जैनधर्मके लिए उत्सर्ग है ! ब्रह्मचारीजीकी सेवाएँ विद्यालय कभी भुला नही सकता।"

महावीर-जयन्तीका प्रसार भी उन दिनों वडे वेगसे वढता जा रहा था। जगह-जगह वड़ी धूम-धामसे महावीर-जयन्तियोके आयोजन होते थे। यह शुभ कार्य भी कुछ लोगोकी आँखोमें खटकने लगा, और इसके विरोधमें जैन गजटमें न्यायालंकार पं० मक्खनलालजीने सम्पादकीय वक्तव्य तक लिखा। इन लेखोको पढकर रायवहादुरको वहुत क्लेश पहुँचा और उन्होने सन् २९ में जैनमित्र मण्डल द्वारा आयोजित वीरजयन्ती महोत्सवके अध्यक्ष-पदसे इन जैनधर्म-प्रसार-विरोधी विचारोकी कड़ी भर्त्सना की।

रायवहादुरका सभी वर्गके व्यक्तियोसे स्नेह और मैत्री सम्बन्ध

था। वे व्यर्थकी तू-तू-मैं-मैं मे पड़नेके पक्षपाती न थे। अपने सुलझे हुए विचार रखते थे। जैन-संगठनके अभिलाषी और हृदयसे सुधारक थे।

रायबहादुर जाहिरामें न खद्दरपोश थे न कांग्रेसी। वे ऑनरेरी मजिस्ट्रेट, मुन्सिफ और ट्रेज़रर थे। इसलिए आम जनता उन्हें भी जी-हुजूर समझती थी। लेकिन वे जीहुजूर कतई नही थे। सरकारी ऑफ़िसर्सकी हाँमे हाँ मिलाना वे खिलाफ़ेशान समझते थे, और देशविरोधी कार्य्योंमें उनसे सहयोगकी आशा किसीको हो ही नही सकती थी। वे अत्यन्त स्वाभिमानी और आन-मानके आदमी थे।

एक बार एक नया डिप्टी कलेक्टर नजीबाबाद आया तो रायबहादुरसे घरपर मिलने नहीं आया। उसे आशा थी कि अन्य रईसो और सरकार-परस्तोंकी तरह रायबहादुर भी डाक-बँगलेपर आकर हाज़िरी देंगे। लेकिन यह क़तई नामुमकिन था। प्रथा अभीतक यह चली आ रही थी, नया डिप्टी कलेक्टर पहले घरपर हाजिरी दे जाता था, तब रायबहादुर उसके बँगलेपर मिलने जाते थे।

डिप्टी कलेक्टर घरपर मिलने नही आया, तो रायबहादुरने इसे अपना अपमान समझा, और उसकी इस हरकतकी सूचना कलेक्टरको दे दी। इसीतरह एक बार पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्टके किसी व्यवहारसे नाराज होकर कलेक्टरको लिखा—"आप जिलेके कलेक्टर है तो मैं जिलेका चेयरमैन हूँ। इस जिलेमें अमन-चैन बनाये रखनेके लिए मेरी भी सरकारको उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि आपकी। सरकारको मेरी मान-प्रतिष्ठाका खयाल रहेगा तो मेरी सेवाएँ भी उसको मिलती रहेंगी। ज़िलेके उच्च अधिकारियोके मौजूदा व्यवहारको देखते हुए मुझसे सहयोगकी क्या आशा की जा सकती है?"

चूँकि अब भारत स्वतन्त्र हो गया है, और जनता बड़े-से-बड़े मंत्री और अधिकारियोंकी निःशंक आलोचना करती है, इसलिए आज इस पत्रकी कोई भी अहमियत मालूम न दे, किन्तु अंग्रेजोके शासनकालमें रायबहादुर और खानबहादुर तो कुजा, सर और मिनिस्टर भी इस तरह-

के पत्र लिखनेकी हिम्मत नही कर सकते थे। यह इन्हीका कलेजा था जो इतना रोप और धमकीसे भरा पत्र लिख सके। इस पत्रके लिखनेके वाद पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट और डिप्टी कलेक्टरपर खासी झाड़ पढ़ी और जव तक वे लोग ज़िलेमें रहे, ठीक-ठीक रहे।

देशके अन्य ज़मीदारो और रईसोकी तरह रायवहादुरने भी स्वराज्य आन्दोलनमें भाग नही लिया और राजनैतिक-क्षेत्रसे सदैव अलग रहे। काश वे देशके आन्दोलनमें कूद पडे होते तो यू० पी० के ही नही, सारे भारत के एक सम्मान्य नेता हुए होते। उनकी परिष्कृत वुद्धि, सूझ, हाजिरदमागी और सुव्यवस्थाके शत्रु-मित्र सभी कायल थे। प्रतिद्वन्द्वीको इस खूवीसे पटखना देते थे कि चारों शाने चित्त भी गिरे, मगर पीठके मिट्टी भी न लगने पाये और देखनेवाले ही नही स्वयं प्रतिद्वन्द्वी भी उठकर उनके इस चातुर्य्यकी मुक्तकठसे सराहना करे।

रायवहादुर डिस्ट्रिक्ट वोर्डके ६ वर्ष चेयरमैन रहे। लगातार दो चुनावोंमें विजय प्राप्त की, और विजय भी मामूली नही, शायद सारे संसारमें अपने ढगकी निराली और यकताँ। सन् १६२८ का दूसरा चुनाव स्वयं मैने अपनी आँखोसे देखा है। डिस्ट्रिक्ट वोर्डके कुल सदस्य २६ या २८ थे। इनमें ११ मुसलमान, ६ चौहान, ५ जाट, ३ तगे, २ वैश्य और १ रायवहादुर जैन थे। अव २२ वर्षके वाद ठीक-ठीक संख्या तो स्मरण नहीं रही, सम्भव है उक्त सख्यामें १-२ का हेर-फेर हो, परन्तु अनुपात लगभग यही था। लिखनेका तात्पर्य केवल इतना है कि रायवहादुरके अतिरिक्त एक भी सदस्य उन्हें वोट देनेके पक्षमें नही था, किन्तु इनका साहस देखिये कि फिर भी चेयरमैनीके लिए खड़े हुए और साम-दाम, दण्ड-भेदका ऐसा जाल फेंका कि वहुसम्मतिसे चेयरमैन चुन लिये गये, और इस सौजन्यपूर्ण ढगसे कि विरोधी उम्मीदवारने भी चुनाव-स्थलपर मुवारिकवाद दी और उनके भद्र व्यवहारकी मुक्त कठसे सराहना की; और परिहास करते हुए यह भी कहा—"हम तो रायवहादुरको अपना उस्ताद मानते है, और उस्तादसे पटखना खानेमें कोई वेइज्जती

नही।" तभी रायबहादुरकी ओरसे किसीने कहा—"जब यह बात है तो उस्तादसे कुश्ती क्यों लड़ते हो?" जवाब मिला "उस्तादसे शागिर्द कुश्ती हमेशा लड़ते आये हैं, वर्ना दाँव-पेंच कैसे आये?" इसपर ख़ूब क़हक़हा लगा। पक्ष-विपक्षके सभी आदमी ख़ुशी-ख़ुशी सहभोज और और फोटो ग्रुपमें शामिल हुए, और ख़ूबी यह कि चेयरमैन चुने जानेपर इस सुव्यवस्थित ढंगसे बोर्डका कार्य्य चलाया और बोर्डके सदस्योसे ऐसा व्यवहार रखा कि कभी अविश्वासका प्रस्ताव आने तककी नौबत नही आई।

रायबहादुर इतने व्यवहारकुशल और ज़ाहिरा रख-रखावके क़ायल थे कि बड़े-से-बड़े प्रतिद्वन्द्वीसे भी प्रकट रूपसे मनोमालिन्य नही रखते थे। सामना होनेपर बड़े तपाकसे मिलते थे। शादी-गमीमें शामिल होते थे। एक-दूसरेके यहाँ ठहरते थे, खाना खाते थे और ज़बानपर एक भी हर्फ़ ऐसा न लाते थे, जिससे उसकी दिलशिकनी हो।

सन् २५ या २६ में कौसिलोके चुनावमें बिजनौर ज़िलेसे स्वराज्य पार्टीकी ओरसे बा० नेमिसरन जैन बी० ए० एल्-एल० बी० और हिन्दू महासभाकी तरफ़से रायबहादुर खड़े किये गये। नजीबाबाद पोलिंग स्टेशन संघर्ष-केन्द्र बना हुआ था। दोनों पक्षोंके हिमायती जान लड़ा रहे थे। लाठियाँ तनी हुई थीं और कब क्या हो जाय, इसकी आशंका पल-पल बनी हुई थी, तब भी रायबहादुर और बा० नेमिसरन एक ही जगह बैठे हुए हास-परिहास कर रहे थे। उनको देखकर ऐसा मालूम होता था, गोया दो सगे भाई कौतूहलवश चुनाव-संघर्ष देखने चले आये हों।

इलेक्शनोंकी हार-जीतको अक्सर लोग जीवन-मरणका प्रश्न बना लेते है, और अनन्य मित्र भी एक-दूसरेके शत्रु हो जाते हैं। और इलेक्शन सम्बन्धी बदले हर तरहसे लेनेके प्रयत्न किये जाते हैं; परन्तु रायबहादुर इन इलेक्शनोंकी हार-जीतको शतरंजकी बाज़ी जितना भी महत्त्व नहीं देते थे। जीतनेपर न वे उफनते थे, न एक हल्का शब्द कहते थे और न हारनेपर मायूस होते थे, न किसीसे बदला लेते थे।

जीत-हार दोनो ही अवसरोंपर संजीदगीका दामन पकडे रहते थे। वही खन्दांपेशानी, वही ख़ामजाक तबियत और वही दैनिक कार्य। लमहेभरको भी किसी बातमें फर्क नहीं पडता था।

सन् १९२९ में म्यूनिस्पल इलेक्शनमें उनकी पार्टी हार गई तो स्वभावत: उनके हितैपी मित्रोको बहुत व्यथा पहुँची। लेकिन आप उसी तरह मुस्कराते रहे और बोले—भई! अगर हार न हो तो जीतका लुत्फ़ भी क्या ?"

दूसरे रोज रायवहादुरके यहाँ विजयी पार्टीके नेता अपनी लड़कीके विवाहके अवसर पर—बर्तन, सवारी, कालीन आदि माँगने आये तो आप बड़े तपाकसे उनसे मिले, और अपने छोटे भाई साहू रामस्वरूपजीको उलाहना देते हुए बोले—भैयाजी, अपनी ही लडकीकी शादी हो और हमें मालूम तक न हो, शादीकी तारीख़ तो मालूम रहनी ही चाहिए थी और सब आवश्यक सामान अपने उस मकानमें पहुँच जाना चाहिए था।" विरोधी नेता उनके इस सौजन्यपूर्ण व्यवहारसे पानी-पानी हो गया।

रायवहादुर अत्यन्त व्यवस्थित ढगसे रहते थे और फूहड़पनको कतई पसन्द नहीं करते थे। जिस भाषामें पत्र भेजते, पता भी उसी भाषा में लिखते थे। एक बार हिन्दीके पत्रपर मैंने स्थानका नाम अँगरेजीमें लिख दिया तो वे इस ढंगसे मुस्कराये कि मैं कट-सा गया। लिफ़ाफे और कार्डों पर यथास्थान टिकिट लगवाते, तनिक भी इधर-उधर लग जाने या उल्टा चिपक जानेको मायूब समझते और ठीक न होनेपर फाड़कर फिकवा देते, किन्तु उल्टा-सीधा बेतरतीब पोस्ट न कराते।

वे पत्र-व्यवहारमें बहुत सावधानी वरतते थे। एक-एक शब्द बहुत सोच-समझकर लिखते-लिखाते थे। सरकारी आफिसर्सके पत्रोमें ड्राफ़्ट करनेवाले ऐसा शब्द डाल देते कि जिससे तनिक भी खुशामद या जीहुज़ूरी की बू आये तो "हम भाँड नहीं हैं जो उसकी ख़ुशामद या तारीफ़ करें"—कहकर वह शब्द निकलवा देते थे। चाहे वह शब्द वहाँ कितना ही मौज़ं और सही क्यो न हो।

रायबहादुर खुशपोश, खुशअखलाक, हाजिरजवाब, महमाँनवाज, मिलनसार और बड़ी वज़अ्-क़तअ्के आदमी थे।

आज उनको स्वर्गासीन हुए १७-१८ वर्ष हो गये, परन्तु उनकी व्यवस्था, सभा-संचालन, भाषणशैली, पत्रोमें भाव व्यक्त करनेके तरीके भुलाये नहीं भूलते।

—ज्ञानोदय, काशी
अप्रैल १९५१

जन्म— कुताना, ई० स० १८७६

स्वर्गवास— दिल्ली, ई० स० १९३०

कांग्रेसके मूक सेवक

गोयलीय

रायबहादुर सुलतानसिह दिल्लीके प्रतिष्ठित और जनप्रिय ऐसे नागरिक थे, जिनपर हर देहलवीको नाज था। ज़ाहिरा में उनके साथ सरकारी उपाधि चिपकी हुई थी, किन्तु अन्तरंगमें वे ग्वरे देशभक्त थे। उनके यहाँ वाइसराय, चीफ़ कमिश्नर और राजा-महाराजा भी अतिथि रूपमे आते रहते थे, और देशके सर्वोच्च नेता—महात्मा गांधी, पं० मोतीलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू—आदि जब भी देहली तशरीफ़ लाते, उन्हीके यहाँ क़याम फ़र्माते थे। उन्हीके यहाँ कांग्रेस-वर्किग कमेटीकी बैठकें होतीं और उन्हीके यहाँ अंग्रेजी सरकारसे लोहा लेनेके दाव-पेच सोचे जाते थे।

उनका भद्रव्यवहार, नम्रतापूर्ण आतिथ्य, उदार स्वभाव और रहन-सहनके उच्च स्तरसे यह तो अनुमान लगाया जा सकता है कि अतिथियोको आवश्यकतासे अधिक सुविधाएँ उनके यहाँ मिलती होगी और जो एकबार उनके स्नेहपाशमें बँध गया, वह जीवनभर बँधा रहकर, उनके यहाँके अतिरिक्त अन्यत्र ठहरनेकी कल्पना भी नही कर सकता होगा। लेकिन देशके इन महान् नेताओका इतना अधिक विश्वास और स्नेह वे कैसे प्राप्त कर सके, यह जिज्ञासा उनकी जीवितावस्थामे भी मेरे मनमें उठा करती थी, किन्तु खेद है कि कभी साक्षात् परिचयका अवसर ही प्राप्त न हो सका।

मेरी प्रबल अभिलाषा थी कि उनके सस्मरण, परिचय और नेताओं की उन दिनोकी मीठी स्मृतियाँ स्वयं श्रीमती रायबहादुर अपने मुबारिक कलमसे लिखकर अता फर्माये तो इतिहासकी एक बेशबहा कीमती वस्तु बन जाये, किन्तु उनकी व्यस्तताके कारण मनकी मुराद पूरी न हो सकी।

मुझे हर्ष है कि रायबहादुर साहबका सस्मरण मेरी प्रार्थनाको मान देकर भारतीय ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमालाके यशस्वी सम्पादक श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैनकी विदुषी पत्नी श्रीमती कुन्थाजैनने लिख देनेकी कृपा की है। रायबहादुरसाहब आपके फूफा थे, उन्हीके आँगनमे खेलते-पढते बचपन गुजरा है, उनके निकट सम्पर्कमे रही है और संस्मरण लिखने से एक सप्ताह पूर्व उनके यहाँ रहकर आई है।

१९३० मे असहयोग-आन्दोलन जब पूरी जवानीपर था, तभी रायबहादुर साहबका निधन हो गया। निधनकी खबर जेलमे पहुँची तो बन्दी नेताओके मुँह शोकाकुल हो गये, और बडी कातरतासे एक-दूसरेका मुँह देखने लगे। मुझ रंगरूटकी बुद्धिमे इस शोकका कारण समझमे नही आया तो एक नेतासे झिझकते हुए पूछा—"काग्रेस तो सरकारी उपाधिधारियोसे बहुत ही घृणा करती है, देशद्रोही समझती है और उनके लिए "टोडी बच्चा हाय-हाय"के नारे लगवाती है, फिर रायबहादुर सुल्तानसिंहकी मृत्युपर इस कदर बेचैनीका इजहार क्यो किया जा रहा

है ?" वे रुँधे कंठसे बोले—"तुम नही समझ सकते कि रायबहादुर कितने कामके थे। वे क्या गये, दिल्ली कांग्रेसका स्तम्भ गिर गया। उनके बलपर हम न जाने कितने खेल खेलते थे।"

उनकी अनुशासनप्रियताका तो एक उदाहरण "वह भव्य व्यक्तित्व" मिलेगा। उनकी ग़रीबपरवरीका एक वाकया मुझे भी याद आ गया है।

रायबहादुर एक रोज़ अपनी जायदादके सामनेसे गुज़र रहे थे, एक दुकानमें मालिन बैठी देखकर एक मूली खानेको उठाने लगे तो उसने हाथ झटक दिया। वह इन्हें पहचानती नही थी, और किराया-मुंशी आगे बढ़ गया था। मुंशीने मुड़कर देखा तो मालिनपर बरस पड़ा। राय-बहादुर मुशीको समझाते हुए बोले—"यह बहुत गरीब मालूम होती है, जो मूलीके इतने टुकड़ेका भी जाया जाना बर्दाश्त नही कर सकती, इसका छह माहका किराया माफ किया जाता है।" मालिनको वास्तविक स्थिति विदित हुई तो वह अपना ओढना रायबहादुरके पाँवोमे डालकर सुबकने लगी। रायबहादुरकी जेबमें जितने रुपये थे, उस ओढ़नेमे डालकर वे आगे बढ़ गये।

वे खुशपोश ऐसे थे कि आज भी लोग उनकी मिसाल पेश करते हैं।

—डालमियानगर,
२ नवम्बर १९५१

वह भव्य व्यक्तित्व !

श्रीमती कुन्था लक्ष्मीचन्द जैन बी० ए० (आनर्स) बी० टी०

सन् १९३० के वे तूफानी दिन ! देशकी स्वतन्त्रताका आन्दोलन ज़ोरोपर था। मीलो लम्बे जुलूस, लाख-लाख आदमियोंकी सभाएँ, झंडाभिवादनके रोमाञ्चक दृश्य, नेताओके भव्य दर्शन, लपकती लौ-से भाषण और शमाँपर झुलसनेवाले परवानो-सा हौसला ! लाठी, गोली और सगीन. . सब नजारे सामने थे। वातावरणमे और मनमे वही एक तान गूंजती थी—

सर फ़रोशीकी तमन्ना अब हमारे दिलमें है।
देखना है ज़ोर कितना बाज़ुए-क़ातिलमें है ।।

उन दिनों मैं देहलीके इन्द्रप्रस्थ गर्ल्स हाई स्कूलमें नवी क्लासमे पढती थी। जैन-महिलाओं व लडकियोकी वौलिंटियर कोर (स्वय-सेविका दल) की सचालिका थी, इसलिए ऐसी लगनसे काम करती थी, जैसे आन्दोलनकी सफलताका भार मेरे ही कन्धोंपर हो। लालाजी (पिताजी) के उत्साहका सहारा हृदयसे तो प्राप्त था, पर बाहरी रूपसे एक हद तक। वह हद यह थी कि मेरे ताऊजी लाला रतनलाल गवर्नमेंट कौलिजके प्रिन्सिपल थे और 'रायसाहब' थे, और मेरे फूफा, लाला सुल्तानसिंहजी, 'रायबहादुर' थे। स्वयम् पिताजी उन दिनों इम्पीरियल बैंकमें खजाञ्ची थे। अनेक सरकारी अधिकारी मित्रताके नाते लालाजीको सावधान करते रहते कि राष्ट्रिय आन्दोलनमे लड़कीको आगे बढ़नेसे रोकें।

मैं घरमे यह बाते सुनती तो थी, पर हतोत्साहित नही होती थी। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि मेरी बुआजी (मिसिज़ सुल्तानसिंह) ऑल इण्डिया विमेंस कॉनफ्रेंसकी प्रेसीडेण्ट थी और राष्ट्रिय काम करने

वाली प्रमुख महिलाओंको सदा निकटतम सम्पर्कमे रखती थी। एक दिन मै बुआजीके पास बैठी हुई थी कि श्रीमती अरुणा आसफ़अली आई और बुआजीसे बोली—"बहूजी, प्रेज़िडैण्ट विट्ठलभाई पटेलका टेलिग्राम आ गया है, वह कल दिल्ली पहुँच रहे है। उन्होने प्रेस-रिप्रेजैंटेटिव (पत्र-कारों) से कहा है कि लैजिस्लेटिव एसैम्बलीकी प्रेजिडैण्टशिप छोड़नेके कारणोंपर और अपने आइन्दाके प्रोग्रामके बारेमें उन्हें जो कुछ कहना है, वह दिल्लीके पब्लिक जलसेमें ही कहेंगे, इसलिए कल साढे पाँच बजे जलसा बुलाया है। सरस्वती-भवनमें महिलाओकी जो मीटिंग कल रखी है, उसे पोस्टपोन (स्थगित) कर दिया जाये। आपकी इजाजत लेने आई हूँ।"

"हाँ, मीटिग तो पोस्टपोन ही कर देना चाहिए। प्रेज़िडैण्ट विट्ठल-भाई पटेलके इस्तीफ़ेसे अंग्रेज़ोंमे काफ़ी बेचैनी है। अभी इनके (राय-बहादुर सुल्तानसिंहके) पास शिमलेसे किसीका टैलीफोन था। शायद सरदार पटेल यही ठहरे,"—बुआजीने मिसिज आसफ़अलीको बताया।

जब मिसिज आसफअली थोड़ी देर बात करके चली गई तो बुआजी बोली—"कुन्था, कल साढ़े पाँच बजे जल्सेमे चलना। गाड़ी भेज दूंगी; कम्पनी बागमें मीटिग है।"

मैं जब घर वापिस आई तो देखा सब जगह मोहल्लेभरमे, बाजारों-मे प्रेजिडैण्ट पटेलके इस्तीफेकी धूम है। लोग खुश थे और जुलूस-जल्सेके ऐलानके इन्तजारमें थे। लालाजीने मुझसे कहा—"बेटा, कल तुम्हे प्रेजिडैण्ट पटेलके विजय-तिलक करना है,—सब तय्यारी कर लेना।"

अगले दिन शामको साढे पाँच बजे कम्पनीबागमे बुआजीके साथ जल्सेमे पहुँचे तो फूफाजी भी साथ थे। हम लोग मंचपर बैठे। प्रेज़िडैण्ट विट्ठलभाई पटेल जब जल्सेमे पहुँचे तो आसमान नारोसे गूँज उठा। लाखों की भीड़ थी। जोशका ठिकाना न था। मै अपने साथ एक चाँदीकी थालीमें रोली और अक्षत व अपने हाथसे काते हुए सूतके कुछ तार लेती गई थी। बुआजीने वह देखकर पूछा कि "यह क्या है"...मै उत्तर देनेमें झिझक रही थी, इसलिए लालाजीने कहा कि "इसका विचार प्रेजिडैण्ट पटेल

के विजय-तिलक करनेका है—आपकी क्या राय है?"—बुआजी अभी कुछ सोच भी न पाई थी कि फूफाजीको फैसला करते देर न लगी। ज्यों ही मिस्टर आसफअलीने जल्सेकी कारवाई शुरू होनेका ऐलान किया कि फूफाजीने मुझे दोनो हाथोका सहारा देकर मंचपर खड़ा कर दिया और थाली मेरे हाथोंमे पकड़ा दी। मिस्टर आसफ़अलीने लाउड स्पीकर पर ऐलान कर दिया "अव हमारे अजीज और मोहत्तरिम (आदरणीय) नेताको तिलक किया जायेगा। विजयतिलक देहलीकी जनताकी ओरसे यह वच्ची करेगी। रायवहादुर साहवसे पूछकर उन्होने आगे ऐलान किया। "इस वच्चीका नाम कुन्थकुमारी जैन है। यह जैन वौलिण्टियर कोरकी कैप्टेन है।" मिस्टर आसफ़अलीने अपनी तरफसे यह भी ऐलान कर दिया कि "तिलक करनेके वाद यह वच्ची तकरीर भी करेगी।"

जिस महापुरुषके चरणोको छूना भी सौभाग्य था, उसके महामहिम मस्तकपर जनताकी ओरसे विजय-तिलक करना जीवनकी अमूल्यतम वरदानमयी घटना है। उस उल्लासमें मैने दो मिनिटके भाषणमें क्या कहा, वह न तव याद रहा न आज याद है। याद है केवल वह प्रशस्त मस्तक, माँ भारतीकी स्फटिकोज्ज्वल पीठिका-सा जिसको आज भी मन ही मन नमस्कार कर लेती हूँ, और याद है वह फूफाजी, जिनके वरद हाथोका सहारा पाकर मै मचपर खड़ी हो सकी थी।

× × ×

फूफाजीके सम्वन्धमे लिखते हुए मुझे जो घटनाएँ याद आती है और जिनकी स्मृति मेरे मनपर अमिट है, उनका यदि उल्लेख करूँ तो रायवहादुर लाला सुल्तानसिंहके सम्वन्धमे एक राष्ट्रिय-प्रकारकी धारणा वनती है, किन्तु यह धारणा आशिक रूपसे ही सत्य है, क्योकि लाला सुल्तानसिहजी प्रतिष्ठित रईस, विरादरीके अगुआ, सामाजिक सुधारोके समर्थक और सरकार द्वारा सम्मानित प्रमुख नागरिक पहले थे, और राष्ट्रिय सहयोगी वादमें। फिर भी उनकी कोठीमे होनेवाली गार्डन पार्टियाँ, जिनमे वाइस-राय और चीफ कमिश्नर आते थे; अथवा उनके अतिथि-भवनमें ठहरने

वाले महाराजा काश्मीर, महाराजा मैसूर और महाराजा जयपुरकी स्मृति की अपेक्षा, मेरे मनमें राष्ट्रिय नेताओके सम्पर्क की ही छाप अमिट है। मैंने फूफाजीके यहाँ ही महात्मा गांधीके दर्शन किये। वहाँ ही महाकवि रवीन्द्रनाथके मुखसे कविता-पाठ सुना। वहाँ ही श्रीमती सरोजिनी नायडूसे परिचय प्राप्त किया। उस दिन होलीका दिन था। बुआजीने मुझे और मेरे पतिको विशेष रूपसे आमन्त्रित किया था, क्योंकि हमारे विवाहके बाद यह पहली होली थी। श्रीमती सरोजिनी नायडू उस रोज़ बुआजीके यहाँ ठहरी हुई थी। बुआजी हम दोनोको उसी तरह रंगमें भीगे और गुलालसे पुते, श्रीमती नायडूके पास ले गई और परिचय करा दिया। प्रफुल्लित आनन और मधुर कण्ठसे श्रीमती नायडूने कहा- "Oh how beautiful—immersed in colours, like Krishna and Radha." (कितने सुन्दर ! रंगोमे डूबे-कृष्ण और राधा-से !)

गत ५० वर्षोंमे भारतवर्षकी राजधानी देहलीमें जैनसमाजके जिन व्यक्तियोंने सार्वजनिक ख्याति, राजकीय प्रतिष्ठा और विरादरीका आदर तथा स्नेह पाया है, उनमें रायबहादुर लाला सुल्तानसिंहका स्थान निःसन्देह बहुत ऊँचा है। नई दिल्लीका निर्माण होनेसे पहले, काश्मीरी गेट देहलीका सबसे अधिक समृद्धिशील वस्ती था, जहाँ बड़ी-बडी अंग्रेजी दुकाने, विशाल कोठियाँ, विख्यात होटल और वैंक आदि थे। करोड़ों रुपयेकी लागतके इन विशाल भवनोमेंसे अधिकांशका स्वामित्व राय-बहादुर सुल्तान सिंहको प्राप्त था। मैंने स्वयम् सुना है, उनके अंग्रेज मित्र उन्हें "King of Kashmere Gate"—कश्मीरी गेटके बादशाह—कहा करते थे। कश्मीरी गेट ही क्यों, दरीवा, चेलपुरी, दरयागञ्ज, दिल्ली दरवाजे आदि अनेक स्थानोंमें उनकी दुकाने और कोठियाँ थी, जिनसे लाखों रुपयेकी आमदनी थी। शिमला, कसौली, मंसूरी, देहरादून आदि प्रायः सभी पहाड़ी स्वास्थ्यप्रद स्थानोंमें उनकी कोठियाँ थीं।

लाला सुल्तान सिंहजीका मुख्य व्यवसाय साहूकारा, लेन-देन, जमी-

दारी और बैंकोंका संचालन था। इन्होंने देहली, शिमला, मेरठ आदि स्थानोंके इम्पीरियल बैंकके मुख्य कार्यालय और समस्त शाखाओंके खजानों की सँभाल और संचालनका उत्तरदायित्व ले रखा था। इतने बड़े बैंकिंग व्यवसायकी जिम्मेदारी ब्रिटिश गवर्नमेंटने जिनके ऊपर छोड़ी हुई थी, उनकी निजी समृद्धि, ईमानदारी और व्यावसायिक निपुणतापर सरकारको कितना भारी विश्वास होगा ? जैनसमाजके प्रधान व्यक्तियों का इतिहास देखनेपर बार-बार जो बात सबसे ऊपर उठकर सामने आती है, वह यही है कि ससारके जिस अर्थ, कञ्चनको लेकर षड्यन्त्र, विश्वास-घात और विद्रोह हुए है, तथा साम्राज्योंके ध्वंस और निर्माणमे जिस धन ने मूल प्रेरणा दी है, उसकी रक्षाका अविचल विश्वास और उत्तरदायित्व यदि किसी समाजने अर्पित किया है तो वह जैनसमाज ही है। भारतीय इतिहासके प्रत्येक युगमें इसके उदाहरण मिलेंगे। रायबहादुर सुल्तान-सिहने विश्वास और प्रामाणिकताकी इस ऐतिहासिक परम्पराको उस समय सफलतासे निभाया, जब कि इस उत्तरदायित्वका सम्बन्ध ससारके सबसे बड़े साम्राज्यके राज्यकोषसे था।

रायबहादुर सुल्तानसिंहका जन्म सन् १८७६ में कुताना (तहसील सोनीपत) के जमीदार, दिल्लीके रईस श्री निहालचन्दजीके यहाँ हुआ था। इनके पिता इन्हें बहुत ही छोटी उम्रमे छोडकर स्वर्गस्थ हो गये थे और इनका लालन-पालन इनके दादा ला० शीसिहरायने किया, जो कि उस समय जैन-समाजके सरपंच और अग्रणी थे। अपने दादाकी मृत्युके समय भी लाला सुल्तानसिंह नाबालिग थे, इसलिए सरकारकी ओरसे एक अंग्रेज अधिकारी इनका ट्रस्टी बना दिया गया था। दादाकी मृत्युके समय इनकी सम्पत्ति केवल सात लाख रुपये समझी जाती थी, परन्तु रायबहादुर साहबने छोटी उम्रसे ही अपनी होशियारी, मेहनत, कुशाग्रबुद्धि तथा लगनसे अपने खान्दानी कामको इतना बढाया और अपने पौरुष और साहससे वह धन और यश कमाया कि यह अपने पीछे करोड़ों रुपये की सम्पत्ति छोड़ गये।

इन्होंने जितनी शानसे द्रव्य-उपार्जन किया, उतनी ही उदारतासे उसे व्यय भी किया। नई दिल्लीमे इन्होंने जिस कोठीका निर्माण कराया था, वह उस समयतककी सबसे विशाल और आधुनिकतम कोठी थी। वह कोठी अब महाराजा पटियालाने ख़रीद ली है। इस कोठीमे जहाँ अंग्रेज़ी नाचघर था, वहाँ प्रार्थना-भवन भी कम आकर्षक नही था। उसका विशाल गुलाब-बाग अद्वितीय था, क्योंकि इतने प्रकारके स्वदेशी-विदेशी गुलाबोंका एक ही स्थानमें और कहीं मिलना असम्भव था।

धनिक वर्गमे वैभव और ऐश्वर्यके प्रदर्शनमे जो एक मूक प्रतियोगिता चला करती है, उसमें रायबहादुर सुल्तानसिंह प्रायः सदा आगे ही रहे। नई कार, नया वायर्लैस, नई तरहकी लिफ़्ट, कोठीका नया डिजायन, सूटका नया कट, सबसे पहले इनके यहाँ देखनेको मिलता था। नया वाइस-राय यदि पहली बार किसी रईसकी गार्डन पार्टीमे शामिल होगा, तो इनके यहाँ। नया चीफ़ कमिश्नर यदि सबसे पहले किसी नागरिकसे मिलना चाहेगा तो इनसे। मतलब यह कि राज्य, समाज और जनता उस ज़माने मे रईसीके जिस रूपसे प्रभावित होती थी और जिसका प्रदर्शन उस ज़माने का 'फैशन' था, उसमे इनसे बाजी लेना मुश्किल था। इनके लड़के श्री रघुवीरसिंहका विवाह हुआ तो देहलीमें, जिस चार घोड़ोंकी गाड़ीमें केवल वायसराय ही निकल सकते थे, वैसी चार-चार घोड़ोकी आठ गाड़ियाँ बारातमें निकली। अपनी सवारीके लिए इन्होने विलायतसे घोड़े मँगवाये, जिनके रहनेके लिए विशेष अस्तबल बनवाये, जिन्हे पंखो तथा खसकी टट्टियोसे ठंडा रक्खा जाता था। ये खुद बहुत अच्छे तैराक थे और व्यायाम करनेका शौक़ रखते थे, घरमें ही अखाड़ा बनवा रक्खा था और एक पहलवानको नियत किया हुआ था, जो कुश्ती लड़ना सिखाता था। एक किस्सा-गो (कहानी सुनानेवाला) भी नियत था, जो प्रत्येक दिन आकर सारे शहर और समाजकी ख़बरें सुना जाता था और दिल बहलानेको कभी-कभी दिलचस्प कहानी भी कह जाता था।

यह बात नही कि लाला सुल्तानसिंहकी प्रतिष्ठा केवल उनके

धन-वैभव, उनकी रायबहादुरी अथवा राजकीय सम्पर्कोके कारण नही हो। उनके अग्रणी होनेका मुख्य कारण यह था कि वे विचारो, भावनाओं और आदर्शोके निर्वाहमे भी अग्रणी थे। यद्यपि कॉलिजकी पढ़ाई उन्हे ऐफ-ए (इण्टरमीडियेट) मे ही छोडनी पड़ी, क्योकि उनकी आँखे कमजोर हो गई थी, किन्तु ज्ञानकी पिपासा और अनुभवकी खोज उन्हे सारे जीवन ही रही। उनके विचार उदार और दृष्टि अत्यन्त व्यापक थी। पश्चिमी प्रभावोमे उन्होंने केवल वही अपनाया जो दृष्टिको उदार और मनको महत् बनानेमे सहायक हो सका। यही कारण है कि उन्होने अपने व्यक्तिगत सम्पर्क और अपने पुत्र श्री रघुवीरसिहकी शिक्षाके लिए दीनवन्धु श्री सी० एफ० ऐण्ड्रयूज और मिशन कॉलिज देहलीके प्रिन्सिपल श्री एस० के० रुद्र-जेसे विशिष्ट विद्वानो तथा राष्ट्रियताके समर्थकोको नियुक्त किया। दिल्लीके डायरैक्टर ऑफ ऐज्यूकेशन श्री चटर्जी और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती चटर्जी, जो अत्यन्त उच्च शिक्षा प्राप्त सुसस्कृत महिला थी, इनके यहाँ मित्र और शिक्षकके रूपमे आते-जाते थे। ऐसे व्यक्तियो के निरन्तर सम्पर्क द्वारा लाला सुल्तानसिहको पूर्व और पश्चिमकी संस्कृतियोका व्यवहारगम्य सुन्दर सामञ्जस्य प्राप्त हुआ था। इन्होने ६ वार विदेशोकी यात्रा की और इस प्रकार अपने अनुभवोको समृद्ध तथा व्यवसाय को उन्नत किया। उस समय विदेश-यात्रा करना वहुत ही असाधारण और विचित्र वात समझी जाती थी, इसकी सामाजिक प्रतिक्रियाको झेलनेके लिए पर्याप्त साहसकी आवश्यकता थी।

उनके व्यक्तित्वकी प्रमुख विशेषता थी कि वह समाज व देशके हर काममे वड़ी तत्परता और उत्साहसे भाग लेते थे और हर श्रेणीके उच्चतम व्यक्तियोंसे उनका व्यक्तिगत सम्पर्क था। उनका अपने जैनधर्म पर दृढ विश्वास था और जीवनकी इतनी व्यस्तताओके वीच भी वह नित्यपाठ करना नही छोडते थे। इन्होंने सन् १९०० मे जैन-यात्रा-सघ चलाया, जिसमे ४०० के लगभग स्त्री-पुरुष व वच्चे थे। सन् १९२३ में देहलीमे जो विशाल पचकल्याणकप्रतिष्ठा हुई थी, उसको सफल

वनानेमें इन्होंने रात-दिन एक कर दिया था और कई प्रकारके मतभेद होनेपर भी, इन्हींके नेतृत्वके वलपर इतना विशाल आयोजन सम्पन्न हो सका। शिमलेका जैन-मन्दिर जिस भूमि-स्थानपर वना हुआ है, वह इनकी माताकी जन्मभूमि थी, जो इनके नाना द्वारा इनकी माँको दहेज़में मिली थी और जिसे इन्होंने धर्मकार्यके लिए दानमे दे दिया। जहाँ जैन-जाति और जैन समाजके वह प्राण थे, वहाँ उनकी उदारता और उत्साह अन्य जातियोंके लिए भी कम न था। वह हर वर्ष ही रामलीला कमेटीके प्रेजिडेण्ट होते थे, और रामलीलाके जुलूसके साथ-साथ घोडेपर सवार होकर सारे प्रदर्शनका नेतृत्व करते थे। जव देहलीमे अखिल भारतवर्षीय वैष्णव कॉन्फ्रेंस हुई, जिसके सभापति महाराजा दरभगा थे, तो उस समय इन्हे ही स्वागताध्यक्ष चुना गया। उस समय इनकी आयु २०-२२ वर्षसे अधिक न थी। जव मुहर्रमके दिनोमें मुसलमानोंके ताजिये निकलते थे, तो यह ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट तथा प्रमुख नागरिककी हैसियतसे स्वयम् घोड़ेपर ताजियोंके साथ-साथ रहते थे। किसी भी प्रकारके सार्वजनिक संकटके समय भीषण परिस्थितियोंमें भी यह सहायतार्थ आगे ही आगे रहते थे। सन् १९१२ में जव दिल्लीमें चाँदनी चौकमें जुलूस निकलते समय लार्ड हार्डिंगपर वम गिरा, तव जितनी स्त्रियाँ जुलूस देखने सड़कके किनारे इधर-उधर खड़ी थी, वे सव पुलिस द्वारा पजाव नैशनल वैंकमें वन्द कर दी गई, उस समय यह वहाँ पहुँचे और अपनी व्यक्तिगत जमानत देकर सवको रिहा करवा लाये। देहलीमे गुड़वालोंका वहुत ही पुराना और क़दीमी खानदान था पर, अभाग्यवश जव उनके व्यवसायने पल्टा खाया और दिवाला देनेकी नौवत आ गई, उस समय इन्होंने ही उनको हर प्रकारकी मदद देकर उन्हें दिवालिया होनेसे वचा लिया।

प्रारम्भमें दिये गये संस्मरणोंसे इस वातकी झाँकी मिलती है कि रायवहादुर साहवके व्यक्तिगत सम्वन्ध प्रायः सभी प्रमुख राष्ट्रिय नेताओंसे थे और राजनैतिक मामलोंमें उनकी पूरी दिलचस्पी थी। सन् १९१८ में देहलीमें होनेवाले कांग्रेसके वार्षिक अधिवेशनके वह मुख्य कार्यकर्ता

थे। उसी समयकी एक घटना इनके उदार और असाधारण दृष्टिकोण का परिचय कराती है। काग्रेसके अधिवेशनके समय कार्यकारिणीकी बैठक हो रही थी और केवल कुछ गिनेचुने व्यक्ति ही उसमें सम्मिलित हो सकते थे। उस समय द्वारपर जो स्वयंसेवक ड्यूटीपर था, उसको आदेश था कि वह उसी व्यक्तिको अन्दर जाने दे, जिसके पास कार्यकारिणी समितिके मेम्बर होनेका 'पास' हो। रायबहादुर साहब अपना 'पास' लाना भूल गये और मीटिंगमें सम्मिलित होनेके लिए अन्दर जाने लगे। वौलिंटियरने उन्हे द्वारपर ही रोक दिया और अन्दर नही जाने दिया। वहाँ उपस्थित अन्य व्यक्तियोने यह देखा तो उस वौलिंटियरको बहुत डाँटा-डपटा पर रायबहादुर साहब उस स्वयं-सेवककी कर्तव्य-परायणतासे बहुत प्रभावित हुए,—वह खुले अधिवेशनमे उसे मच पर ले गये और उसकी कर्तव्य-परायणताकी प्रशसा करते हुए उसे एक स्वर्ण-पदक दिया।

सन् १९२१ मे गाधीजीने जब अपना प्रथम उपवास किया तो वह इन्हीकी कोठीमें ठहरे हुए थे। वर्षो तक यह पजाब स्टेट कौसिलके मैम्बर, म्यूनिसिपल कमिश्नर तथा ऑनरेरी मजिस्ट्रेट रहे।

शिक्षा-प्रचारके कार्योमे इन्होने सदा ही तन, मन और धनसे पूर्ण सहायता की। दिल्लीका इन्द्रप्रस्थ गर्ल्ज़ स्कूल और कॉलिज जो आजकल न केवल दिल्लीकी बल्कि भारतवर्षकी उच्च कोटिकी संस्थाएँ ह, इन्हीके प्रयत्नसे स्थापित हुईं और इनके आजीवन सभापतित्वमे पनपी। यह विख्यात स्कूल इनकी ही जायदादमे स्थित है। देहलीके तिब्बिया कॉलिज, लेडी हार्डिग मेडिकल कॉलिज, हिन्दू कॉलिज, सब ही की स्थापनाके अवसर पर इन्होने बहुत बहुत दान दिया और जीवनभर इन संस्थाओको चलाने, बढाने और सुधारनेमें प्रयत्नशील रहे। इन्हीके शिक्षा-प्रेमके फलस्वरूप आज भारतकी अनन्य और अद्वितीय संस्था मॉडर्न हाई स्कूल नई देहली ने देशविदेशोमें गौरवशील स्थान प्राप्त किया है। इनके इकलौते सुपुत्र ला० रघुवीरसिहने अपना समस्त जीवन इस ही संस्थाको बनानेमे लगा

दिया और पिताकी इतनी बड़ी पूँजी और व्यवसायोंके संवर्द्धनकी उपेक्षा करके एक त्यागी तपस्वीकी भाँति अपना धन, मन और लगन इसीपर न्यौछावर कर दिया। शिक्षाकी आधुनिकतम पद्धतियोंको अपनाकर, पश्चिमी देशोंके सुसंगठित पब्लिक स्कूलसके ढंगपर भारतीय बच्चोंके अनुकूल शिक्षाका इतना बड़ा सफल प्रयोग देशमे शायद ही कही हुआ है।

सामाजिक कुरीतियोंको हटाने व आधुनिक विचारोको कार्यान्वित करनेमे भी रायबहादुर साहब सदैव पहला क़दम उठाते थे। उस समय रईसोंके लड़कोकी शादीमे वेश्या-नृत्य होना एक आवश्यक चीज समझी जाती थी। पर आपने इस कुरीतिपर सर्वप्रथम कुठाराघात किया और अपने एकमात्र पुत्र रघुवीरसिहकी शादीमे वेश्या-नृत्य न कराकर उसके स्थानपर बारातका अन्य अनेक प्रकारके खेल-तमाशोसे मनोरञ्जन किया। जैनियोमे सबसे पहले इनका पौत्र वीरेन्द्रसिह मिलिटरी ऐकेडमी देहरादूनमे फौजी शिक्षाके लिए गया। उस समय वह केवल १०-११ वर्षका था और फौजमें काम करनेकी आज्ञा देना बड़े साहसका काम था।

अंग्रेजी सभ्यताकी उत्तम चीजे सब इनके घरमे विद्यमान थी, पर प्राचीनताके अच्छे पहलू भी इनके यहाँसे लोप नही हो पाये। घरके अन्दर जानेपर वही भारतीय वातावरण दृष्टिगोचर होता था। घर हमेशा भरा और काम-काजमे व्यस्त नजर आता था। कही गेहूँ चुने जा रहे है तो कही सब्जियाँ सँवारी जा रही हैं,—तो दूसरी ओर मिठाई बनानेका काम जारी है। कही अंग्रेजोके खानेकी तय्यारी हो रही है तो दूसरी ओर पंडितोंकी रसोईका आयोजन हो रहा है।

इनके घरमें सदैव ही कुटुम्बियों और रिश्तेदारो तथा मिलने-जुलने वालोंका ताँता लगा रहता था। दूर-दूरके रिश्तेदार और नातेदार भी इनकी सहानुभूति और सहायतासे वञ्चित न रह पाते थे। (हर एककी कठिनाईको दूर करना और उनकी समस्याओको सुलझाना ये अपना पहला कर्तव्य समझते थे।) इन्होने अपने बैंकोंमें सैंकड़ों जैन-बन्धुओंको

स्थान दे रक्खा था तथा जैन व्यापारियोको सब प्रकारकी सुविधा देने का प्रयत्न करते थे ।

सर्वसाधारणके लिए भी यह तत्परतासे सहायता करते थे । इनकी दरीबेवाली साहूकारेकी कोठीमे सदैव सदाव्रत बँटता था और दातव्य औषधालय चलता था ।

रायबहादुर साहबको प्रत्येक कार्यक्षेत्रमे अपनी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीलादेवीसे पूरा-पूरा सहयोग मिला और यही कारण है कि उनके किये हुए कामोमे दुगुनी चमक और उज्ज्वलता दिखाई देती थी । रायबहादुर साहबका प्रथम विवाह सन् १८९० मे देहलीके प्रसिद्ध जैन पडित रिखबदासजीकी सुपुत्रीसे सम्पन्न हुआ था और उन्हीसे एक इनके एकमात्र पुत्र ला० रघुवीरसिह है । पहली पत्नीकी मृत्युके पश्चात् सन् १९०४ मे आपका विवाह श्रीमती सुशीलादेवीसे हुआ जो ला० अजोध्याप्रसाद सर्राफ सहारनपुरकी पुत्री है । श्रीमती सुशीलाजी शादीके समय बहुत ही साधारण-सी शिक्षिता थी, परन्तु रायबहादुर साहबके शिक्षा-प्रेम, व स्त्रियोके प्रति आदर-भावनाने उन्हे अपनी पत्नीको उत्तम-से-उत्तम शिक्षा देनेकी प्रेरणा दी और श्रीमती सुशीलादेवीने भी अत्यन्त उत्साह और लगनके साथ अपने आपको सब प्रकारसे योग्य बनानेका प्रयत्न किया । जब तक रायबहादुर साहब जीवित रहे, वह उनकी परछाईकी तरह हर कार्यमे उनके साथ-साथ रही । रायबहादुर साहब उनको कई बार अपने साथ विदेश-यात्राको लेकर गये और एकबार तो मिस्टर और मिसिज चटर्जीको भी अपने साथ योरप केवल इसलिए ले गये, कि उनकी उपस्थिति से बुआजी विदेशके वातावरण व सभ्यतासे भलीभाँति जानकारी प्राप्त कर सके । उन्हीकी इस उच्च भावना और प्रयत्नके फलस्वरूप बुआजी समाज और देशके बडे-से-बडे जिम्मेदारीके कामको सफलतासे निभा सकी (और अब भी उनकी अनुपस्थितिमे निभानेका साहस कर सकी है) 'रायबहादुर' की पत्नी होते हुए भी और रायबहादुर साहबका ऊँचे दर्जेके सरकारी सम्बन्धका पूरा-पूरा ज्ञान रखते हुए भी बुआजी राष्ट्रिय

काय्योंमें वरावर दिलचस्पी लेती रही और स्वयम् सक्रिय क्षेत्रमे उतरी। सन् १९३० मे जव पुलिसने महिलाओके उस जुलूसपर लाठी चलाई जो कचहरीपर पिकेटिग करने गया हुआ था, उस समय वुआजी उस जुलूस की अग्रणी महिलाओंमेसे थी। लाठी और गोली चलनेपर भी वह उस स्थानसे विचलित नही हुई, जहाँ यह पिकेटिगके लिए खड़ी हुई थी। वह वर्षो ऑल इण्डिया विमेंस कॉन्फ्रेंसकी प्रेजिडेण्ट रही है। इन्हीकी मूल प्रेरणासे आज सरस्वती-भवन, जो कि देहलीमें महिलाओंकी सवसे उन्नत और जाग्रत संस्था है, चल रहा है। आज इस संस्थाके आधीन शरणार्थी कैम्प, दस्तकारी स्कूल, हिन्दी भाषाकी विशेष क्लासे, गरीबोंके लिए औषधालय, संगीत स्कूल आदि कई योजनाएँ चालू हैं, जिनकी देख-भालका वहुत वड़ा भार इन्हीके ऊपर है। देहलीमे, विशेषकर महिला-समाजमें कोई सामाजिक या सांस्कृतिक योजना ऐसी नही है, जिसमे इनकी सहायता या सहयोगकी आवश्यकता न पड़ती हो। यह सव कामोमें आज भी अग्रणी रहती है।

उदारता, समाज-सेवा तथा उच्च आदर्शोके प्रति कर्तव्यकी जो भावना रायवहादुर साहव अपने जीवनमे वुआजीके हृदयमे जागृत कर गये, वह आज भी ज्यों-की-त्यो स्थिर है और उनके जीवनका अधिकाश भाग इसी प्रकारके कामोमे व्यतीत होता है। रायवहादुरसाहवका स्वर्गवास सन् १९३० में अकस्मात् ही एक वहुत छोटे अर्सेकी वीमारीमें हो गया था। घरवालों और मित्रोंके हृदयपर एक गहरी चोट लगी, जो अव भी टीस-टीस उठती है। उनके दिवगत होनेसे समाजकी प्रतिष्ठा और समाजके जीवनमें जो अन्तराल पड गया है, वह आज २१ वर्षोंमें भी पूरा नही हो पाया है।

—डालमियानगर,
२ नवम्बर १९५१

—:o:—
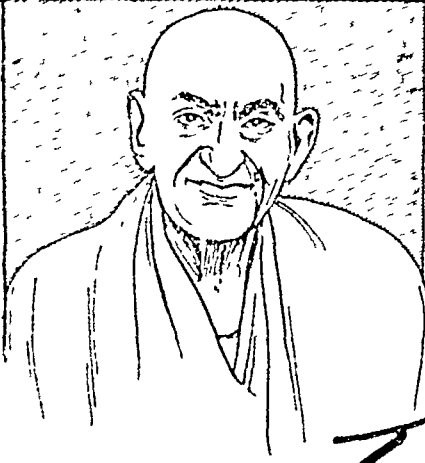
जन्म— इन्दौर, आषाढ़ शु० वि० सं० १९३१
वर्तमान आयु— ७८ वाँ वर्ष वि० सं० २००८

राज-ऋषि

सर सेठ साहब जैनधर्मके पूर्ण श्रद्धालु और जैनसमाजके अनन्य हितैषी हैं। जितनी लगनसे आपने लक्ष्मीका वरण किया, उतनी ही वैराग्यपूर्ण भावनासे उसका त्याग भी कर दिया। पुराणोंमें अतुल धन-सम्पदा-त्यागके उदाहरण पढ़ा ही करते थे, आपने प्रत्यक्ष दिखला दिया। आप जैनसमाजके सदैव आड़े वक्तमें काम आये हैं। तीर्थोंकी रक्षा, मन्दिरोंका निर्माण, जीर्णोद्धार, विद्यालयों, औषधालयोंके संचालन आदि आपकी मुख्य प्रवृत्ति रही है। जहाँ भी और जब भी समाजको किसी कठिनाई या आपत्तिका सामना करना पड़ा है। आपने तुरन्त तन, मन, धनसे सहायता की है। यदि कतिपय पण्डित आपको रूढ़िवादी विचारोंमें न फँसाये रहते, आपको जैनधर्मके प्रसारका अवसर देते, और आपकी सहायतासे देश-विदेशमें जैन-विद्वान् प्रचारके लिए फैल जाते, तो जो स्थान आज बौद्धधर्ममें अशोकको, जैनधर्ममें सम्प्रति और खारवेलको प्राप्त है; वही ऐतिहासिक स्थान सर सेठ साहबको मिला होता।

सर सेठ साहब दि० जैनमहासभाके उसके जन्मसे ही स्तम्भ रहे हैं। अतः कृतज्ञतास्वरूप इसी मईमें उसने प्रस्तुत पुस्तकसे दूनी आकारके ४२८ पृष्ठोंका अभिनन्दन ग्रन्थ भेट किया है। जिसमे १४५ पृष्ठोंमें आपकी जीवनी, ८० लाख दानकी सूची और ५८ पृष्ठोंमें देशके नेताओं, आदिकी श्रद्धाञ्जलियाँ हैं। आप निम्न उपाधियोंसे विभूषित हैं—

दानवीर, तीर्थभक्त-शिरोमणि, जैनधर्मभूषण, जैन-दिवाकर, जैन-सम्राट्, रायबहादुर, राज्यभूषण, रावराजा, श्रीमन्त सेठ, के० टी० आई०।

—गोयलीय

पूज्य काकाजी

रा० ब० सेठ हीरालाल काशलीवाल

आज मेरे हर्षकी सीमा नही है। संकोचसे मेरी लेखनी रुक भी रही है। मै उन महान् व्यक्तिको किन शब्दोंमें अपने हृदयके श्रद्धा-स्नेह और प्रेमकी पुष्पाञ्जलि चढाऊँ, जिनके चरणोंमें पिछले पचास वर्ष मैंने दुनियामें राजसी ठाट-बाटसे जीवनका सुख उठाया और समाजकी सेवामें भी यथाशक्ति योगदान दिया। पूज्य काका साहबकी विशेषताओंको, उनके जीवनकी सफलताओंके रहस्योंको और उनके गुणोको मुझसे अधिक जाननेका कब किसे मौका मिला होगा? आधी शताब्दीका यह लम्बा इतिहास जैन-समाजकी नव-जागृतिका स्वर्णयुग है और पूज्य सेठ साहब इस जागृतिके जनक होनेके नाते, उनके जीवनकी विविध घटनाओंका उल्लेख एक अलग ग्रन्थ-का विषय है। अत आज मनमे उमडनेवाली भावनाओंको दबाकर मै उन चन्द संस्मरणो तक ही सीमित रहूँगा, जिनमें कि पाठकोंको सेठ साहबकी जीवनकी चमकदार झाँकी दिखला सकूँ।

भारतमें व्यवसायी अनेक हुए, धन भी अनेकोंने कमाया और दान-धर्ममें भी लगाया, किन्तु रावराजा सर सेठ हुकमचन्दजी-जैसा व्यव-सायी कलेजेवाला व्यापारी न तो मैंने देखा और न सुना, जिसने न केवल व्यवसाय-क्षेत्रमें प्रतापी प्रभाकरकी तरह नाम कमाया। बल्कि रईसी रहन-सहन, दान-धर्म. समाज-सेवा और राज-निष्ठामें उनसे आगे बढा हो। याद है मुझे वे दिन जब एक बार नहीं, अनेक बार अकेले और बेधड़क काका साहबने भारतके बाजारोंको कॉर्नर किया था। देश ही नही, विदेशो तकमें सनसनी फैली हुई थी कि सेठ हुकमचन्द क्या कर रहा है? वह फेल हो जायगा। लोग उनको डरानेकी तरह-

तरहकी बातें करते। जीवन-मरणकी उन उत्तेजनाकी घड़ियोंमें भी सेठ साहब हमेशा प्रसन्नमुख रहते। शान्तिके साथ सबसे मिलते-जुलते और सलाहकारोंकी सलाहपर हँसकर रह जाते। वे आधी-आधी रातमें स्थिर मनसे आगामी कलका प्रोग्राम बनाते और तारबाबू बनकर मैं उनके नगर-नगरके बाजारोंमें तूफान बरसानेवाले खरीद-बिक्री के तारोंके मज़मून लिखता। कानोंकान किसीको खबर लगे बिना रातोंरात तार दूसरे दिन बाजारोंमें पहुँचते और सेठ हुकमचन्दकी अचानक खरीद-बेचवालीसे बाजारका संतुलन उलट-पुलट जाता।

कमाल इस बातका है कि हर कार्नरके मौकोंपर विजयश्रीने काका साहबके भंडारमें करोड़ोंकी सम्पदाके साथ प्रवेश किया और उनको यशस्वी बनाया, जब कि ऐसे 'कार्नरो' में कभी किसीको भी पूरी कामयाबी नही मिली है।

उनकी सफलताका मुख्य कारण है, उनका तेजस्वी व्यक्तित्व। इस तेजमें वे एक कोमलता भी लिये हुए है। जब वे महसूस करेंगे कि उनकी धारणा गलत है, वे एक क्षणका समय लगाये बिना उसे स्वीकार कर लेंगे। जब, उन्हें मालूम हुआ कि सामनेवाला व्यापारी आर्थिक संकटमें है और रुपया चुकानेकी सामर्थ्य उसमें नही है, तो वे उसे बिगाड़ने को कभी तैयार न होंगे, बल्कि उसे माफ कर देंगे, किन्तु जब वे यह मानते हों कि वे सही मार्गपर है, उनके विचार व कार्यमें त्रुटि नही है, तो वे सामनेवालेको बोलनेका भी मौक़ा नही देंगे। अपने व्यक्तित्व और आत्मबल तथा इच्छाके द्वारा वे दूसरेको निरुत्तर कर देंगे।

सेठ साहबको धनका लोभ कभी नही हुआ। हो भी क्यों? उन्होंने इतना कमाया और ऐसे कमाया कि वाह! तभी वे उसका उपभोग भी कर सके। धनने उन्हें दबाया नही, बल्कि वे धनपर हावी रहे। यही कारण है कि उन्होंने अपने जीवनमें बीस-बाईस लाखका एक बड़ा धार्मिक ट्रस्ट बना दिया। लाखोंका दान-धर्म उन्होंने प्रकट-अप्रकटमें किया,

उसका पूरा-पूरा कोई हिसाब नही है। किसी भी शुभ कार्यके लिए देनेमें उनको हिचक नही होती, किन्तु वे बिना जाँचे समझे कभी नही देते। दानका उन्हें शौक रहा है और कुछ-कुछ मै भी उनसे यह स्वभाव पा सका हूँ। मुझे इस बातका दु ख नही कि उस स्वभावसे अनेक बार मैं ठगा गया हूँ, किन्तु मुझे तो इसमें भी कुछ ऐसा मजा मिला है कि सेठ साहबकी आज्ञा भी कई बार चाहते हुए भी पालन नही कर सका हूँ। सेठ साहबको ठगना टेढी खीर है।

पूज्य काका साहबमें जो एक अलौकिक गुण है, वह है किसी भी काम करनेका विचार आते ही उसको पूरा करनेकी शीघ्रता। वे कलपर कोई काम छोडनेको कभी प्रस्तुत न होगे। आँधी, पानी, अँधेरी रात और भयंकर बाधाएँ ही क्यो न हों? एक-दो नही, पच्चीस आदमियो-को अँधेरी रातमें जगाना पड़ता हो और कितने ही खाते-बहियोकी जाँच-पड़ताल क्यो न करनी पडती हो, वह होगा और होकर रहेगा। सेठ तब तक चैन न लेंगे, जब तक कि काम पूरा न कर लेंगे। हम लोगोको सेठ साहब हमेशा उसके लिए उपदेश देते रहते है, किन्तु हम कहाँ है, उन जैसे दुर्धर इच्छा-काय शक्तिवाले? आज वृद्धावस्थामें भी उस स्वभावके कारण उनमें वही चचलता है और जीवन शक्तिकी प्रेरणा।

बहुत कम लोग जानते है कि पिताश्रीके इस यशस्वी जीवन-महलकी नीव रखनेका सौभाग्य किसे प्राप्त है? मुझे मालूम है, यह मन्दसौर-वाली माताजी थी, सेठ साहबकी प्रथम स्वर्गीय पत्नी, जिन्होंने उनके व्यवसायी जीवनके पुण्य प्रभातमें केवल सोहल वर्षकी आयुमें ऐसा प्रकाश फैलाया कि जीवनका सारा ढाँचा बदल गया। पतनकी ओरसे मुँह मोड़कर उत्कर्षकी ओर जो पग उठाया, तो पीछेकी ओर मुडकर कभी झाँका भी नही।

१०-१५ लाखकी अपनी जायदादको अपनी व्यवसाय-कुशलतासे आपने १०-१५ करोडसे भी अधिक बढा लिया, किन्तु वे हमेशा इस बातको

जानते रहे कि सट्टेसे आनेवाली सम्पदा कभी उसी तरह जा भी सकती है। अतः उन्होंने अपनी सम्पत्तिको स्थायी उद्योग-धन्धोंमें लगाया। मध्यभारतमे उद्योगोके जन्मदाताके नाते उनका नाम सदैव औद्योगिकोंमें आदरपूर्वक लिया जाता रहेगा। मिल ही नही, अन्य विविध कारखानोंमें और व्यवसायोंमे भी उन्होंने रुपया लगाया। स्वयं तो लगाया ही, अपने भाइयो और अन्य रिश्तेदारो तथा व्यापारियोंको भी उद्योगोको अपनाने की प्रेरणा दी। हम लोगोको हमेशा यही सीख देते रहे कि हम सट्टेमें न पड़े। १९४६ ईस्वी मे संयत जीवनका श्रीगणेश करते समय, उन्होने आम-सभामे हमें फिर यही सलाह दी। उसे आज्ञाके रूपमें मैंने माना और तबसे सट्टा मेरे जीवनसे खत्म हो गया।

सेठ साहब समाज-सेवाके काममें सदैव आगे रहे। अपने व्यस्त जीवनमे भी उन्होने समाजकी सेवाके लिए सदैव समय निकाला। गरीब-अमीरका भेद-भाव भूलकर सबका हर्ष-शोकमें साथ दिया। दिगम्बर जैन-समाजमें जो कुरीतियाँ सेठ साहबके प्रयत्नोंसे हटी, वह कौन नही जानता। देशके चारों कोनेमे जहाँ भी और जब भी समाजके हित या जैनधर्मके सिद्धान्तों, आचार्यो एवं धर्म-तीर्थो-मन्दिरोपर प्रहार हुए, सेठ साहब वहाँ दौड़कर पहुँचे। तार-टेलीफोनका ताँता उन्होंने लगाया। अधिकारियोंको न्यायके लिए प्रेरित किया और तब चैन लिया, जब उस अन्यायको समूल नष्ट कर दिया। यदि यह कहा जावे तो अत्युक्ति न होगी कि समाजका उनसे बड़ा हितैषी और सेवक कही नजर नही आता। अपने तेजस्वी व्यक्तित्व, धनकी शक्ति और मिलनसारी स्वभावके कारण सेठ साहबने जिस कामको भी हाथमें लिया, पूरा किया। यह हमारा सौभाग्य है कि वे आज हमारे बीच मौजूद हैं और असीमित दूर रहते हुए भी समाज-सेवाके किसी कामसे स्वयंको दूर नहीं करते।

नंगे-पाँवों, सिर खुला हुआ, देहपर एक धोती बाँधे और ओढ़े,—जब कुछ लोगोंने उन्हें हमारे प्रान्तके सुयोग्य मुख्यमंत्री श्री

तख्तमलजी जैनकी कोठीपर ऐन दिनमें देखा, तो सहसा पहिचान न सके कि क्या यही अनेक पदवियोंसे विभूषित सर सेठ हुकमचन्द हैं, जो वढिया झल्लेदार सामन्ती जरीकी पगडीमें मलमलका अचकन और चुस्त पैजामा, गलेमें हीरो-पन्नोंका कठा और हाथमें अमूल्य हीरोंकी अनेक अँगूठियाँ धारण करनेवाला—निराली आन-वान और शानका साहूकारोंका वेताज-का वादशाह कहलाता है ?

सादगीकी एक प्रतिमूर्ति वुढापेके वोझसे कमर झुकाये, किन्तु सिंहकी दवग चालवाले, जी हाँ यही वह सर सेठ है, जो आज साधुत्वको सर करनेके लिए वैभव-विलासको अच्छे उच्छिष्ट आमकी गुठलीकी तरह फेंके हुए है। कहाँ तो इन्द्रभवनोंमें राजसी-पलंगोंपर विहार करने-वाला श्रीमंत और कहाँ साधु-संतोंके बीच भगवत्-भजनमें लीन रहने और भगवान्के नामकी माला फेरनेवाला यह संन्यासी व्यक्ति ! कितना वडा परिवर्तन है यह ! क्या कोई महसूस कर सकेगा इस व्यक्तिके अन्दर छिपी हुई अगाधता को ! जीवन भर जिसने मायाको प्यार किया, दुलार किया और जिसके मनुहारमें वह मचलता रहा,—इठलाता और अठखेलियाँ करता रहा, अव उससे रूठे हुए हैं वह !

उनका मेरे प्रति जो प्रेम है, क्या उसका प्रतिदान मैं कभी दे सकूंगा ? एक अत्यन्त गरीब घरसे वे मुझे उठा लाये थे ५० वर्ष पूर्व, जब कि मैं सिर्फ तीन वर्षका ही तो शिशु था। उन्होंने मुझे कभी यह महसूस न होने दिया कि मैं माता-पिताके प्यारसे कभी एक क्षणके लिए भी वंचित हुआ। मुझ गोद लाये वालकको उन्होंने अपने स्वयके सुपुत्रसे भी अधिक लाड़-प्यारसे रखा। चि० राजकुमारसिंहके जन्मके वाद भी मेरा दुलार कम नही हुआ और जब पूज्य कल्याणमलजी साहवका स्वर्गवास हुआ, तो उनकी फर्मका वारिस वना दिया। इतना ही नही; अपनी सम्पत्तिका भी लगभग एक करोड़ रुपया मुझे और दिया। इस कार्यमें भी सेठ साहवने जिस दूरदर्शितासे, मेरे हितका और समस्त परिवारकी भलाईका ध्यान रखा, इसे कौन नही मानेगा ?

मैं उनके अहसानोंसे कितना दवा हुआ हूँ ?

आज एक पुत्र अपने पिताको उनकी मौजूदगीमें किन शब्दोंमें श्रद्धांजलि दे, समझ नही पा रहा हूँ। मुझे संकोच है, तो इतना ही कि हम उनकी उच्चता और गंभीरताको पा न सके, उनके वारिस होकर भी। आज जब अपने भावोंको उनके समक्ष प्रकट करनेका सुअवसर मिला है, तो मै तो परमेश्वरसे यही प्रार्थना करूँगा कि परिवारके लिए, समस्त जैन-समाज एवं व्यापारिक समाजके लिए वे शतायु हों और हम सबपर उनकी सरपरस्ती बनी रहे।

आज सेठ हुकमचन्दजी हमारे बीच मौजूद है। अतः उनके प्रखर व्यक्तित्वका महत्त्व हम समझ नही पा रहे है। मेरी मान्यता है कि भारतके व्यावसायिक एवं औद्योगिक गगनमण्डलमें फिर कभी सेठ साहब-जैसा प्रतापी सितारा प्रकट होना असंभव नही, तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। सो भगवान् उन्हें चिरायु करे, यही मेरी पुनः पुनः प्रार्थना है।

हुकुमचन्द-अभिनन्दन-ग्रन्थ

मई, १९५१

अनुक्रमणिका

विशेष व्यक्ति

ह

स्थान

ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएँ

संस्थाएँ

स

ह

भारतीय ज्ञानपीठ काशी के

[हिन्दी ग्रन्थ]

१. मुक्तिदूत [पौराणिक रोमांस]—श्री वीरेन्द्रकुमार जैन एम. ए. ५)
२. दो हज़ार वर्ष पुरानी कहानियाँ—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन एम. ए. ३)
३. पथ-चिह्न [स्मृति-रेखाएँ और निबन्ध]—श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी २)
४. पाश्चात्य तर्कशास्त्र (अप्राप्य)—श्री भिक्षु जगदीश काश्यप एम ए ६)
५. शेर-ओ-शायरी [द्वितीय संस्करण]—श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय ८)
६. मिलन-यामिनी [गीत]—कविवर बच्चन ४)
७. वैदिक साहित्य—श्री रामगोविन्द त्रिवेदी ६)
८. मेरे बापू—श्री हुकुमचन्द्र 'तन्मय' २॥)
९ पंच-प्रदीप (गीत)—श्री शान्ति एम. ए. २)
१०. भारतीय विचारधारा (दार्शनिक विवेचन)—श्री मधुकर २)
११. ज्ञानगंगा (श्रेष्ठतम सूक्तियाँ)—श्री नारायणप्रसाद जैन ६)
१२. गहरे पानी पैठ (११८ मर्मस्पर्शी कहानियाँ)
—श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय २॥)
१३. वर्द्धमान [महाकाव्य]—श्री अनूप शर्मा ६)
१४. शेर-ओ-सुख़न—श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय ८)
१५. जैन जागरणके अग्रदूत—श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय ५)
१६. हमारे आराध्य—श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ३)
१७. आधुनिक जैन कवि—श्री रमा जैन ३॥)
१८. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास २॥=)

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

ज्ञानोदय [मासिक पत्र]

"ज्ञानोदय' बहुत ही उत्तम है। कालान्तरमें इसकी विशेष उन्नति होगी। जनता अपनावेगी।"

—क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी

"ज्ञानपीठके अन्य प्रकाशनोंकी भाँति ज्ञानोदय सुन्दर और शिक्षाप्रद है।

—सम्पूर्णानन्द

"ज्ञानोदयका क्षेत्र जैसे-जैसे पुनीत तथा व्यापक होता जायगा उनमें निरीह जगत्को अवश्य सांस्कृतिक प्रेरणा मिलेगी। पत्र सुरुचिपूर्ण है।"

—सुमित्रानन्दन पंत

"इतनी उदार श्रमण संस्कृतिकी पत्रिकाकी बड़ी आवश्यकता थी।"

—राहुल सांकृत्यायन

"जैन समाजके जितने पत्र हैं, उनमें-से अगर एक पत्र उठानेका ही मुझे अधिकार हो तो मैं निश्चय ही ज्ञानोदय उठाऊँगा।"

—विजयचन्द्र जैन बी० ए०

"विश्व-कल्याणकी भावनासे पूत सत्यं शिवं सुन्दर का समन्वय करनेवाले जैन धर्मका कलात्मक दर्शन ही ज्ञानोदयका मुख्य उद्देश्य है। इस नयनाभिराम श्रमण संस्कृतिके अग्रदूतका मैं हृदयसे स्वागत करता हूँ।"

—श्रीचन्द्र जैन एम० ए०

"हिन्दीका यह अनुपम पत्र है और बड़ा ऊँचा आदर्श लेकर निकला है।"

—साहित्यसन्देश

"भारतीय ज्ञानपीठके इस सांस्कृतिक प्रकाशनका भारतीय जनता स्नेहके साथ सत्कार करेगी।"

—लोकवाणी

"ज्ञानोदय सचमुच श्रेष्ठ कोटिका पत्र है।"

—विश्वदर्शन

एक वर्षमें ९६० पृष्ठ • वार्षिक मूल्य ६ रु०

ज्ञानपीठके १९५१ के प्रकाशन

[जो मुद्रित हो चुके हैं, केवल बाइंडिंग शेष है]

१. हमारे आराध्य—ये रेखाचित्र श्री बनारसीदास चतुर्वेदीकी सर्वोत्तम कृति है। इसमें उन्होंने अपनी आत्मा उँडेल दी है।

२. रेखाचित्र } हिन्दीके तपस्वी सेवक श्री बनारसीदास चतुर्वेदीकी
३. संस्मरण } जीवन-व्यापी साधना।

४. भारतीय ज्योतिष—ज्योतिषके अधिकारी विद्वान् श्री नेमिचन्द्रजी जैन ज्योतिषाचार्यकी प्रामाणिक कृति।

५. रजत-रश्मि [एकाकी नाटक]—डॉ० रामकुमार वर्मा।

[मुद्रित हो रहे हैं]

१. राजवार्तिक [हिन्दी-सार सहित]

२. न्यायविनिश्चय विवरण [द्वितीय भाग]

३. वसुनन्दि-श्रावकाचार

नोट—जो १०) भेजकर स्थायी सदस्य बन जायँगे उन्हें सभी ग्रन्थ पौने मूल्यमें प्राप्त होंगे।